ऋग्वेद–संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या–पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
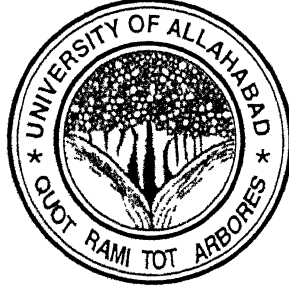
1999

निर्देशिका
डॉ० सुचित्रा मित्रा
(वरिष्ठ प्रवक्ता)
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोध-कर्त्री
सुनीता जायसवाल
(S. R. F.)
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रमाण-पत्र

''प्रमाणित किया जाता है कि कु0 सुनीता जायसवाल ने मेरे पर्यवेक्षण एवं दिशा निर्देशन में

''ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन''

विषय पर शोध-कार्य सम्पन्न किया है। यह शोध- प्रबन्ध शोध-छात्रा के मौलिक परिश्रम का परिणाम है एवं संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ0 प्र0) की डी. फिल. की शोध-उपाधि हेतु मूल्याङ्कन योग्य है।

जहाँ तक मेरी जानकारी एवं मेरा विश्वास है कि इस शोध-प्रबन्ध के पूर्व इसमें निहित विषय या समान शीर्षक पर किसी अन्य को इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय या किसी अन्य परीक्षा संस्था द्वारा उपाधि प्रदान नहीं की गयी है।''

सुचित्रा मित्रा

(डॉ0 सुचित्रा मित्रा)
शोध-निर्देशिका
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

स्थान - इलाहाबाद

दिनाङ्क १६-१२-६६

पुरोचनावाक्

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"
"ज्ञानमेव शक्तिः"

वैदिक मन्त्रार्थज्ञान की परममहत्ता, अत्यावश्यकता, अनिवार्यता, नितान्त-उपादेयता, श्रेष्ठकल्याणकारिता, सर्वज्ञानमयता, सर्वप्रकाशकता, प्रामाणिकता एवं व्यावहारिकता का ज्ञान होने पर सम्यक् वेदमन्त्रार्थज्ञानजिज्ञासा से प्रेरित एवं प्रभावित होकर मैंने चतुर्वेदों में आदि, सर्वाधिक प्राचीन, अतिवृहद्, विशाल, विपुल एवं विख्यात ऋग्वेद की ऋचाओं एवं ऋग्वेद के मन्त्रस्थ पदों का भाषा, व्याकरण,विनियोग एवं अर्थविनिश्चय इन चतुर्विध दृष्टिकोणों से सम्यक्, समुचित, सारगर्भित, सुस्पष्ट, सुभेदकरणीय, विवेचनीय एवं विश्लेषणीय तुलनात्मक शोधाध्ययनोपरान्त प्राप्त शोध-ज्ञान को डी. फिल. की उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करने के लिए मैंने "ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन" इस विषय का चयन किया है।

ऋग्वेद के भाष्यकारों में मैंने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों भाष्यकारों की व्याख्यापद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। पौरस्त्य भाष्यकारों में यास्काचार्य, स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव, आचार्य उद्गीथ, सायणाचार्य, माधवभट्ट, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ, महर्षि दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द स्वामी आदि विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का विवेचन, विश्लेषण, परस्पर साम्य एवं वैषम्य का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार पाश्चात्य भाष्यकारों में Roth, Ludwig, Grassman, Wilson, Maxmuller, Griffith, Macdonell, Oldenberg, Geldner, Peterson आदि विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का परस्पर तथा अन्य पौरस्त्य भाष्यकारों से समानता एवं विषमता का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है।

मैंने उपर्युक्त समस्त पौरस्त्य एवं पाश्चात्य व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धति अर्थात् शैली में भाषा, व्याकरण, विनियोग एवं अर्थगत वैभिन्न्य, शैलीगत वैशिष्ट्य, भाषागत सौष्ठव, प्रबलमेधामथित वैचारिक-वर्णन-वैचित्र्य, परस्पर भेद-प्रभेद, भिन्नता-समानता, मतवैभिन्न्य तथा व्याख्यापद्धतियों की प्रमुख विशिष्टताओं पर प्रकाश डालने का यथासम्भव पूर्ण प्रयत्न किया है।

अमूल्य, अनुपम, अद्वितीय, अतुलनीय, अनादि, अनन्त, अविनश्वर, अबाधित, अप्रतिहत, अप्रमेय, असत्प्रतिपक्ष, 'देववाणी', 'देवभाषा', 'दैवीवाक्', 'गीर्वाणवाणी', 'गीर्वाणगीः', 'वेदवाक्', 'श्रुतिवाक्', 'त्रयीवाक्', 'मन्त्रवाक्', छन्दस्‌वाक्, ब्रह्मवाक्, निगमवाक्, नित्यावाक्, आगमवाक्, आगमप्रामाण, आप्तवाक्, अपरावाक्, आम्नायवाक्, अकृत, अपौरुषेयवाक्, स्वाध्यायवाक्, स्वयंभुवाक्, स्वयंप्रमाण, शब्दप्रमाण, आदि विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित एवं विभूषित, शाश्वत, सत्य, सार्वभौमिक, नित्य, निर्दोष, निर्मल, विशुद्ध एवं विमल वेदवाकाभूषण के प्रति अडिग आस्था, अटूट विश्वास, भावपूरित सच्ची श्रद्धा, अमित स्नेह एवं दृढ़ निष्ठा, शुभ तथा पवित्र' शिवसङ्कल्पयुक्त मेरा वेदवाक्‌देवी के पादोत्पल में कोटिशः हार्दिक नमन्।

"क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्"

"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे"

दिनाङ्क 5.10.99

सुनीता जायसवाल
(S.R F)
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

आभार

"ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न-व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन"। इस विषय के शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में मेरी शोध-निर्देशिका डा० सुचित्रा मित्रा, विभागाध्यक्ष डा० हरिशङ्कर त्रिपाठी एवं गङ्गानाथ झाँ, संस्कृत-शोध-संस्थान के प्राचार्य डा० गयाचरण त्रिपाठी जी ने मेरा सम्यक्, समुचित मार्गनिर्देशन, निरन्तर ज्ञान और उत्साहवर्धन करते हुए सतत् बहुमूल्य समय एवं अनेकविध सहयोग प्रदान किया जिसके लिये मैं इन गुरूजनवृन्दों के प्रति श्रद्धा से विनयावनत एवं चिरऋणी हूँ और हृदय से आभार एवं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। इन गुरूजनों ने ही मुझमें इस जटिल दुरूह, दुर्गम, दुर्भेद्य, क्लिष्ट एवं अतिश्रमसाध्य विषय में शोध करने का साहस, शक्ति, सामर्थ्य, लगन, क्षमता एवं प्रेरणा उत्पन्न की। इन गुरूजनों के वैदुष्यपूर्ण कुशल निर्देशन एवं पथप्रदर्शन से ही इस शीर्षक को शोध-प्रबन्ध का स्वरूप प्राप्त हुआ। इन गुरूजनों की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैं अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप सर्वाङ्गीणरूप में सफलतापूर्वक इस शोध-प्रबन्ध की इतिश्री करने में सक्षम हो सकी हूँ।

मैं उन सभी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों एवं मनीषियों के प्रति विशेषरूप से कृतज्ञ हूँ, जिनके गौरवशाली, प्रबलमेधामथित, विपुलज्ञानसम्पदापूर्ण ग्रन्थों तथा विचारों का अनुशीलन करने का मुझे सौभाग्य एवं शुभावसर प्राप्त हुआ। उन वैदुष्यपूर्ण विद्वान् मनीषियों के चरणकमलों में मैं श्रद्धासुमन अर्पित करती हूँ।

मेरे पिता श्री विनय प्रताप जायसवाल (अधिवक्ता, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद) के शुभाशीर्वाद, प्रेरणा और सहयोग एवं अनुज श्री पवन जायसवाल (कास्ट

एकाउन्टेन्ट) की शुभकामना एवं प्रेरणा से ही मैं इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में सफल हो सकी हूँ। इस शोध-प्रबन्ध के टङ्कण एवं संशोधन में मुझे श्री राजय कुमार चौरसिया ने यथाशक्ति समय एवं सहयोग प्रदान किया, जिसके लिए मै उनका हार्दिक धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करती हूँ।

अन्तत. मैं एतदर्थ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी धन्यवाद एवं आभार प्रकट करती हूँ। क्योंकि आयोग के द्वारा मुझे प्रदान की गयी क्रमशः कनिष्ठ एवं वरिष्ठ अनुसन्धान-अध्येतावृत्ति के रूप में आर्थिक सहयोग के परिणामस्वरूप यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो सका।

सुनीता जायसवाल

(S.R.F)

''ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन''

ऋग्वेद के व्याख्याकार

पौरस्त्य

1 यास्काचार्य
2 स्कन्दस्वामी
3 आचार्य नारायन
4 वेङ्कटमाधव
5. आचार्य उद्गीथ
6 सायणाचार्य
7. माधवभट्ट
8. आत्मानन्द
9. आनन्दतीर्थ
10. धुनुष्कयज्वा
11. महर्षि दयानन्द सरस्वती
12 श्री अरविन्द स्वामी

पाश्चात्य

1 Rudolf Roth
2. Alfurd Ludwig
3 H Grassman
4 Herman Horace Wilson
5. F Max Muller
6. Ralf T H Griffith
7. Arthur Anthony Macdonell
8 Herman Oldenberg
9. R Pischel & Karl F. Geldner
10 Peter Peterson
11 A. B Keith
12 Prof Paul Thieme
13. Prof Bergain
14. Prof. Louis Renou
15. Prof. Langlois

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

वेद एवं वैदिक साहित्य का परिचयात्मक विवरण

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेद संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का भाषा की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय

ऋग्वेद संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का व्याकरण की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों के व्याख्या-पद्धतियों का विनियोग की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

पञ्चम अध्याय

ऋग्वेद संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का अर्थविनिश्चय की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

षष्ठ अध्याय

मूल्याङ्कन

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणी

प्रथम अध्याय

वेद एवं वैदिक साहित्य तथा ऋग्वेद के प्रमुख व्याख्याकारों का परिचयात्मक विवरण

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ –

'वेद' शब्द √विद् धातु से "**हलश्च**" सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करने पर तथा "**पुगन्तलघूपधस्य च**" सूत्र से उपधा को गुण करने पर निष्पन्न होता है।

वेद शब्द का अभिधेयार्थ एव व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ "ज्ञान" है तथा विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान का उद्‌गम स्थान भी वेद ही है। सिद्धान्तकौमुदी मे √विद् धातु का पाठ चार अर्थो मे किया गया है–

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्।।

(सिद्धान्तकौमुदी, चुरादिगण, पृष्ठ ४२१)

'सत्ता', **'ज्ञान'**, **'विचार'** और **'लाभ'** इन सभी अर्थो के वाचक √विद् धातु से 'वेद' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार उक्त चारो अर्थ वेद शब्द में समाहित है।

सत्तार्थक √विद् धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'वेद' शब्द का अर्थ इस प्रकार होगा – 'जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो, उसे वेद कहते हैं' (विद्यते सत्तां गृह्णाति वस्तु अनेन इति वेद)।

ज्ञानार्थक √विद् धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'वेद' शब्द का अर्थ होगा – 'जिससे धर्म और ब्रह्म अथवा क्रियाज्ञानमय ब्रह्म का ज्ञान हो, उसे 'वेद' कहा जाता है' (विदन्त्येभिः धर्मब्रह्मणी क्रियाज्ञानमयं ब्रह्म वा इति वेदः)।

विचारार्थक √विद् धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'वेद' शब्द बनता है जिसका अर्थ होगा – 'जिसके द्वारा धर्म एवं ब्रह्म अथवा क्रियाज्ञानमय ब्रह्म का विचार किया जाय, उसे 'वेद' कहते है' (विन्ते विचारयति धर्मब्रह्मणी क्रियाज्ञानमय ब्रह्म वेति वेदः)।

लाभार्थक √विद् धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'वेद' शब्द का अर्थ होगा– 'जिसके द्वारा वस्तु (ब्रह्म) के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति हो उसे 'वेद' कहते हैं,' (विन्दते स्वरूपं लभन्ते वस्तु अनेन इति वेदः)।

इस प्रकार √विद् ज्ञाने, √विद् विचारे, √विद्‌लाभे, √विद्‌सत्तायाम् धातुओ से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'वेद' शब्द की निष्पत्ति होती है।

'ज्ञान' और 'विचार' अर्थ वाले √विद् धातु से ऋगादि ग्रन्थ का बोधक 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। 'सत्ता' और 'लाभ' अर्थ वाले √विद् धातु से पदार्थ बोधक 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। वेद का अर्थ है–'ज्ञान की राशि' या 'ज्ञान का सङ्ग्रह ग्रन्थ'। 'वेद' और 'विद्या' दोनों शब्द √विद् धातु से बने है।

'वेद' शब्द का वृहद् एव विस्तृत तात्पर्यार्थ है – **'ज्ञान', 'विचार', 'लाभ'** और **'सत्ता'** अर्थात् जिसमे ज्ञान और सद्विचारो का भण्डार हो तथा जिसके अध्ययन से व्यक्ति का लाभ अर्थात् कल्याण हो, जो व्यक्ति के लिए हितकारी हो, उपयोगी हो तथा जिसकी सत्ता हो उसे 'वेद' कहते है।

वैदिक ग्रन्थो मे 'वेद' शब्द दो प्रकार के पाये जाते है। अन्तोदात्त एव आद्युदात्त। इनमे प्रथम प्रकार का अन्तोदात्त 'वेद' शब्द 'दर्भमुष्टि' के अर्थ मे एव द्वितीय प्रकार का आद्युदात्त 'वेद' शब्द 'ज्ञान' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद–सहिता मे 'असुन्' प्रत्ययान्त 'वेद' (वेदस्) शब्द अनेक बार आया है। भाष्यकारों के द्वारा 'वेद' शब्द का अर्थ 'धन' किया गया है। निघण्टु मे भी 'धन' के पर्यायवाची शब्दो मे 'वेद' शब्द परिगणित है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'वेद' शब्द √विद् धातु से निष्पन्न न होकर √विद्लृ लाभे धातु से निष्पन्न है। √ज्ञा और √विद् दोनो धातुऍ 'ज्ञान' अर्थ की वाचक है, परन्तु इन दोनो के अर्थ मे अन्तर है। भौतिक विद्याओ की जानकारी को 'ज्ञान' एव आध्यात्मिक विद्याओं की जानकारी को 'वेद' कहा जाता है। वेद के द्वारा ही देवताओं ने असुरो की सम्पत्ति को प्राप्त किया, यही वेद का वेदत्व है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि ऐहलौकिक सुख–सम्पन्नता से सम्बन्धित जानकारी 'ज्ञान' एव पारलौकिक सुख–सम्पन्नता से सम्बन्धित जाकारी 'वेद' कहलाती है। आचार्य सायण के अनुसार जो ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा नही प्राप्त हो सकता उसका अवबोध वेद के द्वारा हो जाता है, यही वेद की वेदता है।

'वेद' के पर्यायवाचक शब्द –

वेदों के पर्यायवाची शब्दों में श्रुति, त्रयी, ब्रह्म, वेद, विद्या, मन्त्र, छान्दस् या 'चन्द', आगम या शब्द प्रमाण, निगम, आम्नाय, आप्तवचन, अपराविद्या, स्वाध्याय, अपौरूषेय, अप्रमेय, नित्यावाक्, स्वत प्रमाण, स्वयभु आदि पर्यायों की गणना की जाती है।

वेदों को **'श्रुति'** भी कहते हैं– 'श्रूयते इति श्रुतिः' अर्थात् गुरू–शिष्य–पराम्परा के अनुसार जो ज्ञान सुना जाता है, उसे 'श्रुति' कहते है। चूँकि वेदो को गुरू–शिष्य–परम्परा से ही सुरक्षित रखा गया था अर्थात् गुरू परम्परागत पद्धति से वेद के मन्त्रो को शिष्यों को पढ़ाते थे और शिष्य उसको श्रवण–मात्र से स्मरण करते थे, इसीलिये वेदो को 'श्रुति' भी कहा जाता है।

वेदों को **'त्रयी'** या **'वेदत्रयी'** भी कहते है। शैली के भेद से मन्त्रो के त्रिविध–गद्य, पद्य एव गीतात्मक होने से वेदो को 'वेदत्रयी' या 'त्रयी' भी कहते है।

वेदों को **'ब्रह्म'** या **'ब्रह्मा'** भी कहा जाता है। ऋषि द्वारा देवस्तुतियॉ 'ब्रह्म' या 'ब्रह्माणि' कही गयी है, वेद की एक संज्ञा 'ब्रह्म' भी बहुत प्रसिद्ध हुई, इसी 'ब्रह्म अर्थात् वेद के व्याख्यान ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाये।

वैदिक साहित्य को **'वेद'** नाम से अभिहित किया जाता है यह संज्ञा सर्वविदित, सर्व प्रसिद्ध, अतिप्रचलित तथा परम्परागत है। वैदिक साहित्य के द्वारा आध्यात्मिक विद्याओ का ज्ञान एवं पारलौकिक सुख सम्पन्नता से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त होता है इसीलिए इसे 'वेद' कहते हैं।

वेद को **'विद्या'** भी कहते है। वेदो मे विशाल ज्ञान की राशि विद्यमान् है। अत ज्ञान का सड्ग्रह–ग्रन्थ होने से इसे 'वेद' या 'विद्या भी कहते है। इसके अतिरिक्त पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द ज्योतिष् और ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद, इन चौदह विद्याओ मे वेद की गणना होने के कारण भी वेद को 'विद्या' कहते है।

वेदो को **'मन्त्र'** भी कहते है– 'मन्त्रा मननात्' अर्थात् वेदों को मनन करने के कारण इसे 'मन्त्र' भी कहते है। इस प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक एव अधियज्ञपरक विचारो के मनन से वेदो को 'मन्त्र' कहते है।

वेदो को **'छन्दस्'** या **'चन्द'** भी कहते है– 'छन्दासि छादनात्' अर्थात् वेदमन्त्र छन्दोमय है, अत वेदो के छादन (आवृत, आवरण) करने से इसे छन्दस् भी कहते है। मृत्यु से भयभीत देवताओ ने स्वय को वैदिक छन्दों से आवृत कर लिया था या ढक लिया था अत वेदो का नाम छन्द या छन्दस् पडा। वेद के पर्याय के रूप मे मन्त्रो के द्वारा छादन के कारण छन्दस् या 'चन्द' शब्द का प्रयोग अनेक ग्रन्थो में प्राप्त होता है।

अष्टाध्यायी मे **'बहुलं छन्दसि'**, सूत्र अनेक बार आया है, जिसमे 'छन्दसि' शब्द का अर्थ 'वेद मे' है। निरूक्त के रचयिता यास्काचार्य ने √छन्द आच्छादने धातु से इस शब्द को निष्पन्न माना है। शतपथ–ब्रह्मण मे 'छन्दस्' शब्द का निर्वचन √'छन्द प्रीणने' धातु से किया गया है। छन्द का अर्थ है– 'बन्धन'। निश्चित नियम मे बँधे हुए शब्द–समूह को 'छन्दस्' कहते है।

कुछ विद्वान् पूजा अर्थ मे पठित √छन्द या √छद् धातु से 'छन्दस्' शब्द को निष्पन्न मानते है। इनके अनुसार वेदमन्त्रों को 'छन्दस्' इसलिए कहा जाता है कि इन्ही के द्वारा देवताओ की पूजा होती है, अथवा हमारे द्वारा पूजनीय होने के कारण भी वेद छन्दस् हैं।

वेदो को **'आगम'** अर्थात् **आगम प्रमाण** या **शब्द प्रमाण** भी कहते है आगम शब्द मे 'आ' का अर्थ है– मर्यादा, सीमा, 'गम' का अर्थ है– मन्त्रो के अर्थ का बोधक। इस प्रकार जो ग्रन्थ सब ओर से ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख की प्राप्ति के साधनभूत उपायों का ज्ञान करावे उसे आगम या शब्द प्रमाण कहते है।

वेदों को **'निगम'** भी कहते है, निगम शब्द मे 'नि' का अर्थ है निश्चयपूर्वक या निश्चित रूप से, 'गम' का अर्थ है– मन्त्रों के अर्थ का बोधक। इस प्रकार जो ग्रन्थ निश्चित रूप से या निश्चय पूर्वक ऐहिक तथा अमुष्मिक सुख की प्राप्ति के साधनभूत उपायो का ज्ञान या बोध कराये उसे 'निगम' कहते है।

'आगम' और 'निगम' दोनो शब्द पद–रचना एवं अर्थ की दृष्टि से लगभग समान ही है। अन्तर मात्र 'आ' और 'नि' उपसर्गों का है। यास्काचार्य ने निरूक्त में जितने भी उदाहरण वेदों से दिये है उनमें प्रायः सर्वत्र निगम शब्द का प्रयोग किया है। 'निगम' शब्द उन स्थलों पर वेद का ही वाचक है।

वेदो को **'आम्नाय'** भी कहते है। आम्नाय पद 'आ' उपसर्ग पूर्वक √'म्ना अभ्यासे' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है– जो ग्रन्थ अभ्यास के द्वारा कथित हो वह 'आम्नाय' कहलाता है। गुरूमुख द्वारा बारम्बार अभ्यास कराये जाने के कारण वेदो को 'आम्नाय' कहा जाता है। यास्क ने मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिए 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त चूँकि वेद की शाखाओ का चारो ओर प्रसार हुआ है इसलिए भी इसे आम्नाय कहते है।

वेदो को **'आप्तवचन'** भी कहते है– 'आप्तस्तु यथा भूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरूष ' अर्थात् जो पदार्थ (अर्थ) जैसा होता है (यथा भूत) उसको वैसा ही बतलाने वाला (उपदेष्टा) व्यक्ति 'आप्त' कहलाता है। यथाभूत अर्थ को बतलाने वाला साधारण जन हो अथवा कोई विशिष्ट पुरूष अथवा ऋषि सभी 'आप्त' कहलाते है। अत वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने चूँकि वेदो मे यथाभूत अर्थ का उपदेश किया है इसलिए वेदो को 'आप्तवचन' कहते है।

वेदो एव वेदाङ्गो को **'अपरा-विद्या'** भी कहते है क्योकि इसमे अद्वैत परमात्मा का वर्णन नही होता है। जबकि उपनिषद् को **'परा-विद्या'** कहते है, क्योकि इसमे अद्वैत सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म अर्थात् परम–तत्त्व का वर्णन है, इसलिए इसे परा–विद्या कहते है।

वेदों को **'स्वाध्याय'** भी कहा जाता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य ' (तैत्तिरीय आरण्य–२/१५) 'स्वाध्यायान्मा प्रमद ' (तैत्तिरीयोपनिषद्–१/११/१) आदि वेदवाक्यो मे 'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ वेद ही है। मनुस्मृति मे स्पष्टत कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि द्विजातियों के लिए वेद का स्वाध्याय अपरिहार्य है, अत स्वाध्याय का अर्थ भी वेद हो गया। प्राचीनकाल मे वेदातिरिक्त कोई विषय स्वाध्याय के लिए स्वीकृत नही था।

वदों को **'अपौरूषेय'** सज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। वेद अपौरूषेय है। वह स्वत आविर्भूत होने वाला नित्य पदार्थ है। अपौरूषेय का अर्थ है पुरूष के द्वारा जो रचित न हो। इसके अतिरिक्त अपौरूषेय का अर्थ–अनादि, स्वयंभूत, अकृत, ईश्वरकृत आदि भी ग्रहण किया जाता है। मीमासकों के अनुसार वेद स्वतः प्रमाण और स्वयं आविर्भूत है, एवं नित्य है, अत अपौरूषेय है अर्थात् इनका रचयिता न कोई देवता है, न कोई पुरूष यह स्वयभु (स्वयनिर्मित) है। चुँकि वेदों की रचना किसी पुरूष के द्वारा नही की गई है इसलिए इसे 'अपौरूषेय' कहते है।

वेद को **'नित्यावाक्'** भी कहते है। 'नित्यावाक्' का अर्थ है जो कभी नष्ट नही होता है अर्थात् अविनाशी है, ऐसे वाक् को 'नित्यावाक्' कहते हैं। जिसका अस्तित्व कभी समाप्त नही होता जिसकी सत्ता चिरस्थायी शाश्वत, अनन्त, अनादि एवं अनवरत विद्यमान् है उसे नित्य कहते हैं। अत. वेदो के अविनश्वर एवं शाश्वत होने से इसे 'नित्यावाक्' भी कहते हैं।

वेद को **'स्वतःप्रमाण'** भी कहते हैं। वेदो को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वेद स्वयं प्रमाण है इसका अपर नाम शब्द या आगमप्रमाण है अत प्रमाण को प्रमाणित या

सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता का प्रश्न ही नही उठता है। वेद स्वत. सिद्ध है। इसीलिए इसे 'स्वत प्रमाण' भी कहते है।

वेद को **'अप्रमेय'** भी कहते है। यथार्थ अनुवभव या ज्ञान को 'प्रमा' कहते है। प्रमा के विषय को 'प्रमेय' कहते है अथवा प्रमाणो के द्वारा जिन प्रमेयो या पदार्थो का ज्ञान होता है उसे 'प्रमेय' कहते है, परन्तु वेद को अप्रमेय कहते है क्योकि वेद का प्रमाणो के द्वारा ज्ञान नही होता। वेद तो स्वय यथार्थ–ज्ञान है। अत इसे 'अप्रमेय' भी कहते है।

वेद को **'स्वयंभु'** (स्वय निर्मित) भी कहते है। वेदो की रचना किसी पुरूष ने नही की है न ही किसी देवता ने की है, बल्कि इनका उद्भव स्वत हुआ है अत इन्हें 'स्वयभु' भी कहते है।

वैदिक साहित्य के 'श्रुति' नाम मे वाचिक परम्परा का, 'वेद' नाम मे ज्ञान सम्पदा का तथा 'अपौरूषेय' नाम मे स्वाधीनता का अर्थ निहित है।

इस प्रकार उपर्युक्त वेद के पर्यायवाचक शब्दो एव उनकी व्याख्या के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वेद अनेक पर्यायों एव संज्ञाओं का धनी है अत इसे अनेक नामो या सज्ञाओ से यथासमय अभिहित किया जाता है, पुकारा जाता है एवं ग्रहण किया जाता है।

'वेद' की परिभाषा –

विद्वानो ने 'वेद' की निम्नलिखित परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं –

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **''ऋग्वेद भाष्य भूमिका''** नामक अपनी पुस्तक मे –

''विदन्ति-जानन्ति, विद्यते-भवन्ति, विन्ते विचारयति, विन्दते-लभन्ते सर्वे मनुष्याः'' इस प्रकार परिभाषित किया है। स्वामी दयानन्द जी ने भी 'ज्ञान', 'विचार', 'लाभ' और 'सत्ता' इन चारो अर्थो के वाचक √विद् धातु से 'वेद' शब्द को निष्पन्न माना है। उनका कहना है कि जिससे सभी मनुष्य सत्विद्या जानते है, प्राप्त करते हैं, विचार करते है और विद्वान् होते है अथवा सत्विद्या की प्राप्ति के लिए जिसमे प्रवृत्त होते हैं, वे 'वेद' कहलाते है।

सायणाचार्य ने वेद को **''अपौरूषेयं वाक्यं वेद :''** कह कर परिभाषित किया है। अर्थात् अपौरूषेय वाक्य को वेद कहते हैं। वेद के मन्त्रो के साथ जिन ऋषियो का नाम मिलता है वे ऋषि इन वेद–मन्त्रों के द्रष्टा ही हैं रचयिता नहीं। ऋषियों ने अपने तपोबल से मन्त्रो का साक्षात्कार किया है।

सायणाचार्य ने वेद शब्द की दूसरी व्याख्या भी की है –

''इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद :''

(तैत्तिरी–संहिता–भष्य की भूमिका)

अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट–प्राप्ति और अनिष्ट–निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते है।

पाणिनि ने भी वेद को **''धर्मो ब्रह्म चेति विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः''** कह कर परिभाषित किया है अर्थात् धर्म तथा ब्राह्मण दोनो को ही वेद कहा जाता है।

कात्यायन ने आपस्तम्ब में वेद को इस प्रकार परिभाषित किया है – **''मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्''** अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनो को ही वेद कहा जाता है।

मनु ने वेद की दो परिभाषाएँ प्रस्तुत की है–

१. ''वेद, पितृगण, देवता तथा मनुष्यो का सनातन, सर्वदा विद्यमान् रहने वाला चक्षु है। लौकिक वस्तुओ के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वो के रहस्य को जानने के लिए वेद की उपादेयता है।''

२. ''जो देव, पितर तथा मनुष्यो के लिए मार्ग दर्शक, नित्य, अपौरूषेय तथा अप्रमेय है, उसे वेद कहते है।''

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने वेद को इस प्रकार परिभाषित किया है –

''अपने प्रतिभा चक्षु के द्वारा साक्षात्कृत धर्मा ऋषियो के द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वो की विशाल, विमल शब्दराशि का ही नाम 'वेद' है।''

वेद का स्वरूप एवं विभाजन-क्रम –

'वेद' शब्द का व्यवहार सदैव बहुवचन मे होता है, अर्थात् **'वेद है'** ऐसा न कह कर **'वेद हैं'** ऐसा ही कहा जाता है। प्रायः लोग यह समझ लेते है कि मन्त्रो वाली मूल सहिंताएँ–ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ही वेद हैं, तथा इनके अतिरिक्त जो ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ है वे वेद नही है, परन्तु ऐसा कदापि नही है। मन्त्रों के साथ ही ब्राह्मण अर्थात् मन्त्रो के व्याख्या ग्रन्थ भी 'वेद' ही है। इसके साथ ही 'आरण्यक' एवं 'उपनिषद्' भी ब्राह्मण–ग्रन्थो के ही अंश है क्योकि ब्राह्मणो मे सहिताओ के मन्त्रो के विधिपरक, कर्मकाण्डपरक तथा आरण्यको में मन्त्रों की ज्ञानपरक तथा उपनिषदो मे मन्त्रों की दर्शनपरक व्याख्या है। अतः व्याख्या–ग्रन्थ होने के कारण आरण्यक और उपनिषद् भी ब्राह्मण ग्रन्थ ही माने जाते है। इसीलिए 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' दोनो के ही सम्मिलित रूप को वेद कहा गया है।

इस प्रकार निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि मन्त्रो वाली मूलसंहिताएँ तथा उनके व्याख्यापरक सभी ग्रन्थ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी वेद है।

वेद का स्वरूप एव विभाजन–क्रम निम्नतालिक से स्पष्ट है –
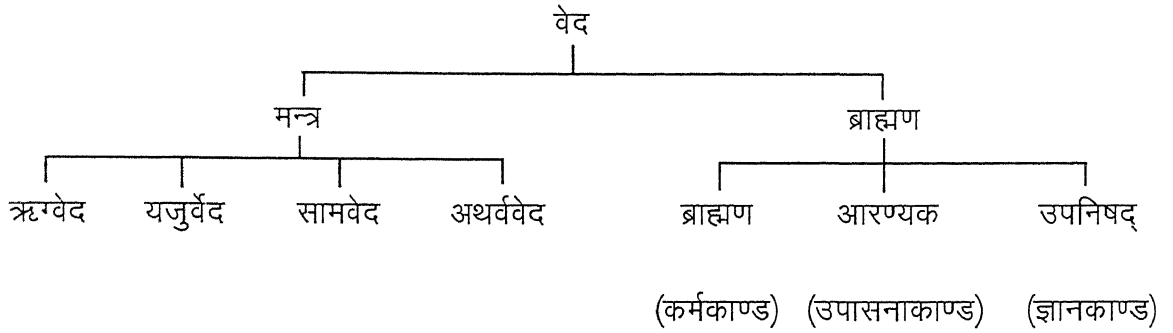
वेदों के उपवेद –

वेदो के चार उपवेद है –

१. **आयुर्वेद** – यह ऋग्वेद से सम्बन्धित है।

२. **धनुर्वेद** – यह यजुर्वेद से सम्बन्धित है।

३. **गान्धर्ववेद** – यह सामवेद से सम्बन्धित है।

४. **स्थापत्य वेद और अर्थशास्त्र** – यह अथर्ववेद से सम्बन्धित है।

वेद के अङ्ग –

वेदो के षडाङ्ग है –

१. शिक्षा
२. कल्प
३. निरूक्त
४. व्याकरण
५. छन्द
६. ज्योतिष्

वेद के उपाङ्ग –

वेदो के चार उपाङ्ग हैं –

१. पुराण
२. न्याय
३. मीमासा
४. धर्मशास्त्र

'वेद' एवं वैदिक संहिता का तात्पर्य –

वस्तुत. 'वेद' शब्द से तात्पर्य वैदिक–साहित्य से है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में समस्त वैदिक वाड्मय का विभाजन दो भागों में किया गया है– मन्त्र और ब्राह्मण। जिसका मनन किया जाय, उसे 'मन्त्र' कहते है

(मननात् मन्त्रा)। मन्त्रो के समूह को 'सहिता' कहते हैं। जिसमे स्तुति, यज्ञपरक, गेय एव रक्षा–विधायक मन्त्र–तन्त्रो का सङ्कलन होता है ऐसे मन्त्र–समूह को 'सहिता' कहते है।

महर्षि वेदव्यास ने ऋत्विजो की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर उनके उपयुक्त मन्त्रो का सङ्कलन 'संहिता' के रूप मे किया है। इस प्रकार सहिता मे सूक्तो, स्तोत्रो, गीतो एव मन्त्रो का सङ्कलन है।

वैदिक संहिताओं के सङ्कलन का कर्त्ता –

वैदिक मन्त्र सहिताओ के सङ्कलन का कार्य स्वय **वेदव्यास** जी ने किया था। 'कृष्णद्वैपायन' को वेद के इसी व्यास–पृथक्करण करने के कारण 'वेदव्यास' की सज्ञा प्राप्त हुई– 'विव्यास वेदान् यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृत ।'

यजुर्वेद के भाष्यकार 'महीधर' का कथन है कि ब्रह्मा से चली आ रही, वेद–परम्परा को ग्रहण करके वेदव्यास ने मन्दबुद्धि वाले मनुष्यो के लिए वेद को ऋक्, यजु, साम और अथर्व के रूप मे विभाजित कर क्रमश पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को उपदेश दिया, अर्थात् 'पैल' को ऋग्वेद, 'वैश्म्पायन' को यजुर्वेद, 'जैमिनि' को समावेद और 'सुमन्तु' को अथर्ववेद की शिक्षा दी।

प्राचीन काल मे वेद एक ही था। निरूक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य का भी कथन है कि "वेद मूलत. एक ही था, किन्तु उस दुर्गम वेद को सुगम बनाने की दृष्टि से व्यास द्वारा शाखाओ मे विभाजित किया गया।"

वैदिक-संहिता के भेद –

वेदों के सहिता, शैली एवं स्वरूप, मूल एव व्याख्या की दृष्टि से भिन्न–भिन्न भेद है –

संहिता-भेद से वेद चार प्रकार का है –

सहिता भेद से वेद के चतुर्विध होने के कारण वेद को "**वेदचतुष्टय**" भी कहते है।

१. ऋग्वेद – ऋचाओं का वेद

२. यजुर्वेद– यजुषो का वेद

३. सामवेद – सामो का वेद

४. अथर्ववेद – अथर्वो का वेद

शैली एवं स्वरूप के भेद से वेद तीन प्रकार का है –

शैली व स्वरूप के भेद से मन्त्रो के त्रिविध होने के कारण वेदो को **'त्रयी'** या **'वेदत्रयी'** भी कहते है।

१. पद्यात्मक वेद – अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के छन्दोबद्ध मन्त्र।

२. गद्यात्मक वेद – अर्थात् यजुर्वेद और अथर्ववेद का गद्यात्मक अश और ब्राह्मण–ग्रन्थो, आरण्यको और उपनिषदो का गद्यभाग।

३. गीतात्मक वेद – अर्थात् सामवेद का गेयात्मक अश।

मूल और व्याख्या-भेद से वेद दो प्रकार का है –

१. ऋचाएँ और मन्त्र, जिन्हे सम्मिलित रूप से मन्त्र कहा जाता है।

२. मन्त्रो की व्याख्या वाला 'ब्राह्मण' भाग।

वैदिक 'ऋत्विज्' का अर्थ एवं संख्या –

वेद का प्रधान प्रयोजन कर्म या यज्ञानुष्ठान माना गया है। यज्ञ में वेद–मन्त्रो का प्रयोग किया जाता है। यज्ञ कराने वाले विद्वान् ब्राह्मण ऋत्विज् कहलाते है। वस्तुत यज्ञ के विधिवत् सम्पादन के लिए ऋत्विजो की आश्यकता होती है। वैदिक ऋत्विजो की सख्या चार है –

१. **होता** – हौत्रकर्म के सम्पादन का श्रेय 'होता' नामक ऋत्विज् को है, जो ऋग्वेद की ऋचाओ का पाठकर उपयुक्त देवताओ का यज्ञ मे आह्वान करने का कार्य करता है। 'होता' नामक ऋत्विज् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है।

२. **उद्गाता** – औद्गात्रकर्म का सम्पादन 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् का विशिष्ट कार्य है, यह देवो की स्तुति मे साम का गान करता है। 'उद्गााता' नामक ऋत्विज् का सम्बन्ध सामवेद से है।

३. **अध्वर्यु** – अध्वर्यु ही यज्ञ के मुख्य कर्मो का निष्पादन करने वाला प्रधान ऋत्विज् होता है। यह विभिन्न गद्यात्मक यजुष् मन्त्रो का उच्चारण करते हुए यज्ञ की क्रियाओ को सम्पादित करना है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से यह प्रमुख ऋत्विज् है। इस ऋत्विज का सम्बन्ध यजुर्वेद से है।

४. **ब्रह्मा** – यह यज्ञ का अध्यक्ष होता है, स्वरों में सम्भाव्य त्रुटियों का परिमार्जन करता है, प्रायश्चित का विधान करता है, यह सभी वेदों का ज्ञाता होता है। इस ऋत्विज् का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

वैदिक साहित्य में परिगणित अपौरूषेय एवं पौरूषेय रचनाएँ –

ज्ञानार्थक √विद् धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द प्राचीन ऋषियों–महर्षियो द्वारा सर्वप्रथम दृष्ट– 'ज्ञान' का वाचक है। इसके साथ ही वैदिक युग के वाङ्मय के पर्यायवाची शब्द के रूप मे भी 'वेद' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

वेद संज्ञा शब्द हैं वेद शब्द से व्युत्पन्न 'वैदिक' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। सज्ञा–रूप में वेद शब्द विशेषण रूप से मूल संहिताओं के लिए और वैदिक विशेषण प्राय. वेदो से सम्बन्धित काल, युग साहित्य, समाज ओर सस्कृति आदि के साथ प्रयुक्त होता है।

वेद तथा उनसे सम्बन्धित मूल सहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदो से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले वेदाङ्ग भी वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आ जाते है। परन्तु इनमे से केवल सहिताओ, ब्राह्मण ग्रन्थो, उपनिषदो को ही अपौरुषेय माना जाता है किन्तु– शिक्षा, कल्प, निरुक्त व्याकरण, छन्द, ज्योतिष् इन वैदिक षडाङ्गो को तथा पुराण, न्याय मीमासा एव धर्मशास्त्र आदि वेदो के उपाङ्गो को पौरुषेय (मानवरचित) ही स्वीकार किया जाता है।

वैदिक साहित्य का वर्गीकरण –

सहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और कल्पसूत्र सहित छहों वेदाङ्गो का वैदिक साहित्य मे परिगणन होता है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को, विद्वानो ने अनेक वर्गो मे विभाजित किया है।

प्रो० मैक्समूलर ने रचनाओ के पूर्वापर –क्रम की दृष्टि से वैदिक–साहित्य के चार युग माने है –

१. छान्दस्-युग –

इस युग में सर्वप्रथम ऋग्वेद के छन्दो अथवा मन्त्रो की रचना हुई।

२. मन्त्र-युग –

इस युग मे मन्त्रो को चार सहिताओ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मे सङ्कलित किया गया।

३. ब्राह्मण-युग –

इस युग में चारो वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि की रचना की गयी।

४. सूत्र-युग–

इस युग मे सूत्रग्रन्थो–कल्पसूत्रों और अन्य वेदाङ्गो की रचना हुई।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को छ भागो में वर्गीकृत कर सकते है।

१. संहिताएँ
२. ब्राह्मणग्रन्थ
३. आरण्यकग्रन्थ
४. उपनिषद्
५. कल्पसूत्र
६. शेष वेदाङ्ग

वैदिक साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा –

वृहद् वैदिक–साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –

संहिता-साहित्य –

मन्त्र, प्रार्थना, स्तवन, आशीर्वाद, यज्ञ–विषयक मन्त्रो के सङ्ग्रहात्मक सूक्त को 'सहिता' कहते है, अर्थात् मन्त्रो के समूह का नाम ही सहिता है।

इस प्रकार सहिताओ मे सूक्तो, स्तोत्रो, गीतो एव मन्त्रो का सङ्कलन है। सहिताएँ सख्या मे चार है –

१. ऋक्-संहिता –

"**ऋच्यते स्तूयतेऽनया इति ऋक्**" अर्थात् जिसके द्वारा स्तुति की जाती है, ऐसे मन्त्रो को ऋक् या ऋचा कहते है। ऋक् का अर्थ है स्तुतिपरक मन्त्र। छन्दोबद्ध अर्थात् पद्यात्मक मन्त्रो को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते है। ऋचाओ के समूह को 'सूक्त' कहते है। वैदिक सहिताओ मे सबसे प्राचीन ऋक् सहिता है।

२. यजुः-संहिता –

"**गद्यात्मको यजुः**' एवं '**यजुर्यजतेः**" अर्थात् गद्य मे रचे गये यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रो को 'यजुष्' कहते है।

सहिताओ में दूसरा स्थान यजुर्वेद का है। यजुष् शब्द √यज् धातु (यज्देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु अर्थात् पूजा करने या यजन करने के अर्थ मे) से निष्पन्न है। जिससे स्पष्ट है कि इसका सीधा सम्बन्ध यजन या यज् से है।

यजुर्वेद को '**अध्वर्युवेद**' भी कहा जाता है। क्योकि यह वेद अध्वर्यु' नामक ऋत्विक के मन्त्रपाठ के लिए है।

यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं –

१. शुक्ल यजुर्वेद–वाजसनेयी सहिता (आदित्य सम्प्रदाय)

२. कृष्ण यजुर्वेद (ब्रह्म सम्प्रदाय)

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ है –

१. माध्यन्दिन या वाजसनेयी शाखा

२. काण्व शाखा

कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ है –

१. कठ २. कपिष्ठल ३. तैत्तिरीय ४. मैत्रायणी

३. साम-संहिता –

"**गीतीषु सामाख्या**" (पूर्व मीमांसा)

इस संहिता में उन मन्त्रो का सङ्कलन है जिनका उद्गाता नामक ऋत्विज् यज्ञ के अवसर पर उच्च स्वर से गान करता था सामवेद मे मुख्यत· सोमयाग से सम्बद्ध मन्त्रो का सङ्कलन है अत· इसे सोम प्रधान वेद भी कह सकते हैं। सोम को "**पवमान**" भी कहते है।

सामवेद की सम्प्रति तीन शाखाएँ उपलब्ध है –

१. कौथुम २. राणायनीय ३. जैमिनीय

अथर्व-संहिता –

इस वेद मे उन मन्त्रो का सड्कलन है जिसका उच्चारण 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज् करता है। इसमे 'उपचार' और अभिचार' मन्त्रो का सड्ग्रह है। इसमे मारण–मोहन–उच्चाट मन्त्रो के साथ–साथ मन्त्र–तन्त्र एव औषधियो के प्रतिपादक मन्त्र भी है। यह वेद ऐहिक एव आमुष्मिक दोनो प्रकार के फल को देने वाला है।

इसकी केवल दो शाखाएँ उपलब्ध है –

१. शौनक–शाखा २. पैप्लाद–शाखा

ब्राह्मण-साहित्य –

संहिताओ के पश्चात् जिस साहित्य की रचना हुई उसे ब्राह्मण–भाग के नाम से जाना जाता है। ब्रह्मन् शब्द से 'अण्' तद्धित प्रत्यय करने पर 'ब्राह्मण' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है – 'ब्रह्म का' अर्थात् ब्रह्म से सम्बन्धित रचना आदि। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है – "ब्रह्म से सम्बन्धित व्याख्या" या "ब्रह्म से सम्बन्धित व्याख्या– ग्रन्थ"।

'ब्राह्मण' शब्द में आये 'ब्रह्म' शब्द से यहाँ 'मन्त्र' और 'यज्ञ' ये दोनो ही अर्थ गृहीत है। इस प्रकार मन्त्र और यज्ञ इन दोनो की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ को ब्राह्मण–ग्रन्थ कहते है।

आचार्य भट्टभास्कर ने भी स्वरचित "तैत्तिरीय सहिता" के भाष्य मे 'ब्राह्मण–ग्रन्थ के स्वरूप का परिचय इसी रूप मे दिया है। उनके अनुसार–

"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानो ग्रन्थः"।

(तैत्तिरीय–संहिता, १–५)

अर्थात् (यज्ञरूपी) कर्म को "ब्राह्मण" कहते है तथा उस (यज्ञ) के मन्त्रो की व्याख्या करने वाले को भी 'ब्राह्मण' कहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि 'यज्ञ' की व्याख्या करने वाले और 'यज्ञमन्त्रो' की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाते है। ब्राह्मण के तीन भाग है– **१.** ब्राह्मण **२.** आरण्यक **३.** उपनिषद्, इनमे कर्मकाण्ड को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

वेद की समस्त सहिताओ से सम्बन्धित निम्नलिखित ब्राह्मण ग्रन्थ है –

१. ऋग्वेद के ब्राह्मण –	१. ऐतरेय–ब्राह्मण
	२. कौषीतकी–ब्राह्मण
२. शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण –	१. शतपथ–ब्राह्मण
३. कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण –	१. तैत्तिरीय–ब्राह्मण
४. सामवेद के ब्राह्मण –	१. ताण्ड्य–ब्राह्मण
	२. षड्विश–ब्राह्मण
	३. सामविधान ब्राह्मण
	४. जैमिनीय ब्राह्मण
५. अथर्ववेद के ब्राह्मण –	१. गोपथ–ब्राह्मण

आरण्यक –

आरण्यक ब्राह्मण के ही भाग है। एकान्त जनशून्य अरण्य मे ऋषियो एव मुनियो ने ब्रह्मचर्य में रत होकर जिस विद्या का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया वे 'आरण्यक' कहे जाते है। अरण्य मे पढे जाने के कारण इन्हे 'आरण्यक' कहा जाता है।

'अरण्ये भवः आरण्यकः' अरण्य + वुञ् प्रत्यय से आरण्यक पद निष्पन्न होता है। ब्राह्मण भाग के उपासनाकाण्ड को 'आरण्यक' कहते हैं। आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण–ग्रन्थो के पूरक है।

वेद की समस्त संहिताओं से सम्बन्धित आरण्यक निम्नलिखित है –

१. ऋग्वेद के आरण्यक –	१. ऐतरेयारण्यक
	२. शाड्खायन–आरण्यक
२. शुक्लयजुर्वेद के आरण्यक –	१. माध्यन्दिन–वृहदारण्यक
	२. काण्व–वृहदारण्यक
३. कृष्ण यजुर्वेद के आरण्यक –	१. तैत्तिरीयारण्यक
	२. मैत्रायणी–आरण्यक

४. सामवेद के आरण्यक – १. छान्दोग्यारण्यक

२. जैमिनीयारण्यक

५. अथर्ववेद से सम्बन्धित कोई भी आरण्यक उपलब्ध नही होता है।

उपनिषद् –

ब्राह्मण भाग के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते है। आत्मा को ब्रह्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान 'उपनिषद्' नाम से अभिहित किया जाता है। अतएव इसका अपर नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण इसे 'वेदान्त' भी कहते है। उपनिषद् आरण्यको के ही विशेष अग है।

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'उपनिषद्' शब्द 'उप' और नि उपसर्ग पूर्वक √सद्लृ धातु से बनाया गया है। √सद्लृ धातु का प्रयोग तीन अर्थो मे होता है –

१. विशरण अर्थात् नाश होना।

२. गति अर्थात् प्राप्त करना या जाना।

३. अवसादन अर्थात् शिथिल होना।

इस प्रकार 'उपनिषद्' से यहॉ अभिप्राय यह है कि इनके (उपनिषदो) के अध्ययन से अविधा का नाश होता है, 'ब्रह्म ज्ञान' की प्राप्ति होती है और सासारिक दुख शिथिल होता है। अत 'उपनिषद्' से मुख्य अभिप्राय तो 'ब्रह्म–विद्या' से ही है, किन्तु गौण रूप से 'ब्रह्म–विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थो, को भी उपनिषद् कहा जाता है।

उपनिषद् शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक √सद् (बैठना) धातु से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपनिषद् शब्द का अभिप्राय है– गुरू के समीप बैठना। गुरू के समीप बैठने का अभिप्राय है – गुरू के समीप बैठकर रहस्यमय ज्ञान को प्राप्त करना।

इस प्रकार 'उपनिषद्' वे ग्रन्थ है, जिसमे उस विद्या का कथन हुआ है, जो ब्रह्म से सम्बन्ध रखती है और जिसे प्राप्त करने के लिए शिष्य का गुरू के अति निकट रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से 'उपनिषद्' और 'रहस्य' ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। संक्षेप मे 'उपनिषद्' वह रहस्यमय ब्रह्मविद्या है, जिसको गुरू के सम्पर्क में रहकर, एकान्त में सीखा जाता है।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, परन्तु वेदो से सम्बन्धित अधोलिखित उपनिषद् ही प्रमुख माने जाते हैं –

१.	ऋग्वेद से सम्बन्धित –	१.	ऐतरेय
		२.	कौषीतकी
२.	शुक्ल–यजुर्वेद से सम्बन्धित –	१.	ईशावास्योपनिषद्
		२.	वृहदारण्यकोपनिषद्
३.	कृष्ण–यजुर्वेद से सम्बन्धित –	१.	तैत्तिरीय
		२.	महानारायण
		३.	मैत्रायणीय
		४.	कठोपनिषद्
		५.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
४.	सामवेद से सम्बन्धित –	१.	छान्दोग्योपनिषद्
		२.	केनोपनिषद्
५.	अथर्ववेद से सम्बन्धित –	१.	मुण्डकोपनिषद्
		२.	माण्डूक्योपनिषद्
		३.	प्रश्नोपनिषद्

वेदाङ्ग या सूत्र-साहित्य –

वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण एव वेदो के अध्ययन मे सहायक तथा वेदो की सम्यक् वेदो रक्षा करने वाले साहित्य को वेदाङ्ग कहते है। वेदाङ्गो की वेद के भाग के रूप मे गणना नही की गयी है। किन्तु वेद से अन्तरङ्ग सम्बन्ध होने के कारण वैदिक–साहित्य के अन्तर्गत इनका परिगणन होता है।

वेदाङ्ग साहित्य मे प्राय. सूत्र–शैली को अपनाया गया है, अत कुछ विद्वानो ने इसे **'सूत्र-साहित्य'** या **सूत्र** भी कहा है। कम से कम शब्दों मे वृहद् अर्थ का ज्ञान कराने वाले साहित्य को "सूत्र–साहित्य" कहते हैं।

वेद के ६ अङ्ग या भाग हैं जिन्हे ६ शास्त्र के रूप में जाना जाता है। वे इस प्रकार है –

१.	शिक्षा	२.	व्याकरण
३.	छन्द	४.	निरूक्त
५.	ज्योतिष्	६.	कल्प

पाणिनीय शिक्षा मे वेद–पुरूष के ६ अङ्गों के रूप में ६ वेदाङ्गों का वर्णन है –

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौकल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

(पाणिनि शिक्षा, ४१,४२)

६ वेदाङ्गो को पुन. दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है –

१. कर्मकाण्ड–सम्बन्धी – कल्प–वेदाङ्ग, ज्योतिष् वेदाङ्ग

२. वेदपाठ–सम्बन्धी – शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त और छन्द वेदाङ्ग

१. शिक्षा –

''स्वरवर्णाद्युच्चारण यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा''

(सायण, ऋग्वेद भाष्य, पृष्ठ ४६)

स्वरवर्णादि के उच्चारण की शिक्षा जिसमे दी जाती है उसे शिक्षा–ग्रन्थ कहते है। शिक्षा वेदाङ्ग को हम ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा का प्राचीनतम शास्त्र कह सकते है। शिक्षा वेद की नासिका है। शिक्षा–ग्रन्थों मे प्रमुख 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थ है।

प्रातिशाख्य-ग्रन्थ –

वेदों से सम्बन्धित प्रातिशाख्य–ग्रन्थ निम्नलिखित है –

ऋग्वेद –	१.	ऋक्प्रातिशाख्य–शौनक
शुक्लयजुर्वेद –	१.	वाजसनेयीप्रातिशाख्य–कात्यायन
कृष्ण यजुर्वेद –	१.	तैत्तिरीय–प्रातिशाख्य
सामवेद –	१.	पुष्पसूत्र–प्रातिशाख्य
	२.	ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य
अथर्ववेद –	१.	अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र
	२.	अथर्वप्रातिशाख्य
	३.	चतुरध्यायिका

शिक्षा-साहित्य या शिक्षा-ग्रन्थ – प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ निम्नलिखित है –

१ पाणिनीय–शिक्षा, २ याज्ञवल्क्य–शिक्षा, ३ वासिष्ठी–शिक्षा, ४ कात्यायनी–शिक्षा, ५ माण्डूक–शिक्षा, ६ पराशरी–शिक्षा, ७ अमोघानन्दनी–शिक्षा, ८ माध्यन्दिनी–शिक्षा, ९ केशवी–शिक्षा, १० नारदीय शिक्षा, ११ माण्डव्यी–शिक्षा।

२. व्याकरण –

''व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम्''।

जिससे भाषा मे प्रयुक्त शब्दो की व्युत्पत्ति की जाती है उसे व्याकरण कहते है। यह व्युत्पत्ति शब्दो के अर्थो का भी निर्धारण करती है।

इस प्रकार व्याकरण प्रकृति–प्रत्यय को बतलाकर पद के शुद्ध स्वरूप का और पद के अर्थ का निश्चय कराता है।

व्याकरण वेद का मुख है। सस्कृत के प्रमुख व्याकरणकार–पाणिनि है, और इनके व्याकरण–ग्रन्थ का नाम अष्टाध्यायी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'स्वरवैदिकी' प्रकरण का सम्बन्ध वैदिक व्याकरण से है, तथापि मुख्य रूप से पाणिनि का व्याकरण सस्कृत–व्याकरण ही है। यह सस्कृत व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ है।

३. छन्द –

''यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः''

(कात्यायन–सर्वानुक्रमणी)

अक्षरों के परिमाण को छन्द कहते हैं। वैदिक छन्दो मे अक्षरो की गणना होती है, मात्राओ की नही।

'छन्दांसि छादनात्' (निरूक्त, ७/३/)

अर्थात् छन्द भावों को आच्छादित करके समष्टि रूप प्रदान करते है। छन्द वेदाड्ग वेद को गति प्रदान करता है। वेद के मन्त्रो के अर्थों का ज्ञान तभी होता है, जब पहले मन्त्र के ऋषि, देवता एवं छन्द का ज्ञान होता है।

इस प्रकार मन्त्र–ज्ञान के लिए अर्थज्ञान और अर्थज्ञान के लिए छन्द का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। छन्द के ज्ञान के बिना मन्त्रों का शुद्ध पाठ भी नहीं हो सकता है।

अक्षरगणना के साथ ही वैदिक छन्दो की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें चरणो की सख्या कम से कम एक और अधिक से अधिक पॉच होती है। जबकि लौकिक छन्दो मे सदैव चार ही चरण होते हैं। छन्द वेदाड्ग को वेद पुरूष का पैर कहा गया है।

४. **निरूक्त –**

''अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरूक्तम्।

(सायण)

अर्थात् अर्थज्ञान के विषय मे, जहाँ स्वतन्त्र रूप से पदसमूह का कथन किया गया है वह 'निरूक्त' कहलाता है निरूक्त को वेद का श्रोत कहा गया है। इसमे वैदिक मन्त्रस्थ पदो के निर्वचन की पद्धति बतायी गयी है। निरूक्त को व्युत्पत्तिशास्त्र एवं 'निर्वचनशास्त्र' भी कहते है। निरूक्त शब्द निर् उपसर्ग पूर्वक √वच् धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। निरूक्त का प्रतिपाद्य विषय वैदिक शब्दो का निर्वचन करना है। निर्वचन शब्द का अर्थ है आशिक रूप से या पूर्णतया व्युत्पत्ति की दृष्टि से दुरूह शब्द मे अन्तर्हित अर्थ को विग्रह के द्वारा पुर्णतया अभिव्यक्ति देना। निरूक्त वेदाड्ग मे वेद मे आये हुए कठिन पदो (शब्दो) का निर्वचन किया गया है, जो अर्थज्ञान में सहायक है। यास्क का निरूक्त इस वेदड्ग का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

५. **ज्योतिष् –**

''कालविज्ञापकं शास्त्रं ज्योतिषम्''।

यज्ञ एवं अनुष्ठान आदि विभिन्न क्रियाओ के लिए उपयुक्त काल एव मुहूर्त का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को ज्योतिष् वेदड्ग कहते है। यह कर्मकाण्ड सम्बन्धी वेदाड्ग है। ज्योतिष् वेदाड्ग को वेद पुरूष का चक्षु कहते है।

६. **कल्प –**

''कल्प्यते समर्थ्यते यज्ञयागादिप्रयोगः यस्मिन् तत्कल्पसूत्रम्।''

जिसमें वैदिक कर्मकाण्डीय और यज्ञयागादि अनुष्ठानों की विधियो का व्यवस्थित रूप से वर्णन, प्रतिपादन एवं समर्थन किया जाता है, उसे कल्प वेदाड्ग कहते हैं।

इस प्रकार याज्ञिक विधानो को 'कल्प' कहा जाता है। वेदों के कर्मकाण्डीय एव याज्ञिक अनुष्ठान के ज्ञान के लिए 'कल्प' नामक वेदाड्ग का अध्ययन आवश्यक है।

वेद में विहित कर्मो को क्रमश व्यवस्थित करने वाला शास्त्र 'कल्प' कहलाता है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रतिपादित याग विधान के नियमों को सक्षेप मे प्रतिपादित करने की दृष्टि से कल्पसूत्रो का निर्माण किया गया है। कल्प सूत्र चार प्रकार के है –

१. श्रौतसूत्र
२. गृह्यसूत्र
३. धर्मसूत्र
४. शुल्वसूत्र

वेदों का महत्त्व –

मानव जीवन मे वेदो की उपयोगिता एव महत्ता अविस्मरणीय तथा अमूल्य है। हिन्दू धर्म के लिए जन्म के भी पूर्व से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले सोलह सस्कारो का अत्यधिक महत्त्व है, और इन सस्कारो का सम्पादन वेद –मन्त्रो के बिना कदापि सम्भव नही है। हमारी दैनिक प्रार्थना, देवी– देवता उपासना, हमारे अनुष्ठान, पर्व, यज्ञ उत्सव, मान्यताये एव परम्पराएँ आदि सभी वेदो से प्रभावित है। परम धार्मिक श्री लोकमान्य तिलक ने तो हिन्दू धर्म का लक्षण ही ''प्रमाण्यबुद्धिर्वेदेषु'' किया है अर्थात् हिन्दू वही है जो वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है।

वस्तुत. प्रामाणिकता ही नही व्यावहारिकता के लिए भी वेदो का ज्ञान अत्यावश्यक है। हमारी प्रत्येक धारणा एव विचार का मूलस्रोत वेद ही है। वेद हिन्दू–धर्म, सस्कृति एव सभ्ययता के मूल आधार है।

मनु ने अपने ग्रन्थ 'मनुस्मृति' मे वेद को सभी धर्मो के मूल के रूप मे स्वीकार किया है–

''वेदोऽखिलोधर्ममूलम्''

मनु ने ''सर्वज्ञानमयो हि स·'' कह कर वेद को सभी प्रकार के ज्ञान से युक्त घोषित किया है।

तात्पर्य यही है कि हमारे जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नही है जिसका दर्शन हमे वेदो मे न होता हो। तीनो लोको, तीनों कालों, चारों वर्णो तथा चारो आश्रमो का ज्ञान वेदो के द्वारा ही सम्भव है।

चातुर्वर्ण्य त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्व वेदात् प्रसिध्यति।।

(मनुस्मृति)

वेद की इस सर्वज्ञानमयता एवं सर्वप्रकाशकता के कारण ही भारतीयो की यह मान्यता है कि हम सभी शिक्षित लोगों के लिए वेद का अध्ययन करना परमावश्यक है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरूते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।

(मनुस्मृति)

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।''

(मनुस्मृति)

इस प्रकार मानव जीवन में ज्ञान की दृष्टि से वेदों का परम महत्त्व है।

वेदों के सम्यक् अर्थज्ञान के महत्त्व को निरूक्तकार यास्क ने इस प्रकार कहा है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा।।

अर्थात् जो व्यक्ति वेद को पढकर उसका अर्थ नही जानता, वह भार ढोने वाला स्थाणु–ठूँठ वृक्ष है, अर्थात् वह शुष्क वृक्ष के समान व्यर्थ जीवन वाला होता है। जिस प्रकार सूखा वृक्ष ठूँठ फलादि नही देता है अर्थात् व्यर्थ होता है, उसी प्रकार वेद के अर्थ को न जानकर वेद को पढने वला व्यर्थ होता है, उससे कोई लोककल्याण या स्वकल्याण भी नही होता है। इसके अतिरिक्त जो वेद के अर्थ को जानने वाला होता है वह सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान से समस्त पापो को नष्ट करके स्वर्ग प्राप्त करता है–

उत त्वं सख्ये स्थिर पीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि बार्जिनेषु।

अन्धेनवाचरति माययैष बाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्।।

अर्थात् कुछ लोग देववाणी के निश्चित अर्थ को जानते है उन्हे कठिन शब्दो के प्रयोग अथवा अर्थज्ञान के विषय मे कोई पराजित नही कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वेदो की उपयोगिता एवं परममहत्ता सिद्ध होती है।

ऋग्वेद-संहिता का परिचय एवं अर्थ-निरूपण –

ऋग्वेद विश्व–साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थरत्न है, क्योकि इसके मन्त्र प्रत्येक सहिताओ मे उपलब्ध है। भाषा–शैली, व्याकरण एव मन्त्रो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह किसी एक ऋषि की रचना नही, किन्तु विभिन्न कालो मे विभिन्न ऋषियो द्वारा रचित रचनाओं का सङ्ग्रहग्रन्थ है। इसलिए इसे ऋकसहिता भी कहते हैं, अर्थात् ऋचाओं के सङ्ग्रह का नाम ऋक् सहिता है।

ऋक् या ऋचा का अर्थ –

छन्दोबद्ध अर्थात् चरणो से युक्त पद्यात्मक मन्त्रो को ऋक् या ऋचा कहते है। ऋक् या ऋचा का अर्थ है स्तुतिपरक मन्त्र। ऋग्वेद के छन्दोबद्ध होने के कारण इसे 'छन्दस् वेद' भी कहते है।

'ऋच्यते स्तूयतेऽनया इति ऋक्' अर्थात् जिनके द्वारा स्तुति की जाती है ऐसे मन्त्रो को ऋक् या ऋचा कहते हैं। वेद का अर्थ है – ज्ञान, लाभ, विचार, सत्ता।

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यास्थ (जैमिनी सूत्र)

अर्थात् जिन मन्त्रों मे अर्थवशात् पादो की व्यवस्था है उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते है। चारों वेदों में सबसे प्राचीन तथा अतिमहत्त्वपूर्ण ऋग्वेद है।

संहिता का अर्थ –

संहिता का अर्थ है–सङ्ग्रह अर्थात् ऋचाओ के विशाल सङ्ग्रह को ही ऋक्सहिता या ऋग्वेद संहिता कहते है। ऋचाओं के समूह को 'सूक्त' कहते है।

ऋग्वेद की शाखाएँ –

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखाएँ है (एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्)। शौनक के 'चरणव्यूह' नामक परिशिष्ट ग्रन्थ के अनुसार ऋग्वेद की केवल पॉच ही शाखाएँ है –

१. शाकल

२. वाष्कल

३. आश्वलायन

४. शाड्खायन

५. माण्डूकायन

उपर्युक्त पॉच शाखाओ मे केवल शाकल शाखा ही पूर्ण रूप से उपलब्ध है, वाष्कल–शाखा अपूर्ण है, और शेष शाखाएँ अनुपलब्ध हैं। शाकल–शाखा के प्रवर्तक शाकल ऋषि है। शाकल शाखा अन्य शाखाओ की अपेक्षा अधिक प्रचलित है।

सामवेद की कौथुमशाखा मे केवल ७५ मन्त्रो को छोडकर शेष सम्पूर्ण मन्त्र शाकल–शाखा के ही है। अथर्ववेद की शौनक–सहिता मे शाकल शाखा के १२०० मन्त्र पाये जाते है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा और शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि–सहिता मे शाकलशाखा के बहुत से मन्त्र प्राप्त होते है, इसलिए ऋग्वेद का अन्य वेदो की अपेक्षा सर्वाधिक महत्त्व है।

ऋग्वेद का रचना-काल –

ऋग्वेद के महत्त्व को सभी विद्वानो के द्वारा स्वीकार कर लेने पर भी उसके रचना–काल के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है।

सर्वप्रथम वेदों मे श्रद्धा–आस्था रखने वाले भारतीय विद्वानों की धार्मिक दृष्टि के अनुसार वेद नित्य है। वेद का आविर्भाव ईश्वर के द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में ही हुआ है। इस रूप मे वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और उसके काल–निर्णय का प्रश्न ही नही उठता।

धार्मिक दृष्टि से भिन्न, वेदो को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वाले विद्वानो के अनुसार ऋग्वेद किसी काल–विशेष की रचना है। इस कोटि के पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो के विचार इस प्रकार है।

१. वेबर –

सर्वप्रथम वेबर महोदय ने ही वेदो के रचनाकाल के विषय में अपने विचार व्यक्त किये है और उस सम्बन्ध में इनका मत है कि वेदों का रचनाकाल समग्र भारतीय साहित्य तथा ससार के अन्य सभी साहित्यो से प्राचीन है, किन्तु वेदों के रचनाकाल की निश्चित तिथि के विषय मे ये मौन ही रहे है।

२. मैक्समूलर –

इनके अनुसार वैदिक साहित्य चार कालो मे विभक्त है –१ छन्द काल, २ मन्त्र काल, ३ ब्राह्मण काल और, ४ सूत्र काल। मैक्समूलर के अनुसार यह सम्पूर्ण साहित्य बुद्ध से पहले लिखा जा चुका था। बुद्ध का काल ई० पूर्व ५वी शताब्दी है। बुद्ध से पूर्व १०० वर्ष पहले सूत्र काल, सूत्र काल से २०० वर्ष पहले ब्राह्मण काल, ब्राह्मण काल से २०० वर्ष पहले मन्त्र तथा मन्त्र काल से २०० वर्ष पहले छन्द काल के ग्रन्थो की रचना मैक्समूलर ने स्वीकार की है। इस प्रकार, मैक्समूलर के अनुसार ऋग्वेद का रचनाकाल १२०० ई० पूर्व निश्चित होता है।

३. ह्यूगो विंकलर –

एशिया माइनर मे, बोगाजकोई स्थान पर मिले, सधि–पत्र मे लिखित वैदिक देवता–इन्द्र, मित्र आदि के नामो से इन्होने अनुमान लगाया है कि १४०० ई० पूर्व वैदिक सूक्त रचे जा चुके थे।

४. बुलर –

ऋग्वेद मे प्राप्त भौगोलिक तत्त्वो के आधार पर इनका मत है कि जब वैदिक आर्य अफगानिस्तान तथा भारत के उत्तरी कोने पर बसे थे, तभी ऋग्वेद की रचना हुई थी। इनके अनुसार यह समय १५०० से १२०० ई० पूर्व निश्चित होता है।

५. ह्विटने और केगी –

इन्होंने ऋग्वेद के सूक्तो की रचना का समय २००० से १५०० ई० पूर्व माना है, किन्तु इनका मत है कि अनुमान के आधार पर निश्चित, इस काल मे शताब्दियों का अन्तर होना सम्भव है।

६. मैक्डॉनल –

इनहोंने ऋग्वेद की भाषा और अवेस्ता की भाषा की तुलना के आधार पर तथा अन्य अनेक प्रमाण देकर ऋग्वेद का रचनाकाल १३०० ई० पूर्व माना है।

७. हॉग –

भाषा के आधार पर ही, हॉग ने वैदिक सूक्तो की रचना का समय २४०० ई० पूर्व से १४०० ई० पूर्व माना है।

८. जैकोबी –

संहिताओं तथा ब्राह्मण–ग्रन्थों में प्राप्त ज्योतिष् के सङ्केतों से इन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि वेदो की रचना ३००० ई० पूर्व हो चुकी थी।

९. बालगंगाधर तिलक –

इन्होने भी ज्योतिष् के आधार पर ही अपना निर्णय दिया है, किन्तु इनके अनुसार वेदो की रचना का समय ६००० ई० पूर्व ठहरता है।

१०. अविनाशचन्द्र –

इनका काल–निर्णय, भूगर्भशास्त्र पर आधारित है और उसके अनुसार वेदो का रचनाकाल २५००० ई० पूर्व निश्चित होता है।

११. बलदेव उपाध्याय –

इन्होने अनेक पाश्चात्य विद्वानो के साथ अपनी सहमति प्रकट करते हुए, वेदो का रचनाकाल आज से ५००० वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा से ३००० वर्ष पूर्व स्वीकार किया है।

१२. विण्टरनिट्ज –

इन्होंने उपर्युक्त सभी मतो पर विचार करने के उपरान्त ऋग्वेद का रचनाकाल २५०० ई० पूर्व से २००० ई० पूर्व के बीच मानना अधिक उपयुक्त माना है। साथ ही, इनका परामर्श है कि "बुद्धिमत्ता इसी मे है कि हम वैदिक साहित्य की कोई निश्चित तिथि निर्धारित न करें तथा इसे अतिप्राचीन या अतिनवीन मानने के अतिवाद से बचे रहें"।

ऋग्वेद का विभाजन –

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चारो वेदो में सबसे विशालकाय ग्रन्थ ऋग्वेद है। ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायान, माण्डूकायन ये पॉच शाखाएँ है। सम्प्रति ऋग्वेद की केवल एक शाकल–शाखा की संहिता प्राप्त होती है।

ऋग्वेद–संहिता की शाकल–शाखा की सहिता मे ऋग्वेद की ऋचाओ का विभाजन दो रूप मे किया गया है–

१. अष्टकक्रम – वाष्कल के अनुसार

२. मण्डलक्रम – शाकल के अनुसार

अष्टक-क्रम –

इसमें मन्त्रों की संख्या एवं गणना की दृष्टि से सूक्तों का विभाजन सुन्दर ढग से किया गया है। अष्टक–विभाजन में ऋग्वेद की सम्पूर्ण ऋचाओं को आठ समान भागो मे बॉटा गया है। जिसे 'अष्टक'

कहते है। प्रत्येक अष्टक मे आठ अध्याय है, अत सम्पूर्ण ऋग्वेद मे ८ x ८ = ६४ अध्याय है। प्रत्येक अध्याय मे वर्ग है जिनकी सख्या भिन्न–भिन्न है। यह सख्या २५ से ४६ तक है। प्रत्येक वर्ग मे मन्त्रो की सख्या ५ से ९ तक उपलब्ध होती है।

८ – अष्टक

६४ – अध्याय

२००६ – वर्ग

१०५५२ – मन्त्र

मण्डल-क्रम –

ऋषि और देवता के अनुसार ऋग्वेद की सम्पूर्ण ऋचाओ को १० मण्डल मे विभक्त किया गया है। इन १० मण्डलो के आधार पर ही ऋग्वेद को **दशतयी** भी कहा गया है। प्रत्येक मण्डल मे अनुवाक है, अनुवाको मे सुक्त है, सूक्तो मे ऋचाएँ अर्थात् मन्त्र है।

१० – मण्डल

८५ – अनुवाक

१०२८ – सूक्त

१०५५२ – मन्त्र

मण्डल–क्रम अधिक महत्त्वशाली, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक माना जाता है।

मण्डलक्रमानुसार ऋग्वेद के अनुवाक, सूक्त और मन्त्रों की संख्या –

ऋग्वेद की शाकलशाखा की सहिता मे मण्डलक्रमानुसार अनुवाक, सूक्त और मन्त्रो की सख्या इस प्रकार है –

मण्डल	अनुवाक	सूक्त	मन्त्र या ऋचा
प्रथम	२४	१९१	१९७६
द्वितीय	०४	४३	४२९
तृतीय	०५	६२	६१७
चतुर्थ	०५	५८	५८९
पञ्चम	०६	८७	७२७
पष्टम	०६	७५	७६५

सप्तम	०६	१०४	८४१
अष्टम	१०	१०३	१७४६
नवम	०७	११४	११०८
दशम	१२	१९१	१७५४
	८५	१०२८	१०५५२

ऋग्वेद की शाकल शाखा की संहिता मे कुल एक लाख तिरपन हजार आठ सौ छब्बीस (१५३८२६) शब्द और चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) अक्षर है।

सामान्यत प्रत्येक सूक्त में दस ऋचाएँ और प्रत्येक ऋचा मे १५ शब्द तथा प्रत्येक शब्द मे तीन अक्षर है। चौदह छन्दों मे ऋग्वेद के समस्त मन्त्रो की रचना हुई है।

मण्डलक्रमानुसार ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि –

''**ऋषयो मन्त्रद्रटारो न तु कर्त्तारः**'' अर्थात् ऋषि मन्त्रो के द्रष्टा है, कर्त्ता नही। तपस्या–रत ऋषियो के अन्त करण में ईश्वरीय प्रेरणा से भावो की उद्भूति हुई, जिन्हे ऋषियो ने शब्दो का रूप दिया। इसलिए वे मन्त्रों के द्रष्टा कहे जाते है। वेदों को इसीलिए अपौरूषेय अथवा ईश्वर–कृत, अनादि, स्वयभूत एव अकृत कहा जाता है।

मण्डल	**ऋषि-नाम**
प्रथम	मधुछन्दा, मेधातिथि दीर्घतमा अगस्त्य आदि
द्वितीय	गृत्समद एव वशज
तृतीय	विश्वामित्र
चतुर्थ	वामदेव
पञ्चम	अत्रि
षष्ठम	भरद्वाज एवं वंशज
सप्तम	वशिष्ठ एव वंशज
अष्टम	कण्व, भृगु अड्गिरस् आदि
नवम	सोम पवमान
दशम	त्रित, विमद, इन्द्र, श्रद्धा, कामायनी आदि।

ऋग्वेद के पदपाठकार –

ऋग्वेद का पदपाठ **शाकल्य** ने प्रस्तुत किया है। शाकल्य महोदय ऋग्वेद के पदपाठ के रचयिता है।

शाकल्य के अतिरिक्त रावण ने भी ऋग्वेद के ऊपर अपना भाष्य तथा पदपाठ भी प्रस्तुत किया है।

ऋग्वेद से सम्बन्धित ऋत्विक् –

ऋग्वेद के मन्त्रो का पाठ **'होता'** नामक ऋत्विक करता है।

ऋग्वेद का रचना-विन्यास-क्रम –

ऋग्वेद को पौरूषेय मानने वाले भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार ऋग्वेद के सभी मण्डलो की रचना और संग्रन्थन एक ही काल मे नही हुआ है। उनके अनुसार ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलो की रचना में शताब्दियो का अन्तराल रहा है। एक भारतीय विद्वान् **'घाटे'** महोदय ने ऋग्वेद की रचना के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"It is rether a compitition of several books which can be individually distingushed from other "

अर्थात् ऋग्वेद में कई ऐसे अशो को मिलाकर एक साथ रख दिया गया है, जिन्हे एक–एक इकाई के रूप मे पृथक्–पृथक् पहचाना जा सकता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद की रचना और ग्रन्थन एक ही काल मे नही हुआ है। सक्षेप में ऋग्वेद के रचना–विन्यास–क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है–

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के ६ मण्डल सबसे प्राचीन है। ये ६ मण्डल ही ऋग्वेद के केन्द्रीय भाग हैं। इन ६ मण्डलो मे से प्रत्येक मण्डल एक ही ऋषि या एक ही ऋषि परिवार द्वारा रचित या दृष्ट हैं। इसी कारण इन मण्डलो को **परिवार-मण्डल** या **वंश-मण्डल, गोत्र-मण्डल,** या **गृह-मण्डल** भी कहते हैं। इन ६ मण्डलों को रचनाविन्यास क्रम में प्रथम स्थान प्राप्त है।

रचनाविन्यासक्रम मे द्वितीय स्थान आठवें मण्डल को प्राप्त है। इसमे अधिकांश सूक्त कण्व–परिवार के हैं। इसमें ११ बालखिल्य सूक्त हैं। 'खिल' शब्द का अर्थ है – परिशिष्ट या जुडे हुए मन्त्र।

तीसरा स्थान नवम मण्डल का है, इसे **पवमान** या **सोम-मण्डल** भी कहा जाता है। क्योकि इसमें सभी सूक्त सोम सम्बन्धित है।

२ से ७ मण्डल सबसे प्राचीन और दशम मण्डल सबसे अर्वाचीन है। अन्तिम स्थान दशम मण्डल को प्राप्त हैं। दशम मण्डल की तुलना मे भी प्रथम मण्डल प्राचीन है।

ऋग्वेद का वर्ण्य विषय –

ऋग्वेद विश्व साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है। क्योकि इसके मन्त्र प्रत्येक सहिताओ मे उपलब्ध है। ऋग्वेद मे भारतीय–सस्कृति, धर्म–दर्शन, ज्ञान–विज्ञान, इतिहास एव काव्य की विविध सामग्री उपलब्ध है। इसे समस्त ज्ञान का मूल स्रोत माना जाता है। भारतीयो के आचार–विचार, रहन–सहन, धार्मिक–विश्वास, दार्शनिक–चिन्तन, सामाजिक–व्यवस्था एव ऐतिहासिक अध्ययन की विपुल सामग्री ऋग्वेद की ऋचाओ में उपलब्ध है।

मैक्समूलर का कथन है कि "विश्व साहित्य मे वेद उस रिक्त स्थान की पूर्ति करता जो किसी भाषा की साहित्यिक कृति मे सम्भव नही है। यह हमे उस काल तक पहुँचा देता है जिसका हमारे पास कोई अभिलेख नही है।"

विन्टरनिट्ज का कथन है कि "भारतीय धर्म के विकास की प्रारम्भिक दशा को भारतीय लोगो के वस्तुतः समग्र मानव–जाति के पुराणशास्त्र को जानने के लिए ऋग्वेद के सूक्तो से अधिक मूल्यवान् सामग्री विश्व में नहीं है।"

ऋग्वेद में वर्णित ऐतिहासिक एव सास्कृतिक सामग्री के अध्ययनोपरान्त कहा जा सकता है कि ऋग्वेद विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और इसे विश्व की सर्वप्रथम कृति होने का गौरव प्राप्त है। अत प्राचीन भारतीय इतिहास, एव संस्कृति, पुराणशास्त्र, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, धार्मिक एव दार्शनिक मान्यताओ के ज्ञान को हम ऋग्वेद के अध्ययन से प्राप्त कर सकते है।

ऋग्वेद की ऋचाओं का प्रतिपाद्य विषय के आधार पर वर्गीकरण –

यास्काचार्य ने ऋग्वेद–सहिता की समस्त ऋचाओ को तीन वर्गो मे विभाजित किया है –

१. प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ

२. परोक्षकृत ऋचाएँ

३. आध्यात्मिक ऋचाएॅ

घाटे महोदय ने भी इन्ही तीन वर्गो को दृष्टि में रखते हुए ऋग्वेद के समस्त सूक्तो की तीन कोटियाँ निर्धारित की है –

१. धार्मिक–सूक्त

२. दार्शनिक–सूक्त

३. धर्मनिरपेक्ष सूक्त

ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त –

ऋग्वेद के सम्पूर्ण सूक्तो मे ऋग्वेद के प्रतिपाद्य–विषय को हम सक्षेप मे निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत प्रस्तुत कर सकते है।

१. देवस्तुतिपरक एवं प्रार्थना-परक सूक्त –

ऋग्वेद के अधिकाश सूक्त स्तुतिपरक है। स्तुतियो के साथ ही ऋग्वेद मे प्रार्थनाएँ भी है। ऋग्वेद का ऋषि जब किसी देवता की स्तुति करता है, तो सूक्त के अन्तिम भाग मे वह देवता से गायो, अश्वो, वीर पूत्रो और अन्न आदि वस्तुओ को देने की प्रार्थना भी करता है। यद्यपि स्तुतियो मे इन्द्र, अग्नि, वरूण और सोम की स्तुतियॉ ही अधिक है। इनमे इन्द्र देवता की सर्वाधिक स्तुति हुई है। किन्तु इसके अतिरिक्त मरूत्, सोम, सूर्य, सविता, पूषन्, विष्णु, वृहस्पति, पर्जन्य आदि देवो की, स्तुति भी की गयी है। स्तुतियो तथा आहुतियों के द्वारा जो कर्म किया जाता है उसे यज्ञ कहते है यज्ञ करना आर्यो का धर्म रहा है तथा स्तुतिप्रधान होने से ऋग्वेद में जिन देवताओ की स्तुति की गयी है उनकी सख्या अधिक होने के कारण ही ऋग्वेद का धर्म बहुदेवतावाद है।

२. दानस्तुति-सूक्त –

ऋग्वेद मे कुछ सूक्त दानस्तुतिपरक भी है। ऋग्वेद मे कितने सूक्तो मे दानस्तुतियॉ है, इस विषय में विद्वानो मे मतभेद है। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' मे कात्यायन ने ऐसे सूक्तो की सख्या केवल २२ बतायी है। जर्मन विद्वान 'विण्टरनिट्ज' के अनुसार ४० सूक्तो मे दान–स्तुतियो का वर्णन है।

दानस्तुति परक सूक्तो में वैदिक ऋषियों ने अपने यजमान राजा की या अपने आश्रयदाता की दानशीलता की या पराक्रम की प्रशंसा की है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के पराक्रम की स्तुति के कारण इन सूक्तों को **'विजय-सूक्त'** तथा राजा की दानशीलता की प्रशंसा होने के कारण **'प्रशंसा-सूक्त'** भी कहते है।

दानस्तुतियो मे अधिकाश यज्ञीय–मन्त्रों के ही रूप मे है। दानस्तुतिपरक सूक्तो के पहले इन्द्र की स्तुति है और बाद मे दान–दक्षिणा देने वाले राजा की स्तुति है, परन्तु प्रथम मण्डल का १२६ वॉ सूक्त पूरा का पूरा दानस्तुति के ही रूप में है।

ऋग्वेद की प्रमुख दानस्तुतियों मे **अभ्यावर्ती चायमान** –(६/२७/८), **पाकस्थामा कौरायण** – (८/३/२१, २४), **प्रकण्व** – (८/५५ और ८/५६), **सावर्णि** – (१०/६२/८, ११), आदि की दानस्तुतियॉ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ११७ वॉ सूक्त पूर्ण अशो मे दानस्तुति ही है।

३. दार्शनिक-सूक्त या सृष्टि सूक्त –

ऋग्वेद मे लगभग २२ सूक्त ऐसे है जिनमे उपनिषदो में विकसित उच्चकोटि के दार्शनिक विचारो के बीज मिलते है। इन सूक्तो मे १० वे मण्डल मे आये **'पुरूष-सूक्त'**, **'हिरण्यगर्भ-सूक्त'** तथा **'नासदीय-सूक्त'** का विशेष महत्त्व है।

'पुरूष' तथा 'हिरण्यगर्भ' सूक्त मे सभी पदार्थो का रचयिता प्रजापति को माना गया है और 'नासदीय–सूक्त' से सभी पदार्थो की उत्पत्ति सलिल से मानी गयी है। इन सूक्तो मे सृष्टि का विकास कही असत् से सत् के रूप मे, और कहीं अव्यक्त से व्यक्त के रूप मे दिखलाया गया है।

४. तान्त्रिक या ऐन्द्रजालिक सूक्त –

ऐसे सूक्त भी ऋग्वेद मे लगभग २२ है। इसमे रोग को दूर करने के लिए दरिद्रता दूर करने के लिए, शत्रु पर विजय पाने के लिए कीट आदि हानिकारक जीवो एव कुदृष्टि–जैसी अपकारक शक्तियो को दूर करने के लिए तन्त्र–मन्त्र आदि दिए गए है।

इन विषयों के प्रतिपाद्य सूक्तो मे **सपत्नघ्न-सूक्त** – (१०/१६४) तथा **मन-आवर्तन-सूक्त-** (१०/५८) आदि प्रमुख सूक्त है।

५. रोगनिवारक-अभिचारपरक सूक्त –

इन प्रकार के सूक्तों में १०/१६१ वॉ राजयक्ष्मा रोग निवारक सूक्त मे राजयक्ष्मा शब्द का प्रयोग ही नही किया गया बल्कि इस रोग से पीडित व्यक्ति का मृत्यु के पास से आहरण करने का भी स्पष्ट वर्णन है। १०/१६३ वे सूक्त मे यक्ष्मा के नाशन के उपाय का तथा शरीर के नाना अवयवो का भी वैज्ञानिक विवरण मिलता है। १०/६७ वे सूक्त में अथर्वण भिषग् ऋषि द्वारा औषधियो की स्तुति के लिए रचित औषधि–सूक्त में नाना प्रकार की औषधियों के रङ्ग–रुप तथा प्रभाव का वर्णन है। १/१६१ वॉ सूक्त विषैले सर्पदन्श मुक्ति के उपाय से सम्बन्धित है।

६. लौकिक-सूक्त –

ऋग्वेद मे लगभग २० सूक्त ऐसे है जिनमे सामाजिक रीति–रिवाजो का, जीवन मे आने वाली व्यावहारिक और नैतिक समस्याओ का उल्लेख है इन सूक्तों मे विवाह सूक्त–(१०/८५) का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त–१०/१६ वॉ शवसंसकार–सूक्त एव १०/३४ वॉ **अक्ष** या **धूतकर का विषाद** सूक्त भी लौकिक सूक्त के अन्तर्गत है।

७. भावात्मक सूक्त –

ऋग्वेद मे 'श्रद्धा', 'मन्यु' और 'काम' की भी स्तुति मिलती है। 'श्रद्धा' और 'मन्यु' ये दोनो ही देवता मानव–भावनाओ का प्रतिनिधित्व करते है। इसके अतिरिक्त 'वृहस्पति', 'प्रजापति', 'त्वष्टा', 'दिति', 'अदिति' आदि देवो की गणना भी भावात्मक देवो मे की जाती है।

८. श्रृङ्गारिक-सूक्त –

श्रृङ्गारिक सूक्त मे उषस्–सूक्त ही एकमात्र ऋग्वेद का श्रृङ्गारिक सूक्त माना जाता है।

६. राजनीतिक-सूक्त –

राजनीतिक सूक्तों मे देवराज इन्द्र तथा सोमराजा के वर्णनपरक सूक्तो का उल्लेख मिलता है।

१० प्रहेलिका-परक सूक्त –

ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी है जिनका सम्बन्ध वैदिक पहेलियो से जोडा जाता है। ऋग्वेद के १/१६४ वॉ प्रहेलिकापरक सूक्त माना जाता है ये सूक्त अर्थ की दृष्टि से जटिलतम है।

११. आख्यान या संवाद-सूक्त –

ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त है जिनमे प्राचीनतम कथा–साहित्य के अवशेष उपलब्ध होते है। इन सूक्तो का विषय 'आख्यान' है, अत ओल्डेनबर्ग ने इन्हे 'आख्यान–सूक्त' कहा है, किन्तु इनकी शैली सवादात्मक है इसलिए जर्मन विद्वान् डा० विण्टरनिट्ज इन्हे सवाद–सूक्त ही कहना उचित मानते है। ये सूक्त महाकाव्यों तथा नाटकों के प्राचीन रूप है। ऋग्वेद मे ऐसे सूक्त की सख्या २० मानी गयी है। जिनमें से अधिकांश ऋग्वेद के दशम मण्डल मे उपलब्ध होते है।

संवादा सूक्तो मे –पुरूरवा–उर्वशी संवाद –(१०/६५), यम–यमी–सम्वाद (१०/१०), सरमा–पणि–सम्वाद (१०/१०८), विश्वामित्र–नदी–(३/३३), मण्डूक सूक्त (७/१०३), इन्द्र–मरूत् सम्वाद–(१/१६५),(१/१७०), इन्द्र–इन्द्राणी वृषाकपि सम्वाद (ऋ० १०/८६), अगस्त्यलोपामुद्रा–सम्वाद–(१/१७६)

शेष आख्यान सूक्त निम्नलिखित है –

१. इन्द्र और पवि का आख्यान
२. कक्षीवान् का आख्यान
३. वामनावतार का आख्यान

४. शुन शेपाख्यान

५. नहुष का आख्यान

६. सूर्या का आख्यान

७. शर्याति का आख्यान

८. दधीचि का आख्यान

९. विश्पला का आख्यान

१०. मान्धाता का आख्यान

११. पृथुश्रुवा का आख्यान

१२. घोषा का आख्यान

ऋग्वेद में काव्य-सौन्दर्य –

ज्ञान का आदि स्रोत 'ऋग्वेद' भारतीय काव्यधारा का भी आदि स्रोत है। भारत की प्राचीनतम काव्यकृति होने के साथ ही यह विश्व साहित्य की प्राचीनतम रचना है।

ऋग्वेद का ऋषि मन्त्रद्रष्टा तो है ही साथ ही वह सवदेनशील कवि भी है। ऋषि के रूप मे वह प्रकृति के प्राङ्गण मे दिव्य शक्तियो का साक्षात्कार करता है, तो कवि के रूप मे अपनी कोमल अनुभूतियो की काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी करता है। परिणामस्वरूप ऋग्वेद मे स्तुतिपरक एव याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए उपयोगी बहुसंख्यक सूक्तो के साथ ही, अनेक ऐसे सूक्त भी उपलब्ध होते है, जिनमे वैदिक कवि की उर्वर कल्पना के दर्शन स्थल–स्थल पर होते हैं। इस सबन्ध मे **पण्डित राहुल सांस्कृत्यायन** की यह उक्ति ध्यान आकर्षित करती है –

"ऋग्वेद मे जहॉ–तहॉ सुन्दर काव्य की जो छटा मिलती है, उससे पता लगता है कि ऋग्वैदिक आर्य कविता के प्रेमी थे।"

ऋग्वेद में सौन्दर्य-वर्णन –

ऋग्वेद के काव्यात्मक सौन्दर्य की सर्वप्रथम अनुभूति वहॉ होती है, जहॉ वैदिक कवि ने प्राकृतिक दृश्यो में ईश्वरीय शक्ति का मानवीकरण किया है। यह मानवीकरण ऋग्वेद की कविता की सर्वप्रमुख विशेषता है। इसी कारण प्राकृतिक– 'उषा' एक युवती एवं नायिका के रूप मे हमारे साामने आती है। इसी प्रकार 'इन्द्र'को एक उत्साही योद्धा के रूप में और 'वरूण' को एक सर्वाधिकार सम्पन्न राजा के रूप मे ही हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद में प्राकृतिक और भौतिक शक्तियों का देवतारूप मे होने वाला यह मानवीकरण सर्वत्र काव्य–सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

सौन्दर्य–वर्णन का काव्य मे विशेष महत्त्व होता है, और इस विषय मे सभी विद्वान् एकमत है कि सौन्दर्य–वर्णन की दृष्टि से ऋग्वेद के उषस् सूक्त की कोई तुलना नही है।

पूर्व दिशा मे, क्षितिज पर अपनी अरूण आभा प्रकट करती हुई उषा को देखकर ऋग्वेद का कवि उसके सौन्दर्य मे जैसे विलीन हो जाता है –

उषो देव्यमर्त्ता विभासि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।।

(ऋ०६/६१/२)

यहॉ पर स्वर्णरथ पर आरूढ होकर आती हुई उषा का सुन्दर चित्रण किया गया है।

अन्य स्थल पर उषा के रूप–सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया गया है –

जायेव पत्य उशती सुवासा।
उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।

(ऋ० १/१२४/७)

यहॉ उषा की तुलना शोभन वस्त्रों वाली सुन्दर युवती से की गयी है।

ऋग्वेद में रसात्मक-तत्त्व का परिपाक –

ऋग्वेद मे हमें स्थान–स्थान पर रसात्मक अनुभूति होती है। रसो मे श्रृङ्गार रस के दोनो ही भेद सम्भोग और विप्रलम्भ श्रृङ्गार ऋग्वेद मे प्राप्त होते हैं।

सम्भोग श्रृङ्गार की झलक के रूप मे उषस् सूक्त (१/१२३) विशेष रूप मे वर्णनीय है। सम्भोग श्रृङ्गार के आभास के लिए ऋग्वेद का सोमसूर्या, तथा यम–यमी–सूक्त विशेषत द्रष्टव्य है। विप्रलम्भ श्रृङ्गार का सुन्दर दृष्टान्त पुरूरवा–उर्वशी सूक्त है। वीर–रस के उदाहरण के रूप मे ऋग्वेद मे किए गए इन्द्र के ओजस्वितापूर्ण वर्णन उल्लेखनीय है। वेद मन्त्रों मे कही–कही हमे हास्य–रस का दर्शन भी हो जाता है। मण्डूक सूक्त एक ऐसा ही सूक्त है– (ऋ० ७/१०/३, ५) इसी प्रकार अक्षसूक्त (१०/३४/१–१४) मे जुआरी का विलाप हमे करूण–रस का सङ्केत तथा हास्य–रस का सङ्केत करता है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में मुख्य रूप से वीर एवं श्रृङ्गार इन दो रसो का ही परिपाक हुआ है तथा यदा कदा हास्य एवं करूण की अस्फुट झलक भी मिल जाती है जिन्हे पढकर पाठक का मनमयूर आह्लादित हो यह कह उठता है कि सृष्टि के आदिकाल का कवि साहित्यिक रसो से अपरिचित न था।

ऋग्वेद में अलङ्कार-निरूपण –

सभ्यता के उदयकाल में बनने वाली इस कविता मे अलङ्कारो की स्वर्णिम छठा विद्यमान् है। ऋग्वेद में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक एवं समासोक्ति जैसे अर्थालङ्कार का अधिक प्रयोग हुआ है। इसके

अतिरिक्त अनुप्रास और यमक आदि शब्दालङ्कारो का प्रयोग भी हुआ है।

बलदेव उपाध्याय जी का विचार ऋग्वेद मे प्रयुक्त अलङ्कारो के विषय मे यह है कि "रूपक वेद का एक प्रशसनीय, बहुल प्रयुक्त अलङ्कार है। वेद की शैली ही रूपकमयी है। सुन्दर उपमाओ का एक रमणीय सन्तान ऋग्वेद के मन्त्रो मे उल्लसित होता है। अन्य अलकारो मे अतिशयोक्ति व्यतिरेक, समासोक्ति आदि अनेक अलंकारो के दर्शन हमे यहाँ मिलते है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने ऋग्वेदीय उपमा के सम्बन्ध मे लिखा है –"अलङ्कारो की रानी उपमा देवी का नितान्त भव्य मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमे इन मन्त्रो मे देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य ससार मे प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव है। आनन्द से सिक्त हृदय कवि की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने मे कोमल उल्लास तथ मधुमय आनन्द का बोध करती है।"

उपमा ऋग्वैदिक ऋषि का बहुत ही प्रिय अलङ्कार है। यह ऋग्वेद के प्रमुख अलङ्कारो मे से एक है। 'इव' के ही अर्थ मे ऋग्वेद मे 'न' निपात का प्रयोग भी उपमा वाचक शब्द के रूप मे मिलता है। 'इव' शब्द के रूप मे उपमा अलङ्कार का उदाहरण प्रस्तुत है –

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारूगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।

(ऋ० १/१२४/७)

यहाँ कवि ने उषा के वर्णन में 'अभ्रातेव', 'गर्तारूगिव', 'जायेव' तथा 'हस्रेव' आदि के द्वारा उपमा की झडी सी लगा दी है। इसी प्रकार ऋग्वेद के १/३६/१–८ मे भी उपमा प्राय प्रत्येक पङ्क्ति मे एक से अधिक बार प्रयोग हुआ है। तृतीय मण्डल के ३५ वे सूक्त 'नदी–सूक्त' मे भी उपमा अलङ्कार का प्रयोग है। इसमे कवि ने व्यास और सतलुज नदी का वर्णन करते हुए उनकी उपमा अश्व, गौ, रथी, वत्स, योषा और मर्य (पति) के साथ दी है। इस प्रकार ऋग्वेद मे उपमालङ्कार का सौन्दर्य स्थल–स्थल पर दृष्टिगोचर होता है।

रूपक की दृष्टि से भी ऋग्वेद के मन्त्र पर्याप्त सम्पन्न है। **'दिवोरूक्म उरूचक्षा उदेति'** (७/६३/४) अर्थात् सूर्य आकाश का स्वर्णिम मणि है।

मध्योदिवोनिहितः पृश्निरश्मा – ७/६३/४

अर्थात् सूर्य वह रङ्गीन प्रस्तर है जो आकाश मे प्रतिष्ठित है।

ऋग्वेद में व्यतिरेक एवं अतिशयोक्ति के भी अनेक उदाहण प्राप्त होते है। यथा –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्ननन्यो अभिचाकशीति।।

(ऋ० १/१६४/२०)

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध मे अतिशयोक्ति अलङ्कार है क्योकि यहॉ आत्मा और परमात्मा उपमेय है, पक्षीद्वय उपमान है। उपमान के द्वारा उपमेय का निराकरण किए जाने के कारण यहॉ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

ऋग्वेद मे अतिशयोक्ति का एक अन्य उदाहरण –

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आविवेश।।

(ऋ० ४/५८/३)

यह मन्त्र अतिशयोक्ति का सुन्दर उदाहरण होने के साथ ही वैदिक कवि की काव्य–कुशलता का भी उत्कृष्ट उदाहरण है। यहॉ प्रयुक्त पदो की यह विशेषता है कि इस एक ही ऋचा का अर्थ विद्वान् विभिन्न प्रकार से करते है। भाष्यकार सायण ने इस ऋचा की व्याख्या यज्ञपरक की है तो महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या शब्दपरक की है और काव्यशास्त्र के आचार्य राजशेखर ने इसकी व्याख्या काव्यपरक की है।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो मे अक्षर एव शब्दो की पुनरावृत्ति भी हुई है, जो अनुप्रास अलकार का मूलाधार है – 'रक्षाणो अग्नेतवरक्षणे भीराक्षाणे –(४/३/१४), 'प्रतार्यग्ने प्रतर न आयु' –(४/१२/६), 'आब्जा गोजा ऋतुजा आर्द्रजा ऋतभू' –(४/४०/५)

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के ऋषि अनुप्रास–अलङ्कार के मूलतत्त्व–भाषा सौन्दर्य एव ध्वन्यात्मकता को भी पसन्द करते थे।

ऋग्वेद में छन्द-विधान –

ऋक् शब्द का अर्थ है–'पद्य', पद्यात्मक रचनावाला होने के कारण ही यह ऋग्वेद कहलाता है। ऋग्वेद के मन्त्रों के छन्दोबद्ध होने से इसे 'छन्दस् वेद' भी कहते है। पद्यात्मक रचना वाले ऋग्वेद मे अनेक छन्दो का प्रयोग हुआ है। यथा–

गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, उष्णिक, वृहती, जगती तथा **पंक्ति** आदि।

'छन्द' से तात्पर्य–वर्णों या अक्षरों की एक निश्चित सख्या या परिमाण। वैदिक छन्दों में वर्णो की निश्चित संख्या का ही महत्त्व होता है, मात्राओ का नही। यथा गायत्री छन्द मे २४ वर्ण तथ अनुष्टुप मे ३२ वर्ण होते हैं। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न छन्दों मे वर्णो की संख्या भिन्न–भिन्न हो जाती है।

ऋग्वेद में सबसे अधिक 'त्रिष्टुप' छन्द का प्रयोग हुआ है। इसके बाद दूसरे स्थान पर 'गायत्री' छन्द का तथा तीसरे स्थान पर 'जगती' एव चौथे स्थान पर अनुष्टप छन्द का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद-मूलक वैदिक साहित्य –

ऋग्वेद–मूलक वैदिक–साहित्य निम्नलिखित है –

१. ऋग्वेद–सहिता –

ऋग्वेद की कुल २१ शाखाएँ बतायी जाती है। उनमे से केवल पॉच शाखाओ –

शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शाड्खायन, माण्डूकायन का नामत उल्लेख मिलता है। इनमे से केवल शाकल शाख ही उपलब्ध है।

२. ब्राह्मण – ऐतरेय, कौषीतकि (शाड्खायन)

३. आरण्यक – ऐतरेय, शाड्खायन

४. उपनिषद् – ऐतरेय, कौषीतकी

५ श्रौतसूत्र – आश्वलायन, शाड्खायन (कौषीतकि)

६. धर्मसूत्र – वशिष्ठ सूत्र

७. शुल्कसूत्र – कोई नही

ऋग्वेद की रक्षा से सम्बन्धित अनुक्रमणी-साहित्य –

वेदों की रक्षा के लिए नवीन शैली के ग्रन्थो की रचना आचार्यो ने की जिसमे वेदो के ऋषि, देवता, छन्द आदि की सूची प्रस्तुत की गई है। ये ग्रन्थ अनुक्रमणी, (सूची) के नाम से प्रख्यात है। अनुक्रमणी प्रत्येक वेद की अपलब्ध होती है।

शौनक ने ऋग्वेद और कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद के प्रातिशाख्यो की रचना की थी। इनकी अनुक्रमणियॉ वेदाड्ग न होने पर भी वेद की रक्षा तथा तद्गत अवान्तर विषयो के विवेचन के निमित्त महत्त्वपूर्ण कृतियॉ है।

कात्यायन रचित **'ऋक्सर्वानुक्रमणी'** की वृत्ति की भूमिका में वृत्तिकार 'षड्गुरू शिष्य' ने शौनक के ऋग्वेद की रक्षा के निमित्त जिन दस ग्रन्थो का उल्लेख किया है वे इस प्रकार है –

१. आर्षानुक्रमणी
२. छन्दोऽनुक्रमणी
३. देवतानुक्रमणी
४. अनुवाक्–अनुक्रमणी
५. सूक्तानुक्रमणी
६. ऋग्विधान
७. पादविधान
८. वृहद्देवता
९. प्रातिशाख्य
१०. शौनकस्मृति

इन ग्रन्थो मे प्रारम्भ की पॉच अनुक्रमणियॉ क्रमश ऋग्वेद के ऋषियो की छन्दो की देवताओ की अनुवाको की तथा सूक्तो की सख्या, नाम तथा तद्विषयक महत्त्वपूर्ण तथ्यो का क्रमबद्ध विवरण अनुष्टुप पद्यो मे प्रस्तुत करती है। ऋग्विधान मे ऋग्वेदीय मन्त्रो का प्रयोग विशेष कार्य की सिद्धि के लिए बताया गया है।

ऋग्वेद के समस्त आवश्यक विषयो के ज्ञान के लिए कात्यायन रचित ऋक्सर्वानुक्रमणी नितान्त प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक है। यह सूत्ररूप मे निबद्ध है तथा प्रत्येक सूक्त के आद्यपद, अनन्तर ऋचाओ की सख्या, सूक्त के ऋषि का नाम तथा गोत्र, सूक्तो तथा तदनन्तर मन्त्रो के देवता का निर्देश तथा मन्त्रो के छन्दो का क्रमबद्ध उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद के विषय मे आवश्यक सामग्री के सङ्कलन के कारण यह विशेष उपयोगी है।

ऋग्वेद की व्याख्या से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थ –

ऋग्वेद की व्याख्या से सम्बन्धित ग्रन्थ निम्नलिखित है –

१. ऋक्प्रातिशाख्य
२. निरूक्त
३. वृहद्देवता
४. नीतिमञ्जरी
५. वेदार्थप्रकाश
६. ऐतरेय ब्राह्मण
७. कौषीतकि (शाड्खायन) ब्राह्मण
८. ऐतरेयारण्यक
९. शाड्खायन आरण्यक
१०. ऐतरेय उपनिषद
११. कौषीतकी उपनिषद्

ऋक्प्रातिशाख्य –

प्रातिशाख्य वेद का लक्षण ग्रन्थ है। अर्थात् ऐसा ग्रन्थ जिसके द्वारा वेद का वाह्य स्वरूप निर्दिष्ट किया जाता है। शिक्षा वेदाङ्ग की प्राचीनतम प्रतिनिधि रचनाऍ ये प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही है। वेद की प्रत्येक सहिता की प्रत्येक शाखा का अपना पृथक् प्रातिशाख्य ग्रन्थ है। प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही इनका नाम प्रातिशाख्य पडा।

वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित उच्चारण के नियम उसके प्रातिशाख्य–ग्रन्थ मे विस्तार से मिलते है, अर्थात् वेद संहिता की उस शाखा मे मन्त्रो का उच्चारण किस प्रकार होता है यह उसके प्रातिशाख्य ग्रन्थ मे प्राप्त है।

ऋक्प्रातिशाख्य का अपर नाम **ऋक् लक्षण** है। परिषद में प्रचारित होने के कारण यह **पार्षद** या **पारिषद-सूत्र** के नाम से भी प्रख्यात है। विष्णुमित्र ने शौनक को इस पार्षद का रचयिता बतलाया है। शिक्षा के विषयों के प्रतिपादक होने के कारण ही इसे **शिक्षाशास्त्र** के नाम से भी पुकारते है।

यह प्रातिशाख्य ऐतरेय आरण्यक के सहितोपनिषद् का अक्षरश अनुकरण करता है। समग्र ग्रन्थ पद्यबद्ध सूत्र–रूप मे ही है। वेदाभ्यास पॉंच प्राकर का माना गया है। १ अध्ययन २. विचार ३ अभ्यास ४ जप

५ अध्यापन। ऋक्प्रातिशाख्य के सूत्रो मे इन पॉचो का विधिवत् वर्णन किया गया है। इसमे अध्ययन वेद के श्रवण का तथा विचार आदि वेद के मनन पक्ष का द्योतक है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा विषय के विस्तृत एव वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थो मे शीर्षस्थनीय है। ऋक्प्रातिशाख्य मे १८ पटल है।

प्रथम पटल मे सज्ञा प्रकरण मे इस शास्त्र के नाना परिभाषिक शब्दो– स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, रक्त, नाभि, प्रगृह्य आदि विशिष्ट शब्दो का लक्षण दिया हुआ है।

द्वितीय पटल मे प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उदग्राह, भुग्न आदि नाना प्रकार की सन्धियो का उदाहरण के साथ लक्षण दिया गया है।

तृतीय पटल मे स्वरों के परिचय के अनन्तर चतुर्थ से नवम मे विसर्जनीय सन्धि, नकार के नाना विकार, नति–सन्धि, क्रम–सन्धि, व्यञ्जन–सन्धि, प्लुति–सन्धि आदि नाना प्रकार की सन्धियो का विस्तृत और वैज्ञानिक परिचय प्रस्तुत है।

दशम तथा एकादश पटल में क्रम–पाठ का विवरण है जिसमे वर्णो के तथा उदात्तादि स्वरो के परिवर्तन के नियमो का पूर्ण उल्लेख है।

द्वादश–त्रयोदश पटल मे पदविभाग, व्यञ्जनो के रूप तथा लक्षण की विवेचना है।

चतुर्दश पटल मे वर्णो के उच्चारण की जायमान दोषो का उल्लेख है।

पञ्चदश पटल मे वेद–परायण की पद्धति का संक्षिप्त परिचय है। अन्तिम तीन (१६–१७–१८) पटलो मे छन्दों– गायत्री, उष्णिक, वृहति, पङ्क्ति, आदि का विस्तृत वर्णन छन्दशास्त्र आदि के अध्ययन के लिए नितान्त उपादेय है।

इस प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य ग्रन्थ मे वर्णित स्वर, वर्ण, सन्धि, तथा छन्द आदि का विस्तृत एव विधान पूर्वक वर्णन ऋग्वेदीय मन्त्रो की व्याख्या के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होते है।

इसके अतिरिक्त ऋक्प्रातिशाख्य मे वर्णित नियमो के अनुसार सहितापाठ और पदपाठ के द्वारा ऋग्वेद संहिता के स्वरूप को शुद्धरूप में सुरक्षित रखा गया है।

निरुक्त –

निरुक्त को **'निर्वचनशास्त्र'** एवं **'व्युत्पत्तिशास्त्र'** भी कहते है। निरुक्त ग्रन्थ के रचयिता **यास्काचार्य** है। निरुक्त ६ वेदाङ्गों मे अन्तिम है। पाणिनीय शिक्षा मे निरुक्त को वेद पुरुष का श्रोत्रेन्द्रिय कहा गया है– **''निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते''** ।

निरुक्त का आधार 'निघण्टु' नाम का वैदिक शब्द–कोष है, वेदो मे से कठिन शब्दों को निकाल कर उन्हे

पहले 'निघण्टु' मे सङ्कलित किया गया था। 'निघण्टु' मे सङ्कलित उन्ही शब्दो का निर्वचन यास्क ने अपने निरूक्त मे किया है।

इस प्रकार निघण्टु वैदिक शब्दकोष है और उस शब्दकोष का भाष्य निरूक्त है। वेद के मन्त्रो का अर्थ जानने के लिए 'निरूक्त' बहुत ही उपयोगी है। सायण आदि वेद के अनेक भाष्यकारो ने इससे पर्याप्त सहायता ली है। निरूक्त ऋग्वेद की व्याख्या से सम्बन्धित ग्रन्थ है। वेद–मन्त्रो मे आये वैदिक पदो (शब्दो) के अर्थ का ज्ञान कराने मे निरूक्त नामक वेदाड्ग हमारी सहायता करता है।

''अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्त तन्निरूक्तम्''

अर्थात् अर्थ–ज्ञान के विषय में जहाँ स्वतन्त्ररूप से पदसमूह का कथन किया गया है वह निरूक्त कहलाता है।

निरूक्त व्याकरण वेदाड्ग का पूरक है। निरूक्त का प्रतिपाद्य विषय वैदिक शब्दो का निर्वचन है और यह निर्वचन पाँच प्रकार से किया जाता है –

१. वर्णागम, २. वर्णविपर्यय, ३. वर्णविकार, ४. वर्णनाश, ५. धातु के अर्थ को बढा कर।

निरूक्त मे १४ अध्याय है। इनमे से बाद के २ अध्यायो को परिशिष्ट माना जाता है। निरूक्त में ३ (तीन) काण्ड है –

१. नैघण्टुक काण्ड –

निरूक्त के प्रारम्भ के १–३ अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहा जाता है। प्रथम अध्याय मे, निर्वचन की पृष्ठभूमि के रूप में कुछ आवश्यक विषयो का विवेचन है। यास्क के अनुसार पदो का चार प्रकार का विभाग किया जा सकता है –

१. नाम २. आख्यात ३. उपसर्ग ४. निपात

यहाँ नाम को सत्व (द्रव्य) प्रधान और आख्यात को भावप्रधान कहा गया है। नाम और आख्यात स्वतन्त्र रूप से अपना अर्थ कहते है, किन्तु उपसर्ग और निपात अपना अर्थ दूसरे शब्दो की सहायता से ही कहते है। निरूक्त के द्वितीय और तृतीय अध्यायो में पर्यायवाची शब्दो का निर्वचन किया गया है।

२. नैगम काण्ड –

निरूक्त में ४–६ अध्याय 'नैगमकाण्ड' कहलाते है। इस भाग को **ऐकपदिक** भी कहते है। इस भाग में जिन शब्दों पर विचार हुआ है, वे तीन प्रकार के हैं –

१. एक अर्थ मे प्रयुक्त अनेक शब्द– (पर्यायवाची शब्द)

२. अनेक अर्थ में प्रयुक्त एक शब्द–(अनेकार्थक शब्द)

३. ऐसे शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति (सस्कार) ज्ञात नहीं है अर्थात् (अनवगतसस्कार शब्द)

३. **दैवतकाण्ड –**

निरूक्त के ७–१२ अध्याय 'दैवतकाण्ड' कहलाते है। इस काण्ड मे ऋग्वेद मे प्रधान रूप से स्तुति किए गए देवताओ के नामो का निर्वचन है।

निरूक्त के अनुसार देवता तीन प्रकार के है।

१. पृथ्वी स्थानीय देवता यथा–अग्नि आदि

२. अन्तरिक्ष स्थानीय देवता यथा–इन्द्र, वायु आदि

३. द्युस्थानीय देवता यथा–आदित्य

इस प्रकार इस भाग मे देवता सम्बन्धी अनेक विषयो का विवेचन है।

परिशिष्ट अध्याय –

निरूक्त के परिशिष्ट २ अध्यायो १३–१४ मे अग्नि की स्तुति और ब्रह्म की स्तुति है।

इस प्राकर निरूक्त शास्त्र प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति एव दुरूह वैदिक पदो के निर्वचन एवं व्युत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है एव वैदिक पदो के अर्थो का स्पष्ट रूप से निर्धारण करता है जिससे वैदिक मन्त्रो की व्याख्या करने मे यह ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध होता है।

वृहद्देवता –

इसके रचयिता **शौनक** है। वृहद्देवता मे ऋग्वेद के देवताओं का परिचय विस्तार से मिलता है। अनुक्रमणी–ग्रन्थों में 'वृहद्देवता' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें १२०० पद्य है। 'वृहद्देवता' मे ऋग्वेद के देवताओं का परिचय प्राचीन होने के साथ ही प्रामाणिक भी है। 'वृहद्देवता' मे आठ अध्याय है। प्रत्येक अध्याय का विभाजन वर्गो में हुआ है। प्रत्येक वर्ग मे पॉच अध्याय है।

वृहद्देवता के सम्पूर्ण प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय के १२५ पद्य इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में है। इस भूमिका मे ऋग्वेदीय देवताओ के स्वरूप को, देवताओ के स्थान को और उनकी विलक्षणता को स्पष्ट किया गया है। इसी भूमिका में कुछ अंश व्याकरण से सम्बन्धित भी है। इस भूमिका भाग के उपरान्त वृहद्देवता मे, ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के देवता का विवेचन भी मिलता है।

देवताओं के परिचय के साथ ही– 'वृहद्देवता' मे सूक्तो से सम्बन्धित आख्यानो का भी सङ्कलन किया गया है जो बहुत ही सरस और सुन्दर है, इन आख्यानो की शैली काव्यात्मक है। वस्तुत सूक्तो के ये आख्यान वृहद्देवता के प्राण है। इन आख्यानो के आधार पर 'वृहद्देवता' को कथा–साहित्य का आदि–ग्रन्थ स्वीकार किया जा सकता है। सायण ने वेद का भाष्य करते हुए 'वृहद्देवता' के आख्यानो का भी उपयोग किया है।

वृहद्देवता का रचना–काल विक्रमपूर्व आठवी शताब्दी के लगभग ठहरता है, क्योकि इनकी रचना यास्क के बाद और सर्वानुक्रमणी के लेखक 'कात्यायन' के पूर्व की प्रतीत होती है इस प्रकार 'वृहद्देवता'

अनुक्रमणी– साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ है जिसके प्रकाश मे ऋग्वेद के देवता के रहस्य स्पष्टत आलोकित होते है।

नीतिमञ्जरी –

इसके रचयिता का नाम **'श्रीद्याद्विवेद'** है। 'नीतिमञ्जरी' मे ऋग्वेद मे प्रयुक्त सम्पूर्ण आख्यानो का और उन आख्यानो मे उपलब्ध उपदेशो का सङ्कलन हुआ है। यही इस ग्रन्थ की विशेषता और महत्ता है।

'नीतिमञ्जरी' के लेखक ने सम्पूर्ण ऋग्वेद से आख्यानो को खोज–खोजकर निकाला और ऐसी सभी घटनाओ को श्लोकबद्ध किया है जिनमे कोई भी मनोरम और व्यवहारोपयोगी शिक्षा मिलती है। लेखक की कुशलता इस बात मे है कि उसने ऋग्वेद का आख्यान और उस आख्यान से मिलने वाली शिक्षा या उपदेश को एक ही श्लोक मे निबद्ध कर दिया है। इसके साथ ही श्लोक मे आये हुए प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या भी 'श्री द्याद्विवेद' ने बडी विद्वतापूर्ण शैली में की है। 'नीतिमञ्जरी' की पुष्पिका से सूचित होता है कि इसकी रचना १४६४ ई० मे की गयी थी।

वेदार्थप्रकाश –

'वेदार्थप्रकाश' के रचयिता **महर्षि सायणाचार्य** है। सायणाचार्य ने अपने ऋग्भाष्य का नाम 'वेदार्थप्रकाश' लिखा है। सम्पूर्ण ऋग्भाष्य का प्रथम संस्करण डा० मैक्समूलर ने ६ भागो मे १८४९–७४ ई० मे सम्पादित किया था। जिसे ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने प्रकाशित कराया था। दूसरा सस्कारण पहले से अधिक शुद्ध चार भगों मे प्रकाशित किया गया है। भारतवर्ष मे तुकाराम तात्या ने आठ भागो मे इस भाष्य को निकाला था। इधर तिलक विद्यापीठ पूना से भाष्य का बहुत ही विशुद्ध संस्करण चार जिल्दो मे प्रकाशित हो गया है, जिसमे उपलब्ध समग्र हस्तलेखों का उपयोग किया गया है।

सायणचार्य ने अपने 'वेदार्थप्रकाश' मे ऋग्वेदीय मन्त्रों का मण्डलक्रम में विभाजन करते हुए सूक्तो के मन्त्रो की व्याख्या की है। सायणचार्य ने 'वेदार्थप्रकाश' मे प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे विनियोग, ऋषि, देवता, और छन्द आदि का भी उल्लेख किया है। सायणाचार्य ने 'वेदार्थप्रकाश' मे ऋग्वेदीय मन्त्रो की व्याख्या के अनन्तर पदो का निर्वचन, उनकी सिद्धि तथा स्वर–प्रक्रिया का भी प्रतिपादन किया है। सायण ने स्वर प्रक्रिया एवं व्याकरण प्रक्रिया के प्रतिपादन के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी का पूरा उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त इन्होने ब्राह्मण ग्रन्थों, निरुक्त, इतिहास, पुराण, स्मृति तथा कल्पसूत्र आदि विभिन्न ग्रन्थो का सहयोग 'वेदार्थप्रकाश' में लिया है।

ऋग्वेद-संहिता के पौरस्त्य व्याख्याकारों का जीवन-परिचय एवं कृतियॉ –

ऋग्वेद–सहिता के विभिन्न पौरस्त्य व्याख्याकारो का जीवन–परिचय एव कृतियो का विवरण इस प्रकार है –

१. यास्काचार्य –

यास्क 'निरूक्तशास्त्र' के प्रमुख आचार्य है, यास्क ६ वेदाड्गो में निरूक्त वेदाड्ग के रचनाकार है। यास्क के सही समय का निर्धारण करने के लिए ऐतिहासिको के पास कोई भी ऐसा ठोस आधार नही है जिसे वह प्रस्तुत कर सके, परन्तु सस्कृत के महान् वैयाकरण पाणिनि का समय लगभग निश्चित हो चुका है, इसलिए विद्वानो ने पाणिनि की अपेक्षा यास्क की पूर्वापरता के विषय मे पर्याप्त चिन्तन किया है।

यास्क प्रचीनतम है इनका काल पणिनी से भी पूर्ववर्ती है। इनकी भाषा मे वैदिक अपाणिनीय प्रयोग अनेकश. मिलते है। महाभारत के उल्लेख के अनुसार यास्क का समय विक्रम से सात सौ या आठ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है, किन्तु मैक्डानल यास्क का समय पञ्चम शतक ई० पू० मानते है। गोल्डस्टूकर, बोथलिक, स्कोल्ड आदि विद्वान् पाणिनि को यास्क से पूर्व मानना चाहते है तथा इन्ही विद्वानो का अनुसरण करते हुए श्री सत्यव्रत सामाश्रमी ने भी अपने 'निरूक्तालोचन' नामक ग्रन्थ मे पाणिनि को यास्क से पूर्व होने की बात कही है तथा उसके लिये युक्तियॉ भी दी है, परन्तु अब यह मत लगभग अमान्य हो चुका है तथा प्राय. सभी ऐतिहासिक यास्क को पाणिनि से प्राचीन मानते है।

चूॅकि आज ऐतिहासिको का यह निश्चित मत है कि यास्क पाणिनि की अपेक्षा कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व हुए होंगे। पाणिनि लगभग पॉचवी या चौथी शताब्दी ई० पू० हुए है। अत यास्क का समय लगभग सात सौ ई० पू० माना जा सकता है।

कुछ विद्वानो ने यह भी सम्भावना की है कि यास्क पारस्कर देश के रहने वाले थे क्योकि निरूक्त के परिशिष्ट कहे जाने वाले १४वे अध्याय के अन्त मे कही–कही 'नम. पारस्कराय नमो यास्काय' पाठ मिलता है। पारस्कर देश का उल्लेख पाणिनीय गणपाठ के पारस्करादिगण तथा गण से सम्बद्ध सूत्र के महाभाष्य मे मिलता है।

२. आचार्य स्कन्दस्वामी –

ऋग्वेद–सहिता का सबसे पहला उपलब्ध भाष्य स्कन्दस्वामी का है। वैदिक साहित्य मे यह भाष्य बडे आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ग्रन्थकार की प्राचीनता के साथ–साथ ग्रन्थ के अन्तरड्ग गुणों ने उसे इस उच्च आसन पर आसीन किया है। भाष्य के अन्त मे दिये गये कतिपय श्लोको से इनके देशादि का पर्याप्त परिचय मिलता है। स्कन्दस्वामी गुजरात की प्रख्यात राजधानी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। इसका पता ऋग्वेद भाष्य के प्रथमाष्टक के अन्त मे प्राप्त निम्नलिखित श्लोक से चलता है –

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम् ।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति।।

आचार्य स्कन्दस्वामी के समय का भी निर्णय पर्याप्त रीति से किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के विख्यात भाष्यकार हरिस्वामी के गुरू होने से इनका समय बहुत कुछ निश्चित रूप से जाना जा सकता है। शतपथ–भाष्य के आरम्भ मे हरिस्वामी ने अपना परिचय दिया है और स्कन्दस्वामी को अपना गुरू बतलाया है –

नागस्वामी तत्र श्रीगुहस्वमिनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणयज्ञ आढयो लक्ष्म्या समेधितः।।

तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात्।।

यः सम्राट् कृतवान् सप्त सोमसंस्थास्तथर्कश्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरूः।।

आचार्य स्कन्दस्वामी का काल विक्रम सम्वत् ६८२ (६२५ ई०) के आसपास अनुमानत सिद्ध है। इस प्रकार स्कन्दस्वामी हर्ष तथा बाणभट्ट के समकालीन है। स्कन्दस्वामी ने ६००–६२५ के मध्य ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था। इनका यह भाष्य केवल चतुर्थ अष्टक तक ही प्राप्त है।

स्कन्दस्वामी ने यास्क के निरूक्त के ऊपर भी टीका लिखी है। निरूक्त–टीका के रचयिता तथा ऋग्भाष्य के कर्त्ता आचार्य स्कन्दस्वामी अभिन्न व्यक्ति है, इसका पता हमे देवराज यज्वा के उस लेख से चलता है जिसमें निरूक्त टीका मे 'प्रयस्' शब्द का तथा वेदभाष्य मे 'श्रवस्' शब्द का स्कन्दस्वामी के द्वारा 'अन्न' अर्थ किये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

'उप प्रयोमिरागत्' इत्यादिषु निरूक्त टीकाया स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्न नाम उच्यते, तथा च 'अक्षिति श्रव.' इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये श्रव इत्यन्नं नाम इति स्पष्टमुच्यते।

इस उद्धरण के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि देवराज यज्वा को स्कन्दस्वामी निरूक्त–टीका तथा वेदभाष्य दोनो के रचयिता अभीष्ट थे। अत. इस विषय मे सन्देह करने का स्थान नहीं कि वेदभाष्य तथा निरूक्त–टीका इन दोनो को स्कन्दस्वामी ने ही बनाया था।

३. वेङ्कटमाधव –

वेङ्कटमाधव ने समग्र ऋक्सहिता पर अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोगो का अनुमान है कि माधव ने ऋग्वेद पर दो भाष्य लिखें है। पहले भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्त में माधव ने अपना परिचय लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि इनके पितामह का नाम माधव, पिता का वेड्कटाचार्य, मातामह का भवगोल और माता का नाम सुन्दरी था। इनका मातृगोत्र वशिष्ठ तथा स्वय का गोत्र कौशिक था। इनका एक अनुज भी था जिसका नाम था सकर्षण। इनके वेड्कट तथा गोविन्द नामक दो पुत्र थे। माधव जी दक्षिणापथ के चोल देश आन्ध्र–प्रदेश के रहने वाले थे।

वेड्कटमाधव के काल के निर्णय के लिए अनेक साधन मिलते है जिनकी सहायता से इनका समय विशेष रूप से निर्धारित किया जा सकता है।

१. सायण ने ऋग्वेद के १०/८६/१ के भाष्य मे माधवभट्ट की सम्मति का उल्लेख किया है जो वेड्कटमाधव के भाष्य मे मिलता है। अत माधव सायण के पहले विद्यमान् थे।

२. निघण्टु पर भाष्य लिखने वाले देवराज यज्वा ने १३७० सम्वत् के आसपास अपने भाष्योपोद्धात मे वेड्कटाचार्य– तनय माधव का उल्लेख इस प्रकार किया है– 'श्रीवेड्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्या पर्यालोचनात् क्रियते।' इस विवरण से वेड्कट के पुत्र माधव का देवराज का पूर्ववर्ती होना स्वय सिद्ध है।

३. कोषकार केशव स्वामी ने १३०० विक्रम सम्वत् से पूर्व अपने प्रसिद्ध कोष 'नानार्थार्णवसक्षेप' में माधवाचार्य सूरि के नाम से माधव का ही उल्लेख किया है–

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते ।।

इसका आशय यह है कि उभयलिंग मे 'गो' शब्द का अर्थ घोडा अर्थात् 'अश्व' होता है। स्कन्दस्वामी ने ऋचाओ की व्याख्या में इसी अर्थ को कहा है, तथा माधवाचार्य सूरि ने भी 'को अद्य' (ऋग्वेद १/८/४/१६) इस ऋचा की व्याख्या में 'गो' शब्द का अर्थ 'अश्व' किया है। वेड्कटमाधव के उक्त ऋचा के भाष्य मे यही अर्थ प्राप्त भी है। अत इस निर्देश से माधव का समय विक्रम सम्वत् १३०० से पूर्व का ठहरता है।

इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि माधव का समय १३०० विक्रमी से बहुत पहले का है तथा इनकी प्रामाणिकता स्कन्दस्वामी के समान ही मानी जाती थी। अत इनका समय १२०० विक्रमी सवत् के आसपास ज्ञात होता है। पं साम्बशिव शास्त्री ने वेड्कटमाधव का समय १०५० से ११५० ई० के अन्तर्गत माना है।

४. आचार्य नारायण –

ऋग्वेद के भाष्य में वेड्कटमाधव ने लिखा है –

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्।।

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण तथा उद्गीथ ने क्रम से मिलकर एक ही ऋग्भाष्य बनाया। इससे यह स्पष्ट है कि नारायण ने ऋग्भाष्य की रचना मे स्कन्दस्वामी की सहायता की थी। 'क्रमात्' शब्द से अनुमान होता है कि ऋग्वेद के मध्य–भाग पर नारायण ने अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोग सामभाष्यकार माधव के पिता नारायण तथा इस नारायण को एक ही व्यक्ति मानते हैं, परन्तु इसके लिए अभी कोई सबल प्रमाण नहीं मिला है। आचार्य नारायण का समय भी सातवी शताब्दी में अनुमानत सिद्ध है।

५. आचार्य उद्गीथ –

वेड्कटमाधव के कथनानुसार उद्गीथाचार्य ने स्कन्दस्वामी के भाष्य मे सहायता पहुँचाई थी। इन्होने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर भाष्य लिखा है प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर उद्गीथ ने अपने विषय मे लिखा है– 'वनवासीविनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये अध्याय समाप्त'।

इस उद्धरण से उद्गीथाचार्य का वनवासी से कोई न कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है। प्राचीन काल मे कर्णाटक का पश्चिमी भाग वनवासी प्रान्त के नाम से सर्वत्र विख्यात था। अत आचार्य उद्गीथ इसी प्रान्त अर्थात् कर्णाटक देश के समीप के ही रहने वाले जान पडते हैं। इसके साथ ही उद्गीथ सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकार है, क्योकि सायण ने ऋग्वेद के एक मन्त्र १०/४६/५ के भाष्य मे उद्गीथ की व्याख्या का उल्लेख किया है और यह व्याख्या उद्गीथ के भाष्य मे उपलब्ध होती है। यह भाष्य ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त ५ से लेकर सूक्त ८३ के पॉचवे मन्त्र तक उपलब्ध होती है, जिसमे आदि के अश को डी० ए० वी० कालेज के शोध विभाग ने प्रकाशित किया है (लाहौर १९३५), शेष अश अभी तक मुद्रित नही है। इसके अतिरिक्त उद्गीथाचार्य के विषय मे कुछ ज्ञात नही है।

६. सायणाचार्य –

भारतीय वेद भाष्यकर्ताओ मे सायण का स्थान मूर्धन्य है इन्होने समस्त वैदिक सहिताओ के ऊपर भाष्य लिखे है। इनका समय १४वी शताब्दी है। सायणाचार्य विजयनगर के सस्थापक अधीश्वर महाराज बुक्क के प्रधानामात्य पद पर प्रतिष्ठित थे तथा महाराज हरिहर के सेनानी भी थे। बुक्क के प्रधानामात्य का पद इन्होंने १६ वर्षों (१३६४ ई० से लेकर १३७८ ई०) तक अलड्कृत किया। तदनन्तर हरिहर द्वितीय का मन्त्रिकार्य अपने मृत्युपर्यन्त आठ वर्षो (१३७९ ई० से १३८७ ई० तक जो इनकी मृत्यु का वर्ष था) तक सम्पन्न किया। इनके वेदभाष्यों के निर्णय का काल १४वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। सायण के पिता का नाम मायण, माता का नाम श्रीमती और बडे भ्राता का नाम माधव तथा अनुज का नाम भोगनाथ था। इनके गुरू श्रीकण्ठ थे। सायण एक मेधावी एवं प्रतिभासम्पन्न मनीषी थे इन्होने १८८७ मे अपना शरीरत्याग किया। अपने ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के द्वारा इस महनीय कार्य मे प्रेरित किये जाने के कारण ये भाष्य 'माधवीय' नाम से प्रख्यात है।

महाराज बुक्कराय के सस्कृत–साहित्य, आर्य–धर्म तथा हिन्दू–सभ्यता के प्रति विमल तथा प्रगाढ अनुराग से हम सर्वथा परिचित है। महाराज ने अपने उच्च विचारों को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए यह आवश्यक समझा कि हिन्दू धर्म के आदिम तथा प्राणभूत ग्रन्थ वेदो के अर्थ की सुन्दर तथा प्रामाणिक रीति से व्याख्या की जाय। इसके लिए उन्होने अपने आध्यात्मिक गुरू तथा राजनीतिज्ञ आमात्य माधव को आदेश दिया कि वेदो के अर्थ का प्रकाशन किया जाए। माधवाचार्य वेदार्थ के मर्मज्ञ मीमांसक थे। 'जैमिनीय न्यायमाला' की रचनाकर उन्होंने अपने मीमासा–ज्ञान का प्रकृष्ट परिचय दिया था। अत. ऐसे सुयोग्य विद्वान् से वेदार्थ की व्याख्या के लिए प्रार्थना करना नितान्त उपयुक्त था, परन्तु जान पडता है कि अनेक आवश्यक कार्यो में व्यस्त रहने के कारण माधव अपने शिष्य तथा आश्रयदाता के इस आदरणीय आदेश को मानने के लिए तैयार नही हुए। इस कारण अथवा किसी अन्य अभिप्राय से माधव ने अपने ऊपर इस गुरूतर कार्य के

निर्वहन का भार नही रखा। फलत उन्होने राजा से कहा मेरा छोटा भाई सायणाचार्य वेदो की सभी बातो को जानता है– गूढ अभिप्राय तथा रहस्य से परिचित है। अत इन्ही को इस व्याख्या कार्य मे नियुक्त कीजिए। माधवाचार्य के इस उत्तर को सुनकर वीर बुक्क महिपति ने सायणाचार्य को वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आज्ञा दी। तत्पश्चात् कृपालु सायणाचार्य ने वेदार्थो की व्याख्या की।

सायणाचार्य के यौवन का समय कपण तथा सगम के मन्त्री कार्य के सम्पादन मे व्यय हुआ था। ये नल्लूर के आस–पास शासन तथा प्रबन्ध करने मे अब तक लगे थे। ये विजयनगर के शासक हरिहर तथा बुक्क के साथ घनिष्ठ परिचय तथा गाढानुराग प्राप्त करने मे अभी तक सौभाग्यशाली न थे। वास्तविकता तो यह है कि विजयनगर से बाहर अन्य भूपालो के साथ राज्य प्रबन्ध मे सलग्न रहने के कारण बुक्क के दरबार से दूर ही रहते थे। अत· यदि महाराज बुक्क सायण की योग्यता तथा विद्वता से सर्वथा अपरिचित हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। माधव की विशेष योग्यता को महाराज भलीभॉति जानते थे, क्योकि माधव का समग्र जीवन विजयनगर के शासको के साथ व्यतीत हुआ था। अत उन्हे वेदार्थ–प्रकाशन के लिए आदेश देना नितान्त स्वाभाविक है परन्तु माधव ने अपने आपको इस उत्तरदायी कार्य मे न लगाकर अपने भाई सायण को इस कार्य के लिए चुना। माधव को अपने भ्राता की विपुल विद्वता तथा वेद की मर्मज्ञता मे बहुत विश्वास था। अत इस कार्य को अनुज को ही सौपा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि वीर बुक्क महिपति की ही आज्ञा से वेदभाष्यों की रचना का सूत्रपात हुआ, तथापि माधवाचार्य का हाथ इसमे विशेष दीखता है। अतः जिस प्रकार हम इन ग्रन्थो के लिए सायणाचार्य के ऋणी है उसी प्रकार हम माधवाचार्य के भी ऋणी है क्योकि माधव जी की यदि प्रेरणा न हुई होती तो इन वेद भाष्यो की रचना ही सम्पन्न नही होती अत वेदाभिमानियो को महाराज बुक्क, माधवाचार्य तथा सायणाचार्य इन तीनो के प्रति इन गौरवमय ग्रन्थो के लिए अपनी प्रगाढ कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

वेद भाष्यकारो में सायण के विषय मे एक विद्वान् ने लिखा है कि "वैदिक भाषा तथा धर्म के सुदृढ गढ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण का चारों वेदो की सहिताओ का वेदभाष्य"

हमारा तो यह निश्चित मत है कि वैदिक सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायण का वेदभाष्य वास्तव मे वेदार्थ की कुन्जी है और वेद के दुर्गम दुर्ग मे प्रवेश के लिए विशाल सिहद्वार है।

सायणाचार्य के वेदभाष्य ही इनकी कमनीय कीर्तिलता को सर्वदा आश्रय देने वाले विशाल कल्पवृक्ष है, जिनकी विशाल छाया में आश्रय पाकर सायण की कीर्तिगरिमा सदैव वृद्धि तथा समृद्धि प्राप्त करती जाएगी। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की अलौकिक विद्वता, व्यापक पाण्डित्य तथा विस्मयनीय अध्यवसाय को अभिव्यक्त करने के लिए आज भी नितान्त समर्थ है तथा भविष्य में भी बने रहेंगे।

वेद–भाष्य के द्वारा सहिता तथा ब्राह्मण की व्याख्या लक्षित होती है। जिन सहिताओ तथा ब्राह्मणो के ऊपर सायण ने अपने भाष्य लिखे उनके नामों का यहॉ उल्लेख किया जाता है। सम्भवतः सायण ने ज्ञानकाण्ड की व्याख्या में किसी ग्रन्थ को नही लिखा।

सायण ने इन सुप्रसिद्ध वैदिक सहिताओ के ऊपर अपने भाष्य लिखे है –

१. तैत्तिरीय सहिता (कृष्ण यजुर्वेद की)
२. ऋग्वेद सहिता
३. सामवेद सहिता
४. काण्व सहिता (शुक्लयजुर्वेद)
५. अथर्ववेद सहिता

सायण के द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरण्यक –

कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण एवं आरण्यक –

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण
२. तैत्तिरीय आरण्यक

ऋग्वेदीय ब्राह्मण एवं आरण्यक –

३. ऐतरेय ब्राह्मण
४. ऐतरेय आरण्यक

सामवेद के ब्राह्मण –

५. ताण्डय ब्राह्मण (पञ्चविश)
६. षड्विश ब्राह्मण
७. सामविधान ब्राह्मण
८. आर्षेय ब्राह्मण
९. देवताध्याय ब्राह्मण
१०. उपनिषद् ब्राह्मण
११. सहितोपनिषद् ब्राह्मण
१२. वश ब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण

१३. शतपथ ब्राह्मण

इस प्रकार सायण ने ५ संहिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण एवं अरण्यको की व्याख्या लिखी।

७. माधव भट्ट –

ऋग्वेद के माधव नामक चार भाष्यकारों का अब तक पता चला है। इसमे एक तो सामवेद के भाष्यकार है। तीन माधव नामधारी भाष्यकार का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। इनमे से एक तो सायण–माधव ही है।

यद्यपि सायण ने ऋक् सहिता पर भाष्य लिखा तथापि माधव के द्वारा इस कार्य मे पर्याप्त सहायता दिये जाने के कारण माधव भी भाष्यकार के रूप किन्ही स्थानो मे गृहीत किये गये है। अतएव एक माधव तो सायणाचार्य ही हुए। दूसरे माधव वेङ्कटमाधव है, जिनका निर्देश प्राचीन भाष्यो मे मिलता है। एक अन्य माधव यह भी है जिनकी प्रथम अष्टक की टीका मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह टीका बडी ही सारगर्भित है। अल्पाक्षर होने पर भी मन्त्रो के अर्थ समझने मे नितान्त महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् इस माधवभट्ट और वेङ्कटमाधव को एक ही व्यक्ति मानते है, परन्तु दोनो व्यक्तियो के लिए भाष्यो की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि माधवभट्ट वेङ्कटमाधव से नितान्त भिन्न है एव उनसे प्राचीनतर है।

माधवभट्ट जी ऋग्वेद के महान् विद्वान है, इसमे तनिक भी सन्देह नही। इन्होने प्रथमाष्टक की टीका के आरम्भ करने से पहले ग्यारह अनुक्रमणियॉ लिखी थी, जिनमे से हर एक कोष रूप मे रख कर ऋग्वेद के शब्दार्थ को प्रकट करने मे समर्थ है। इनमे से उपलब्ध दो अनुक्रमणी छप चुकी है। जिनके नाम है– नामानुक्रमणी और आख्यातानुक्रमणी। इनके पढने से यह अनुमान सहज मे हो सकता है कि वे ऋक्–संहिता के सामानार्थक नाम और क्रियाओ के एकत्र सङ्ग्रह है, किन्तु इससे अधिक महत्त्व की अनुक्रमणियॉ जैसे–निर्वचनानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी और सबसे अधिक महत्त्व की स्वरानुक्रमणी उपलब्ध नही है, यह बहुत ही खेद का विषय है। स्वरानुक्रमणी को सबसे अधिक महत्त्व की हम इसलिए मानते है कि इसमे जो स्वर का ज्ञान है वह उपलब्ध टीकाओ मे किसी मे भी प्राप्त नही होता। विद्वानो के मत मे सायणाचार्य चतुर्दश शतक, वेङ्कटमाधव दशम शतक और स्कन्दस्वामी सप्तम शतक के माने गये है। अत माधवभट्ट इन सभी से अत्यन्त प्राचीन हैं। इस विवरण के अनुसार माधवभट्ट का समय चतुर्दश शतक पूर्व का माना जा सकता है।

८. आत्मानन्द –

आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अन्तर्गत **'अस्यवामीय'** सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इस भाष्य मे उद्धृत ग्रन्थकारो मे स्कन्द, भास्कर आदि का नाम मिलता है, परन्तु सायण का नाम नही मिलता। इससे ये सायण से पूर्व के भाष्यकार प्रतीत होते है इनके द्वारा उद्धृत लेखको मे मिताक्षर के कर्ता विज्ञानेश्वर (१०७०–११०० ई०) तथा स्मृतिचन्द्रिका के रचयिता देवणभट्ट (१३वीं शती ई०) के नाम से हम कह सकते है कि इनका आविर्भाव काल–विक्रम की १४वी शताब्दी है।

९. आनन्दतीर्थ –

आनन्दतीर्थ का ही दूसरा नाम 'मध्व' है, जिन्होंने द्वैतवादी सुप्रसिद्ध माध्व वैष्णव सम्प्रदाय को चलाया था। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ है, जिनमें ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों की व्याख्या वाला वेदभाष्य भी है। यह भाष्य छन्दोबद्ध है तथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्तों पर ही है। आनन्दतीर्थ का आविर्भाव काल विक्रम

की १३वी सदी के मध्य से लेकर १४ वी सदी के मध्य तक है। ऐसा सुना जाता है कि ये ८० वर्षो तक जीवित रहे– १२५५ से १३३५ विक्रम सम्वत् तक।

१० धनुष्कयज्वा –

धनुष्कयज्वा नाम के किसी तीनो वेदो के भाष्यकार का नाम वेदाचार्य की सुदर्शन मीमासा मे कई बार आया है। इन स्थानो पर वे 'त्रिवेदी भाष्यकार' तथा 'त्रयीनिष्टवृद्ध' कहे गये है। अत इनके वेदत्रयी के प्रामाणिक भाष्यकार होने मे तनिक भी सदेह नही रहता। ये एक वैष्णव आचार्य थे। इन उल्लेखो के अतिरिक्त न तो इनके विषय मे कुछ पता है और न उनके वेदभाष्य के विषय मे। इनका समय विक्रम सवत् १६०० से पूर्व होना चाहिए।

११. स्वामी दयानन्द सरस्वती –

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का जन्म सन् १८२४ मे वर्तमान गुजरात के मौखी नामक एक छोटे से राज्य मे हुआ था। इनके पिता कट्टर हिन्दू थे। वे शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके पिता स्वभाव से ही कठोर थे और माता दयालु थी। स्वामी जी का बचपन का नाम 'मूलशङ्कर' था। पॉच वर्ष की आयु मे इन्होने पढना लिखना आरम्भ किया और सस्कृत व्याकरण, सस्कृत के श्लोक तथा वेद मन्त्र कण्ठस्थ कर लिए। पिता के कठोर अनुशासन में रह कर उन्होने सन्ध्या, उपासना और उपवास इत्यादि नियमो का पालन किया और १४ वर्ष की आयु तक वेदों का अध्ययन कर लिया और उनके कुछ अश कण्ठस्थ कर लिए। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेको संस्कृत–ग्रन्थो का भी अध्ययन किया। इसी समय एक घटना ने उनके जीवन को एक नया मोड दिया। एक रात्रि पूजा करते समय उन्होंने देखा कि एक मूषक शिवमूर्ति पर आरूढ हो रहा है और प्रसाद भक्षण कर रहा है। यह दृश्य देखकर स्वामी जी के मन में शिव–शक्ति के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया और इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी रक्षा करने में असमर्थ है वह उपने भक्तो की रक्षा कैसे कर सकता है। अत उनके मनोमस्तिष्क तथा ह्रदय मे मूर्ति पूजा के विरूद्ध विद्रोह की भवना जाग उठी। इसी घटना के साथ दो अन्य घटनाये और हुई– पहला भागिनि की मृत्यु और दूसरा चाचा श्री की मृत्यु जिनसे उनके मन मे विरक्ति की भावना जाग्रत हुई और वे जीवन–मृत्यु की अस्थिरता, ईश्वर के अस्तित्व तथा मोक्ष आदि आध्यात्मिक तत्त्वो पर चिन्तन करने लगे और योगिक क्रियाऍं करने लगे। स्वामी जी को इस ससार से विरक्त होते देखकर उनके पिता उन्हे गृहस्थ–जीवन मे लाना चाहते थे परन्तु उन्होने १८४० ई० मे गृह–त्याग दिया।

गृह–त्याग के उपरान्त इन्होने अपना समय भ्रमण में साधु–संतो की सङ्गत मे, अध्ययन, चिन्तन और मनन में लगाया। कुछ समय पश्चात् उनकी भेट स्वामी सम्पूर्णानन्द जी से हुई जिन्होने मूलशङ्कर जी को अपना शिष्य बना लिया और उनका नाम दयानन्द सरस्वती रख दिया। साधु सन्तो की सङ्गत से न ही इन्हे कोई सन्तोष मिला और न ही उनकी समस्याओं का समाधान हुआ।

हिन्दू समाज को बचाने के लिए दयानन्द जी के मन मे यह विचार आया कि हिन्दू ग्रन्थो की विधिवत् बुद्धिसङ्गत तथा सरल व्याख्या से हिन्दू समाज की रक्षा की जा सकती है। इन ग्रन्थो के अध्ययन के लिए इन्होने स्वामी वृजानन्द जी को अपना गुरू बनाया। श्री वृजानन्द जी के चरणो मे दयानन्द जी की जिज्ञासा शान्त हुई। दयानन्द जी ने हिन्दू जाति का उत्थान करने का बीडा उठाया और वे आर्य ग्रन्थो का प्रचार करने लगे। इस काल मे वैदिक धर्म अपना महत्त्व खो चुके थे, और देश की धार्मिक तथा सास्कृतिक स्थिति सोचनीय थी। मनुष्य अशिक्षा और अन्धविश्वास के शिकार हो रहे थे। प्राचीन दर्शन की कोई उपयोगिता न थी लोग बहुत दुखी थे। स्वामी जी ने समाज की इन बुराइयो को दूर करने का और लोगो को दुखो से मुक्ति दिलाने का दृढ सकल्प कर लिया। इसीलिए इन्होने समाजिक कुरीतियो, अन्धविश्वासो, छुआछूत, बाल–विवाह, विदेश–यात्रा आदि पर कठोर प्रहार तथा आघात किया और वैदिक धर्म का प्रचार किया तथा शिक्षा को सुधार का साधन बनाया।

हिन्दू जाति के पुनरूत्थान के उद्देश्य से सन् १८५७ मे इन्होने आर्य–समाज की स्थापना की जो आगे चलकर एक महान् धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक और शैक्षिक आन्दोलन बना। वैदिक धर्म के प्रचार के साथ–साथ ये सामज सुधार, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार और राष्ट्रीय जागरण के कार्यो मे लग गए। इन्होने अनेक स्थानों पर वैदिक पाठशालाओ और आर्य समाज–सस्थाओ का सगठन किया। १८७५ मे इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ–प्रकाश' प्रकाशित हुई। स्वामी जी अपने जीवन का शेष समय उपर्युक्त कार्यो मे व्यतीत करते हुए सन् १८८३ मे किसी के द्वारा विष दिये जाने के कारण परलोक सिधार गये।

दयानन्द जी निराकर ब्रह्म के उपासक थे तथा वेदो मे विश्वास रखने के कारण आस्तिक थे। ये वेदो के ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान मानते थे। इनका विश्वास था कि वेद व्यक्ति को चारित्रिक जीवन तथा उच्चता प्रदान करते है, तथा वेदों द्वारा बताये मार्ग पर चलकर व्यक्ति आनन्द प्राप्त कर सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु इन्होने अपने अनुसार वेदो की व्याख्या की। इसी कारण आर्य समाज का धर्म वैदिक होते हुए भी सनातन धर्म से कुछ भिन्न है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद व्याख्या एव भावार्थ सहित लिखा है। इनके भाष्य का नाम– **''ऋग्वेदभाष्य''** है। इसके अतिरिक्त इन्होने **''ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका''** नामक पुस्तक भी लिखी है।

१२. श्री अरविन्द स्वामी –

श्री अरविन्द घोष का जन्म सन् १८७२ मे कलकत्ता के एक घोष परिवार में हुआ था। यद्यपि इन्होने इग्लैड मे शिक्षा पाई थी परन्तु उनके हृदय मे भारत तथा भारतीय संस्कृति के लिए अपार स्नेह था। भारत

लौटकर इन्होने बडौदा राज्य मे रेवेन्यू विभाग मे कार्य किया। कुछ दिनो बाद इन्होने बडौदा मे ही प्रवक्ता के पद पर कार्य किया। सन् १६०५ मे इन्होने बगाल–विभाजन के राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लिया जिसके कारण इन्हे भारत छोडकर फ्रेच उपनिवेश पाण्डेचेरी मे शरण लेनी पडी। यहॉ पर इन्होने एक आश्रम स्थापित किया जो 'अरविन्द–आश्रम' के नाम से प्रसिद्ध है। यहॉ पर इन्होने अपनी राजनीतिक गतिविधियॉ छोडकर अपना शेष जीवन आध्यात्मिक साधना एव योग मे बिताया। इस प्रकार अरविन्द जी एक राजनीतिक कार्यकर्ता से दार्शनिक बन गए और एक दार्शनिक के रूप मे इन्होने धर्म, शिक्षा योग, ब्रह्मचर्य, राजनीति आदि विषयो पर अपने विचार व्यक्त किये है जो हमारा मार्ग दर्शन करते है। सन् १६५० ई० मे यह महान् शिक्षाशास्त्री, साधक एव ऋषि शून्य मे तिरोहित हो गया।

श्री अरविन्द जी ने वेद के मन्त्रो की रहस्यवादी व्याख्या की है और इस व्याख्या की रूप–रेखा बतलाते हुए इन्होने अपनी ''**हिम्स टू दी मिस्टिक फायर**'' नामक पुस्तक मे ऋग्वेदस्थ सम्पूर्ण अग्नि सूक्तो का अग्रेजी मे अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द जी ने वेद से सम्बन्धित '**ऑन दि वेद**' एव '**अदिति एण्ड अदर डीटीज इन दी वेद**' पुस्तके भी लिखी है।

ऋग्वेद-संहिता के पाश्चात्य व्याख्याकारों का जीवन-परिचय एवं कृतियॉ –

ऋग्वेद–सहिता के विभिन्न पाश्चात्य व्याख्याकारो का जीवन–परिचय एव कृतियो का विवरण इस प्रकार है–

रूडाल्फ रॉथ (Rudolf Roth) –

जर्मन विद्वान् रॉथ महोदय १८ वी शताब्दी के पाश्चात्य व्याख्याकारो मे गिने जाते है। इनका समय१८३१ से १८६५ ई० तक माना जाता है। रॉथ महोदय ने ऋग्वेद पर अग्रेजी टीका की तथा ऋग्वेद के विशिष्ट अशो का आलोचनात्मक अध्ययन एव अनुवाद किया है। रॉथ और ह्विटनी ने मिलकर सर्वप्रथम अथर्ववेद सहिता शौनकीय शाखा का सम्पादन किया।

यूरोप मे वैदिक अनुशीलन के इतिहास मे १८४६ ई० चिरस्मरणीय रहेगी क्योकि इसी वर्ष रूडाल्फ रॉथ नामक जर्मन विद्वान् ने जर्मन भाषा मे 'वैदिक साहित्य और इतिहास' नामक छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी जिसमें यूरोप मे वेद के अनुशीलन के प्रति वास्तविक एव गम्भीर प्रवृत्ति पैदा हुई। रॉथ महोदय ऐतिहासिक पद्धति के उद्भावक के रूप मे चिरस्मरणीय रहेंगे क्योकि इन्होने वेद के अर्थ समझने के लिए सायण आदि भारतीय भाष्यकारो की व्याख्या को एकदम अग्राह्य ठहरा कर पश्चिमी भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म को ही प्रधान सहायक माना है। दोषपूर्ण होने पर भी इस पद्धति ने वेदों के अर्थ–ज्ञान के लिए ऐतिहासिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया। इनकी दृष्टि से वेद के ही विभिन्न स्थलो में आये हुए शब्दो की छानबीन करने से सन्दिग्ध शब्दो के अर्थ स्वयं आभासित हो सकते है।

इसी पद्धति का अनुसरण कर रॉथ महोदय ने २० वर्ष के घोर परिश्रम के बाद 'सेन्टपीटर्सबर्ग सस्कृत जर्मन महाकोष' का निर्माण किया यह कोष १० हजार पृष्ठो मे ७ विशालकाय भागो मे सेन्टपीटर्सबर्ग नगर मे १८५५–१८७५ मे प्रकाशित किया गया। इसे 'सेन्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी' भी कहते है। इसका मूल्य सम्प्रति ४ हजार रूपये से भी अधिक है। इसमे वैदिक और लौकिक सस्कृत के सभी शब्दो का सड्ग्रह है। साथ ही अर्थो के साथ सबद्ध सन्दर्भ अश भी स्थान–निर्देश–सहित सड्कलित है। वैदिक अश के सड्ग्रह का श्रेय रॉथ को है और लौकिक सस्कृत के अश का श्रेय बोठलिग को है अर्थात् बोठलिग ने लौकिक सस्कृत शब्दो का अर्थ–निर्णय किया है। इस कोष मे शब्दो का अर्थ विकास–क्रम से दिया गया है। जिसमे वेद से लेकर लौकिक सस्कृत ग्रन्थो के भी सन्दर्भ अर्थ–निर्णय करने के लिए उद्धृत किए गए है। इससे बडा सस्कृत का प्रामाणिक कोश विश्व मे आज तक उपलब्ध नही है यह कोश आज भी बेजोड है तथा सस्कृत शब्दो के ऐतिहासिक अर्थ–विकास को समझने के लिए नितान्त उपयोगी है। इस कोश मे सस्कृत शब्दो का जर्मन–भाषा मे अर्थ किया गया है। यह कोष संस्कृत–साहित्य मे अद्वितीय है।

रॉथ ने जर्मन भाषा मे १८४६ मे निरूक्त ग्रन्थ का भी अनुवाद किया है। रॉथ ने २५ वर्ष की उम्र मे एक लेख– 'An Essay in Ancient Indian literature' नाम से ऋग्वेद के कुछ सूक्तो के आधार पर ही लिखा था जो आज भी पठनीय है। व्याख्या के क्षेत्र मे रॉथ ने पहली बार सायण की कटु आलोचना की और तुलनात्मक भाषाशास्त्र के आधार पर ऋग्वेद की व्याख्या का प्रयास किया। अनेक लेखो और अपने सस्कृत–जर्मन–कोष के माध्यम से उन्होंने व्याख्या के विकास को एक नयी दिशा प्रदान की।

राथ के अनेक शिष्य हुए और पाश्चात्य जगत् मे भारतीय परम्परा से हटकर वेदो की नयी व्याख्या करने का श्रेय उन्ही को दिया जाता है। मैक्डालन, ह्विटनी, मैक्समूलर, श्रोदर आदि सभी रॉथ के शिष्य थे। रॉथ ने जर्मनी के ट्यूविगन विश्वविद्यालय मे लगभग ५० वर्षो तक अध्यापन किया।

अल्फर्ड लुड्विग (Alfurd Ludwig) –

जर्मन विद्वान् लुड्विग १८ वी शताब्दी के पाश्चात्य भाष्यकार है। इन्होने मध्यम मार्ग का अवलम्बन करते हुए सम्पूर्ण ऋग्वेद का ६ भागो मे जर्मन भाषा मे अनुवाद किया है। इन्होने रॉथ और सायण दोनों की व्याख्या पद्धतियो को अपनाते हुए ये अनुवाद किया है। यह जर्मन अनुवाद १८७६–१८८८ ई० मे प्रकाशित हुआ। इनके इस जर्मन भाषा मे अनुदित ग्रन्थ का नाम 'डेर ऋग्वेद' (Der Rigveda) है।

लुड्विग ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का गद्यानुवाद विस्तृत व्याख्या तथा टिप्पणी के साथ ६ जिल्दो में किया है, परन्तु इनके इस गद्यानुवाद मे उतनी स्वतन्त्रता अगीकृत नही हुई है जितनी ग्रासमैन के सम्पूर्ण ऋग्वेद के पद्यानुवाद में परिलक्षित होती है।

एच. ग्रासमैन (H. Grassman) –

जर्मन विद्वान् ग्रासमैन भी १८ वी शताब्दी के पाश्चात्य व्याख्याकार है। ये जर्मन के सस्कृत एव भाषाविज्ञान के विद्वान् थे। ग्रासमैन रॉथ महोदय के शिष्य थे तथा इन्होने रॉथ की स्वतन्त्र तुलनात्मक पद्धति को अपनाया है। ये सायण–विरोधी वर्ग के व्यक्ति है।

ग्रासमैन ने 'सेण्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी' के आधार पर दो भागो मे सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन भाषा मे टिप्पणियो के साथ पद्यानुवाद किया है। यह १८७६–७७ मे प्रकाशित हुआ। इसमे इन्होने रॉथ की पद्धति से सायण भाष्य की उपेक्षा कर स्वतन्त्र रीति से अनुवाद किया है। यह उत्तम न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेदीय शब्दकोषो मे ग्रासमैन का 'व्योर्टर बुख त्सूम ऋग्वेद' १८७३–७५ मे प्रकाशित किया गया है। यह मुख्यत ऋग्वेद से सम्बद्ध है। ऋग्वेद की व्याख्या का अध्ययन करने वाला कोई भी छात्र इसके बिना अपना कार्य नही कर सकता। ऋग्वेद के सभी शब्दो की ससन्दर्भ सूची और उसका अर्थ इस ग्रन्थ मे प्राप्त है। ऋग्वेद से सम्बन्धित ग्रासमैन का यह शब्दकोष अब तक अद्वितीय है।

इस प्रकार ग्रासमैनकृत कोष ऋग्वेद के मन्त्रो का सम्पूर्ण शब्दो की सूची उपस्थित करने वाला कोष वह महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमे प्रत्येक शब्द के सन्दर्भानुसार बदलने वाले अर्थो के साथ क्रियाओ तथा सज्ञाओ के सभी रूप एवं अर्थ भी क्रमानुसार दिए है। ग्राममैन के 'वैदिक कोष' में ऋग्वेदीय स्थलो का निर्देश करते हुये शब्दो का अर्थ लिखा गया है। इस कोष मे शब्द भी रोमन लिपि मे है और अर्थो को जर्मन भाषा मे लिखा गया है। ऋग्वेद के अनुवाद के त्रुटियो की पूर्ति इस कोष से होती है।

हरमन होरेस विल्सन (H. H. Wilson) –

१८ वीं शताब्दी के व्याख्याकारो मे विल्सन का नाम भी गिना जाता है। इन्होने सर्वप्रथम ऋग्वेद का सम्पूर्ण अग्रेजी अनुवाद १८५० ई० मे प्रकाशित किया। यह सायण–भाष्य पर आश्रित है। विल्सन सायण के प्रबल समर्थको में थे।

जिन पाश्चात्य विद्वानो ने ऋग्वेद का आग्ल अर्थात् अग्रेजी अनुवाद किया उनमे विल्सन का नाम अग्रगण्य है। इन्होने सायण के आधार पर ऋग्वदे का ७ भागो मे अनुवाद किया जो आज भी बहुत उपयोगी है।

विल्सन अग्रेजी विद्वानो की प्रथम पीढी के वैदिक विद्वान् है। इनका उद्देश्य ग्रिफिथ की भॉति अग्रेजी भाषा– भाषियों एव विद्वानो के समक्ष ऋग्वेद का स्वरूप प्रस्तुत करना था।

इस प्रकार विल्सन ने मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित सायण–भाष्य को आधार बना कर इन्होने ऋग्वेद का अत्यन्त सरल एवं सुस्पष्ट भाषा मे अग्रेजी गद्य में अनुवाद किया। वेदों के अतिरिक्त इन्होने भगवद्गीता का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया।

विल्सन का अनुवाद भारत मे रहने वाले अग्रेजी पढे–लिखे विद्वानो मे बहुत लोकप्रिय हुआ। क्योकि यह ऋग्वेद–सहिता का एक मात्र सरल गद्यानुवाद था जो विशुद्ध भारतीय परम्परा के आधार पर किया गया था। सस्कृत न जानने वाले भारतीय विद्वानो ने विल्सन के अनुवाद के आधार पर अपने इस प्राचीनतम धर्मग्रन्थ का सर्वप्रथम परिचय प्राप्त किया।

फ्रेडरिक मैक्समूलर (F. Max Muller) –

मैक्समूलर साहब पाश्चात्य विद्वानो के शिरोमणि है। इन्होने वेद के विषय मे नाना ग्रन्थो की रचना कर उनके सिद्धान्त तथा धर्म को पश्चिमी देशो मे खूब लोकप्रिय बनाया। विद्वता के साथ सहानुभूति भी उनका विशेष गुण था। ये भारतीय धर्म, दर्शन तथा सस्कृति को सहानुभूति की दृष्टि से परखते थे तथा भारतीयो के हृदय तक पहुँचने की कोशिश करते थे। आज भी इनके ग्रन्थ विद्वता के साथ उदारता के प्रतीक है।

मैक्समूलर प्रो वर्नफ महोदय के द्वितीय महान् शिष्ये थे एव प्रो राथ के साक्षात् शिष्य थे। इनका जन्म जर्मन् के डेशो नामक स्थान मे ६ दिसम्बर, १८२३ ई० को हुआ था। इनका समय १८२३–१६०० ई० तक है। ये शर्मण्य (जर्मन) देशीय विद्वान् थे। १६ वर्ष की अवस्था मे इन्होने 'डाक्टर आफ फिलासफी' की उपाधि प्राप्त की थी। इन्होने १८४४ ई० मे "हितोपदेश" का जर्मन भाषा मे अनुवाद किया था। अपने गुरू प्रो० वर्नफ की प्रेरणा से इन्होने सायण भाष्य के साथ ऋग्वेद के प्रकाशन की योजना बनायी थी।

पाश्चात्य विद्वानों मे मैक्समूलर का नाम भारतीयो के लिए सबसे अधिक सुपरिचित है। जितनी लोकप्रियता इनको भारत मे प्राप्त हुई उतनी किसी भी अन्य विदेशी वेद व्याख्याकार को नही हुई। मैक्समूलर महोदय जर्मन होते हुए भी आजीवन इंग्लैण्ड मे रहे। मैक्समूलर १८५०–५१ ई० तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे भाषा–विज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त थे जो बाद मे सहायक प्रोफेसर बना दिए गए। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे सस्कृत के प्राध्यापक के रूप मे इन्होने बहुत कीर्ति अर्जित की।

मैक्समूलर के पूर्व ऋग्वेद सहिता उपलब्ध तो थी किन्तु सायण–भाष्य सहित उसका मुद्रण नही हुआ था। मैक्समूलर ने सायण रचित भाष्य की भारत एव जर्मनी तथा इग्लैण्ड के सङ्ग्रहालयो से विविध लिपियो मे लिखित अनेक प्रतियॉ प्राप्त की और उनका तुलनात्मक अध्ययन करके एक बहुत सुन्दर समीक्षात्मक सस्करण इग्लैण्ड से प्रकाशित किया इन्होने ऋग्वेद सहिता का अपना सस्करण देवनागरी लिपि मे ही छापा। मैक्समूलर का यह सस्करण पॉच भागो मे प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन का आशिक भार विजयनगर के राजा ने, तत्कालीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तथा बाद मे महारानी विक्टोरिया ने उठाया था। सायण–भाष्य के सम्पादन के अन्त मे इन्होने स्वयं सस्कृत मे बना कर यह श्लोक लिख है –

शर्मण्यदेशजातेन श्रीगोतीर्थनिवासिना।
मोक्षमुल्लरभट्टेन भाष्यमेतत् विशोधितम्।।

'शर्मण्य–देशवासी मोक्षमूलर (भट्ट) इनका यह नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने रखा था। स्वामी दयानन्द ने मैक्समूलर को 'मोक्षमूलर' नाम से सम्बोधित किया था। यह नाम इन्हे बहुत पसन्द आया और मैक्समूलर महोदय ने सस्कृत–ग्रन्थो मे अपना नाम मोक्षमूलर ही रखा।

मैक्समूलर ने सर्वप्रथम ऋग्वेद के सायण भाष्य का प्रथम बार विवेचनापूर्ण सम्पादन किया। इसका प्रारम्भ १८४६ ई० मे हुआ १८७५ मे पूर्ण हुआ। २७ वर्ष के घोर परिश्रम से यह कार्य पूर्ण हुआ। यह ३ सहस्र से अधिक पृष्ठो का ग्रन्थ है। इसमे कई सौ पृष्ठो की भूमिका और टिप्पणी है। इसका सशोधित द्वितीय सस्करण १८९०–१८९२ ई० मे प्रकाशित हुआ। यह मैक्समूलर के गम्भीर अध्यवसाय का परिचायक है। इस प्रकार मैक्समूलर ने ऋग्वेद के सायणभाष्य का सर्वप्रथम विवेचनापूर्ण सम्पादन किया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से वेद विषयक अध्ययन–अध्यापन की नीव यूरोप मे पक्की की गई।

मैक्समूलर महोदय की द्वितीय कृति 'प्राचीन वैदिक–सस्कृत–साहित्य' है इस ग्रन्थ मे इन्होने वैदिक साहित्य की विद्वतापूर्ण मीमासा की तथा वैदिक साहित्य के विषय में पर्याप्त विचार विमर्श किया। इसके साथ ही मैक्समूलर ने 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थ–माला' मे स्वय तथा अन्य अनेक पश्चिमी विद्वानो के लेखो तथा वैदिक ग्रन्थो के अनुवादों को प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ– 'Sacred Books of the East Series' के ५० भागो को जो स्वय तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानो द्वारा लिखे गए है मैक्समूलर ने उन सबका सम्पादन किया है। इनमे वैदिक व्याख्या से सम्बन्धित विविध विषय है– यथा ऋग्वेद की व्याख्या, शतपथ–ब्राह्मण की व्याख्या साथ ही पहलवी, अवेस्ता, सूत्रग्रन्थ, वेदान्त, जैनग्रन्थ तथा बुद्ध से सम्बन्धित ग्रन्थो का अनुवाद तथा व्याख्या है।

मैक्समूलर ने स्वय 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' के दो भागो मे उपनिषदो की व्याख्या की है तथा २ भागो मे वेदो के प्रमुख मन्त्रो की व्याख्या 'Vedic Hymns' के अन्तर्गत उपलब्ध होती है। इनके Vedic Hymns के 1st Volume मे ऋग्वेद से सम्बन्धित मरूत्, रूद्र, वायु तथा वात देवताओ से सम्बन्धित मन्त्रों की व्याख्या है। 2nd Volume मे ऋग्वेद मे प्राप्त इन्द्र, अग्नि, आप्री आदि सूक्तो की व्याख्या है। मैक्समूलर महोदय ने ऋग्वेद के सभी मरूत् सूक्तो का अनुवाद सटिप्पण किया है जो Sacred Books of the East के ३२ वें भाग मे प्रकाशित है।

मैक्समूलर महोदय ने ही सर्वप्रथम ऋग्वेद–सहिता के काल निर्धारण का प्रयास किया। इन्होने वैदिक काल को सहिता–काल, ब्राह्मण–काल, उपनिषद्–काल एव सूत्र–काल इन चार भागो मे विभाजित किया और इनमे से प्रत्येक के विकास के लिए न्यूनतम दो–दो वर्षो का समय निर्धारित किया।

मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य एव वैदिक देवशास्त्र पर अनेक शोध–लेख लिखे। इनके लेखो का सङ्कलन १५ भागो में प्रकाशित है। मैक्समूलर को तुलनात्मक देवशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। इन्होंने ही सर्वप्रथम वैदिक देवो की यूनानी, रोमन तथा प्रचीन जर्मन देवताओं से तुलना करके उनके स्वरूप पर एक नयी दृष्टि और एक नयी दिशा से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया।

मैक्समूलर महोदय तुलनात्मक भाषाशास्त्र के भी बहुत बडे विद्वान् थे, इसलिए वे अपने लेखो मे सस्कृत शब्दो के ग्रीक एव लैटिन आदि भाषाओ मे पाये जाने वाले समान शब्दो का भी उल्लेख करते है। इन्होने १८६१ ई० मे भाषा–विज्ञान पर व्याख्यान दिए। ये व्याख्यान पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित हुए। शैली की रोचकता और प्रसाद गुण के कारण यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। भाषाविज्ञान को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इनको ही है। ये सस्कृत–भाषा और भारत के परम प्रेमी थे। इन्होने "भारत से हम क्या सीखे?" तथा "भारत हमे क्या सिखा सकता है" आदि ग्रन्थ लिखा है।

मैक्समूलर महोदय के सस्कृत साहित्य एव भाषाविज्ञान से सम्बन्धित उल्लेखनीय कार्य निम्नलिखित है–

१. ऋग्वेद के सायण–भाष्य का सम्पादन किया।

२. ऋग्वेद सहिता के काल–निर्धारण का प्रयास किया।

३ एशिया से सम्बन्धित अनेक धर्मो के ग्रन्थो का अनुवाद "Sacred Books of the East" एक ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित किया। जिसके ५० भाग इग्लैण्ड से मुद्रित हुए और आज भी अपने भारतीय सस्करणो मे अतीव लोकप्रिय है।

४. भाषा–विज्ञान को लोकप्रिय–बनाया।

५. पूर्व आचार्यो के शोध–कार्यो का सड्कलन किया।

६. इन्होने भाषा और विवेक, वैज्ञानिक–वर्णमाला, ध्वनिपरिवर्तन, ग्रिम–नियम, व्युत्पत्ति के सिद्धान्त आदि विषयो पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिए है। अर्थ–विचार को विशेष महत्त्व दिया है। आर्यो के उद्गम–स्थान के विषय मे विस्तृत कार्य किया है।

७. यूरोप मे भी सस्कृत भाषा के लिए नागरी–लिपि का प्रचार इनका महत्त्वपूर्ण कार्य है।

७. इन्होने तुलनात्मक भाषा विज्ञान, तुलनात्मक पौराणिक गाथा, व्याकरण, दर्शन, सस्कृत–व्याकरण आदि अनेक ग्रन्थो का भी प्रणयन किया है।

मैक्समूलर श्लाइशर नामक भाषाविज्ञानी के विचारो के समर्थक थे। मैक्समूलर महोदय के कार्यो मे यद्यपि मौलिकता कम है, तथापि विषय का प्रस्तुतीकरण बहुत सुन्दर और रोचक है।

राल्फ टी. एच. ग्रिफिथ (Ralph T. H. Griffith) –

ग्रिफिथ भी १८वी शताब्दी के पाश्चात्य भाष्यकारो मे गिने जाते है। ग्रिफिथ महोदय ने दो भागो मे सायण–भाष्य का समुचित उपयोग करते हुए सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया है जिसका १८८६–१८६२ ई० में वाराणसी से प्रकाशन हुआ। इनके अनुदित ग्रन्थ का नाम "The Hymns of Rigveda" है। ग्रिफिथ महोदय ने ऋग्वेद के अग्रेजी पद्यानुवाद मे उपयोगी सूचियॉ तथा आवश्यक टिप्पणियॉ भी दी है।

ग्रिफिथ महोदय इग्लैण्ड के लन्दन विश्वविद्यालय से एवं ऑक्सफोर्ड से अध्ययन करके भारत आये थे। ये मैक्समूलर के शिष्य थे। भारत आने पर तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने इनकी विद्वता से प्रभावित होकर

इनको राजकीय सस्कृत कालेज वाराणसी का प्राचार्य नियुक्त कर दिया। इनको भारत से अनन्य प्रेम था। इनमे कवित्व प्रतिभा भी थी और अपने अध्ययन–काल मे ये अग्रेजी मे कविताएँ लिखा करते थे। भारत मे आकर इनकी यह प्रतिभा और अधिक विकसित हुई इस प्रतिभा का उपयोग इन्होने वैदिक एव लौकिक सस्कृत के काव्य–ग्रन्थो का काव्यात्मक अनुवाद करने मे किया। ग्रिफिथ महोदय का मानना था कि किसी भी छन्दोबद्ध रचना का अनुवाद छन्दोमयी भाषा मे ही होना चाहिए। वैदिक ग्रन्थो के अतिरिक्त आपने बाल्मीकि रामायण का भी एक बहुत सुन्दर पद्यबद्ध अग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। राजकीय–सस्कृत–कालेज के उद्यान के एक कोने मे एकान्त मे बैठकर प्राय इन्होने ये अनुवाद किए थे। जिस स्थान पर बैठ कर इन्होने अपनी रचनाएँ की वहाँ सम्पूर्णानन्द सस्कृत–विश्वविद्यालय ने एक प्रस्तर स्मारक बना दिया है। जिस पर यह लेख खुदा हुआ है –

तमसातटकोकिलेन यत् चरितंकूजितमूर्जित हरेः।
तदिहैव निषीदता सुखम् ग्रिफिथेनात्मगिराऽप्यगीयत।।

(वियोगिनी छन्द)

प्रो. ग्रिफिथ का उद्देश्य ऋग्वेद की कोई नयी व्याख्या प्रस्तुत करना नही था और न ही ये अपने को कोई वैदिक विद्वान् मानते थे। सस्कृत के ग्रन्थो का अनुवाद करने के पीछे इनकी भावना ये थी कि अग्रेजी भाषी पाठक सस्कृत–ग्रन्थो के काव्यात्मक लालित्य से परिचित हो सके।

इन्होने मुख्यत ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता तथा सामवेद एव अथर्ववेद की सहिताओ के अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। चारो वेदो का अग्रेजी में पद्यानुवाद करने का श्रेय प्रो ग्रिफिथ महोदय को ही है। ग्रिफिथ ने शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन सहिता का अग्रेजी भाषा मे पद्यानुवाद किया है जिसको बनारस से १८९६ ई० में प्रकाशित किया गया। सामवेद का भी अग्रजी भाषा में पद्यानुवाद ग्रिफिथ ने किया है जो १८९६ ई० मे बनारस से प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त ग्रिफिथ ने अथर्ववेद का आग्ल भाषा मे पद्यानुवाद वाराणसी से १८९५–९८ ई० मे प्रकाशित हुआ। ग्रिफिथ का सभी वेदों का अग्रेजी पद्यानुवाद मूल अर्थ को समझने मे पूर्ण सहायक है।

आर्थर एन्थोनी मैक्डानल (Arthur Anthony Macdonell) –

मैक्डानल का जन्म ११ मई, १८५४ ई० मे मुजफ्फरपुर (तिरहुत) मे हुआ था। इनकी शिक्षा यूरोप मे हुई थी। मैक्डानल वैदिक देवशास्त्र एव वैदिक व्याकरण के उत्कृष्ट विद्वान् थे। ये मूलत स्काटलैण्ड के निवासी थे और लन्दन के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे सस्कृत के प्राध्यापक पद पर प्रतिष्ठित रहे। वैदिक– साहित्य का अध्ययन इन्होंने जर्मनी जाकर प्रो रॉथ की छत्रछाया मे सम्पन्न किया था। मैक्डानल वेद के अतिरिक्त लौकिक सस्कृत के भी बहुत बडे विद्वान् थे।

मैक्डानल १८वी शताब्दी के अमेरिकी विद्वान् हैं। 'A Vedic Reader for Students' तथा 'Hymns from the Rigveda' इनकी प्रसिद्ध कृतियॉ है। जिसमे इन्होने भाषा शास्त्रीय टिप्पणियो के साथ ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूक्तो का अनुवाद एव व्याख्या प्रस्तुत की है।

मैक्डानल ने वैदिक व्याकरण पर दो ग्रन्थ लिखे है–

१ 'Vedic Grammar' यह जर्मनी से १६१० ई० मे प्रकाशित हुआ था। यह व्याकरण का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

२. मैक्डानल द्वारा लिखा गया वैदिक व्याकरण का दूसरा ग्रन्थ सक्षिप्त तथा सामान्य छात्रो के लिए विशेष उपयोगी है। जिसका इन्होने 'Vedic Grammar for Students' नाम दिया है। यह ऑक्सफोर्ड से १६२० ई० मे प्रकाशित हुआ।

इसके अतिरिक्त मैक्डानल ने सस्कृत व्याकरण के लिए 'Sankrit Grammar for Students' पुस्तक को भी लिखा है। इसमे लौकिक–सस्कृत का व्याकरण भी दिया है।

मैक्डानल वस्तुत· वैदिक सस्कृत के पाणिनि कहे जाते है। इनके व्याकरण के ग्रन्थो की एक मुख्य विशेषता ये है कि जहॉ पाणिनीय व्याकरण मे वैदिक प्रयोगो को 'बहुल छन्दसि' के अन्तर्गत निविष्ट कर दिया गया है उन्हे भी यहॉ नियमो मे बॉधने का प्रयत्न किया गया है।

मैक्डानल ने वैदिक देवशास्त्र पर "Vedic Mythology" नामक ग्रन्थ को १८६७ मे प्रकाशित किया था। यह विषय विवेचन तथा व्यापकता एवं प्रमाणिकता की दृष्टि से नितान्त उपादेय एव उत्तम ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त मैक्डानल का "History of sanskrit Literature" एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमे अधिकतर वैदिक साहित्य का ही विशेष अध्ययन है।

मैक्डानल और कीथ ने सयुक्त रूप से 'Vedic Index' (वैदिककोष) दो भागो में प्रकाशित किया है। यह वेदो के अध्ययन के लिए अत्युपयोगी कोष है, यह वैदिक संस्कृत का छोटा विश्वकोष है। इसमे ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक एव आर्थिक विषयो का विवेचन है। इनका यह कोष सस्कृत–अग्रेजी और अग्रेजी–सस्कृत दो भागो मे छपा है। यह कोष सभी छात्रो एव विद्वानो के लिये बहुत उपयोगी है। इस वैदिक–कोष को मैक्डानल ने अपने शिष्य कीथ के साथ मिलकर लिखा था। मैक्डानल के अपने व्यक्तिगत और मौलिक विचार इसी वैदिक–कोष (Vedic Index) मे समाहित है।

हरमन ओल्डेनबर्ग (Herman Oldenberg) –

ओल्डेनबर्ग न केवल वेद के अपितु संस्कृत–व्याकरण, बौद्ध धर्म तथा दर्शन के अप्रतिम विद्वान् थे। ये जर्मनी के 'कील' विश्वविद्यालय मे "भारतीय विद्या" के आचार्य थे। ये १६वी शताब्दी के जर्मन व्याख्याकार

है। इन्होने सम्पूर्ण ऋग्वेद का महाभाष्य जर्मन भाषा मे लिखा है। जर्मन भाषा मे लिखा गया यह भाष्य २ भागो मे १९०९–१२ ई० मे बर्लिन से प्रकाशित हुआ है। इनके इस भाष्य मे वैदिक समालोचना की परकाष्ठा है। यह ऋग्वेद पर सर्वोत्कृष्ठ भाष्य माना जाता है।

ओल्डेनबर्ग का अपने वैदिक समालोचना मे वही स्थान है जो वेदान्त मे शङ्कराचार्य का ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेदीय महाभाष्य मे बडी ही मार्मिक एव विवेचनापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। इन्होने प्रत्येक सूक्त के ऊपर विशद विवेचन किया है तथा प्रत्येक सूक्त के ऊपर अन्य पूर्ववर्ती विद्वानो की व्याख्या का निर्देश तथा स्थान–स्थान पर अन्य विद्वानो के विचारो का उल्लेख करते हुए अपनी विशद विवेचना को प्रस्तुत किया है। इनके ऋग्वेद की व्याख्या समीक्षात्मक अध्ययन से सम्बन्धित ग्रन्थ का नाम है– 'टेक्सटक्रिटिशे उण्ट एक्सगेटिशे नोटेन' है। ऋग्वेद के ऊपर व्याख्या एव टिप्पणियॉ इनके इस विशाल ग्रन्थ मे समाहित है। इस पुस्तक मे ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा पर मौलिक विचार किया गया है।

ओल्डेनबर्ग ने "Sacred Books of the East" के ४६वे भाग के द्वितीय खण्ड मे ऋग्वेद के अग्नि सूक्तो का अनुवाद प्रकाशित कराया।मैक्समूलर के लिए इन्होने "Sacred Books of the East" मे कुछ श्रौत्र–सूत्रो एव गृह्य–सूत्रो का भी अग्रेजी मे अनुवाद किया है। इन्होने अपने एक अन्य ग्रन्थ मे ऋग्वेद के छन्द आदि अन्य विषयो की भी विशद विवेचना प्रस्तुत की है।

ओल्डेनबर्ग ने अपने "Vedic Hymns" नामक ग्रन्थ मे ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूक्तो का अनुवाद एव व्याख्या भी प्रस्तुत की है। ये "Die Hymnen Rigveda" तथा "Vedic Hymns" के रचायिता है।

ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के धर्म पर "Religion des veda" नामक पुस्तक लिखी। जिसमे ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो का अनुवाद भी प्राप्त है। यह पुस्तक अत्यधिक प्रसिद्ध हुई। जिसमे ऋग्वेद के देवताओ के स्वरूप का उत्तम विवेचन तो है ही साथ ही वैदिक काल के आचार–विचार, धार्मिक मान्यताएँ एव दार्शनिक सिद्धान्तो पर उत्तम प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद के ऊपर इनके मौलिक एव गम्भीर चिन्तन का सार उनके "Raligion des vada" नामक पुस्तक मे प्राप्त होता है। इस पुस्तक मे मुख्यत वैदिक देवताओ के स्वरूप के सम्बन्ध मे सूक्ष्म विवेचन किया गया है, और ऋग्वेद से अनेक उद्धरण देते हुए अपने विचारो को पुष्ट किया गया है। देवताओं के अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं एव वैदिक दर्शन का भी विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है। ओल्डेनबर्ग को वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ–यागादि के विधान का भी उत्तम ज्ञान था, जिसका परिचय इनके इस ग्रन्थ मे पदे–पदे मिलता है। इसके अतिरिक्त व्याख्या सम्बन्धी इनके अनेक लेख दो भागो मे जर्मनी से प्रकाशित हुए है।

अनुवाद के अतिरिक्त ओल्डेनबर्ग ने टीका ग्रन्थ भी लिखा है, जिनमे सन्दिग्ध मन्त्रो के अर्थ की विवेचना बडी छान–बीन से प्रचुर प्रमाण के आधार पर की गई है। ऐसे ग्रन्थो मे डा० ओल्डेनबर्ग के 'ऋग्वेद टिप्पण'

का नाम अग्रगण्य है जिसमे इन्होने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के ऊपर उपलब्ध व्याकरण, कोश, छन्द सम्बन्धी सामग्री का नवीन शैली मे एक महान् सङ्ग्रह उपस्थित किया है।

पिशेल तथा गैल्डनर द्वारा प्रस्तुत सायणानुकूल विवरण की सर्वागीण समीक्षा करने वाले विद्वान् ओल्डेनबर्ग है जिनकी ऋक्–संहिता की आलोचनात्मक टिप्पणियॉ चिन्तन के साथ–साथ स्वर–छन्द आदि के सूक्ष्म अध्ययन के लिए वेदो के अध्येताओ मे आदर का भाजन बनी है।

आर. पिशेल एवं कार्ल एफ. गैल्डनर (R. Pischel & Karl F. Geldner) –

कार्ल एफ गैल्डनर एव आर पिशल २०वी शताब्दी के पाश्चात्य विद्वान् माने जाते है। पिशेल व गैल्डनर ने रॉथ आदि पाश्चात्य विद्वानो द्वारा भारतीय भाष्यकारो के विरूद्ध चलाये गये अभियान का खण्डन किया और उन्होने इस मत का प्रतिपादन किया कि आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार व्याख्यान करते हुए भी सायण प्रभृति भारतीय भाष्यकारो से जो सहायता मिल सकती है उसका पूर्ण उपयोग करना चाहिए क्योकि वेदो की भारतीय पृष्ठभूमि के कारण भारतीय भाष्यकार इन्हे समझने मे अधिक समर्थ है।

पिशेल तथा गैल्डनर महोदय ने केवल भाषाशास्त्र पर बल न देते हुए परवर्ती वेदो एव वेदाङ्गो के साथ–साथ प्राचीन परम्परा के अनुसार किए गए सायणाचार्यकृत विवरण को भी महत्त्वपूर्ण एव उपादेय माना है। ऋग्वेद के अधिकाश जटिल एव दुरूह सूक्तो तथा शब्दो की तर्कसङ्गत व्याख्या करने का इनका प्रयत्न बडा ही सराहनीय है।

गैल्डनर ने ऋग्वेद के ७० सूक्तो का आलोचनात्मक अध्ययन एवं अनुवाद किया है। यह अनुवाद जर्मन भाषा में किया गया है इसके अतिरिक्त– गैल्डनर ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का भी जर्मन भाषा मे अनुवाद किया है। यह जर्मन भाषा में ऋग्वेद का अनुवाद हारवर्ड ओरियन्टल सिरीज अमेरिका से प्रकाशित हुआ। इस अनुदित पुस्तक का नाम 'डेर ऋग्वेद' (Der Rigveda) है। गैल्डनर का अनुवाद आज तक के अनुवादो मे सर्वश्रेष्ठ है।

गैल्डनर ने पिशेल के साथ 'Vedische Studien' (वेदिशे स्टूडियन अर्थात् वैदिक अनुशीलन) नामक पुस्तक को लिखा। इस पुस्तक के तीनो भागो मे अनेक गूढ वैदिक शब्दो के अर्थ का अनुसन्धान किया गया है। गैल्डनर ने पिशले के साथ जर्मन भाषा मे– 'वैदिक शब्दो का अर्थ एव इतिहास' नामक पुस्तक भी लिखी है।

पीटर पीटर्सन (Peter Peterson) –

पीटर पीटर्सन ने ऋग्वेद के प्रमुख सूक्तो का अग्रेजी भाषा में दो भागो मे अनुवाद किया है इनकी पुस्तक का नाम "Hymns from the Rigveda" है। इन्होंने इस पुस्तक का प्रकाशन १२ जनवरी १८९६ मे किया था।

भारत मे अपने निवास का उपयोग प्रो थीमे ने भारतीय पण्डितो से विधाध्ययन करने मे किया। विशेषरूप से पाणिनि की अष्टाध्यायी एव पतञ्जलि का महाभाष्य इन्होने प कमलाकान्त मिश्र नामक विद्वान् से पढे जो उस समय दारागज इलाहाबाद के निर्वाण वेद विद्यालय मे प्रधानाचार्य थे।

भारत मे निवास के कारण और सस्कृत व्याकरण मे गहरी पैठ बनाने के कारण प्रो थीमे को भारत से बहुत प्रेम हो गया और उनकी दृष्टि भी व्यापक हो गयी। प्रो थीमे पाणिनि के अन्धभक्त थे। पाणिनि के विरूद्ध वे कुछ नही सुनना चाहते थे। उनका तो यहाँ तक मानना है कि "यास्क भी पाणिनि से परवर्ती है और पाणिनि के सूत्रो का अध्ययन करके ही उन्होने अपने निरूक्त की रचना की।"

प्रो थीमे ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद नही किया है बल्कि कुछ गिने चुने और प्रमुख सूक्तो का ही अनुवाद उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है, किन्तु वह अनुवाद भी मानक है और अन्य सूक्तो के अनुवाद के लिए एक अच्छा मार्गदर्शक है।

वर्तमान समय मे प्रो थीमे अपनी पत्नी की सहायता से ऋग्वेद के कठिन एव दुरूह शब्दो का एक शब्द–कोष बनाने मे सलग्न है।

बर्गेन्य (Bergein) –

फ्रास और इटली मे भी ऋग्वेद की व्याख्या पर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। इनमे बर्गेन्य का 'रिलिजियों द वेदीक्' ऋग्वेद के धर्म पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो तीन भागो मे प्रकाशित हुआ था। इन्होने ऋग्वेद के ७० सूक्तो का अनुवाद भी फ्रेन्च भाषा मे किया था, जो व्याख्या के विकास की एक कडी माना जा सकता है।

प्रो. लुईस रेनू (Prof. Louis Renou) –

फ्रेन्च भाषा मे ही ऋग्वेद की व्याख्या मे नवीनतम विकास प्रो० लुईरेनू की कृतियो के माध्यम से हुआ। इन्होने पाणिनि व्याकरण का सहारा लेकर वेद की व्याख्या का नया अध्याय प्रारम्भ किया। इन्होने 'एत्यूद् वेदीक एत पाणिनीनेन' नाम से अपने ग्रन्थ को १६ भागो मे प्रकाशित कराया जिसमे केवल ऋग्वेद का अनुवाद ही नही अपितु वेद सम्बन्धी अनेक अनुसन्धान भी सम्मिलित है। इन्होने 'बिब्लियोग्राफी वेदीक (वैदिक वाड्मय की ग्रन्थ–सूची) नाम से फ्रेन्च भाषा मे ६ भागों मे १६३१ ई० में प्रकाशित किया। इसमे वैदिक साहित्य पर प्रकाशित सभी ग्रन्थो की विस्तृत सूची है। वेद की व्याख्या के इतिहास मे प्रो रेनू का नाम अन्य मूर्धन्य विद्वानो के साथ अमर रहेगा।

प्रो. लाग्ल्वाइस (Prof. Langlois) –

लाग्ल्वाइस (Langlois) ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का चार भागो में फ्रेन्च भाषा में अनुवाद १८४८–१८५१ ई० मे प्रकाशित किया। यह कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

वेदों की व्याख्या की अनिवार्यता –

कालक्रम से अत्यन्त अतीत काल मे रचित किसी ग्रन्थ का अभिप्राय भावी पीढी के लिए समझना एक अति दुरूह कार्य है। यदि प्राचीनता के साथ भावो की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है, तो यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। वेदो के अर्थानुशीलन के विषय मे यह तथ्य अत्यन्त समीचीन सिद्ध होता है। एक तो ये स्वय किसी धुँधले अतीत काल की कृति ठहरे, उस पर भाषा की विषमता तथा विचारधारा की गम्भीरता ने अपना प्रभाव जमा रखा है। फलस्वरूप उनके अर्थ का उचित मात्रा मे पर्यालोचन करना, उनके अन्तस्तल तक पहुँच कर उनके मर्म की गवेषणा करना, एक दुर्बोध पहेली बन गया, परन्तु इस पहेली के समझाने का प्रशसनीय कार्य प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। यास्क ने निरूक्त (१/२०/२) मे इस कार्य का अल्पाभास भी दिया है। इनके कथनानुसार ऋषियो ने विशिष्ट तपस्या के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होने जब अर्वाचीन काल मे धर्म को साक्षात्कार न करने वाले ऋषि जनो को देखा, तो उनके हृदय मे नैसर्गिक करूणा उत्पन्न हुई उन्हे मन्त्रो का उपदेश ग्रन्थत तथा अर्थत. दोनो प्रकार से किया। प्राचीन ऋषियो ने श्रवण के बिना ही धर्मो का साक्षात् दर्शन किया था। अत द्रष्टा होने के कारण उनका 'ऋषित्व' स्वत· सिद्ध था, परन्तु प्राचीन ऋषियो ने मन्त्रो का ग्रन्थ तथा अर्थ रूप से श्रवण किया और इसके पश्चात् वे धर्मो के दर्शन मे कृतकार्य हुए। अत श्रवणान्तर दर्शन की योग्यता सम्पादित करने के कारण इनका उपयुक्त अभिधान ''श्रुतर्षि' रखा गया। इन्ही श्रुतर्षियो ने मानवो के कल्याणार्थ वेदार्थ समझने के उपयोगी शिक्षा–निरूक्तादि वेदाङ्गो की रचना की। इस प्रकार अर्वाचीन काल के मानव दुरूहता का दोषारोपण कर वेदार्थ को भूल न जायॅ और न वे वेदमूलक आचार तथा धर्म से मुख मोड बैठे, इस अन्नत भावना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषिगण वेदार्थ का उपदेश करने मे सतत जागरूक थे।

ऋग्वेद की व्याख्या का वास्तविक आरम्भ एवं विकास –

वेदो की व्याख्या अथवा भाष्य सर्वप्रथम किसने किया यह अज्ञात है। इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि क्या वेदो का अर्थ हो सकता है ? क्या वेदो की ऋचाओ का अर्थ हो सकता है ? जब से वेदो की रचना हुई तब से यह प्रश्न हमारे मनो–मस्तिष्क मे भ्रमण कर रहा है, परन्तु समुचित उत्तर नही प्राप्त होता।

वेदो की भारतीय व्याख्या का वास्तविक आरम्भ कब हुआ यह आज ज्ञात तो नहीं है परन्तु सर्व प्रथम प्रयास हमे ब्राह्मण ग्रन्थो मे दृष्टिगत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे संहिता की ऋचाओ की व्याख्या, शब्दो की व्युत्पत्ति आदि प्राप्त होती है तथा इनमें वैदिक भाषा के विचित्र पदो, स्वरों तथा सन्धियों के विवेचन की ओर ही ध्यान दिया गया है, साक्षात् रूप से पदो के अर्थ की पर्यालोचना का इनमे नितान्त अभाव है। प्रातिशाख्यो को भी एक प्रकार की व्याख्या ही कहा जा सकता है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' और 'वृहदेवता' प्रत्यक्ष तो नही पर अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रूप से व्याख्या ही है।

ऋग्वेद की व्याख्या का सर्वप्रथम प्रयास जो दृष्टिगत होता है, वह है यास्क का निरूक्त। यास्क–विरचित निरूक्त से भी प्राचीन "निघण्टु" है, जिसकी विस्तृत व्याख्या निरूक्त मे की गयी है। निघण्टु शब्द का अर्थ है 'शब्दो की सूची'। निघण्टु मे सहिताओ के कठिन अर्थ तथा सदिग्धार्थ शब्दो को एकत्र कर उनके अर्थ को सूचित किया गया है। उपलब्ध ग्रन्थो मे 'निघण्टु' वेदार्थ के स्फुटीकरण का प्रथम प्रयास लक्षित होता है।

प्राचीन काल मे अनेक निरूक्त ग्रन्थो की सत्ता थी, तथापि वेदार्थ की विस्तृत योजना का अधिक गौरवशाली ग्रन्थ यास्क–रचित निरूक्त ही है। निरूक्त मे शब्दो का अर्थ निर्णय होता है। यास्क ने निरूक्त मे लगभग ६०० ऋचाओ का अर्थ स्पष्ट किया है। यह निश्चित बात है कि सहिताकाल से निरूक्तकार बहुत बाद मे उत्पन्न हुए थे। क्या इनके समय मे ऋचाओ का अर्थ लुप्त और अस्पष्ट होने लगा था ? परम्परा कुछ अन्धकार मे पडने लगी थी। इसी कारण उन्होने एक ही शब्द के दो अर्थ बताये है। वृत्र की व्याख्या करते हुए यास्क कहते है–

तत्को वृत्र । मेघ इति नैरूक्ता । त्वष्ट्रोऽसुर इति ऐतिहासिका । अपा च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्ष कर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा ।

इस प्रकार यह निश्चित है कि यास्क के समय मे लोग अपनी–अपनी प्रणाली और सम्प्रदाय के अनुसार कार्य करने लगे थे। वेदो के प्रति लोग शङ्कालु दृष्टि से देखने लगे थे। लोकायतन मतावलम्बी (चार्वाक्) और कर्मकाण्डी तो वेदो के अर्थ की चिन्ता ही नही करते थे। चार्वाक् वेदो को अनर्गल प्रलाप और निरर्थक कहकर त्याज्य समझते थे। कर्मकाण्डियो का दल "स्वाध्यायो अध्येतव्य." का अनुसरण करते हुए वेदार्थ समझे बिना ही वेदपाठ को अधिक महत्त्व देते थे।

यास्क ने (निरूक्त १/१५) कौत्स नामक किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। ये कौत्स वस्तुत कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या केवल पूर्वपक्ष के निमित्त स्थापित कोई काल्पनिक व्यक्ति ? यह कहना बहुत कठिन है। कौत्स की सम्मति है कि मन्त्र अनर्थक है (अनर्थका हि मन्त्रा)। इसकी पुष्टि मे इन्होने अनेक युक्तियॉ प्रदर्शित की है, जिन्हें चार्वाक्, बौद्ध, जैनादि वेद–निन्दको ने भी अवान्तर काल मे ग्रहण किया।

कौत्स का पूर्वपक्ष –

'यदि मन्त्रो के अर्थ–ज्ञान के लिए निरूक्त है तो वह अनर्थक है। क्योकि मन्त्र अर्थ–रहित है'– यह कौत्स का मत है। कौत्स ने अपने मत की पुष्टि मे निम्न हेतु प्रस्तुत किए है–

१. मन्त्रो के पद नियत हैं तथा शब्दक्रम भी नियत है अर्थात् मन्त्र शब्दो की नियत योजना और निश्चित क्रम वाले होते हैं। मन्त्रो मे उनके शब्दो के पर्यायो का प्रयोग नही हो सकता– "अग्निमीळे पुरोहितम्" के स्थान पर 'वह्नि स्तौमि पुरोहितम्' का उच्चारण नही किया जा सकता तथा वैदिक मन्त्रो के शब्दो तथा वर्णो का क्रम भी सुनिश्चित है उनमे कोई परिवर्तन सम्भव नही है– 'अग्निमीळे पुरोहितम्' के स्थान पर 'ईळे अग्नि पुरोहितम्' नही किया जा सकता। यदि मन्त्र सार्थक होते तो सार्थक वाक्यो की शैली पर पदो का तथा पदक्रम का परिवर्तन सर्वथा न्याय होता।

२. ब्राह्मण–वाक्यो द्वारा मन्त्र अर्थ युक्त बनाए जाते है, अर्थात् ब्राह्मण वाक्यो द्वारा मन्त्रो का विनियोग विशेष अनुष्ठानो मे किया जाता है। यथा 'उरू प्रथस्व' इस मन्त्र का प्रथन–कर्म, विस्तार–कर्म में शतपथ–ब्राह्मण विनियोग करता है। यदि मन्त्रो मे अर्थ द्योतन की शक्ति रहती, तो स्वत सिद्ध अर्थ को ब्राह्मण ग्रन्थो के द्वारा विनियोग दिखलाने की क्या आवश्यकता होती ?

३. मन्त्रो का अर्थ अनुपपन्न है, अर्थात् उपपत्ति या युक्ति के द्वारा वह सिद्ध नही किया जा सकता। यथा– "ओषधे ! त्रायस्व एनम्" (हे ओषधि ! तू वृक्ष की रक्षा कर) भला निर्जीव ओषधि जो अपनी रक्षा मे भी समर्थ नही है वह वृक्ष की रक्षा कैसे कर सकती है, इसी प्रकार 'स्वधिते मैन हिसी' (हे परशु ! तू इसे न मार) इस मन्त्राश का प्रयोग यजमान वृक्ष को काटते हुए करता है।

४. वैदिक मन्त्रो मे परस्पर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। यथा "एक एव रूद्रोऽवतस्थे, न द्वितीय", "असख्याता सहस्राणि ये रूद्रा अधिभूम्याम्" यहॉ प्रथम मन्त्र का अर्थ है। 'रूद्र एक ही है दूसरा नही', परन्तु दूसरे मन्त्र का अर्थ है– 'पृथ्वी पर रूद्र असख्य संख्या मे है।' इसी प्रकार "अशत्रुर इन्द्र जज्ञिषे" (हे इन्द्र! तुम शत्रु रहित उत्पन्न हो)। "शत सेना अजयत् साकम् इन्द्र" (सैकडो सेनाऍ इन्द्र ने एक साथ जीत ली।)

५. वैदिक मन्त्रो मे अर्थज्ञ पुरूष को कार्यविशेष के अनुष्ठान के लिए सम्प्रेष (आज्ञा) दिया जाता है। यथा होता नामक ऋत्विक् से कहा जाता है– "अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि" अर्थात् 'जलने वाली अग्नि के लिए बोलो।' होता अपने कर्त्तव्य–कर्म से स्वत परिचित होता है कि अमुक यज्ञ मे अमुक कार्य का विधान उसे करना है। ऐसी दशा मे सम्प्रेषण की यह उक्ति अनर्थक है।

६. मन्त्रो मे एक ही पदार्थ को उनेक रूपो मे बतलाया गया है। यथा–अदिति ही समस्त जगत् है, अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही द्यौ, पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पञ्चजन, जात तथा जनित्व आदि। यह सर्वविदित है कि आकाश और अन्तरिक्ष भिन्न देशवासी होने से आपस मे पृथक्–पृथक् है। ऐसी दशा मे अदिति के साथ इन दोनो की समानता बतलाना कहॉ तक उपयुक्त है ?

७. मन्त्रो के अनेक शब्द सर्वथा अस्पष्ट अर्थ वाले है। यथा– 'अम्यक्' (ऋ० १/१६६/३) 'यादृश्मिन्' (ऋ० ५/४४/८) 'जारयायि' (ऋ० ६/१२/४), 'काणुका' (ऋ० ८/७७/४), 'जर्भरी–तुर्भरी' (ऋ० १०/१०६/६) आदि शब्दो का अर्थ स्पष्ट नही है।

कौत्स का यही पूर्व पक्ष है। इस पक्ष का खण्डन यास्क ने अतिप्रबल युक्तियो के द्वारा किया है।

यास्का का सिद्धान्तपक्ष –

वैदिक तथा लौकिक वाक्यो मे शब्दो की समानता के कारण वेदो के मन्त्र भी अर्थवान् एव सार्थक है।

'मन्त्र अनर्थक है' का खण्डन करने से पूर्व यास्क ने मन्त्रो की सार्थकता के प्रतिपादन के लिए दो हेतु दिए है –

१ "अर्थवन्त शब्द–सामान्यात्" इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि लौकिक संस्कृत तथा वैदिक सस्कृत भाषा के शब्दो मे पूरी समानता है। आकाड्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति के द्वारा लौकिक सस्कृत मे प्रयुक्त 'गौर गच्छति' आदि शब्द किसी विशेष अर्थ को निश्चित रूप से प्रकट करते है। वे ही 'गौ' इत्यादि सार्थक शब्द वेदो मे भी प्रयुक्त है फिर वे अनर्थक कैसे हो सकते है ? इसलिए जहॉ तक सार्थकता का सम्बन्ध है लोक तथा वेद दोनो मे व्यवहृत या प्रयुक्त शब्द समान है। इसलिए यदि शब्द लोक मे प्रयुक्त होकर किसी अर्थ विशेष को प्रकट कर सकते है तो वेद मे ऐसा क्यो नही कर सकते ?

२. दूसरा हेतु यास्क ने यह दिया है कि ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ आदि की पूर्णता तभी मानते है यदि यज्ञ मे की जा रही क्रियाओ तथा विधियो का समर्थन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के मन्त्र करते हो।

कौत्स की युक्तियों का खण्डन –

१. लौकिक भाषा मे भी पदों की नियत योजना तथा क्रम दृष्टिगोचर होता है। यथा– 'इन्द्राग्नी' और 'पितापुत्रौ' इन प्रयोगो मे न तो शब्द ही बदले जा सकते है न इनका क्रम छिन्न–भिन्न किया जा सकता है। ऐसा नियम न होने पर भी इनकी सार्थकता बनी ही रहती है।

२. ब्राह्मण–ग्रन्थो मे मन्त्रो का विनियोग विधान उदितानुवादमात्र है, अर्थात् मन्त्रो मे जिस अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट है उसी का केवल अनुवाद ब्राह्मण–वाक्यो के द्वारा किया जाता है। अत यह कहना कि 'ब्राह्मण ग्रन्थो द्वारा मन्त्र अर्थयुक्त किये जाते है' उचित नही है।

३. वैदिक मन्त्रो का अर्थ अनुपपन्न नही है। परशु–प्रहार करते समय भी जो अहिसा कही गई है वह वेद के द्वारा सिद्ध है। परशु के द्वारा वृक्ष का छेदन आपातत हिसा का सूचक अवश्य है, परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि परशु–छेदन वस्तुत हिंसा नही है। हिसा तथा अहिसा के सूक्ष्म विवेचन का परिचय हमे वेद से ही लगता है। वेद जिस कर्म मे मनुष्य को लगाता है वह होता है अहिसात्मक और जिस कर्म से मनुष्य का निषेध करता है वह होता है हिंसात्मक। औषधि, पशु, मृग, वनस्पति आदि का यज्ञ मे सम्यक् विधिपूर्वक उपयोग होने से वे परम उत्कर्ष को प्राप्त होते है। अत यज्ञ मे इनका विधान अभ्युदयदायक होता है, हिसारूप नही। इसी प्रकार किसी वृक्ष की शाखा का यज्ञ के लिए विधिपूर्वक छेदन करना अनुग्रह है, हिसा नही।

४. रूद्र की एकता तथा अनेकता का उल्लेख करने वाले मन्त्रो मे पारस्परिक विरोध नही है, क्योंकि महाभाग्यशाली देवता की यही महिमा है कि यह एक होते हुए भी अनेक विभूतियो मे वर्तमान रहता है। इन्द्र को अशत्रु तथा शत्रुविजेता मानने मे भी कोई विरोध नही है। यह वर्णन रूपक–कल्पना पर अवलम्बित है। लोक में भी जिसके एक दो या अधिक शत्रु होते है उसको "असपत्न", "अनमित्र" आदि कहते है। इसी प्रकार लोक में शत्रुसम्पन्न होने पर भी राजा शत्रुहीन बताया जाता है।

५. अनुष्ठान से परिचित भी व्यक्ति को दी गई अज्ञा (सम्प्रेषणा) व्यर्थ नही मानी जा सकती, क्योकि विशिष्ट अतिथि के आगमन पर मधुपर्क का देना सबको विदित है, परन्तु फिर भी लोकव्यवहार मे विधिज्ञ पुरूष से तीन बार 'यह मधुपर्क है इसको ग्रहण कीजिए' इत्यादि कहा जाता है। इसी प्रकार लोक मे यह जानते हुए गुरू को शिष्य अपना नाम बताकर अभिवादन करता है। ऐसी दशा मे ब्राह्मण–ग्रन्थो का सम्प्रेषण निरर्थक नही है।

६. अदिति को सर्वरूपात्मक बतलाने का अभिप्राय उसकी महत्ता दिखलाने मे है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर भक्त अदिति से कह रहा है कि जगत् के समस्त पदार्थ तुम ही है। लौकिक भाषा मे भी ऐसा प्रयोग, मिलता है– "सर्वरसा अनुप्राप्ता पानीयम्" अर्थात् जल मे सभी रस विद्यमान् है। इसी प्रकार

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा तवमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्व मम देव देव·।।

७. मन्त्रो का अर्थ यदि स्पष्टरूपेण ज्ञात नही होता तो उनके जानने का प्रयास करना चाहिए। निरूक्तग्रन्थ मे शब्दो का धातुओ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अर्थ–विधान की सुचारू व्यवस्था की गई है। अपना दोष दूसरो के मत्थे मढना कहॉ तक ठीक है ? यदि सामने खडे वृक्ष को अन्धा व्यक्ति नही देखता, तो इसमे वृक्ष का कौन सा अपराध है ? यह तो पुरूष का अपराध है। इसी प्रकार अर्थ–विवेचक शास्त्रो का अभ्यास करना चाहिए, उपयोगी ग्रन्थो के अभ्यास किए बिना मन्त्रो पर अनर्थक होने का दोषारोप करना कहॉ तक औचित्यपूर्ण है ? 'अभ्यक्' का अर्थ है प्राप्नोति (पहुॅचाता है) 'यादृश्मिन्' का यादृश (जिस प्रकार का), 'जारयायि' का अर्थ है– 'उत्पन्न हुआ', 'काणुका' के तीन अर्थ है– प्रिय, अखिल, परिपूर्ण, सुसस्कृत। 'जर्भरी' का अर्थ है 'भर्तारौ' (भरण करने वाले), 'तुर्फरी' का अर्थ है 'हन्तारौ' (मारने वाला)।

यद्यपि यास्क ने कौत्स द्वारा किए हुए प्रत्येक आक्षेप का खण्डन किया है, परन्तु इससे प्रमाणित होता है कि वेदो के प्रति लोग उस समय भी अन्धश्रद्ध नही थे, बल्कि अपनी विवेक–बुद्धि का सहारा लिया करते थे।

ऋग्वेद की व्याख्या के प्रमुख दृष्टिकोंण –

ऋग्वेद की व्याख्या प्रधानत दो दृष्टिकोणो को सामने रखकर की जाती है–

१. परम्परानुमोदित भारतीय दृष्टिकोंण –

परम्परानुमोदित भारतीय दृष्टिकोण परम्परागत व्याख्या–पद्धति, विनियोग एव मन्त्रो के परम्परागत अर्थ का अनुसरण तथा अनुमोदन करता है। भारतीय दृष्टिकोण भारतीय भाष्यकारो द्वारा अनुमोदित है परन्तु कुछ पाश्चात्य भाष्यकारों ने भी इस दृष्टिकोण को अपनाते हुए वेदो का व्याख्यान किया है। परम्परानुमोदित भारतीय भाष्यकारो मे सायण, यास्क, स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव, उव्वट, महीधर, उद्गीथ आदि का नाम हम सम्मान के साथ ले सकते है।

२. आधुनिक विचारानुमोदित-पाश्चात्य दृष्टिकोण –

यह दृष्टिकोण पाश्चात्य भाष्यकारो द्वारा अपनाया गया है। यह पाश्चात्य दृष्टिकोण आधुनिक व्याख्या पद्धति, विनियोग एव मन्त्रार्थ का अनुसरण एव अनुमोदन करता है तथा परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण का विरोध करता है।

'व्याख्या' एवं 'पद्धति' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थनिरूपण –

'व्याख्या' शब्द की व्युत्पत्ति –

'व्याख्या' शब्द वि और आङ् उपसर्ग पूर्वक √ख्यै धातु से अङ् और टाप् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है।

'व्याख्या' शब्द का अर्थ –

व्याख्या शब्द का अर्थ है– "व्याख्यायते अनया इति व्याख्या" अर्थात् जिसके द्वारा व्याख्या की जाती है उसे व्याख्या कहते है।

व्याख्या शब्द का अर्थ है 'भाष्य', 'टीका' तथा 'वृत्ति' ये सभी शब्द समानार्थक है। व्याख्या पद अंग्रेजी के "Commentry" का पर्याय है। अग्रेजी मे व्याख्या पद के Explanation, Comment, Exposition, Enterpretation आदि अनेक अर्थ होते है, जो व्याख्या के अर्थ को व्यक्त करते है।

इसी प्रकार हिन्दी मे व्याख्या शब्द का विशिष्ट विवरण, विवेचन, विश्लेषण, समीक्षा, आलोचना, विस्तार पूर्वक विवेचन करना आदि अर्थ व्याख्या के ही पर्याय, समानार्थी अर्थात् एकार्थी है।

'पद्धति' शब्द की व्युत्पत्ति –

'पद्धति' शब्द √पद् धातु से क्तिन् प्रत्यय तथा धकार का आगम करने पर पद्धति पद निष्पन्न होता है।

'पद्धति' शब्द का अर्थ –

पद्धति शब्द का अर्थ है– 'पद्यते गम्यते अनया इति पद्धति' अर्थात् जिसके द्वारा गमन किया जाता है उसको पद्धति कहते है।

'पद्धति' शब्द का अर्थ है– शैली, रीति, विधि, प्रणाली, परम्परा, प्रकार आदि। ये सभी शब्द समानार्थक है, पद्धति शब्द के पर्याय है।

अंग्रेजी मे 'पद्धति' शब्द को 'Mathod" कहते है। इसके अतिरिक्त पद्धति पद के अन्य समानार्थक शब्द भी हैं जैसे– Way, Line, Row, Range, a guide, Custom, Practice, Mode, System, Ritual, Manual, Treatise on any particular act or cermony detailing the mode of its performance. अग्रेजी मे ये सभी शब्द 'पद्धति' शब्द के अर्थो मे प्रयुक्त होते है।

ऋग्वेद की प्रमुख परम्परागत व्याख्या-पद्धतियाँ –

यास्क ने अपने निरूक्त मे अनेक पूर्ववर्ती निरूक्तकारों एव उनकी व्याख्या–पद्धतियो का उल्लेख किया है, जिससे ऋग्वेद की व्याख्या की सुदृढ परम्परा का सङ्केत मिलता है। निरूक्त मे जिन व्याख्या–पद्धतियो का उल्लेख किया गया है, वे निम्नलिखित है –

१. आधिभौतिक पद्धति –

ऋग्वेद की प्रमुख व्याख्या–पद्धतियो मे आधिभौतिक पद्धति भी एक प्रसिद्ध व्याख्या–पद्धति है। इस पद्धति से मन्त्रो की व्याख्या करने पर प्रत्येक मन्त्र का अर्थ भौतिक जगत् के अर्थ का बोध कराता है। इस पद्धति मे मन्त्र का अर्थ भौतिक जगत् से सम्बद्ध होता है।

२. अधिदैवत पद्धति –

निरूक्त मे केवल एक स्थान पर (निरूक्त १३/६) इस व्याख्या–पद्धति का उल्लेख किया गया है। इस पद्धति से मन्त्रो की व्याख्या करने पर प्रत्येक मन्त्र का अर्थ देवता–विशेष के अर्थ का बोध कराता है। इस पद्धति मे देवता–विशेष परक अर्थ निहित रहता है।

३. आध्यात्मिक पद्धति –

इस पद्धति को मानने वाले भाष्यकारो ने मन्त्रो की व्याख्या आध्यात्मिक रूप मे प्रस्तुत की है। इस पद्धति का उल्लेख निरूक्त १३/६ मे किया गया है। इस पद्धति से व्याख्या करने पर मन्त्रो मे परमात्मा का अर्थ निहित रहता है। इस पद्धति से व्याख्यात मन्त्रो मे आत्मा एवं परमात्मापरक अर्थ का बोध होता है अर्थात् इस पद्धति में मन्त्रो के अर्थो का झुकाव एव विनियोग भी आत्मा एव परमात्मोन्मुख होता है। यह पद्धति आत्मवेत्तओ की है।

४. पूर्वे याज्ञिक –

इस व्याख्या–पद्धति का भी उल्लेख निरूक्त मे दो बार मिलता है– (निरूक्त ७/२३, ८/५) इस सम्प्रदाय का यह मत है कि ऋग्वेद के सभी मन्त्र यज्ञ की क्रियाओ से सम्बन्धित हैं, अर्थात् कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। अत उन सभी मन्त्रो का अर्थ एव विनियोग भी यज्ञ सम्बन्धी वार्त्ता के द्वारा ही अन्वेषणीय है, इसके लिए किसी वाह्य प्रमाण की आवश्यकता नही है।

५. याज्ञिक पद्धति –

इस पद्धति के अनुसार जिन मन्त्रों का प्रयोग यज्ञविधान के जिस सन्दर्भ मे होता है उसी सन्दर्भ के आधार पर उनका अर्थ–निर्धारण भी होना चाहिए। जहॉ पर मन्त्रो की व्याख्या याज्ञिक पद्धति से की जाती है वहॉ पर मन्त्रो का अर्थ यज्ञ तथा कर्मकाण्डपरक होता है। इस पद्धति में मन्त्रो का अर्थ एव विनियोग

यज्ञोन्मुख होता है। उत्तरमीमासा का प्रवर्तन इस पद्धति के आधार पर ही दृष्टिगोचर होता है। यह सम्प्रदाय निरूक्त की पद्धति को हेय समझता है। यह पद्धति याज्ञिको की है।

६. नैदान पद्धति –

इस सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने दो बार किया है (निरूक्त ६/६, ७/१२)। इस पद्धति के अनुसार शब्द का मूलार्थ, जो कि परिस्थितिवश परिवर्तनीय है, बलवान् होता है। यह सम्प्रदाय भारतीय अर्थविज्ञान के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित था।

७. नैरूक्त पद्धति –

इस पद्धति मे पदो की निरूक्ति, निर्वचन तथा निष्पत्ति के पश्चात् धातु–प्रत्यय आदि का निर्देश किया जाता है। इस प्रकार इस पद्धति मे मन्त्र के पदो का निर्वचन और व्युत्पत्ति दोनो को बताते हुए मूल अर्थ को स्पष्ट किया जाता है। वेद के छ अड्गो मे निरूक्त भी एक है। यास्क के निरूक्त को छोडकर अन्य किसी भी निरूक्तकार का ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

८. ऐतिह्य पद्धति –

वैदिक मन्त्रो मे प्रत्यक्षभूत ऐतिहासिक तत्त्वो का अन्वेषण करने वाली व्याख्या–पद्धति को ऐतिह्य पद्धति कहते है। इस शैली मे नित्य इतिहास की कल्पना की गयी है, क्योकि यह इतिहास से सम्बन्धित है। इतिहास मे सत्य का अश होता है, घटना काल से परिसीमित होती है, तथा जो एक बार घटित हो चुकी होती है। इतिहास में जो घटना जिस रूप मे घटित होती है उसी रूप मे उसका वर्णन होता है। इतिहास की घटनाएँ वास्तविक होती है। यास्काचार्य के अनुसार वेद मे इतिहास अनुस्यूत है। छान्दोग्योपनिषद् और कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे इतिहास को पञ्चम वेद माना गया है। वेद के कोष और वेदार्थ करने मे व्याकरण से भी अधिक सहायक ग्रन्थ यास्काचार्य के निरूक्त ने भी वेद मे इतिहास को माना है। निरूक्त के अनेक स्थानो मे "तत्रेतिहासमाचक्षते" आया है। निरूक्त में यास्क ने इषितसेन, शन्तनु, देवापि आदि के इतिहास का उल्लेख किया है यास्क के अनुसार– "तत्र ब्रह्मेतिहास मिश्र गाथा मिश्र भवति।" अर्थात् इतिहासो, ऋचाओ और गाथाओ से युक्त वेद है। फलत. यास्क के मत मे वेद मे इतिहास है इसी का प्रतिपादन करने वाली यास्क की दूसरी शैली ऐतिह्य शैली है। इसमे मन्त्रों का अर्थ इतिहासपरक होता है। इसमे मन्त्रार्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए मन्त्रार्थ से सन्दर्भित इतिहास को ग्रहण करते हुए प्रस्तुत किया जाता है।

९. आख्यानसमय पद्धति –

वैदिक मन्त्रों मे परोक्षभूत कथात्मक तत्त्वो अर्थात् ऐतिहासिक तत्त्वो का अन्वेषण करने वाली व्याख्या पद्धति को 'आख्यानसमय' के नाम से सम्बोधित किया गया है। आख्यान का अर्थ है 'कथा' तथा समय का अर्थ है 'परम्परा' अर्थात् जो कथाएँ परम्परा से चली आ रहीं है उन्हे आख्यानसमय कहते है। जो कथाएँ

विकृत हो गई है तथा अवास्तविक, काल्पनिक एव मिथ्यात्मक है उन्हे 'आख्यानसमय' कहते है। आख्यान मे इतिहास का कुछ अश होता है परन्तु इसे इतिहास की कोटि मे नही रखा जा सकता है। आख्यान मे कोई भी घटना देवी–देवताओ, आकाश तथा स्वर्ग से सम्बन्धित होती है। इसमें घटना भूतकाल से सम्बन्धित होती है एव कालातीत होती है। इसे किसी काल विशेष की सीमा मे नही बॉधा जा सकता। आख्यान मे कोई भी घटना एक से अधिक बार घटित हो सकती है। निरूक्त मे 'तत्र को वृत्र' मेघ इति नैरूक्त, त्वष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका' के रूप मे इसका उल्लेख मिलता है। इस पद्धति मे मन्त्रार्थ आख्यानपरक होता है तथा मन्त्रार्थ को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट करने के लिए मन्त्रार्थ से सम्बन्धि आख्यान भी प्रस्तुत किया जाता है।

१०. परिव्राजक पद्धति –

यास्क ने इस सम्प्रदाय का उल्लेख केवल एक बार किया है (निरूक्त – ५/२) 'निऋति' शब्द के निर्वचन के सन्दर्भ मे, जहॉ इनके मत का प्रदर्शन 'बहुप्रजा कृच्छमापद्ये' (बहुत सन्तानो से दु ख उत्पन्न होता है) के रूप मे किया गया है। नैरूक्तो के मतानुसार 'निऋति' का अर्थ वर्षा है। इस पद्धति मे मन्त्रार्थ सन्यासोन्मुख होता है, क्योकि यह पद्धति सन्यासियो की है।

११. वैयाकरण पद्धति –

शब्दार्थ–ज्ञान मे व्याकरण का महत्त्व सस्कृत भाषा–साहित्य के प्रारम्भकाल से ही रहा है, इसीलिये इसे वेद का मुख कहा गया है। यास्क के पूर्व वैयाकरणो का एक ऐसा समूह रहा जो वेद की व्याख्या मे सलग्न था। यास्क ने निरूक्त मे इसकी तीन बार चर्चा की है (निरूक्त १/१२०, ६/५, १३/६)। यद्यपि निरूक्तकारो और वैयाकरणो मे मूलत कोई विरोध नही परिलक्षित होता, किन्तु दोनो का उद्देश्य पृथक्–पृथक् था। जहॉ वैयाकरण शब्द की प्रकृति और प्रत्यय के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उसकी रूप–रचना तक ही अपने को सीमित रखता है, निरूक्तकार वही शब्द की निष्पत्ति के साथ उसके अर्थ पर अधिक बल देता है। किन्तु व्याकरण को वह महत्त्व देता है, इसीलिए यास्क ने कहा है कि 'नावैयाकरणाय निर्ब्रूयात्' अर्थात् 'व्याकरण न जानने वाले को निर्वचन का ज्ञान दे'।

ऋग्वेद की प्रमुख आधुनिक व्याख्या-पद्धतियाँ –

ऋग्वेद की प्रमुख आधुनिक व्याख्या–पद्धतियॉ निम्नलिखित है।

१. रहस्यात्मक पद्धति –

भारत मे वैदिक–साहित्य के अध्ययन का पुनर्जागरण हुआ, जिसके फलस्वरूप भारत मे एक विशेष व्याख्या–पद्धति का आविर्भाव हुआ, जिसे स्थूलतया 'रहस्यात्मक' पद्धति कहा जा सकता है। इसके अनुयायी स्वामी श्री मद्दयानन्द सरस्वती, डॉ० कुमारस्वामी एव अरविन्द घोष है। ये वैदिक मन्त्रो का अर्थ रहस्यात्मक दृष्टिकोण से करते हैं। इनकी पद्धति मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण पूर्णतः बहिष्कृत रहता है। इसी कारण इनका अपना महत्त्व होने पर भी आधुनिक वेद के विद्वान् इनकी व्याख्याओ को स्वीकार करने में असमर्थ है। डॉ राधाकृष्णन् ने अरविन्द की रहस्यात्मक व्याख्याओं के सम्बन्ध मे अपना विचार व्यक्त किया है कि इनकी

व्याख्या पाश्चात्य वैदिक विद्वानो के विरूद्ध है अपितु यह भारतीय परम्परागत व्याख्या तथा पूर्वमीमासा के भी विरूद्ध है।

२. ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धति –

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रवर्तित आधुनिक व्याख्या–पद्धति जो कि 'ऐतिहासिक पद्धति' अथवा 'तुलनात्मक ऐतिहासिक–भाषावैज्ञानिक पद्धति' के नाम से ख्यात है, तथा वैदिक अर्थानुशीलन के इतिहास मे एक नूतन युग को जन्म देती है। इस नूतन वैदिक व्याख्या–पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक श्री रूडाल्फ रॉथ महोदय है। इस पद्धति के प्रमुख नियामक तत्त्व है– तुलनात्मक भाषाशास्त्र, इतिहास तथा तुलनात्मक देवशास्त्र एव धर्म आदि।

इसमे दो यह दो से अधिक भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। यह तुलना किसी एक काल–विशेष या अनेक कालो के आधार पर की जाती है। इसमे भाषा की ध्वनियो, पद और वाक्य सभी दृष्टि से अन्तर्भाव होता है। वर्णानात्मक अश के आधार पर ही दो या अनेक भाषाओ की तुलना की जाती है। इस अध्ययन मे ऐतिहासिक प्रणाली भी विभिन्न कालो के रूपो का स्वरूप बताकर सहयोग प्रदान करती है। इस प्रकार तुलनात्मक भाषाविज्ञान मे वर्णनात्मक और ऐतिहासिक दोनो प्रणालियो का पूर्ण सहयोग रहता है।

तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धति मे सस्कृत, लैटिन और ग्रीक की तुलना की जाती है। इस तुलनात्मक अध्ययन ने ही इस तुलनात्मक भाषाविज्ञान को जन्म दिया। इसके ही आधार पर तुलनात्मक देवशास्त्र, तुलनात्मक विश्वसंस्कृति आदि अनेक शाखाएँ प्रचलित हुई है।

इस प्रकार उपर्युक्त वेद एव वैदिक–साहित्य तथा ऋग्वेद–सहिता के प्रमुख व्याख्याकारो एव ऋग्वेद की प्रमुख व्याख्या–पद्धतियो के परिचयात्मक, विवरण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के विभिन्न पौरस्त्य एव पाश्चात्य व्याख्याकारो द्वारा निर्मित ऋग्वेद की विभिन्न भारतीय तथा पाश्चात्य व्याख्या पद्धतियॉ है, जिनका उपयोग पौरस्त्य एवं पाश्चात्य व्याख्याकारो ने अपनी ऋग्वेद–सहिता की व्याख्या मे किया है।

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेद संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या पद्धतियों का भाषा की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

भाषा शब्द की व्युत्पत्ति –

'भाषा' शब्द सस्कृत की भ्वादिगण की √भाष् धातु से बना है। √भाष् धातु का अर्थ है– 'भाष् व्यक्ताया वाचि' अर्थात् व्यक्त वाणी "भाष्यते अनया इति भाषा"। इस प्रकार भाषा शब्द √भाष् धातु + अ प्रत्यय तथा टाप् प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न होता है।

भाषा शब्द का अर्थ –

'भाष्यते व्यक्तवाग्रूपेण अभिव्यज्यते इति भाषा' अर्थात् व्यक्त वाणी के रूप मे जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है, उसे 'भाषा' कहते है। पशु–पक्षियो की बोली तथा मानवकृत इगितो व सड्केतो की भाषा वस्तुत भाषा कहलाने की अधिकारिणी नही है, क्योकि वह 'अव्यक्त वाक्' है। वस्तुत इन तीन अर्थो मे भाषा शब्द का प्रयोग गौण रूप मे होता है। मुख्य रूप से भाषा शब्द से मानवीय व्यक्त वाणी का ही ग्रहण होता है, क्योकि इस व्यक्त भाषा के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय भावो को प्रकट किया जा सकता है। मनुष्य द्वारा वाणी से उच्चरित ध्वनि–सड्केतो से गठित शब्दमयी भाषा ही वस्तुत भाषा है, क्योकि इसमे स्पष्टता, असन्दिग्धता तथा सुगमता है।

भाषा की परिभाषा –

भाषा की परिभाषा विभिन्न विद्वानो ने भिन्न–भिन्न प्रकार से की है –

१ कपिल –

स्फुटवाक्करणोपात्तो भावाभिव्यक्तिसाधक ।

सड्केतो ध्वनिव्रात सा भाषेत्युच्यते बुधै ।।

" Language in its widest sense means the sum total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will "

An Introduction to Comperative Philology

अर्थात् "अपने व्यापकतम रूप मे भाषा का अर्थ है हमारे विचारो और मनोभावो को व्यक्त करने वाले ऐसे सड्केतो का कुल योग, जो देखे या सुने जा सके और इच्छानुसार उत्पन्न किए एव दोहराये जा सके।"

२ पाश्चात्य विचारक प्लेटो –

प्लेटो ने 'सोफिस्ट' मे विचार और भाषा का अन्तर करते हुए लिखा है कि "विचार आत्मा की मूक या ध्वन्यात्मक बात–चीत है, किन्तु जब वही ध्वन्यात्मक होकर होठो पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की सज्ञा देते है।"

३ वान्द्रिय –

भाषा को श्रोत या कर्णग्राह्य प्रतीक मानते हुए कहते है– "भाषा एक तरह का सङ्केत या चिह्न है। चिह्न से आशय उन प्रतीको से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरे पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते है– नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य, स्पर्शग्राह्य। वस्तुत भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।"

४ कुप्पूस्वामी –

इन्होने "भाषा को परम्परागत प्रतीको के सञ्चार के माध्यम के रूप मे परिभाषित किया है।"

५ आलपोर्ट –

"भाषा सवहन की वह व्यवस्था है जो प्रथागत प्रतीको के द्वारा निर्मित होती है।"

६. स्टर्टीवेण्ट –

"भाषा मुख से उच्चरित सङ्केतो की ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य एक दूसरे के सहयोग से क्रिया करते है।"

७ हर्सकोविट्ज –

"भाषा मुख से उच्चरित सङ्केतो की ऐसी व्यवस्था है जिसके माध्यम से सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाया जाता है तथा इस प्रकार जीवन की किसी विधि–विशेष को निरन्तरता और परिवर्तनशीलता दोनो ही प्राप्त होती है।"

८. जैकब्स तथा स्टर्न –

"भाषा एक समुदाय की मौखिक, अभिव्यक्ति का मिला–जुला माध्यम है। इस प्रकार एक दूसरे समुदाय के लिये बहुधा अबोध और कठिन है।"

९ शेरिफ व शेरिफ –

"कोई मानव भाषा यादृच्छ या नियन्त्रण रहित एवं परम्परागत प्रतीको (ध्वनि और चिह्नो) की एक पद्धति है जो प्रयोगकर्त्ता के लिए सार्थक होती है।"

१० श्रीमती सूसन लैन्जर –

"भाषा महत्त्वपूर्ण होने के साथ–साथ मस्तिष्क की अत्यन्त रहस्यमयी उत्पत्ति है।"

११ सापिर –

इन्होने भाषा को समाजीकरण का यन्त्र माना है। "भाषा व्यक्तित्व की शैली निर्धारित करती है तथा व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है।"

१२ जोन्स –

"मानव ने अपनी प्रगति मे जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण प्राप्त किया है वह भाषा है। मानवीय सस्कृति भाषा द्वारा ही उत्पन्न हुई है। भाषा की उत्पत्ति के अभाव मे मानव–समाज वह न होता जो आज है। भाषा प्रतीको की वह प्रणाली है जिसके प्रयोग द्वारा मनुष्य आपस मे आदान–प्रदान करता है।"

१३ कार्डीनोर –

"विचाराभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि–सङ्केत ही भाषा है।"

१४. ए. एच. गार्डीनर –

"The common definition of speech is the use of articulate sound-symbols for the expression of thought "

- Speech and Language

अर्थात् "विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि–सङ्केतो के व्यवहार को भाषा कहते है।"

१५. हेनरी स्वीट –

"Language may be defined as the expression of thought by means of speech-Sounds "

- The History of Language

अर्थात् "ध्वन्यात्मक शब्दो द्वारा विचारो को प्रकट करना ही भाषा है।"

१६. मेरिओ ए. पेई और फ्रॉन्क गैयनोर –

"A System of communication by sounds, i e through the organs of speech and hearing among human beings of a certain group or community, using vocal symbols posessing arbitrary conventional meanings."

- Dictionary of Linguistics

अर्थात् "मनुष्यो के वर्ग–विशेष मे आपसी व्यवहार के लिए प्रयुक्त वे व्यक्त ध्वनि–सड्केत, जिनका अर्थ पूर्वनिर्धारित एव परम्परागत है तथा जिनका आदान–प्रदान जिह्वा और कान के माध्यम से होता है।"

१७ मैकडेविड तथा हरबर्ट –

"भाषा सामाजिक परम्पराओ का एक सस्थान है जो प्रतीको के सेट तथा प्रत्ययो के सेट मे विशेष प्रकार के सम्बन्धो का वर्णन करती है।"

१८ हरलाक –

"भाषा मे सम्प्रेषण के वे सभी साधन आते है जिसमें विचारो और भावो को प्रतीकात्मक बना दिया जाता है जिससे कि अपने विचारो और भावो को दूसरो से कार्यपूर्ण ढंग से कहा जा सके।"

१६ चार्ल्स विनिक –

"भाषा ध्वनि–सड्केतो की एक प्रणाली है जो कि प्रेषणीय विचार तथा भावनाओ की अभिव्यक्ति के प्रयोग मे लायी जाती है तथा सामाजिक समूह अथवा बोलने वाले समुदाय के सदस्यो को इस योग्य बनाती है कि वह पारस्परिक क्रिया तथा सहयोग कर सके।"

२० वारेन –

"भाषा की परिभाषा व्यक्तियो के बीच परम्परागत प्रतीको के माध्यम से विचार–विनिमय की प्रणाली के रूप मे की जा सकती है।"

२१ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार –

"भाषा में कुछ स्वच्छ प्रतीको के प्रयोगो के द्वारा समूह के सदस्य अन्त क्रिया तथा विचारो का आदान–प्रदान करते है।"

२२. डा० भोलानाथ तिवारी –

"भाषा उच्चारणावयवो से उच्चरित अध्ययन–विश्लेषणीय यादृच्छिक ध्वनि–सड्केतो की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस मे भावो और विचारों का आदान–प्रदान करते है।"

२३. डा० बाबूराम सक्सेना –

"जिन ध्वनि–चिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार–विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते है।" **(सामान्य भाषाविज्ञान)**

२४ आचार्य किशोरीदास वाजपेयी –

"विभिन्न अर्थो मे सड्केतित शब्दसमूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरो के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते है।" **(भारतीय भाषाविज्ञान)**

भाषा की परिभाषा के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। वर्तमान मे सर्वसम्मत भाषा का कोई लक्षण नही है। सघटनात्मक दृष्टि से भाषाशास्त्रियो ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है–

"भाषा यादृच्छिक तथा विभिन्न अर्थो मे रूढ ध्वनि–सड्केतो की वह पद्धति है जिसके द्वारा मनुष्य परस्पर भावो–विचारो को अभिव्यक्त एव आदान–प्रदान करता है।"

उपर्युक्त परिभाषा मे 'ध्वनि–सड्केतो' को भाषा कहने से इगितादि को भाषा कहे जाने का निराकरण हो जाता है। ध्वनि–सड्केतो को 'यादृच्छिक' कहने से भाषा का मानवकृत होना ज्ञात हो जाता है तथा ध्वनि–सड्केतो के विभिन्न अर्थो मे रूढ होने से भाषा की सामाजिक मान्यता की अनिवार्यता का ज्ञान होता है। भाषा के लिए ये सभी बाते आवश्यक है, तभी उसके द्वारा विचारो का आदान–प्रदान सम्भव हो सकता है।

भाषा–शास्त्रियो द्वारा प्रयुक्त भाषा की उपर्युक्त परिभाषा में चार बातो पर ध्यान आकृष्ट किया गया है–

१. भाषा एक पद्धति है।

२ भाषा सड्केतात्मक है।

३. भाषा वाचिक ध्वनि सड्केत है।

४ भाषा यादृच्छिक सड्केत है।

इन चारो विशेषताओ का विवरण इस प्रकार है–

१. भाषा एक पद्धति है –

भाषा एक सुसम्बद्ध और सुव्यवहारित योजना या सघटन है, जिसमे कर्ता, कर्म, क्रिया आदि व्यवस्थित रूप से आ सकते है। सुव्यवस्थित पद्धति होने के कारण पद–रचना और वाक्य–रचना के विभिन्न नियम हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। किन शब्दो के रूपो मे तृतीया एकवचन के न् को ण् होगा किन मे नही। किन शब्दो मे तृतीया एकवचन मे 'आ' लगेगा, कहॉ 'न' लगेगा, कहॉ 'इन' (एन) लगेगा। इस व्यवस्था का ही फल है कि किसी भी भाषा का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया जाता है और विभिन्न नियम बनाए जाते हैं।

२. भाषा सड्केतात्मक है –

प्रत्येक भाषा में जो ध्वनियॉ उच्चरित होती हैं, उनका किसी वस्तु क्रिया या कार्य से सम्बन्ध होता है ये ध्वनियॉ प्रतीकात्मक होती है। इनका किसी विशेष वस्तु या क्रिया से मौलिक सम्बन्ध नही है। कोई भी ध्वनि

किसी भाषा मे किसी एक वस्तु का बोध कराती है और वही ध्वनि दूसरी भाषा मे दूसरे अर्थ का बोध कराती है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भाषा की ध्वनियॉ केवल सङ्केतात्मक या प्रतीकात्मक है।

३. भाषा वाचिक ध्वनि-सङ्केत है –

मनुष्य अपनी वागिन्द्रिय की सहायता से जिन सङ्केतो का उच्चारण करता है, वे ही भाषा के अन्तर्गत आते है। अन्य प्रकार के सङ्केत–इंगित आदि लाल–पीली झंडियॉ आदि तार और वायरलेस के विभिन्न सङ्केत भाषा के अन्तर्गत नही आते है। इसी प्रकार शंखनाद, भेरीनाद, या बिगुल आदि ध्वनि सङ्केत जो विभिन्न अर्थो की अभिव्यक्ति के लिए किए जाते है, भाषा के अन्तर्गत नही आते है। वाचिक ध्वनि–सङ्केत सूक्ष्मातिसूक्ष्म, मूर्त और अर्मूत, दृश्य–अदृश्य, निर्वचनीय और अनिर्वचनीय, सभी प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति मे पूर्णतया समर्थ है।

लिपि या लेखन–पद्धति भी भाषा का कार्य करती है, परन्तु यह मूल ध्वनियो का केवल सङ्केतात्मक चित्रण है, अत लिपि को गौण रूप से भाषा कहा जाता है। इसी आधार पर उच्चरित ध्वनियो को लिपिबद्ध किया जाता है और लिपिबद्ध को तात्त्विक रूप से उच्चारण करना सम्भव होता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वागिन्द्रिय से उत्पन्न सभी ध्वनियॉ सार्थक नही है और न उनका भाषा मे ग्रहण ही होता है। यथा–छीकना, खॉसना, गुर्राना, चिल्लाना आदि। इनका भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई महत्त्व नही है।

४. भाषा यादृच्छिक सङ्केत है –

विभिन्न भाषाओ के अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भाषा में जिन ध्वनि सङ्केतो का उपयोग किया जाता है, वे पूर्णतया यादृच्छिक (ऐच्छिक) है। किसी भी विशेष ध्वनि का किसी विशेष अर्थ से मौलिक या दार्शनिक सम्बन्ध नही है। प्रत्येक भाषा मे किसी विशेष ध्वनि को किसी विशेष अर्थ का वाचक मान लिया जाता है और वह परम्परा के अनुसार उसी अर्थ का वाचक हो जाता है। दूसरी भाषा मे अन्य शब्द उस अर्थ का बोध कराता है।

सङ्केत पूर्णतया यादृच्छिक नही है। प्रत्येक भाषा मे ध्वनि–सङ्केत रूढ हो गये है। किसी भी भाषा मे व्यक्ति–विशेष अपनी इच्छानुसार नये ध्वनि–सङ्केत का किसी विशेष अर्थ मे प्रयोग तब तक नही कर सकता है, जब तक उसको सामाजिक स्वीकृति प्राप्त न हो गयी हो। अतएव संस्कृत मे सङ्केत के लिए 'समय' शब्द का प्रचलन है, जिसका अर्थ है– सामाजिक स्वीकृति। यदृच्छा के साथ मे यह सामाजिक स्वीकृति अनिवार्य अङ्ग है।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर भाषा–विषयक कुछ मूलभूत बातों का ज्ञान होता है–

१. भाषा वक्ता के विचार को श्रोता तक पहुँचाती है, अर्थात् वह विचार–विनिमय का साधन होती है।

२. भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारणावयवों से नि.सृत ध्वनि–समष्टि होती है। इसका

अर्थ यह है कि अन्य साधनो से अन्य प्रकार की ध्वनियो (चुटकी बजाना, ताली बजाना आदि) से भी विचार–विनिमय हो सकता है, किन्तु वे भाषा के अन्तर्गत नही आती।

३. भाषा मे प्रयुक्त ध्वनि समष्टियॉ (या शब्द) सार्थक तो होती है, किन्तु उनका भावो या विचारो से कोई सहजात सम्बन्ध नही होता। यह सम्बन्ध 'यादृच्छिक' या 'माना हुआ' होता है। इसीलिए भाषा मे यादृच्छिक ध्वनि–समाष्टि या शब्द का जो अर्थ है वह यो ही बिना किसी तर्क, नियम या कारण आदि के मान लिया गया है। यदि वह सम्बन्ध सहजात, तर्कपूर्ण, स्वाभाविक या नियमित होता तो सभी भाषाओ मे शब्दो का साम्य मिलता। अग्रेज– व् + आ + ट् + अ + र् + अ = वाटर के योग को पानी समझता तो इसका हिन्दी या सस्कृत पर्याय भी लगभग यही होता है वह प् + आ + न् + ई = पानी या सस्कृत पर्याय ज् + ल् + अ + म् जलम् का योग न होता। इसी कारण एक ही वस्तु भाव या विचार के लिए विभिन्न भाषाओं मे विभिन्न शब्द मिलते है। भाषा मे प्रतीक वस्तु का नही होता उसकी 'मानसिक सकल्पना' का होता है।

४. भाषा एक व्यवस्था होती है। उसके अपने नियम होते है जिससे उस भाषा के सभी बोलने वाले परिचित होते है। इसीलिए वक्ता जो कुछ कहता है, श्रोता वही समझता है। भूतकाल का वाक्य भूतकाल का ही समझा जाता है, भविष्यकाल का नही। यदि गहनता से देखे तो भाषा व्यवस्थाओ की व्यवस्था है। ध्वनि, शब्दरचना, रूपरचना, वाक्यरचना सभी स्तरो पर उसमे व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए हिन्दी मे ड्, ढ शब्द के प्रारम्भ मे नही आते या ड्, ञ् शब्द के आदि मे और अन्त मे नही आते। यह ध्वनि–स्तर पर व्यवस्था है। वाक्य के स्तर पर हिन्दी में– कर्ता + कर्म + क्रिया का क्रम होता है, किन्तु अंग्रेजी मे कर्ता + क्रिया + कर्म का। यह वाक्य के स्तर पर व्यवस्था है।

५. भाषा का प्रयोग समाज–विशेष मे होता है और उसी मे बह बोली और समझी जाती है।

इस प्रकार भाषाशास्त्रियों द्वारा प्रदत्त भाषा की परिभाषा– भाषा उच्चारणावयवो से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनिप्रतीकों की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके द्वारा समाज–विशेष के लोग विचार–विनिमय करते हैं। यदि इस परिभाषा मे भाषा के प्रकार्य को जोड दें तथा व्यवस्था को गइराई से देखे और मानव–भाषा को दृष्टि मे रखे तो निम्न बाते इस परिभाषा में सम्मिलित की जा सकती है–

१. भाषा विचार–विनिमय का साधन तो है ही साथ ही कोई व्यक्ति चाहता है तो भाषा के माध्यम से अपने विचारो तथा अनुभवो को लेख, कविता, पुस्तक आदि में व्यक्त भी करता है।

२. इतना ही नहीं किसी व्यक्ति के भाषा–प्रयोग के आधार पर उस व्यक्ति के सामाजिक स्तर तथा व्यक्तित्व के विषय में भी काफी कुछ ज्ञान सुनने वाले को भाषा से चल जाता है।

३. जिसे प्रतीको की व्यवस्था कहा गया है, वह तत्त्वत 'प्रतीको' की सरचनात्मक व्यवस्था' होती है, अर्थात् भाषिक व्यवस्था के भीतर संरचना के स्तर होते हैं जो कई होते हैं। जैसे– ध्वनिस्तर, रूपस्तर, वाक्यस्तर आदि।

४. जिस भाषा के सम्बन्ध मे हम चर्चा कर रहे है वह मानव–भाषा है, अत उसे 'मानव–उच्चारणावयवो से उच्चरित' कहना अधिक सही है अन्यथा सभी जीव–जन्तुओ की उच्चरित भाषा इसके अन्तर्गत आ जायेगी जो यहॉ अपेक्षित नही है।

इस प्रकार भाषा की अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित और सर्वसमावेशी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है–

भाषा मानव–उच्चारणावयवो से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि–प्रतीको की वह सरचनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज–विशेष के लोग आपस मे विचार–विनिमय करते है, लेखक, कवि या वक्ता के रूप मे अपने अनुभवो एव भावो आदि को व्यक्त करते है तथा अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व, विशिष्टता तथा अस्मिता (identity) के सम्बन्ध मे जाने–अनजाने जानकारी देते है।

भाषा की विशेषताऍ –

मानवीय भाषा मे कतिपय विशेषताऍ उपलब्ध होती है, जो मानवेतर जीवो, पशु–पक्षी आदि की भाषा मे प्राप्त नही होती है। मानवीय भाषा की निम्न विशेषताऍ है–

१. यादृच्छिकता –

यादृच्छिकता का अर्थ है 'जैसी इच्छा हो' या 'माना हुआ'। मानवीय भाषा मे किसी वस्तु, भाव या शब्द या भाषा के किसी अवयव (सज्ञा, क्रिया आदि) और अर्थ मे कोई सहज–स्वाभाविक या तर्कपूर्ण अथवा जन्मसिद्ध निश्चित सम्बन्ध नही है। सभी शब्दो के अर्थ यादृच्छिक (स्वेच्छा से रखे हुए) है। इस प्रकार यह समाज की इच्छानुसार मात्र माना हुआ सम्बन्ध है। ये प्रत्येक भाषा में सङ्केतजन्य है।

२. सृजनात्मकता अथवा उत्पादन क्षमता –

मानवीय भाषा मे यह सामर्थ्य है कि वह सघटनात्मक ऐसे वाक्यो की भी रचना कर सकती है जिसे वक्ता और श्रोता ने उससे पूर्व कभी न कहा हो, न सुना हो। परन्तु दोनो ही पक्ष उसे सरलता से समझ सकते है। भाषा में यह सामर्थ्य सृजनात्मक या उत्पादन क्षमता के कारण ही सम्भव है।

३ अनुकरण-ग्राह्यता –

मानव–भाषा समाज–विशेष से अनुकरण द्वारा सीखी या ग्रहण की जाती है। जन्म से कोई भी व्यक्ति कोई भाषा नही जानता, अनुकरण–ग्राह्यता के कारण ही एक व्यक्ति अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाऍ भी अनुकरण से सीख लेता है, किन्तु अन्य जीव–जन्तु ऐसा नही कर सकते। इस प्रकार मानव भाषा आनुवाशिक नहीं होती। भाषा के इस अभिलक्षण को कुछ अन्य नामो से भी जाना जाता है। यथा–

सांस्कृतिक प्रेषणीयता– क्योकि सस्कृति के साथ–साथ उसके एक अड्गरूप मे भाषा सीखी जाती है।

परम्परानुगामिता– चूँकि परम्परा या रूढि (Convention) के रूप मे भाषा सीखी जाती है।

सीखने के योग्य होना या अधिगम्यता– चूँकि भाषा सीखी जा सकती है।

४ परीवर्तनशीलता –

मानवेतर जीवो की भाषा परिवर्तनशील नही होती। किन्तु मानव–भाषा सदैव परिवर्तित होती रहती है। सस्कृत के काल का 'कर्म' प्राकृत–काल मे 'कम्म' हो गया तथा आधुनिक काल मे 'काम' हो गया। इस परिवर्तनशीलता का मुख्य करण अनुकरण–ग्राह्यता है।

५. विविक्तता –

मानव–भाषा का स्वरूप ऐसा नही है जो पूरा अविच्छिन्न रूप से एक हो। वह तत्त्वत. कई घटको या इकाइयों में विभाज्य है। यथा–वाक्य एकाधिक शब्दो से बनता है तथा शब्द एकाधिक ध्वनियों से। यह बहुघटकता, विच्छिन्नता, विविक्तता या कई इकाइयो मे विभाज्यता अन्य जीवो की भाषा मे नहीं मिलती।

६. द्वैतता –

प्रत्येक भाषा मे किसी भी वाक्य मे दो तत्त्व या स्तर होते है– एक स्तर की इकाइयॉ सार्थक होती है तथा दूसरे स्तर की इकाइयॉ निरर्थक होती है। इन दो स्तरो की स्थिति को ही द्वैतता कहते है। इन इकाइयों मे सार्थक इकाइयो को 'रूपिम' (शब्द, धातु, उपसर्ग, कारकचिह्न आदि) कहते है। तथा निरर्थक इकाइयो को 'स्वनिम' कहते है। यथा–'बन्दर ने फल तोडे' इस वाक्य मे बन्दर + ने + फल + तोड + ए ये पॉच सार्थक इकाइयॉ (अथवा रूपिम) है। दूसरे स्तर की इकाइयॉ वे ध्वनियॉ है जिनसे ये सार्थक इकाइयॉ बनी है। यथा– बन्दर मे ब् + अ + न् + द् + अ + र् + अ ये छ ध्वनियॉ है। इन ध्वनियो का अपना कोई अर्थ नही होता किन्तु ये आपस मे मिलकर भाषा मे सार्थक इकाइयो का निर्माण करती है। ये ध्वनियॉ अपने आप मे निरर्थक होती है, किन्तु ये अर्थभेदक होती है– जैसे 'क' और 'घ' ध्वनियो का अपना कोई अर्थ नही है, किन्तु कोडा और घोडा मे अर्थ का भेद 'क' और 'घ' ध्वनियो के ही कारण है। इस स्तर की इकाइयो को 'स्वनिम' कहते है।

इस द्वैतता को **'अभिरचना की द्वैतता'** भी कहते हैं अर्थात् भाषा मे एक साथ दो स्तरो पर अभिरचनाऍ होती है। अर्थद्योतक या विचारद्योतक इकाइयो के अर्थ (रूपिम) के स्तर पर तथा अर्थभेदक इकाइयो अर्थात् (स्वनिम) के स्तर पर।

७. प्रेषण और ग्रहण में भूमिकाओं की परस्पर परिवर्तनीयता –

मानवीय भाषा मे प्रेषण और ग्रहण मे परस्पर परिवर्तनीयता की क्षमता है। भाषा का उपयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति व्यक्तवाक् के द्वारा अपने भाव या सन्देश को दूसरे तक पहुँचा सकता है और साथ ही दूसरे के द्वारा वक्तव्य को सुन और समझ सकता है।

अर्थात् जब हम किसी भाषा के माध्यम से विचार–विनिमय करते है तो वक्ता–श्रोता की भूमिकाएँ बदलती रहती है। वक्ता बोलता है तो श्रोता सुनता है फिर जब श्रोता उत्तर देता है या अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो वह वक्ता बन जाता है तब प्रथम वक्ता श्रोता बन जाता है। इसी को भूमिकाओ की परिवर्तनीयता कहते है।

८ अन्तरणता –

कुछ अपवादो को छोडकर मानवेतर जीवो की भाषा केवल वर्तमान के विषय मे सूचना दे सकती है भूत या भविष्य के विषय मे नही। इसके विपरीत मानव–भाषा वर्तमान काल मे प्रयुक्त होते हुए भी भूत तथा भविष्य के विषय मे भी कहने मे समर्थ है। इस तरह मानव–भाषा कालान्तरण कर सकती है। साथ ही मानव–भाषा स्थानान्तरण भी कर सकती है। इस प्रकार दिक्कालान्तरण (स्थान और काल का अन्तरण) मानव–भाषा का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण है। इस प्रकार मानवीय भाषा भाव–अभाव, मूर्त–अमूर्त सभी प्रकार के अर्थो की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है।

९. मौखिक-श्रव्यता –

मानव–भाषा मुँह से बोली जाती है तथा कानो से सुनी जाती है। इस तरह वह मौखिक–श्रव्य–सरणि का प्रयोग करती है। भाषा की लिखित–पठित सरणि मूलतः इसी पर आधारित होती है।

१०. असहजवृत्तिकता –

मानवेतर प्राणी भूख, कामेच्छा, भय आदि जीव–सुलभ सहज बातो के कारण प्राय. सहजवृत्तिकत अपने मुँह से कुछ ध्वनियॉ निकालते हैं किन्तु ध्वनियॉ असहजवृत्तिक होती है। जीवन की सहजवृत्तियो से उनका सम्बन्ध नही होता है।

उपर्युक्त सभी अभिलक्षण समवेत रूप से केवल मानव–भाषा मे ही मिलते है, तथा वे सभी अभिलक्षण मानव–भाषा को मानवेतर भाषा से पृथक् करते हैं।

भाषा का स्वरूप एवं प्रवृत्तियाँ –

भाषा की कुछ विशेषताएँ एव प्रवृत्तियॉ हैं, जो सामान्यरूप से विश्व की सभी भाषाओं मे प्राप्त होती है प्रत्येक भाषा के अपने व्याकरण हैं। उनके नियम उसी विशेष भाषा पर लागू होते है, परन्तु अग्रवर्णित भाषा की विशेषताएँ सभी भाषाओं पर लागू होती हैं।

१. भाषा सर्वोत्तम ज्योति है –

भाषा ही ससार की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है जो मानव–हृदय के अन्धकार को दूर करती है। यह ज्ञान–ज्योति ही विश्व के समस्त मानवो का कार्य–कलाप सिद्ध करती है। प्रसिद्ध भाषा–विज्ञानी आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि भाषा ही ज्ञान को प्रकाशित करती है। उसके बिना सविकल्पक (नाम–रूपादि–गुणयुक्त) ज्ञान सम्भव नही है।

वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।

(वाक्यपदीय–१–१२५)

आचार्य दण्डी ने भाषा की इस प्रकाशशीलता को ध्यान मे रखते हुए कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति ससार में न जलती तो ससार मे चारो ओर अन्धेरा ही रहता।

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

(काव्यादर्श १–४)

२. भाषा समाज को एक सूत्र में बॉधती है –

भाषा में ही वह शक्ति है कि सारे ससार को एक सूत्र में बॉध सके। भाषा समन्वय–सूत्र है। प्रत्येक भाषा स्वभाषा–भाषी को एकता के सूत्र मे बॉधे रखती है अत वे भिन्न होते हुए भी एकत्व की अनुभूति करते है। विश्व–भाषा, विश्व–मानव को एक सूत्र मे समन्वित कर विश्वबन्धुत्व का भाव जागृत करती है। ऋग्वेद मे भाषा को राष्ट्री (राष्ट्र–निर्मात्री) और सगमनी (संबद्ध करने वाली) कहा गया है। आचार्य भतृहरि ने उसे विश्वनिबन्ध अर्थात् विश्व को मिलाने वाली या जोडने वाली कहा है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्

(ऋग्वेद १०–१२५–३)

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी

(वाक्यपदीय १–११९)

३. भाषा सर्वशक्तिसम्पन्न है –

भाषा विश्व की सबसे महान् शक्तिसम्पन्न वस्तु है। भाषा में वह शक्ति है कि नवीन सृष्टि की सरचना कर दे। भाषा निष्प्राण समाज में चेतना का सञ्चार करती है, और हतप्रभ मे क्रान्ति ला देती है। ऋग्वेद मे भाषा को विश्व की रचना का श्रेय दिया गया है।

अहमेव वात इव प्र वामि, आरभमाणा भुवनानि विश्वा।

(ऋग्वेद १०—१२५—८)

वागेव विश्वा भवुनानि जज्ञे, वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।

(वाक्यपदीय १—१२१)

ऋग्वेद मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि भाषाओ की अनेकरूपता है और अलग—अलग इनकी स्थिति है। भाषा जन—जीवन मे समाविष्ट होकर जीवित रहती है इसकी ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है।

तां मा देवा व्यदधुः पुरूत्रा, भूरिस्थात्रां भूर्यावेशन्तीम्।

(ऋग्वेद १०—१२५—३)

४. भाषा सर्वव्यापक है —

मानव के प्रत्येक कार्य भाषा द्वारा सञ्चालित होते है। व्यक्ति, व्यक्ति—समाज या व्यक्ति स्वय, सभी परिस्थितियो मे मानव का आधार भाषा ही है। मानव का आन्तरिक और वाह्य कार्य, चिन्तन—मनन—अभिव्यञ्जन, वैयक्तिक और सामाजिक कार्यो के लिए भाषा की ही सहायता ली जाती है। ज्ञान—विज्ञान, धर्म—दर्शन, आचार—विचार, हेय—उपादेय का विवेक, सभी का आधार भाषा है। इसीलिए आचार्य भर्तृहरि ने सभी लौकिक कार्यो का आधार भाषा को माना है। भाषा से ही ज्ञान होता है, ज्ञान से ही सम्पूर्ण कार्य होते है, अत भाषा सर्वत्र अनुस्यूत है।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यापाश्रया

(वाक्यपदीय १—१२२)

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते।

(वाक्यपदीय १—१२४)

५ भाषा विराट् और विश्वकर्मा है —

भाषा का स्वरूप इतना विशाल और अगाध है कि ब्रह्मा के तुल्य विराट् रूप माना गया है। विश्व की सम्पूर्ण भाषाएँ उसमे अन्तर्निहित है। ज्ञान—विज्ञान का ऐसा कोई अंश नही है जो भाषा मे समाहित न हो। जिस प्रकार ब्रह्म के विराट् रूप में सभी लोक—लोकान्तर, ग्रह—उपग्रह एव सभी सौर—मण्डल समाविष्ट है, उसी प्रकार भाषा मे सभी भाषाओ का वाङ्मय सङ्ग्रहीत होता है।

शतपथ—ब्राह्मण मे भाषा को 'विराट्' कहा गया है। यजुर्वेद (१३—५८) मे वाक्तत्त्व एव विश्वकर्मा नाम दिया गया है। शतपथ—ब्राह्मण इन सञ्ज्ञाओं की व्याख्या करता है कि वाणी अर्थात् भाषा के द्वारा विश्व के सभी

कर्म किए जाते है। अत वाणी को 'विश्वकर्मा' कहते है। भाषा मे सबकुछ कर सकने की शक्ति है अत भाषा का 'विश्वकर्मा' नाम अन्वर्थ है।।

'वाग्वै विराट्'। (शतपथब्राह्मण ३–५–१–३४)
इयमुपरि मतिस्तस्यै वाक् (यजुर्वेद १३–५८)
वाग् वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदं सर्व कृतम्। (शतपथ ८–१–२–६)

६ भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न है –

जिस प्रकार मानव सृष्टि का क्रम अविच्छिन्न रूप से चल रहा है, उसी प्रकार भाषा का प्रवाह भी मानव के साथ–साथ चल रहा है। ताण्डय महाब्राह्मण मे भाषा की उपमा नदी की धारा से दी गई है। जिस प्रकार नदी की धारा निरन्तर प्रवाहमान रहती है, उसमे कही रूकावट या विच्छेद नही होता, उसी प्रकार भाषा भी नित–नूतन सरस होती हुई प्रवाहित होती है। वह (सतता) सदा अविच्छिन्न रहती है।

सा (वाक्) ऊर्ध्वोदातनोद् यथाऽपां धारा संततैवम्।
(ताण्डय महाब्राह्मण २०–१४–२)

ऐतरेय–ब्राह्मण मे ऋग्वेद (४–५८–१) की व्याख्या करते हुए भाषा के एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि भाषा समुद्र है। जिस प्रकार समुद्र कभी क्षीण नही होता है उसी प्रकार भाषा भी कभी क्षीण नही होती है। भाषा समुद्रवत् अनन्त और अथाह है। ताण्डय महाब्राह्मण मे भी भाषा को समुद्र कहा गया है।

वाग् वै समुद्रः। (ताण्डय ७–७–६)
वाग् वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते, न समुद्र क्षीयते (ऐतरेय ब्राह्मण ५–१६)

७. भाषा परम्परागत वस्तु है –

भाषा के स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भाषा परम्परागत वस्तु है। यह परम्परा से मनुष्य को प्राप्त होती है और वह वश–परम्परा से अग्रसर होती हुई चली जाती है। सस्कृत भाषा सहस्रो वर्षो से परम्परा से चली आ रही है। इसी प्रकार भारत की अन्य भाषाएँ परम्परा से चली आ रही है।

ऋग्वेद मे भाषा की परम्परागतता का कारण बताया गया है कि भाषा 'हृद्य' होती है। यह मनोरम होने के साथ हृदयपक्ष को प्रभावित करती है। अतएव एक भाषा–भाषियों मे धर्मभेद, जातिभेद आदि होने पर भी एकता रहती है। ऋग्वेद में विभिन्न भाषाओ की सीमाबद्धता को 'व्रज' (बाडा) कहते हुए 'शतव्रजाः' सैकड़ों बाडो वाली कहा है, अर्थात् भाषाओ के सैकडो वर्ग है।

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजाः।

(ऋग्वेद ४–५८–५)

ऋग्वेद का कथन है कि हृदय के द्वारा भाषा की सरसता को और बुद्धि के द्वारा उसके परिष्कार को करके भाषा को पवित्र रखा जाता है।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः

(ऋग्वेद ४–५८–६)

अर्थात् वाणी (भाषा) हृदय और मन द्वारा पवित्र की जाती हुई नदी के प्रवाह के तुल्य निरन्तर चलती है।

ऋग्वेद का कथन है–

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत

(ऋग्वेद १०–७१–२)

अर्थात् विद्वान् चलनी से सत्तू के तुल्य भाषा को विचारपूर्ण चिन्तन के द्वारा परिष्कृत करते है।

८ भाषा सामाजिक वस्तु है –

जिस प्रकार मनुष्य समाज मे वेश–भूषा, उठना–बैठना, खाना–पीना आदि की प्रारम्भिक शिक्षा लेता है, उसी प्रकार समाज से ही भाषा भी सीखता है। मनुष्य को भाषा समाज की ही देन है अत भाषा को सामाजिक वस्तु माना है।

९ भाषा मानव की अक्षय निधि है –

भाषा मानवमात्र का अक्षय कोष है। यही मानवता की पूँजी है, मानव–समाज का चिर–सञ्चित कोष है, जिसको लेकर भावी पीढी अपना काम चलाती है। मानव ने सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक जो कुछ सोचा, समझा, देखा और अनुभव किया है, उसका ही सङ्कलन भाषा के रूप में विद्यमान् है। भाषा मानवजाति का सार और सर्वस्व है, अत इसे 'रस' कहा गया है। ऋग्वेद ने इसे अमृत की नाभि (केन्द्र) और देवो की जिह्वा कहा है।

पुरूषस्य वाग् रसः, वाच ऋग् रसः।

(छान्दोग्य–उपनिषद् १–१–२)

जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।

(ऋग्वेद ४–५८–१)

१०. भाषा में कर्तृत्व, धर्तृत्व और हर्तृत्व –

भाषा मे कर्तृत्व, धर्तृत्व और हर्तृत्व ये तीनो गुण है। समस्त रचनात्मक कार्य विविध योजनाएँ शिक्षण, ज्ञान–विज्ञानविषयक सभी कार्य भाषा के माध्यम से होते है। भाषा ही समाज को धारण किए हुए है, एक सूत्र मे बद्ध किए हुए है, अन्यथा समाज विश्रृखल हो जाता। भाषा ही अनुपयोगी शब्दो का विनाश, शत्रु–सैन्य–विनाश आदि का कारण होती है। भाषा ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र तीनो का काम करती है। ऋग्वेद के 'वाक्' सूक्त मे भाषा को 'ऋषि', विद्वान्, तेजस्वी बनाने वाला बताया गया है। उसे समाज का पालक और समाज विरोधी तत्त्वो का नाशक कहा गया है।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।। (ऋग्वेद १०–१२५–५)
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति। (ऋग्वेद १०–१२५–४)
अहं रूद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ (ऋग्वेद १०–१२५–६)
वाग् वै प्रजापतिः। (शतपथब्राह्मण ५–१–५–६)
वाग् वै लोकंपृणा। (शतपथब्राह्मण (८–७–२–७)

११. भाषा सत् और असत् दोनों की बोधक है –

भाषा की ही यह विशेषता है कि वह मूर्त–अमूर्त, सत्–असत्, निर्वचनीय–अनिर्वचनीय, ज्ञात–अज्ञात, भाव–अभाव सभी प्रकार के अर्थो को प्रकट कर सकती है। शश–विषाण, ख–पुष्प, अलातचक्र (मशाला का चक्र) आदि अत्यन्त अभाव वाली वस्तुओ का भी बोधक हो जाता है। सूक्ष्म, अनिर्वचनीय, आत्मा–परमात्मा, ज्ञान, कल्पना आदि का बोध भाषा के द्वारा ही होता है।

१. **अत्यन्तासत्यप्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च।** (श्री हर्ष–खण्डनखण्डखाद्य)
२. **अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।**
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार-निरूपणा।। (वाक्यपदीय १–१३१)
३. **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** (योगदर्शन १–९)

१२. भाषा पैतृक एवं जन्मसिद्ध नहीं है –

भाषा मनुष्य को जन्म के साथ नही मिलती है। भाषा पैतृक–परम्परा के रूप मे अनायास नही मिलती है। भाषा सीखनी पडती है, अर्जित की जाती है। मानव के जन्म के समय समाज मे भाषा की स्थिति है, परन्तु वह बालक को स्वतः सिद्ध नही होती है। माता–पिता आदि से शिक्षण के द्वारा प्राप्त होने पर भी उसे पैतृक नही कह सकते इस प्रकार भाषा जन्म से ही प्राप्त न होने के कारण जन्मसिद्ध नही है।

१३ भाषा अर्जित सम्पत्ति है –

भाषा मानव शरीर के साथ जन्म से ही नही प्राप्त होती है। भाषा को समाज से, समीपस्थ वातावरण से, सहयोगियो एव साथियो से सीखा जाता है। अपनी–अपनी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार मनुष्य बाल्यकाल मे भाषा को अर्जित करता है। बच्चा एक–एक शब्द सैकडो बार बोलकर सीखता और समझता है, तब वह शब्द उसकी पूँजी बनता है। सस्कृत के एक सुभाषितकार का यह कथन सत्य है कि भाषा और धन, क्षण और कण को पकडने से ही प्राप्त होते है। क्षण–त्याग करने पर भाषा और विद्या नही आएगी, कण (अन्न–कण) त्याग देने से कभी धन एकत्र नही होगा।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थ च चिन्तयेत्।
क्षणत्यागात् कुतो विद्या कणतयागात् कुतो धनम्।।

१४ भाषा अनुकरण और व्यवहार से अर्जित की जाती है –

भाषा को सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि शिशु समाज से ही भाषा सीखता है। बाल्यावस्था मे वह माता–पिता आदि के द्वारा उच्चरित शब्दो का अनुकरण करता है। यह सीखने की प्रक्रिया बाल्यकाल से लेकर जीवन पर्यन्त चलती रहती है। बाल्यकाल मे अनुकरण की प्रक्रिया मुख्य रहती है, बाद मे लोक–व्यवहार एव शिक्षण से अर्जन–क्रिया चलती है। आचार्य पाणिनि और पतञ्जलि ने लोक–व्यवहार को ही भाषाज्ञान का प्रमुख साधन माना है।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्।
(अष्टाध्यायी १–२–५६)

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः
(महाभाष्य आह्निक–१)

१५ भाषा भाव-सम्प्रेषण का साधन है –

भाषा ही वह माध्यम है कि जिसके द्वारा मनुष्य अपने भावो और विचारो को दूसरे तक पहुँचाता है। विविध सङ्केतों और आङ्गिक साधनो के द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से श्रोता तक नही पहुँचाया जा सकता है। भाषा के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो को, अमूर्त भावों को, आरोह–अवरोह को, सजीव भावनाओं को बोलकर या लिखित रूप से जितनी विशदता के साथ व्यक्त कर सकते हैं, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं।

अतएव जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण मे भाषा को कुल्या (नहर) कहा गया है। ताण्डय ब्राह्मण मे भी भाषा को मनोभावाभिव्यञ्जकता के गुण से युक्त कहा गया है।

तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्

(जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १–५८–३)

यद् हि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति

(ताण्डय ब्राह्मण १–१–१–३)

१६ भाषा स्वाभाविक आत्मोद्गार की प्रक्रिया है –

भाषा के दो पक्ष है– **१.** सीखना **२.** बोलना

भाषा–शिक्षण भी दो प्रकार का होता है–

१. अनुकरण २. यत्नसाध्य

मातृभाषा मुख्यतया अनुकरण से सीखी जाती है, परन्तु दूसरी भाषाएँ, मुख्यतया विदेशी भाषाएँ यत्नसाध्य होती है। दोनो प्रकार की भाषाओ मे श्रम अपेक्षित होता है। मातृभाषा मे कम और विदेशी भाषाओ मे अधिक श्रम लगता है। मातृभाषा मे अधिकार शीघ्र हो जाता है, अत बचपन से ही मातृभाषा स्वाभाविक आत्मोद्गार के रूप मे बोली जाती है। विदेशी भाषाएँ भी आत्मसात् हो जाने पर उसी सरलता से लिखी और बोली जा सकती हैं।

१७ भाषा परिवर्तनशील है –

भाषा अनुकरण से सीखी जाती है। यह अनुकरण ही भाषा का मौखिक रूप है। यही प्रतिक्षण व्यवहार का विषय है। लिखित भाषा मौखिक भाषा पर आश्रित रहती है। इस मौखिक प्रक्रिया मे अनुकरण ही मुख्य है। अनुकरण की अपूर्णता ही प्रतिक्षण भाषा मे परिवर्तन लाती है। कभी सुनने और समझने मे त्रुटि होती है और कभी बोलने मे इस प्रकार भाषा मे परिवर्तन आ जाता है। ये परिवर्तन भी, जो प्रारम्भ मे छोटे होते है बाद मे विशाल रूप धारण करके भाषा मे विशेष परिवर्तन ला देते है। यही कारण है कि वैदिक सस्कृत से लौकिक सस्कृत, लौकिक सस्कृत से पालि–प्राकृत–अपभ्रश–हिन्दी तक परिवर्तन की दिशा दिखाई पडती है।

१८ भाषा के उच्चरित रूप में पहिले परिवर्तन होता है –

यद्यपि अनुकरण के साथ ही परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथापि परिवर्तन का प्रथम प्रभाव भाषा के उच्चरित रूप पर पडता है। व्यक्तिगत उच्चारण मे अन्तर होते–होते वह समाज के उच्चरित रूप में भी परिलक्षित होने लगता है। परिणामस्वरूप अग्नि–अग्गि–आग हो जाता है। चतुर्वेदी–चौबे, द्विवेदी–दूबे, उपाध्याय–ओझा–झा, सत्य–सच, घृत–घी, शर्करा–शक्कर हो जाता है। उच्चरित रूप शनै शनै साहित्य मे प्रवेश पाकर परिष्कृत या विकसित रूप मान लिए जाते है।

१६ भाषा का कोई स्थायी रूप नही है –

भाषा भी मानव–जीवन के तुल्य जीवित सत्ता है। मानव–जीवन–क्रम के समान भाषा के जीवन–क्रम मे परिवर्तन होता है तथा भाषा के जीवन मे भी शैशव, यौवन और वृद्धत्व आते है। भाषा मे स्थिरता या स्थायित्व उसके विनाश का चिह्न है। भाषा मे नित–परिवर्तन और नित–नूतनता उसके विकास और गतिशीलता के चिह्न है। यही विकास है, यही नूतनता है, यही रमणीयता है।

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति, तदैव रूपं रमणीयतायाः'

(शिशुपालवध, ४–१७)

२० भाषा की भौगोलिक सीमा होती है –

एक प्राचीन कहावत है कि 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी'। स्थान के भेद से भाषा–भेद होता जाता है। एक ही भाषा के स्थान–भेद से थोडा–थोडा अन्तर होता है, परन्तु साधारण भेदो को नगण्य मानकर एक भाषा के अन्तर्गत रखा जाता है। यथा–हिन्दी के अन्तर्गत व्रज, अवधी, भोजपुरी आदि। परन्तु बगला, मराठी, गुजराती आदि हिन्दी से पृथक् है। सबकी अपनी–अपनी भौगोलिक सीमा है। उस निर्धारित सीमा मे उस भाषा के शब्दो का एक रूप मे व्यवहार होता है। उस सीमा से बाहर जाने पर भाषा–भेद, अर्थ–भेद आदि प्राप्त होते है।

पतञ्जलि ने 'सर्व देशान्तरे' कहकर इस तथ्य का सङ्केत किया है।

एतस्मिन् अतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते।

(महाभाष्य, आह्निक–१)

२१. भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है –

जिस प्रकार प्रत्येक भाषा की भौगिलिक सीमा है, उसी प्रकार इसकी ऐतिहासिक सीमा भी होती है। ऐतिहासिक भाषा–विज्ञान प्रत्येक भाषा के इस ऐतिहासिक पक्ष को लेता है। प्रत्येक भाषा प्रारम्भ मे किस रूप मे थी, बाद में बदलकर किस रूप मे आई, वह किस समय से किस समय तक प्रचलित रही, इन बातो पर ऐतिहासिक भाषाविज्ञान मे विचार होता है। इस दृष्टि से सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आर्य–भाषाओ आदि का समय निर्धारित किया गया है।

२२ प्रत्येक भाषा की संरचना पृथक् होती है –

विश्व की प्रत्येक भाषा की सरचना या ढॉचा पृथक् है। शब्दावली, व्याकरण, उच्चारण, शब्दरूप, धातुरूप, वाक्य–प्रयोग आदि मे आकाश–पाताल का भेद है। इसीलिए प्रत्येक भाषा को एक स्वतन्त्र इकाई माना जाता

है। सस्कृत मे तीन बचन है, पालि–प्राकृत–अपभ्रश और हिन्दी मे केवल एक वचन और बहुवचन ही है। सस्कृत मे तीन लिड्ग है परन्तु हिन्दी मे दो ही लिड्ग है पुलिड्ग और स्त्रीलिड्ग। इसी प्रकार सभी भाषाओ मे अपने स्वतन्त्र नियम है। उनके अनुसार ही भाषा सञ्चालित होती है।

२३ भाषा प्रकृत्या स्वतन्त्र होती है –

ताण्डयमहाब्राह्मण मे कहा गया है कि "अपा धारा सततैवम्" (२०–१४–२) अर्थात् भाषा जल के प्रवाह के तुल्य है। यदि भाषा को पर्वतीय नदी की धारा की उपमा दी जाय तो भाषा का स्वरूप अधिक सुस्पष्ट होता है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी की धारा मे तीव्रता, अधृष्यता एव गत्वरता रहती है और वह सन्मुख आये हुए बडे से बडे चट्टानो तक को तोडती हुई निकल जाती है, उसी प्रकार भाषा की धारा भी अविच्छिन्न एव अधृष्य होती है। जहॉ पर साहित्यिक भाषा के नाम पर उसमे गतिरोध उत्पन्न किया जाता है या सञ्चयन की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाती है वहॉ भाषा विरोधी रूप प्रकट करती है और सभी बन्धनों को तोडती हुई जनभाषा के रूप मे अग्रसर होती है। बन्धन के परिणामस्वरूप प्रत्येक भाषा के सामयिक रूप से दो स्वरूप हो जाते है– १. साहित्यिक २. लोक प्रयुक्त। साहित्यिक भाषा सजाये हुए सरोवर के तुल्य कृत्रिम सौन्दर्य से युक्त होती है और लोकप्रयुक्त भाषा स्वच्छन्द विचरणशील रहती है, जिसके कारण भाषा का स्वाभाविक रूप सुरक्षित रहता है। भाषा की इसी प्रवृत्ति के कारण उसमे नये शब्दो का आदान–प्रदान अव्याहत गति से चलता रहता है।

२४ भाषा की धारा कठिनता से सरलता की ओर जाती है –

जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर जाती है, उसी प्रकार भाषा भी कठिनता से सरलता की ओर जाती है। इसका कारण यह है कि मानव की ये स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अल्प श्रम से वृहद् लाभ प्राप्त करना चाहता है। वैदिक–भाषा के व्याकरण के पश्चात् सस्कृत–व्याकरण, पालि–व्याकरण तथा प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी के व्याकरणो की तुलना करते है तो ज्ञात होता है कि वैदिक व्याकरण मे जितनी विभिन्नता, रूपो का वैविध्य, क्रियापदो की अनेकता प्राप्त होती है वह शनै शनै न्यून होती चली गयी है। सस्कृत व्याकरण के बाद द्विवचन समाप्त हो गया। तीन लिड्गो मे नपुसकलिड्ग का प्रयोग बहिष्कृत हो गया।

२५ भाषा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है –

भाषा निरन्तर स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाती है। यह विकास के साथ ही अप्रौढता से प्रौढता की ओर गतिशील रहती है। भाषा के प्रारम्भिक रूप मे सूक्ष्म और गम्भीर भावो की अभिव्यक्ति कठिनता से होती है। भाषा के विकास के साथ ही साहित्यिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक सूक्ष्म तत्त्वों की अभिव्यक्ति भाषा में होने लगती है। इस प्रकार भाषा मे जो अप्रौढता होती है वह धीरे–धीरे प्रौढता को प्राप्त कर लेती है। धातु, प्रकृति,

प्रत्यय, लोप, विकार, आगम, अध्याहार और अपोद्धार जैसे शब्द भाषा की प्रगति और प्रौढ़ता को सूचित करते है, अर्थात् शास्त्रीय और पारिभाषिक शब्दवाली मे ऐसे शब्दो की अधिकता भाषा की प्रौढता को सिद्ध करती है।

२६ भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है –

मूलरूप मे प्राय सभी भाषाएँ सयोगावस्था मे थी। उनका स्वरूप सहिति या सश्लेष प्रधान था। इनमे प्रकृति और प्रत्यय को समन्वित रूप मे रखा जाता था। परन्तु भाषा के प्रवाह के साथ वियोग या विश्लेष की प्रवृत्ति बढती गई और अन्त मे भाषा वियोगावस्था को प्राप्त हो गई। सस्कृत मे रामेण कार्य कृतम्, राम भोजन पचति मे हम प्रकृति और प्रत्यय को समन्वित रूप मे पाते है, परन्तु इसके वर्तमान हिन्दी रूप मे हमे वियोगावस्था दृष्टिगोचर होती है। 'रामेण' एक पद के स्थान पर 'राम ने' दो पद हो गये, 'कार्य' एक पद के स्थान पर 'काम को' दो पद हो गये। इसी प्रकार कारक चिह्न और क्रिया चिह्न पृथक् हो गये। रामाय = राम के लिए, वृक्षे = वृक्ष पर, पठति = पढता है आदि दृष्टान्तो मे वियोगावस्था स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

२७ भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं होता है –

चूँकि भाषा प्रवाहमान एव गत्वर है अत इसका कोई एक अन्तिम स्वरूप नही हो सकता है। विश्व की समस्त वस्तुएँ परिवर्तनशील है, उसी प्रकार भाषा भी परिवर्तनशील है। सदा परिवर्तनशील वस्तु का अन्तिम स्वरूप नही होता है। न ससार का कोई अन्तिम स्वरूप है, न मानव–शरीर का और न मानवीय भाषा का। मृत शरीर के तुल्य मृत भाषा का अवश्य अन्तिम स्वरूप हो सकता है, परन्तु जीवित भाषा का नही। जहाँ जीवन है, वहाँ परिवर्तन है, जहाँ परिवर्तन है, वहाँ विकास है, जहाँ विकास है, वहाँ नित–नूतनता है। इसलिए भाषा के अन्तिम स्वरूप की न कल्पना की जा सकती है और न उसके विषय मे कोई भविष्यवाणी ही सम्भव है।

२८. भाषा में सामाजिक दृष्टि से स्तर-भेद होता है –

प्रत्येक भाषा में सामाजिक दृष्टि से स्तरभेद होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से शिक्षित नही होता है। शिक्षित–वर्ग की भाषा मे जो परिष्कार दृष्टिगोचर होता है वह अशिक्षित वर्ग की भाषा में नही होता। अत भाषा के परिष्कृत और अपरिष्कृत दो स्वरूप सामने आते है। दोनो स्वरूप लिखित और भाषित दोनो रूपो मे प्राप्त होते है। भाषा लिखित और भाषित दोनों रूपो मे वर्ग–भेद, स्तर–भेद, शिक्षा–भेद, आदि के आधार पर परिष्कृत या अपरिष्कृत होगी।

विश्व की प्रत्येक भाषा मे सामाजिक दृष्टि से स्तर–भेद देखा जाता है। उच्चस्तरीय भाषा मे शब्दकोष बाहुल्य, व्याकरण, नियमों का सुप्रयोग, ध्वनियो का सुस्पष्ट उच्चारण और शैली सौन्दर्य रहेगा। परन्तु निम्न–स्तरीय भाषा मे इन गुणो का अभाव रहेगा।

२६ भाषा स्थिरीकरण से प्रभावित होती है –

जिस प्रकार मानव–शरीर मे दो विरोधी प्रवृत्तियॉ प्रतिक्षण कार्य करती है– सञ्जीवनी और सहरणी। उसी प्रकार भाषा मे भी दो प्रवृत्तियॉ कार्य करती है– स्थिरीकरण और अस्थिरीकरण। भाषा मे दो विरोधी शक्तियॉ सदा काम करती है।– **१.** केन्द्रभिगामी **२.** केन्द्रापगामी।

केन्द्रभिगामी शक्तियॉ अस्थिरता, परिवर्तन एव ह्रास को रोकती है। केन्द्र को पुष्ट करती है अत भाषा मे परिवर्तन की गति रोकी जाती है। यह स्थिरीकरण या मानकीकरण की प्रक्रिया है। इससे भाषा अपने परिष्कृतरूप को सुरक्षित रख पाती है, और विनाश या ह्रास से अपना बचाव करती है। दूसरी ओर केन्द्रापगामी शक्तियॉ है। ये भाषा को केन्द्रित होने से बचाती है। ये विकेन्द्रीकरण को मुख्यता देकर भाषा मे नव–जीवन का सञ्चार करती है और उसमे परिवर्तन लाती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि स्थिरीकरण या मानकीकरण से भाषा परिष्कृत एव स्थिर होती है तथा अस्थिरीकरण की प्रक्रिया से भाषा मे अस्थिरता आती है।

३०. भाषा का मूलरूप वाक्य है, पद केवल व्यावहारिक हैं –

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाता है तो यह सिद्ध होता है कि भाषा का मूल वाक्य है। वाक्य ही वह सत्ता है जो मानव के विचार को पूर्ण एव स्पष्टरूप मे प्रस्तुत करती है। वाक्यो का आधार विचार है और विचारो का मूर्त–रूप वाक्य है। वाक्य की सत्ता को सर्वोच्च माना जाता है। वाक्य के सघटक अवयवो का विभाजन करने पर हमे पदो की सत्ता प्राप्त होती है उसी प्रकार पदो के निर्मापक अवयवो का परीक्षण करने पर वर्णो की सत्ता प्राप्त होती है। उपयोगिता एव शास्त्रीय दृष्टि से वाक्य ही भाषा के सार्थक अङ्ग है। व्यावहारिक दृष्टि से वाक्यावयवो और पदावयवो पर विचार होता है।

भाषिक संरचना और उसके विभिन्न स्तर –

भाषा यादृच्छिक ध्वनि–सङ्केतो या प्रतीको की सरचनात्मक व्यवस्था है तथा इस संरचना मे केवल एक स्तर नही होता बल्कि इसमें कई स्तर होते है। जैसे– ध्वनि–स्तर, रूप–स्तर, वाक्य–स्तर, अर्थ–स्तर आदि। प्रत्येक स्तर पर भाषा की इकाई पृथक्–पृथक् होती है। यथा–ध्वनि–इकाई ध्वनि–स्तर पर, तो वाक्य स्तर पर वाक्य–इकाई या रूप स्तर पर रूप–इकाई। मुख्य बात ये है कि प्रत्येक स्तर की अपनी पृथक् सरचना होती है अर्थात् प्रत्येक इकाई की सरचना का आशय है उस इकाई की व्यवस्था। यथा–वाक्य–स्तर पर वाक्य–इकाई होती है– 'राम ने श्याम को मारा' तथा 'श्याम ने राम को मारा' ये दोनों वाक्य है। इन दोनो मे ही मोटे रूप मे पॉच–पॉच घटक है– 'राम ने श्याम को मारा'। परन्तु इन वाक्यो के इन आन्तरिक घटको की व्यवस्था समान नही है। पहले मे 'राम' कर्ता है तो दूसरे मे कर्म तथा पहले मे 'श्याम' कर्म है तो दूसरे

मे कर्ता। इस प्रकार राम और श्याम, कर्ता और कर्म की दृष्टि से दोनो वाक्यो की आन्तरिक सरचना पृथक्–पृथक् है। इसी प्रकार ध्वनि स्तर के लिए 'लिखना' और 'खिलना' दोनो शब्दो मे ल् + इ + ख् + अ + न् + आ तथा ख् + इ + ल् + अ + न् + आ ध्वनियॉ है, किन्तु इनकी आन्तरिक सरचना पृथक्–पृथक् है, इसीलिए दोनो दो शब्द है तथा दोनो के दो अर्थ है।

भाषिक संरचना के स्तर –

सामान्यत भाषिक सरचना के छ स्तर माने जाते है– अर्थ, प्रोक्ति, वाक्य, रूप, शब्द, ध्वनि। यदि भाषा को ध्यान से देखा जाय तो ये ज्ञात होता है कि ध्वनियो से 'शब्द' बनते है, शब्दो (तथा धातुओ) से 'रूप', रूपो से 'वाक्य' और एकाधिक वाक्यो से 'प्रोक्ति'। भाषा की सहज इकाई प्रोक्ति है जिसका अर्थ होता है। प्रोक्ति का विश्लेषण करने पर वाक्य मिलते है, वाक्यो के विश्लेषण से शब्दादि, तथा शब्दो के विश्लेषण से ध्वनि।

भाषिक सरचना के विभिन्न स्तरो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

१. अर्थ –

भाषा का मूलभूत कार्य है अर्थ की अभिव्यक्ति। वक्ता या लेखक का सम्पूर्ण विचार या अर्थ तो प्रोक्ति से व्यक्त होता है। प्रोक्ति के अन्तर्गत प्रत्येक वाक्य का, वाक्य के अन्दर प्रत्येक रूप का, रूप के भीतर प्रत्येक शब्द एव धातु का तथा कारक–चिह्न और प्रत्यय का अपना अर्थ होता है। आधुनिक भाषा–विज्ञान मे रूप के अन्दर के इन शब्दो, धातुओ, कारक–चिह्न तथा प्रत्ययों आदि को 'रूपिम' कहते है जो अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई होते है। भाषा की सरचना का अर्थ–स्तर केन्द्रीय स्तर है।

२ प्रोक्ति –

प्रोक्ति की सरचना भाषा–विज्ञान मे अपेक्षाकृत नवीन है। यों प्राचीन भारत मे 'महाकाव्य' द्वारा इसी सकल्पना को द्योतित किया गया है। वस्तुत भाषा का प्रयोग किसी मन्तव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए होता है, और मन्तव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए एकाधिक वाक्यों के उस समुच्चय को ही प्रोक्ति कहते हैं जो एक सुव्यवस्थित इकाई के रूप मे वक्ता या लेखक के मन्तव्य को अभिव्यक्ति दे।

३ वाक्य –

अभी तक भाषा–विज्ञान तथा व्याकरण में भाषा की चरम इकाई तथा सहज इकाई वाक्य माना जाता रहा है, परन्तु प्रोक्ति को चरम और सहज इकाई मान लेने पर वाक्य प्रोक्ति के भीतर की एक इकाई माना जाने लगा है। इसमे वाक्य, उपवाक्य तथा पदबन्ध आते है। वस्तुत सार्थक शब्दो के समूह को ही वाक्य कहते हैं।

४ रूप –

वाक्य रूपो से बनता है। वाक्य को विश्लेषित करने पर रूप मिलते है। रूप को ही पद भी कहते है। रूप मे 'शब्द' तथा 'धातु' एव अर्थ–तत्त्व होते है तथा 'कारक–चिह्न' और 'प्रत्यय' रूप में सम्बन्धतत्त्व। 'राम ने रावण को मारा' इस वाक्य मे 'राम ने', 'रावण को' तथा 'मारा' तीन रूप है जिनमे 'राम', 'रावण', 'मार' अर्थ तत्त्व है और 'ने', 'को', 'आ' सम्बन्धतत्त्व।

५. शब्द –

सामान्यत शब्द को भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई माना गया है क्योकि भाषा मे भाव या विचार की अभिव्यक्ति मूलत शब्द से होती है। शब्द मे ही प्रत्ययादि जोडकर 'रूप' बनते है और रूप से 'वाक्य' और वाक्यो से 'प्रोक्ति'। शब्द मे धातु भी समाहित है। यदि शब्द को थोडा विस्तृत अर्थ प्रदान करे तो उपसर्ग, कारक–चिह्न एव प्रत्यय को भी उसी मे 'बद्धशब्द' (अर्थात् जो अकेले न आकर किसी शब्द और धातु के साथ प्रयुक्त हो) या 'बद्धतत्त्व' रूप मे शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। क्योकि कारक–चिह्न, प्रत्यय और उपसर्ग न तो प्रोक्ति है न वाक्य, न रूप, न शब्द और न ध्वनि। ये सार्थक होते है और प्राय लघुतम होते है, अत शब्द के साथ ही इन्हे रखा जा सकता है।

६ ध्वनि –

ध्वनियॉ अलग रहकर सार्थक नही होती, किन्तु ये आपस में मिलकर सार्थक शब्द, रूप, वाक्य तथा प्रोक्ति का निर्माण करती है। ध्वनि–स्तर मे किसी भाषा की विभिन्न ध्वनियो उनकी स्वनिम–व्यवस्था, आक्षरिक संरचना, बलाघात, अनुतान आदि का अध्ययन होता है। ध्वनि ही शब्द की इकाई है अर्थात् ध्वनियो से शब्द का निर्माण होता है।

भाषा का व्यवहार –

यदि भाषा का व्यवहार की दृष्टि से विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि भाषा का व्यवहार प्रायः तीन परिस्थितियों मे किया जाता है–

१. व्यक्ति स्वय के लिए

२. व्यक्ति दूसरो के लिए

३. व्यक्ति समाज के लिए
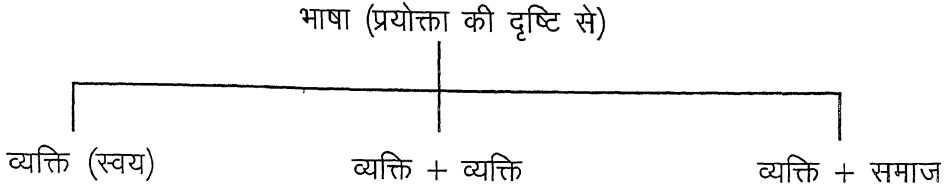
व्यक्ति (स्वयं) –

कतिपय विशेष परिस्थितियो मे व्यक्ति अपने लिए ही भाषा का प्रयोग करता है। ये परिस्थितियॉ सामान्यतया ये है–

१. मनोरञ्जनार्थ –

बच्चो का मनोरञ्जनार्थ मॉ–मॉ, पा–पा, चा–चा आदि कहना, युवकों आदि का आनन्दातिरेक मे गीत गाना आदि।

२ स्वगत-भाषण –

प्रेम, श्रद्धा, क्षोभ, क्रोध आदि की अवस्था मे व्यक्ति अपने भाव अकेले में व्यक्त करते है।

३. जप आदि में –

मन्त्रो आदि के जप, स्तोत्र–पाठ आदि मे व्यक्ति अपने लिए ही भाषा का प्रयोग करता है।

४. पाठ-स्मरण, दुहराना आदि –

अपना पाठ याद करने या स्मरण किये हुए को दुहराने आदि मे स्वय के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है।

५. भय-निवारणार्थ –

एकान्त में, निर्जन वन मे, भयानक स्थान मे व्यक्ति अपने भय को दूर करने के लिए उच्च स्वर से मन्त्र–पाठ, गीत–गाना या राम–राम आदि करता है।

६. कष्ट-निवृत्त्यर्थ –

शीत–ऋतु मे स्नान करते समय शीघ्रतापूर्वक किसी स्तोत्र या भजन आदि का गाना शैत्यजन्य कष्ट की न्यूनता या निवृत्ति के लिए है।

७ गम्भीर चिन्तन –

कवि, लेखक, गायक, साधक, शिल्पी, वक्ता आदि जब गम्भीर चिन्तन की मुद्रा मे होते है तो वे एकान्त मे कुछ बोलते हुए अपने अभीष्ट कार्य का चिन्तन एव विश्लेषण करते रहते है।

८. मनोभावाभिव्यञ्जन –

मनोभाव–प्रकाशन के लिए बालक, युवा, वृद्ध, योद्धा, अभिनेता आदि अपने आप बात करते रहते है। यह प्रवृत्ति सभी वर्ग के व्यक्तियो मे दृष्टिगोचर होती है।

व्यक्ति + व्यक्ति –

भाषा का उपयोग स्वय के पश्चात् व्यक्ति–विशेष से सम्पर्क मे आने पर होता है। कुछ परिस्थितियो मे यह व्यक्तिगत सम्पर्क ही कार्य करता है–

१. शिष्टाचार-निर्वाह –

शिष्टाचार के निर्वाह के लिए अनेक प्रसङ्गो मे दूसरे व्यक्ति से कुछ कहना पडता है। यथा–प्रत्येक परिचित व्यक्ति से मिलते ही कुशल–प्रश्न पूछना और दूसरे के द्वारा कुशल–प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देना। प्रस्थानाभिमुख व्यक्ति के लिए मङ्गल–कामना, दु खित के प्रति सवेदना प्रकट करना आदि।

२. परामर्श एवं मंत्रणा –

किसी गम्भीर विषय पर मंत्रणा करने मे या किसी योजना के कार्यान्वयन मे परामर्श लेने मे व्यक्ति, व्यक्ति–विशेष से भाषा का प्रयोग करता है।

३. दाम्पत्य-सम्बन्ध और स्नेहमूलक-सम्बन्ध –

पति–पत्नी, प्रेमी–प्रमिका एव स्नेही भाई–बन्धु आदि एकान्त मे परस्पर अपने स्नेह, सुख–दु ख या राग–द्वेष की बाते करते है। यह व्यक्ति + व्यक्ति का भाषा–प्रयोग है।

४. वैयक्तिक सम्पर्क एवं कार्य –

व्यक्तिगत कार्य मानव–मानव को जोडते है। व्यक्तिगत सम्पर्क एव कार्य मानव से मानव को जोड़ते है। व्यक्तिगत कार्य से एक व्यक्ति दूसरे से बात करता है। शिष्य गुरू से, बालक माता–पिता से, भाई–भाई से, ग्राहक–दुकानदार से ऋणग्रस्त उधार देने वाले से इत्यादि। यह व्यक्ति+व्यक्ति की भाषा है।

५ **कार्यार्थ आदेश** –

किसी कार्य को करने के लिए किसी को आदेश देना कि –'तुम ऐसा करो'। बालक या युवा आदि को ऐसे आदेश देने मे भी व्यक्ति + व्यक्ति की भाषा का प्रयोग होता है।

६. **भाव-प्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति** –

अपने हर्ष, राग–द्वेष, शोक, कष्ट आदि के प्रकाशन के लिए या अपने रोष, क्षोभ, सहमति–असहमति आदि के भावो को व्यक्त करने के लिए व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से भाषा का प्रयोग करता है।

व्यक्ति + समाज –

भाषा का सर्वोत्तम उपयोग व्यक्ति को समाज से समन्वित करने का है। भाषा समाज का समन्वय सूत्र है, जिससे समाज समन्वित, सगठित एव सपृक्त है। भाषा के द्वारा ही व्यक्ति समाज का एक सजीव सदस्य बनता है। भाषारूपी सूत्र न हो तो व्यक्ति और समाज विश्रृखल हो जाऍगे। अतएव वेद ने कहा है कि भाषा राष्ट्री–राष्ट्र–निर्मात्री और सगमनी–समन्वित करने वाली शक्ति है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्

(ऋग्वेद १०/१२५/३)

समाजिक दृष्टि से भाषा के पॉच प्रमुख उपयोग है :–

१. भाव–सम्प्रेषण २. संसूचन ३. उद्‌बोधन ४. रसास्वादन ५. दर्शन एव चिन्तन।

१. **भाव-सम्प्रेषण** –

सामाजिक दृष्टि से भाषा का सर्वाधिक व्यवहार भाव–सम्प्रेषण मे होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने भावो और विचारो का आदान–प्रदान करता है। यह सामाजिक आदान–प्रदान की प्रक्रिया व्यक्ति और समाज को एकान्वित करके एकता की सृष्टि करती है। भावों के आदान और प्रदान के लिए ही समाज भाषा का सर्वाधिक ऋणी है। इसी आदान–प्रदान के महत्त्व को यजुर्वेद मे इस प्रकार वार्णित किया गया है–

देहि में दादामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा।।

(यजुर्वेद ३–५०)

अर्थात् 'तुम मुझे दो, मैं तुम्हे देऊॅ, तुम मेरे लिए सुरक्षित रखो मे तुम्हारे लिए सुरक्षित रखूॅ, तुम मुझे अर्पित करो और मै तुम्हें समर्पित करूँ।'

चिन्तन, मनन किया जाता है वह दर्शन की कोटि मे आता है। भाषा का यह दार्शनिक पक्ष ही भाषा का सर्वोत्कृष्ट एव उदात्त पक्ष है। यही भाषा की ज्योति है, प्रकाश है और उसका अतीन्द्रियरूप है।

भारतीय आर्य-भाषा –

मूल भारोपीय अथवा भारोपीय परिवार के सतम् वर्ग के अन्तर्गत आने वाली भारतीय आर्य–भाषा के भाषा–भाषी स्वय को आर्य कहते है। अत. आर्य जाति के नाम पर उनकी भाषा को भी आर्य कहा जाता है। इसकी दो उपशाखाये है–

१. भारतीय २. ईरानी

भारतीय उपशाखा मे प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक की सभी भारतीय भाषाएँ आती है। भारतीय आर्यभाषाओ को काल की दृष्टि से तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है–

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ-२५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक –

इसमे वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत भाषाएँ आती है।

२. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ-५०० ई० से १००० ई० तक –

इसमे पालि, प्राकृत और अपभ्रश भाषाएँ आती है।

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ-१००० ई० से वर्तमान समय तक –

इसमे हिन्दी, मराठी, गुजराती और बगला आदि भाषाएँ आती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारत मे जो भाषा बोली जाती है उसे भारतीय आर्यभाषा कहते है। जिस भारतीय आर्यभाषा मे ऋग्वेद आदि रचनाएँ उपलब्ध होती है, वह भाषा 'वैदिक–भाषा' कहलाती है। भारत में सबसे पहले यही वैदिक–भाषा बोली जाती थी। इसके बाद जो भाषा प्रयोग मे आयी उसे सस्कृत कहते है। सामान्यतया यह समझ लिया जाता है कि ऋग्वेद आदि, वैदिक ग्रन्थो की भाषा भी सस्कृत ही है। वस्तुत ऐसा नही है, क्योकि ऋग्वेद आदि ग्रन्थ जिस भाषा में उपलब्ध होते हैं उस भाषा को वैदिक–भाषा कहा जाता है। यह सस्कृत भाषा से भिन्न भाषा है।

भारतीय आर्य-भाषा का महत्त्व –

भारतीय आर्य–भाषा का महत्त्व संसार की सभी भाषाओ से अधिक है। इस महत्त्व का श्रेय प्रमुख रूप से सस्कृत–भाषा को है। इसके महत्त्व के प्रमुख कारण निम्नलिखित है–

१. विश्व की किसी भी अन्य भाषा का साहित्य इतना विस्तृत नही है और न ही इतना प्रामाणिक है।

२. ग्रीक तथा लैटिन, यूरोप की इन दोनो प्राचीन भाषाओ का साहित्य मिलकर भी परिमाण मे सस्कृत साहित्य से अल्प ही रहता है।

३. भारतीय आर्य–भाषा वर्ग मे वैदिक, बौद्ध, जैन इन तीन प्रमुख धर्मो का तथा अन्य कई धर्मो का साहित्य उपलब्ध होता है।

४. भारतीय आर्य–भाषा की प्राचीनतम भाषा, वैदिक–भाषा का साहित्यिक ग्रन्थ ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

वैदिक-संस्कृत-भाषा एवं वैदिक-ध्वनि-समूह –

इसे 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्दस्', 'छान्दस्', 'प्राचीन सस्कृत', 'वैदिक सस्कृत' तथा 'वैदिक–भाषा' आदि अन्य नामो से भी पुकारा जाता है।

वैदिक-ध्वनि-समूह –

मूल स्वर– अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ,	११
संयुक्त स्वर– ऐ (अ इ), औ (अ उ)–	२
कण्ठय– क् ख् ग् घ् ङ् (कवर्ग)–	५
तालव्य– च् छ् ज् झ् ञ् (चवर्ग)–	५
मूर्धन्य– ट् ठ् ड् ळ् ढ् ळह् ण् (टवर्ग)–	७
दन्त्य– त् थ् द् ध् न् (तवर्ग)–	५
ओष्ठय– प् फ् ब् भ् म् (पवर्ग)–	५
अन्तस्थ या अर्द्धस्वर– य् र् ल् व्–	४
ऊष्म संघर्षी– श् ष् स् ह् विसर्ग () जिह्वामूलीय (ᳵ)– उपध्मानीय (ᳶ)	७
अनुनासिक अनुस्वार ं	+१
	५२

वैदिक-भाषा की विशेषताएँ –

१ वैदिक भाषा भारोपीय परिवार के सतम् वर्ग के अन्तर्गत आनेवाली भारतीय आर्य–भाषा की प्राचीन एव प्रारम्भिक तथा श्लिष्टयोगात्मक भाषा है, अर्थात् पदरचना की दृष्टि से वैदिक–भाषा श्लिष्टयोगात्मक है। सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) के जुडने पर यहाँ अर्थतत्त्व (प्रकृत्ति) मे कुछ परिवर्तन तो हो जाता है किन्तु अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व को पृथक्–पृथक् पहचाना जा सकता है। यथा–'गृहाणाम्' यहाँ 'गृह' प्रकृति तथा 'नाम्' प्रत्यय स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकते है।

२. वैदिक भाषा मे स्वरो के ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण के साथ ही उनका प्लुत उच्चारण भी होता है। यथा आसी३त्, विन्दती३ इत्यादि।

३. वैदिक भाषा मे 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है।

४. वैदिक भाषा मे सगीतात्मक स्वराघात का बहुत महत्त्व है। वेद–मन्त्रो का उच्चारण करने मे और उनका अर्थ निश्चित करने मे स्वराघात को ध्यान मे रखना पडता है। किसी भी शब्द पर विशेष बल डाल कर उच्चरण करना स्वराघात या स्वर है। वैदिक मन्त्रो मे तीन प्रकार के स्वर होते है– उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। वैदिक स्वर–परिवर्तन से शब्दो के अर्थो मे भी परिवर्तन हो जाता है। 'इन्द्रशत्रु' पद इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त है।

५. वैदिक भाषा की व्यञ्जन ध्वनियो मे ळ् और ळह् दो ऐसी ध्वनियाँ है जो इसे अन्य भाषाओ से पृथक् करती है। यथा 'इळा', 'अग्निमीळे', 'साळहा'। ळ् और ळह् का प्रयोग ड् और ढ् के स्थान पर किया गया प्रतीत होता है।

६. वैदिक सस्कृत मे ल् के स्थान पर प्राय र् का व्यवहार मिलता है। यथा 'सालिल' के स्थान पर 'सरिर'।

७ वेदो मे अनेक बार व्यञ्जनो से पूर्व उसी व्यञ्जन को अनुनासिक बनाकर युगल रूप मे उच्चारण किया जाता है तब उस व्यञ्जन को 'यम' कहते है। यथा– असिक्नी, चख्नतु, जग्मिवान्, जघ्नतु के क् ख् ग् घ् से पहले अनुनासिक कँ् खँ् गँ् घँ् का उच्चरण होता है।

८. वैदिक भाषा मे दो वकार ध्वनियाँ थी एक दन्त्योष्ठय दूसरी अन्तस्थ।

९ सयुक्त व्यञ्जनो का उच्चारण प्राय द्वित्व रूप मे होता है जिसको क्रम कहते है यद्यपि इसके अनेक अपवाद भी है। क्रम का उदाहरण – अस्तौत् को अस्त्तौत्, ह्वयामि को ह्ह्वयामि, स्यन्दन्ताम् को स्स्यन्दन्ताम्, श्चोतन्ति को श्श्चोतन्ति, वर्ष्यान् को वर्ष्ष्यान् आदि उच्चरण किया जाता है।

१०. वैदिक भाषा मे सन्धि–नियमो मे पर्याप्त शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। अनेक बार सन्धि–योग्य स्थलों पर भी सन्धि नही होती और दो स्वर साथ–साथ प्रयुक्त हो जाते है। यथा– तितउ (अ+उ), गोओपेशा (ओ+ओ) प्रउग (अ+उ), गोऋषीक (ओ+ऋ) आदि शब्दो मे सन्धि नही हुई है।

११. वैदिक भाषा मे उपसर्गो का स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयोग बहुधा मिलता है। यथा–अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि (ऋग्वेद १/१६/६), मानुषान् अभि, (ऋग्वेद १/४८/७), रोचनात् अधि (ऋग्वेद १/४६/१), अध्वरान् उप (ऋग्वेद १/४८/११), गिरिभ्य आ (७/६५/१), उत्तानपद. परि (ऋग्वेद १०/७२/३) आदि।

१२. वैदिक भाषा मे शब्द–रूपो मे पर्याप्त अनेक रूपता मिलती है। यथा– प्रथमा विभक्ति के द्विवचन मे 'देवा' और 'देवौ', प्रथमा बहुवचन मे 'जना' और 'जनास', तृतीया विभक्ति के बहुवचन मे 'देवै.' और 'देवेभि' दो–दो रूप मिलते है।

१३. वैदिक भाषा मे धातु–रूपो मे भी विविधता प्राप्त होती है। एक ही √'कृ' धातु के लट्–लकार प्रथम पुरूष मे कृणोति, 'कृणुते', 'करोति', 'कुरूते', 'करति' आदि अनेक रूप मिलते है।

१४. वैदिक भाषा मे लेट् लकार का प्रयोग भी होता है। इस प्रकार वैदिक भाषा में कुल ग्यारह लकारो का प्रयोग होता है।

१५. वैदिक भाषा मे प्रत्ययो की विविधता भी दृष्टिगोचर होती है। धातुओ से एक ही अर्थ मे अनेक प्रत्यय लगते है। यथा– एक ही तुमुन् प्रत्यय के अर्थ मे 'तुमुन्', से, सेन्, असे, असेन् कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवैङ् और त्वेन् ये १६ प्रत्यय मिलते है।

१६. 'त्वा' प्रत्यय अनेक स्थानो पर त्वी, त्वाय या त्वीन् के रूप मे मिलता है। यथा– हित्वी, हित्वाय, युद्धवी।

१७ वैदिक भाषा मे केवल चार समास–तत्पुरूष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्वन्द्व का ही प्रयोग प्राय प्राप्त होता है।

लौकिक-संस्कृत भाषा की ध्वनियॉ एवं विशेषताएँ –

लौकिक सस्कृत को सस्कृत, लौकिक सस्कृत या क्लासिकल संस्कृत भी कहते है। वैदिक सस्कृत मे ५२ ध्वनियॉ थी, सस्कृत मे ध्वनियो की सख्या केवल ४८ है, अर्थात् वैदिक भाषा की ळ्, ळह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ये चार ध्वनियॉ सस्कृत–भाषा मे नही मिलती है। लौकिक सस्कृत की निम्नलिखित विशेषताऍ है–

१. वैदिक सस्कृत मे 'ऋ', 'ॠ', और 'लृ' का उच्चारण स्वर–ध्वनियों के रूप मे था किन्तु संस्कृत मे इनकी स्वरता नष्ट हो गयी है और उनका उच्चारण र् और ल् व्यञ्जनो जैसा होने लगा।

२. दन्त्योष्ठय 'व्' का उच्चारण भी अन्तस्थ 'व्' जैसा ही हो गया है।

३. वैदिक भाषा की शुद्ध अनुस्वार ∸ ध्वनि भी सस्कृत मे अनुनासिक ँ हो गयी है।

४. सस्कृत–भाषा मे 'ऐ' तथा 'औ' का उच्चारण सयुक्त स्वरों जैसा न होकर मूलस्वरो जैसा होने लगा है।

५. लौकिक सस्कृत–भाषा की सबसे प्रमुख विशेषता पाणिनिकृत नियमबद्धता है। सस्कृत की यह विशेषता ही उसे वैदिक सस्कृत से पृथक् करती है। लौकिक संस्कृत बहुत ही नियमबद्ध तथा नियन्त्रित भाषा है।

६. वैदिक भाषा मे प्रयुक्त ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियो का सस्कृत मे लोप हो जाता है।

७. पाणिनिकृत नियमो (अष्टाध्यायी सूत्रो) के द्वारा उसमे शब्द–रूपो तथा क्रियारूपो मे एकरूपता विद्यमान् है।

८. लेट् लकार का प्रयोग समाप्त हो गया है।

६. एक ही अर्थ मे प्रयुक्त अनेक प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक ही प्रत्यय का प्रयोग रूढ हो गया है। यथा– तुमुन्, क्त्वा आदि।

१० अनेक वैदिक शब्दो का प्रयोग समाप्त हो गया है। यथा–दर्शत (दर्शनीय), दृशीक (सुन्दर), रपस् (चोट, दुर्बलता, रोग), अमूर (बुद्धिमान्), मूर (मूढ) ऋदूदर (दयालु) अक्तु (रात्रि), अमीवा (व्याधि) आदि।

११. सन्धि–कार्य अनिवार्य हो गया है।

१२. उपसर्गो का स्वतन्त्र प्रयोग समाप्त हो गया है।

१३. स्वरो मे से लृ प्राय समाप्त हो गया है तथा स्वरो का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण भी समाप्त हो गया है।

१४. सस्कृत–भाषा मे स्वर–भक्ति अप्रचलित हो गयी है।

इस प्रकार वैदिक भाषा की अपेक्षा सस्कृत–भाषा अधिक नियमित एव व्यवस्थित हो गयी है तथा वैदिक भाषा की अपेक्षा सस्कृत के स्वरूप मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया है।

वैदिक भाषा का लौकिक की भॉति परिनिष्ठीकरण नही हुआ था, इसी कारण लौकिक संस्कृत जिस रूप मे परिनिष्ठित एव साहित्यिक है वैदिक नही है। वैदिक में जहॉ परिनिष्ठीकरण एव नियमन कम होने से रूप की जटिलताऍ है, अनेक रूपताओ एव अपवादो का अधिक्य है, लौकिक मे वे या तो हैं ही नही या है भी तो वैदिक की तुलना में बहुत ही कम है। इस प्रकार वैदिक भाषा अपने बोलने वालो की भॉति ही अधिक स्वच्छन्द है किन्तु लौकिक–संस्कृत अपेक्षाकृत अधिक सस्कृत एवं नियमित समाज की तरह नियमबद्ध है, एकरूप है। इसी कारण वैदिक अधिक कठिन है तो लौकिक अपेक्षाकृत अधिक सरल है।

वैदिक एवं लौकिक-संस्कृत भाषा में रचनात्मक साम्य –

वैदिक एव लौकिक सस्कृत भाषा मे निम्नलिखित रचनात्मक साम्य है–

१. दोनो ही भाषाएँ श्लिष्टयोगात्मक है।

२. वैदिक एव लौकिक सस्कृत दोनो मे प्राय सभी शब्द धातुज है। रूढ शब्दो की सख्या कम है।

३ दोनो ही भाषाओ मे प्रयुक्त शब्दो मे धातुओ का अर्थ प्राय सुरक्षित है।

४. दोनो भाषाओ मे धातुओ और शब्दो के अर्थ प्राय एक ही है।

५ दोनो भाषाओ मे धातुओ का गणो मे विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान है।

६. पद–निर्माण की विधि प्राय एक ही है। सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय दोनो मे समान है।

७. दोनो मे वाक्य–रचना शब्दो से नही, अपितु पदो से ही होती है।

८. दोनो ही भाषाओ मे वाक्य मे पद–क्रम (शब्दो का स्थान) निश्चित नही है।

९. दोनो भाषाओ मे सन्धि–कार्य होते है।

१०. समास–विधि दोनो ही भाषाओ मे है।

११. दोनो ही भाषाओ मे तीन लिङ्ग (पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुसकलिङ्ग) तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) तथा तीन पुरूष (प्रथम पुरूष, मध्यम पुरूष, उत्तम पुरूष) है।

१२. दोनो ही भाषाओ मे छ कारक कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, आपादान, अधिकरण तथा सात विभक्तियॉ है– प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी (सम्बोधन को छोडकर) सम्बन्ध तथा सम्बोधन को कारक नही मानना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि वैदिक सस्कृत एव लौकिक सस्कृत भाषा मे अनेक विषमताओ के होते हुए भी दोनों भाषाओ मे पर्याप्त रचनात्मक साम्य दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक एवं लौकिक-संस्कृत-भाषा में रचनात्मक वैषम्य

वैदिक-भाषा	संस्कृत-भाषा
१ वैदिक–भाषा मे ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय व्यञ्जन ध्वनियाँ है।	१. जबकि सस्कृत–भाषा मे इन चारो व्यञ्जन–ध्वनियो का लोप हो गया है।
२ वैदिक–भाषा मे 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे होता है।	२. जबकि सस्कृत–भाषा मे 'लृ' स्वर लुप्तप्राय है।
३ वैदिक सस्कृत मे 'र' के प्रचुर प्रयोग है। यथा–म्रुच्, रभ, रोम, रोहित।	३. जबकि लौकिक सस्कृत मे 'ल' का प्रयोग मिलात है। यथा – म्लुच्, लभ्, लोभ, लोहित
४. वैदिक–भाषा मे सगीतात्मक स्वराघात की प्रधानता है।	४. जबकि सस्कृत–भाषा में बलात्मक स्वराघात की प्रधानता है।
५. वैदिक–भाषा मे उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरो का प्रयोग होता है।	५. जबकि संस्कृत–भाषा मे इन स्वरो का प्रयोग नही होता है।
६ वैदिक–भाषा मे स्वरो का ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत क्रमश एकमात्रिक, द्विमात्रिक, और त्रिमात्रिक उच्चरण होता है।	६. जबकि सस्कृत–भाषा मे स्वरो का केवल ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण होता है। प्लुत उच्चारण समाप्त हो गया है।
७. छन्दपूर्ति के लिए स्वर–भक्ति का प्रयोग वैदिक भाषा मे होता है।	७. जबकि सस्कृत–भाषा मे स्वर–भक्ति का प्रयोग नही होता है।
८. वैदिक–भाषा मे सन्धि–नियमो का पालन अनिर्वाय नही है। अनेक अपवाद उपलब्ध होते है। सन्धि–नियम ऐच्छिक है।	८. जबकि सस्कृत–भाषा मे सन्धि–नियमों का पालन अनिवार्य है, इसमे अपवाद नही मिलते है।
६. वैदिक–भाषा मे शब्द–रूपो मे विविधता है। एक ही शब्द के, एक ही विभक्ति तथा वचन मे अनेक रूप मिलते है।	६. जबकि सस्कृत–भाषा मे शब्दरूपो मे एकरूपता है, विविधता और अपवाद कम हो गये है।
१०. धातुरूपो की दृष्टि से वैदिक–भाषा अधिक सम्पन्न है। एक ही धातु का अनेक रूपों तथा अर्थो में प्रयोग मिलता है। इस प्रकार धातु रूपों मे बहुत विविधता है।	१०. जबकि सस्कृत–भाषा मे धातु–रूपो की विविधता कम हो गयी है, तथा कही–कही समाप्त भी हो गयी है।

११ वैदिक–भाषा मे आत्मनेपद और परस्मैपद मे परिवर्तन होता है तथा इनका कोई विशेष नियम नही है।

१२. वैदिक–भाषा मे पुरूष, वचन, विकरण, लकार आदि मे परिवर्तन होता है।

१३. वैदिक–भाषा मे लङ्, लुङ् और लिट् लकार का प्रयोग किसी भी काल मे हो सकता है।

१४. वैदिक–भाषा मे लङ्, लुङ् आदि मे अट् का आगम अनिर्वाय नही है।

१५. वैदिक–भाषा मे लेट् लकार सहित ११ लकार है।

१६. वैदिक–भाषा मे एक ही अर्थ मे प्रत्ययो के विविध रूप मिलते है। यथा – तुमुन् अर्थ मे तुमुन् के अतिरिक्त १५ प्रत्यय और भी है। क्त्वा अर्थ मे भी तीन अन्य प्रत्यय मिलते है।

१७ वैदिक–भाषा मे उपसर्गो का प्रयोग धातु से पृथक् स्वतन्त्र रूप मे हो सकता है।

१८. ईम, सीम, वै आदि वैदिक–भाषा मे निपात है।

१६. वैदिक–भाषा मे √अच्, √अम्, √क्षद्, √जिन्व, √ध्रज् आदि धातुएँ भी है। वैदिक √ग्रभ् धातु के स्थान पर लौकिक–सस्कृत मे गृह हो गया है। यथा–हस्तग्राभ–हस्तगृह।

२०. वैदिक–सस्कृत मे 'तर', 'तम' श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययो का प्रयोग संज्ञा शब्दों के साथ भी मिलता है, यथा–कवितर, कवितमः, वृत्रतर आदि।

२१. वैदिक–भाषा में 'न' का अर्थ 'नही' और 'इव' होता है, अर्थात् 'न' का अर्थ प्रतिषेधात्मक और उपमार्थक

११. जबकि सस्कृत–भाषा मे आत्मनेपद एव परस्मैपदो मे परिवर्तन एव प्रयोग नियमानुसार ही होता है।

१२. जबकि सस्कृत–भाषा मे ये परिवर्तन निषिद्ध हो गया है।

१३. जबकि सस्कृत–भाषा मे इनका प्रयोग केवल भूतकाल मे ही होता है।

१४. जबकि सस्कृत–भाषा मे इन लकारो मे अट् का आगम अनिर्वाय है।

१५. जबकि सस्कृत–भाषा मे लेट् लकार नही रहा, अतः लकारो की सख्या १० रह गयी है।

१६. जबकि सस्कृत–भाषा मे प्रत्ययो के विविध रूप समाप्त हो गये है।

१७. जबकि सस्कृत–भाषा मे उपसर्गो का स्वतन्त्र प्रयोग समाप्त हो गया है। सस्कृत मे उपसर्ग धातु के साथ ही प्रयुक्त होते है।

१८. जबकि सस्कृत–भाषा मे ये निपात नहीं रह गये है।

१६. जबकि सस्कृत मे ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गयी है।

२०. जबकि सस्कृत मे 'तर', 'तम' श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययो का प्रयोग विशेषणों के साथ मिलता है, यथा– सुन्दरतरः, सुन्दरतमः आदि।

२१. जबकि सस्कृत–भाषा मे 'न' निपात का अर्थ केवल निषेधार्थक ही होता है।

दोनो होता है।

२२ वैदिक–भाषा मे 'अक्तु, अमूर, उक्थ, ऊति, उर्गिया, सीम, ईम्, विचर्षणी, रिक्वन्, ऋदूदर, दृशीक आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है।

२२. जबकि सस्कृत–भाषा मे ये शब्द प्रयोग से बाहर हो गये है।

२३. वैदिक–भाषा मे निम्नलिखित शब्दो का अर्थ इस प्रकार है –

अरि	–	ईश्वर, धार्मिक शत्रु
अराति	–	शत्रुता, कृपणता
क्षिति	–	निवासस्थान, गृह, बस्ती, मनुष्य।
न	–	जैसा, नही
मृलीक	–	कृपा, अनुग्रह
वध	–	भयानक शस्त्र

२३. जबकि सस्कृत मे इनके अर्थो मे इस प्रकार परिवर्तन हो गया है –

अरि	–	शत्रु
अराति	–	शत्रु
क्षिति	–	पृथ्वी
न	–	नही
मृलीक	–	शिव का एक नाम
वध	–	हत्या

उपर्युक्त तुलनात्मक वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक–भाषा एव सस्कृत–भाषा मे पर्याप्त रचनात्मक वैषम्य है।

वैदिक-साहित्य एवं संस्कृत-साहित्य में विषमताएँ –

भाषा–भेद के साथ ही वैदिक–साहित्य और सस्कृत साहित्य मे विषयवस्तु एवं शैली की दृष्टि से भी पर्याप्त अन्तर है। वैदिक–साहित्य और सस्कृत–साहित्य मे मुख्य अन्तर इस प्रकार है –

वैदिक-साहित्य

१. वैदिक–साहित्य ऋषियो द्वारा वैदिक–भाषा मे रचा गया है।

२. वैदिक–साहित्य मे स्तुतियो एव प्रार्थनाओ का बाहुल्य है। ये स्तुतियॉ प्राकृतिक शक्तियो–अग्नि, सूर्य, उषा आदि की है।

३. वैदिक–साहित्य मे प्रमुख रूप से वन्य एवं ग्राम्य–जीवन का चित्रण है।

४. वैदिक–साहित्य मे भावनाओ और कल्पनाओ का विशुद्ध चित्रण है।

संस्कृत-साहित्य

१. जबकि सस्कृत–साहित्य अनेक कवियो द्वारा सस्कृत–भाषा में रचा गया है।

२. जबकि संस्कृत–साहित्य में प्रमुख रूप से राजवंशो और उनसे सम्बन्धित कथाओ का बाहुल्य है। देवताओ में विष्णु, शिव आदि की प्रधानता है।

३. जबकि संस्कृत–साहित्य मे विशेषत नागरिक–जीवन का चित्रण है।

४. जबकि संस्कृत–साहित्य मे कलात्मकता की प्रधानता है।

५. वैदिक–साहित्य के सभी छन्द वर्णो की गणना पर आधारित है। यथा– गायत्री, त्रिष्टुभ, जगती आदि। वैदिक छन्दो की सख्या भी अधिक नही है।

५. जबकि सस्कृत–साहित्य मे वर्ण–वृत्तो के साथ ही मात्रिक छन्दो का प्रयोग अधिक मात्रा मे हुआ है। यथा – अनुष्टुभ, उपजाति, वसन्ततिलका आदि।

६. वैदिक–साहित्य रूपक–प्रधान है, अनेक अमूर्त भावनाओ का मूर्तीकरण हुआ है।

६. जबकि सस्कृत–साहित्य अतिशयोक्ति–प्रधान है।

७ वैदिक–साहित्य मे ३ या ४ अलङ्कार है।

७. जबकि सस्कृत मे अलङ्कारो की सख्या लगभग दो सौ है।

८. वैदिक–साहित्य मे धर्म और दर्शन की प्रधानता है।

८ जबकि सस्कृत–साहित्य मे धर्म–अर्थ और काम की प्रधानता है।

६. वैदिक–साहित्य, सहिता, ब्राह्मण, आरण्य और उपनिषद् आदि वर्गो मे विभक्त है।

६. जबकि सस्कृत–साहित्य काव्य, नाटक, चम्पू आदि वर्गो मे वर्गीकृत है।

१० वैदिक–साहित्य मे ऋग्वेद का स्थान सर्वप्रमुख है।

१०. जबकि सस्कृत–साहित्य मे 'रामायण' और 'महाभारत' प्रमुख है।

११. वैदिक –साहित्य की भाषा– शैली अकृत्रिम है।

११. संस्कृत–साहित्य की भाषा–शैली अकृत्रिम और कृत्रिम दोनो ही प्रकार की है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य और सस्कृत साहित्य मे भाषा–भेद होने के साथ ही साथ अन्य अनेक साहित्यिक विषमताएँ भी दृष्टिगत होती है।

वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता

'अवेस्ता' का परिचय –

ईरान की प्राचीन भाषा 'अवेस्ता' है। ईरानियो के धर्मग्रन्थ का नमाम 'अवेस्ता' है। इनकी भाषा को भी 'अवेस्ता' ही कहते है। 'अवेस्ता' सस्कृत के 'अवस्था' शब्द का अपभ्रश है, इसका अर्थ है – 'व्यवस्थित, परिनिष्ठित रूप' । अत 'अवेस्ता' शब्द धर्मग्रन्थ का वाचक है। 'जेन्द' शब्द छन्दस् का अपभ्रंश है।इसका अर्थ है –टीका, व्याख्या। अवेस्ता की टीका को 'जेन्द' कहते है। यह पहलवी भाषा मे है। टीका–सहित धर्मग्रन्थ को 'जेन्दावेस्ता' कहते है। प्रचलन के आधार पर 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ को 'जेन्दावेस्ता' भी कहतें है।

'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ की भाषा, शब्दावली, रचना, छन्दोयोजना और भावावलि वैदिक मन्त्रो से बहुत अधिक मिलती है। सस्कृत और अवेस्ता के ध्वनि–नियमो को जानने वाला कोई भी संस्कृतज्ञ वेद के मन्त्र को अवेस्ता मे और अवेस्ता की गाथाओ को वैदिक मन्त्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है।

वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता-भाषा का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक परिचय –

भारतीय उपशाखा की सर्वप्राचीन उपलब्ध भाषा 'वैदिक' या 'वैदिक–सस्कृत' है। इसी प्रकार ईरानी उपशाखा की सर्वप्राचीन उपलब्ध भाषा 'अवेस्ता' है। 'वैदिक–सस्कृत' और 'अवेस्ता' दोनो का ही विकास मूलभारोपीय भाषा से हुआ है, अत दोनो मे कुछ साम्य का होना स्वाभाविक है।

भारतीय आर्य और ईरानी आर्य एक थे। वे एक ही साथ रहते थे। समान और एक जातीय होने के कारण उनका धर्म समान था, उनकी भाषा एक और समान थी। धायरत्वसु के शिलालेख मे उसे 'अरिय भाषा' कहा गया है –

"थातिय, दारयवउश् क्षायथिय वश्ना अउरमज्दाह इयम् दिपी–मइय् त्याम् अदम् अकुनवम् पतिशम् अरिया आह उता पवस्ताया उता चर्मा ग्रथिता आह पतिश मइय् पतिकरम् अकुनवम् पतिशम् उवदाम् अकुनवम् उता नियपिथिय उता पतियफ्रिसिय पइशिया माम् पस्तव इमाम् दिपिम् अदम् फ्रास्तायम् विस्पदा विस्पदा अतर् दहयाव कार हमातक्षता।" (धारयत्वसु वहिस्तन, चतुर्थ प्रकोष्ठ, ८८/६२१)

अर्थात् "धारयत्वसु शासक कहता है –असुरमेधा की इच्छा से इस लिपि को मैने अड्कित कराया। यह आर्य–भाषा मे मृत्पट्टिकाओ पर और चर्मपट पर निबद्ध है। इसके साथ मैने अपना एक चित्र उत्कीर्ण कराया है, इसके साथ ही मैने अपनी वंशावली अड्कित कर यह उत्कीर्ण तथा मेरे समक्ष पढी गई। इसके बाद मैने इन आलेखो को सर्वत्र प्रान्तो मे प्रेषित किया, प्रजाओ ने मेरे साथ सहयोग किया।"

दोनो कुलो की भाषा समान होने से वेदो मे और अवेस्ता मे अति निकट का सम्बन्ध है। देवशास्त्र, इतिहास, कर्मकाण्ड सभी दृष्टियो से दोनो मे साम्य है। नैतिक–मूल्यो मे अन्तर तथा उपासना–पद्धति मे विभेद स्थानाभाव उत्तम जलवायु वाले स्थान की तलाश ने दोनों कुलों को पृथक् होने को बाध्य किया। इस विभेद से दोनो की भाषा मे भी कुछ अन्तर आया, किन्तु फिर भी दोनो के शब्द कुछ ध्वन्यात्मक अन्तर के साथ समान है।

वैदिक भाषा, साहित्य, देवशास्त्र, कर्मकाण्ड तथा इतिहास के वास्तविक अध्ययन के लिए अवेस्तीय भाषा का अध्ययन आवश्यक है। अवेस्तीय भाषा का समग्रश संस्कृत छायाड्कन सम्भव है। वेद और अवेस्ता के लगभग नब्बे प्रतिशत शब्द अपने ध्वन्यात्मक वैशिष्ट्य के साथ समान हैं। अवेस्ता के मात्र पॉच प्रतिशत शब्द वेद मे अनुपलब्ध है। इसी प्रकार वेद के कुछ शब्द अवेस्ता में नही मिलते। अवेस्तीय विशिष्ट शब्दों के ग्रहण से सस्कृत शब्दराशि समृद्ध हो सकती है। अनेकानेक शब्दो के वास्ततिक रूपों का व्याकरणात्मक विश्लेषण अवेस्तीय रूपो की तुलना के आधार पर सम्भव है। यह एक पृथग्विवेचन का विषय है।

वैदिक एवं अवेस्ता भाषा का तुलनात्मक दृष्टि से भाषागत एवं स्वरूपगत वैशिष्ट्य–

वैदिक–भाषा एव अवेस्ता–भाषा की तुलनात्मक दृष्टि से भाषागत एव स्वरूपगत विशेषताओ को साम्य और वैषम्य के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता-भाषा में साम्य –

वैदिक–सस्कृत और अवेस्ता दोनो का ही विकास मूलभारोपीय भाषा से हुआ है, अत दोनो में कुछ साम्य का होना स्वाभाविक है। वैदिक–सस्कृत तथा अवेस्ता मे निम्नलिखित साम्य है –

१. मूलभारोपीय रेफ् (ऋ) के स्थान पर भारत–ईरानी मे लकार (लृ) तथा लकार (लृ) के स्थान पर रेफ (ऋ) मिलता है, अर्थात् इन ध्वनियो मे 'रलयोरभेद' (र् और ल् मे अभेद) की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

२. मूलभारोपीय भाषा की कण्ठय या कण्ठोष्ठय क् (क्व्) ख् (ख्व्) ग् (ग्व्) घ् (घ्व्) ध्वनियॉ भारत– ईरानी मे शुद्ध कण्ठय – क्, ख्, ग्, घ् हो गयी है तथा इन ध्वनियो के बाद मे इ, ए स्वर ध्वनि आने पर ये ही क्, ख्, ग्, घ् क्रमश च्, छ्, ज् और झ् हो जाती है।

३. मूलभारोपीय भाषा की प्रथम श्रेणी की कण्ठतालव्य क् (क्य्) ख् (ख्य्) ग् (ग्य्) घ् (घ्य्) ध्वनियॉ भारत–ईरानी मे क्रमश श्, श्ह्, ज्, ज्ह् हो गयी है। बाद मे सस्कृत मे श्, ज्, ह् तथा अवेस्ता मे स्, ज् और ज्ह् हो गयी है।

४. भारत–ईरानी दोनो मे ही स्वरान्त सज्ञाओ का पष्ठी बहुवचन 'नाम्' प्रत्यय लगाकर बनता है। यथा– आर्याणाम्।

५. वैदिक सस्कृत तथा अवेस्ता दोनो मे ही आज्ञार्थक प्रत्यय 'तु' (एकवचन), 'न्तु' (बहुवचन) पाये जाते है।

६. मूलभारोपीय के अतिह्रस्व या उदासीन स्वर 'अ' के स्थान पर भारत–ईरानी मे 'इ' मिलता है–

मूलभारोपीय		वैदिक संस्कृत		अवेस्ता
प्अते	>	पिता	=	पिता

७. मूलभारोपीय शब्दो मे इ, उ, क् तथा र् आदि के बाद मे आने वाला दन्त्य सकार सस्कृत मे मूर्धन्य षकार तथा ईरानी मे तालव्य शकार हो जाता है –

मूलभारोपीय		वैदिक		अवेस्ता
स्थिरस्थामि	>	तिष्ठामि	=	हिश्तइति
हिस्तेमि	>	तिष्ठामि	=	हिश्तइति
जिउस्तर	>	जोष्टा	=	जओशा

८ मूल भारोपीय भाषा के ह्रस्व (अ, ऍ, ओ) तथा तीन दीर्घ (आ, ऐ, औ) मूल स्वरो के स्थान पर भारत–ईरानी अर्थात् सस्कृत–अवेस्ता दोनो मे ही एक ह्रस्व 'अ' तथा एक दीर्घ 'आ' मूल स्वर प्राप्त होता है–

मूलभारोपीय		**वैदिक संस्कृत**		**अवेस्ता**
नेभोस	>	नभस्	=	नवह्
ओस्थ	>	अस्थि	=	अस्त
याग	>	यज्	=	यज्
एपो	>	अप	=	अप
एक्योस	>	अश्व	=	अस्पो

९. अनेक शब्द भारत–ईरानी अर्थात् वेद–अवेस्ता मे ध्वनियो तथा अर्थो की दृष्टि से लगभग समान ही है और दोनो भाषाओ मे उनका अर्थ भी प्राय एक ही है –

वैदिक-संस्कृत		**अवेस्ता**	**वैदिक-संस्कृत**		**अवेस्ता**
ओजस्	=	ओजो	विश्व	=	विस्प
अनु	=	अनु	असुर	=	अहुर
अन्य	=	अन्य	सप्त	=	हप्त
ददामि	=	ददामि	वसिष्ठ	=	वहिश्त
पुत्र	=	पुथ्र	असि	=	अहि

१०. वैदिक तथा अवेस्ता मे इतनी अधिक समानता है कि एक भाषा को थोडे से ही परिवर्तन से दूसरी भाषा मे बदला जा सकता है –

वैदिक-संस्कृत		**अवेस्ता**
शूर धामसु शविष्ठम्।	=	सूरं दामौहू शविस्तम्।
यो यथा पुत्र तरूण सोमम्।	=	यो यथा पुथ्र तउरूनम् हओमम्।
वन्देत मर्त्य ।	=	वन्दऍता मश्यो।
सावने आ ऋतौ आ।	=	हावनीम् आ रतुम् आ।

वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता भाषा का वैषम्य –

एक ही मूलभारोपीय भाषा से पृथक्–पृथक् रूपों मे विकसित होने के कारण भारतीय (वैदिक–संस्कृत) तथा ईरानी (अवेस्ता) मे अनेक प्रकार का वैषम्य भी है, जो इन्हें एक दूसरे से पृथक् करता है –

१. वैदिक सस्कृत मे कुल मिलाकर ५२ अक्षर है। जबकि अवेस्ता मे कुल मिलाकर ४७ अक्षर है जिसमे ३४ व्यञ्जन और १३ स्वर है।

२. वैदिक सस्कृत मे 'ए' और 'ऐ' दोनो मात्राओ का प्रयोग होता है। जबकि अवेस्ता मे केवल 'ए' की मात्रा का प्रयोग होता है 'ऐ' की मात्रा का प्रयोग नही होता है।

३. वैदिक सस्कृत मे 'ओ' और 'औ' दोनो का प्रयोग होता है। जबकि अवेस्ता में केवल 'ओ' का प्रयोग होता है 'औ' का प्रयोग नही होता है।

४. वैदिक भाषा के ङ्, ञ् और ण्' पञ्चम वर्णो के स्थान पर अवेस्ता मे 'न्' और 'ङ्' का प्रयोग होता है।

५. वैदिक–भाषा मे टवर्ग का प्रयोग होता है। जबकि अवेस्ता में टवर्ग का प्रयोग नही होता है।

६. वैदिक भाषा मे यकार भी एक प्रकार का होता है। जबकि अवेस्ता मे 'य्' दो प्रकार का होता है। यथा–शब्द के प्रारम्भ मे प्रयुक्त होने वाला यकार मध्य या अन्त मे प्रयुक्त यकार से भिन्न है।

७. वैदिक अन्तस्थो के लकार के स्थान पर अवेस्ता मे 'र' का ही प्रयोग होता है।

८. वैदिक मे एक ही वकार है। जबकि अवेस्ता मे दो वकार है। एक का प्रयोग केवल शब्द के प्रारम्भ मे होता है और दूसरे का प्रयोग मध्य या अन्त मे होता है।

९. वैदिक भाषा मे श्, ष्, स् का प्रयोग है तथा शकार एक ही प्रकार का होता है। जबकि अवेस्ता में वेद के समान ही 'श्', 'ष्' और 'स्' तीनो है, किन्तु अवेस्ता मे शकार दो प्रकार का है एक सामान्य शकार दूसरा यकार के पूर्व प्रयुक्त होने वाला। यथा– 'श्योश्यन्त' मे प्रयुक्त 'श्', 'यश्त्' मे प्रयुक्त 'श्' से भिन्न है।

१०. वैदिक भाषा मे मूर्धन्य ध्वनियॉ प्राप्त होती है। जबकि अवेस्तीय भाषा मे मूर्धन्य ध्वनियो का पूर्णतया अभाव है।

११. वैदिक–सस्कृत मे छ्, ल्, ञ् प्राप्त होते है। जबकि अवेस्ता मे इनकी सत्ता नही है।

१२. वैदिक–सस्कृत मे विसर्ग की प्रमुखता है। जबकि अवेस्ता में इसका अभाव है, इसके स्थान पर 'श्' तथा 'ओ' का प्रयोग होता है।

१३. वैदिक–सस्कृत मे चवर्ग व्यञ्जनो की संख्या पॉच है – च्, छ्, ज्, झ, ञ्। जबकि अवेस्ता में चवर्ग मे केवल दो ही व्यञ्जन है – च् और ज्।

१४. वैदिक–सस्कृत वर्णमाला मे पॉचो वर्गो में विद्यमान् महाप्राण वर्ण (द्वितीय और चतुर्थ) अवेस्ता मे नही है।

१५ प्राचीन अवेस्ता मे 'ल्' भी नही है। इसके स्थान पर वहॉ 'र्' का ही प्रयोग होता है – यथा 'श्रीलः' के स्थान पर 'स्रीरो'।

१६. अवेस्ता मे स्वरो की सख्या अधिक है। वैदिक–सस्कृत के 'अ' या 'आ' के स्थान पर अवेस्ता मे भिन्न–भिन्न स्वरो का प्रयोग होता है।

१७ वैदिक–सस्कृत की 'ऋ' ध्वनि के स्थान पर अवेस्ता मे 'अर्', 'र्' या 'अ' मिलता है।

वैदिक		**अवेस्ता**
वृक्षम्	=	वरेणम्

१८. वैदिक–सस्कृत की 'स्' ध्वनि अवेस्ता मे 'ह्' हो जाती है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
सोम	=	हओम	सुचित्र	=	हुचिथ्र
सप्त	=	हप्त	सूति	=	हूइति (अभिषव)
असि	=	अहि	चरषाच्	=	चड्रड्हाच् (चरागाह मे स्थित)
असुर	=	अहुर	शर्धस्	=	सरॅह्
सावनी	=	हावनी	अवस्	=	अवड्ह्
असु	=	अड्हु	असुरमेधस्	=	अहुरमज्दा
स्वर	=	ह्वर्	असुभिषक्	=	अहूमबिस्
सस्वरण	=	अड्हुहरण	सचन्ते	=	हचिन्ते
सहस्	=	सजह्	सचमानः	=	हचिम्न
शवस्	=	सवह्			

१६. वैदिक 'ह्' ध्वनि अवेस्ता मे 'ज्' हो जाती है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
हृणान	=	जजरान	होतर	=	जओतर्
हरि	=	जइरि	होत्रम्	=	जओथ्रॅम्
हरित	=	जइरित	आहुतिः	=	आजुइति

सहस्	=	हजह्	सजोषस्	=	हजओशह्
हेति	=	जरॅक्ष्य	हस्त	=	जस्त
हिरण्य	=	जरन्य	हवन	=	जवन
हव्य	=	जओय(पुकारने योग्य)	हि	=	जी

२०. वैदिक 'ओ' के स्थान पर अवेस्ता मे 'अओ' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
अवोचत्	=	अओख्त	ओष्ठ	=	अओश्न्न
शोक	=	सओक	ओद्	=	अओद्
ओष्	=	अओश्(जलना, चमकना)	ओज	=	अओज्
ओजस्	=	अओजह्	ओघ.	=	अओग
ओमन्	=	अओमन् (रक्षा)	ओजिष्ठ	=	अओजिश्त
जओष	=	हअओश्	ओक्त	=	अओख्त
वोच्य	=	अओज्य	स्नोध	=	स्नओध (मेघ)
मेघ·	=	मओघ	गव्यूति	=	गओयओइति

२१. वैदिक पदस्थ एकार अवेस्ता मे 'अए' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
चेत्	=	चएतर्	वेण्	=	वएन् (देखना)
सिञ्च् > सेक्	=	हएच् (सीचना)	मेष	=	मएष
चित्–कित्	=	कएत्–कएश्	एहस्	=	अएजह् (क्रोध)
एष	=	अएश्	एध	=	अएध्
एध्म	=	अएश्म् (ईधन)	एव	=	अएव
एनस्	=	अएनह्(आघात्, पाप)	एतावद्	=	अएतावन्त्
एतत्	=	अएतत्	एतध्	=	अएतध्
एभ्य	=	अएब्य	एधस्	=	अएथ्र (ईधन)

पेशस्	=	पएसह्	देव	=	दएव
नेत	=	नएध			

२२. वैदिक पदस्थ 'ऐकार' तथा 'औकार' का अवेस्ता मे क्रमश 'आइ' और 'आउ' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
अस्मै	=	अह्माइ	कस्मै	=	कह्माइ
उपैत्	=	उपाइत् (पहुँचा)	गौ	=	गाउ

२३. वैदिक पदस्थ 'श्व' का अवेस्ता मे 'स्प' तथा 'स्य' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
अश्व	=	अस्य	श्वेत	=	स्पएत
श्विति	=	स्पिति	श्विन्त	=	स्पॅन्त
श्वीयस्	=	स्पन्यह	श्वनस्	=	स्पानह्, स्पनङ्ह्
श्वन्	=	स्पन्	श्वितिनेत्र	=	स्पितिदोइथ्र

२४ वैदिक पदस्थ 'प्र' का अवेस्ता मे 'फ्र' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अस्वेता**
प्रशस्ति	=	फ्रसस्ति	प्रस्कम्भ	=	फ्रस्कम्ब
प्रश्रुत	=	फ्रसूत	प्रस्फूर्ज	=	फ्रस्परॅघ (कली, पल्लव)
प्रच्छा	=	फ्रसा (पूँछ–तॉछ)	प्रवार	=	फ्रवार (दुर्ग–घेरा)
प्रव्	=	फ्रव्	प्रवेदस्	=	फ्रवएद (धनाढ्य)
प्रथस्	=	फ्रथह	आप्रीवचस्	=	आफ्रीवचह्
आप्रीणनम्	=	आफ्रीन(वर, आशीष)			

२५. वैदिक पदस्थ यकार और इकार के पूर्ण अवेस्ता मे इकार का आगम होता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अस्वेता**
स्तुति	=	स्तुइति	जद्रि	=	जइधि
प्रति	=	पइति	पति	=	पइति
अभिहिति	=	अइविधाइति	अभि	=	अइवि
मन्यु	=	मइन्यु	दस्यु	=	दइङ्हु

नारी	=	नाइरी	आसुरि	=	आहुइरि
प्रजाति	=	फ्रजइन्ति(सन्तति)	यम्	=	यिम्
अस्थन्वती	=	अस्त्वइति	निवाति	=	निवाइति (विजय)
उपारि	=	उपाइरि	गिरि	=	गइरि
असत्य	=	अड्हइथ्य	अभित	=	अइवित
अभिस्ति	=	अइविस्ति			

२६. वैदिक पदस्थ वकार तथा उकार के पूर्व अवेस्ता मे उकार का आगम होता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अस्वेता**
अरूण	=	अउरून	तरूण	=	तउरून
अर्वन्	=	अउर्ववन्त	तूर्व	=	तउर्व
सर्व	=	हउर्व	पुरू	=	पोउरू
उरू	=	वोउरू	कर्व,खर्व	=	कउर्व (खण्डित)
वृत्रतूर्वन्	=	वॅरॅथ्रतउर्वन् (शत्रुविजयकृत)	शर्व	=	सउर्व, सउरू
सर्व	=	हउर्व			

२७. वैदिक पदान्त 'यम्' और 'ईयम्' का अवेस्ता मे 'ईम्' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अस्वेता**
असत्यम्	=	अड्हइथीम्	इष्यम्	=	इश्यम् > इशीम् (अभीष्ट)
वर्यम्	=	वइरीम्	तुरीयम्	=	तूइरीम्
तृतीयम्	=	थ्रितीम्	द्वितीयम्	=	त्वितीम्
कर्यम्	=	कइरीम्			

२८. वैदिक पदान्त 'अम्' और 'अम' का अवेस्ता मे क्रमश 'ॲम्' और 'ॲम' हो जाता है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अस्वेता**
विद्वेषसम्	=	वित्बएशड्हॅम्	कतम्	=	कतॅम्
प्रवारम्	=	फ्रवारॅम् (किला)	अर्यम्णम्	=	आत्रॅम्
दधन्तम्	=	दथन्तॅम्	श्रावयन्तम्	=	स्राव्यन्तॅम्
तम	=	तॅम			

२९. वैदिक पदान्त 'उम्' का अवेस्ता मे 'ऊम्' हो जाता है –

वैदिक		अवेस्ता	वैदिक		अस्वेता
ऋतुम्	=	रतूम्	असुम्	=	अहूम्

३०. वैदिक पदस्थ 'क्' और 'क्र' का अवेस्ता मे क्रमश 'ख्' और 'ख' हो जाता है।

वैदिक		अवेस्ता	वैदिक		अस्वेता
क्रतु	=	खतु	क्रूर	=	ख्रूर
कुम्भ	=	खुम्ब	क्रुश्	=	ख्रओश्
क्रोशक	=	ख्रओसक	उक्त	=	उख्ध

३१. वैदिक पदस्थ 'पकार' एव 'भकार' का अवेस्ता मे 'वकार' हो जाता है।

वैदिक		अवेस्ता	वैदिक		अस्वेता
गृभ	=	गरॅब	उभय	=	उबय
कर्षापण	=	वणिक्			

३२. वैदिक पदस्थ 'स्व' का अवेस्ता मे 'ख्' हो जाता है।

वैदिक		अवेस्ता	वैदिक		अस्वेता
स्वेद	=	ख्वएद	स्वत	=	ख्वतो
स्वसर्	=	ख्वड्हर	स्वधावन्त्	=	ख्वदावन्त्
स्वधात	=	ख्वधात	स्व	=	ख्वए
स्वप्न	=	ख्वपन	स्वनत्–चक्र	=	ख्वनत्–चख्
स्वर्णस्	=	ख्वरॅनह्			

३३ वैदिक अनुस्वार का अवेस्ता मे 'ड्' भाव हो जाता है।

वैदिक		अवेस्ता	वैदिक		अस्वेता
अंहुरमन्यु	=	अड्रोषइन्यु	अंसु	=	अड्हु

३४. वैदिक सस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियाँ घ्, ध्, भ्, अवेस्ता में घोष अल्पप्राण हो जाती है।

वैदिक		अवेस्ता	वैदिक		अस्वेता
भूमि	=	ब्रूमि	भ्राता	=	ब्राता

दीर्घम्	=	दरेगम्			

३५ वैदिक सस्कृत की अघोष महाप्राण क्, त्, प् ध्वनियॉ अवेस्ता मे सघर्षी ख्, थ्, फ् हो जाती है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
क्रतु	=	खुरतुश्	सत्यम्	=	हरथ्यम्
स्वप्नम्	=	हवफनम्			

३६. अवेस्ता भाषा मे आदिस्वरागम तथा अपनिहित वैदिक सस्कृत की अपेक्षा अधिक है।

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
भरति	=	बरइति	भवति	=	बवइति

३७. वैदिक भाषा के पवर्ग के 'भ' के स्थान पर अवेस्ता मे 'ब' का प्रयोग होता है। यथा –

वैदिक		**अवेस्ता**	**वैदिक**		**अवेस्ता**
भूमि	=	बूइमि	भर्	=	बर

उपर्युक्त विषमताओ के विवरण से यह ज्ञात होता है कि वैदिक एवं अवेस्ता भाषा में मुख्य अन्तर उच्चारण सम्बन्धी ही है। दोनो भाषाओ की पदरचना और अर्थ में विशेष अन्तर नही है।

ऋग्वेद की भाषा एवं विशेषताएँ –

मानव सभ्यता के आदिम युग की भाषा ऋग्वेद की भाषा ही है। ऋग्वेद की भाषा लौकिक–सस्कृत भाषा से प्राचीन है। ऋग्वेद की भाषा प्राचीनतम सस्कृत का रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। लौकिक–संस्कृत के विकसित रूप तक आते–आते और पाणिनीय व्याकरण के नियमो में आबद्ध सस्कृत–भाषा के रूप को प्राप्त करते–करते वह अपने प्राचीनतम रूप से बहुत कुछ भिन्न हो चुकी थी, जिसमे शब्दरचना, वाक्यविन्यास, स्वरप्रक्रिया आदि के सम्बन्ध मे वह विशिष्ट थी। ऋग्वेद की भाषा मे घोष वर्णो का प्रयोग अधिक मिलता है, और उच्च वर्ग की भाषा होने के कारण वह अधिक कृत्रिम एव व्यक्तिनिष्ठ है। एक ऋषि की रचना में कुछ ऐसी विशेषताएँ या विशिष्ट प्रयोग मिल जायेगे जो सम्भव है दूसरे ऋषि या वशपरम्परा के द्वारा प्रयुक्त भाषा मे अप्राप्त हो। ऋषियों द्वारा पुनरावृत्ति की प्रक्रिया का अपनाया जाना ऋग्वेद की भाषा और शैली की विशेषता है। अनेक मन्त्रो या मन्त्रासो अथवा शब्दसमूहो की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई है।

ऋग्वेद सहिता की भाषा की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

१. ऋग्वेद मे स्वरो के मध्य मे आने वाले 'ड' तथा 'ढ' को क्रमश 'ळ' और ळह् हो जाता है। यथा ईळे, ईळहा, मृळीक तथा जिहीळान।

२. ऋग्वेद मे पद्भि के स्थान पर पड्भिः रूप मिलता है।

३. ऋग्वेद मे 'भ' ध्वनि कभी–कभी 'ह' के रूप मे मिलती है।– गृभ, गृभाय–गृहाण, भरति–हरति।

४. ऋग्वेद मे रेफ के स्थान पर लकार का बहुल प्रयोग प्राच्य प्रभाव का द्योतक है। ऋग्वेद के पिछले मण्डलो मे प्राचीन मण्डलो की अपेक्षा लकार आठ गुना अधिक है तथा ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्व मे यह सात गुना अधिक प्रयुक्त है। आर्य लोग सारस्वतमण्डल से ज्यो–ज्यो पूरब की ओर बढने लगे, त्यो–त्यो उनकी भाषा मे रेफ के स्थान पर लकार प्रयुक्त होने लगा। मूलभारोपीय भाषा मे भी लकार की सत्ता थी, परन्तु ल्कार की अपेक्षा रेफ की स्थिति अधिक थी। यथा– 'हेऽरय' के स्थान पर 'हेऽलय' का उच्चरण प्राच्य लोग करते थे। फलत वैदिक आर्य इस अशुद्ध उच्चारण के कारण उन्हे 'असुर' के नाम से पुकारने लगे थे।

५. ऋग्वेद के एक मण्डल की भाषा दूसरे मण्डल की भाषा से भी कभी–कभी कुछ प्रयोगो की दृष्टि से विशिष्ट प्रतीत होती है। 'अत्रि'–मण्डल (पञ्चम मण्डल) मे तुमुनन्त रूप वाले 'तु' का प्रयोग नही मिलता। इसी प्रकार प्रथम और अष्टम मण्डल के प्रसिद्ध ऋषि काण्वो ने 'तुम्' और 'तवैम्' प्रत्ययो का प्रयोग नही किया। इसी प्रकार सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ ने 'त्वा' और 'त्वाय' प्रत्यय के प्रयोग का बहिष्कार किया है। इस प्रकार अनुशीलन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि प्राचीन मण्डलो की भाषा नवीन मण्डलो (प्रथम और दशम) की भाषा से कुछ भिन्न है। कुछ परवर्ती ऋषियो ने अपने पूर्व ऋषियो की भाषागत एवं शैलीगत विशेषताओं का अनुसरण किया है, जो पुनरावृत्तियो के माध्यम से अधिक स्पष्ट है। प्रथम मण्डल से लेकर नवम मण्डल तक की भाषा मे बहुत कुछ एकरूपता है, किन्तु दशम मण्डल की भाषा अधिक विकसित प्रतीत होती है। बहुत से शब्दरूपो एव क्रियारूपो का प्रयोग दशम मण्डल तक आते–आते छूट गया है।

६. ऋग्वेद की भाषा मे कुछ ऐसे भी प्रयोग है जिनके आधार पर यह कहा जा कता है कि प्राकृत प्रयोग की प्रवृत्ति धीरे–धीरे अपना स्थान बना रही है। यथा– √द्युत् धातु से ज्योतिष् (द्योतित), उष्टानाम् (उष्ट्रानाम्) शिथिर (श्रिथिर), सूरे दुहिता (१/३४/५), सूरो दुहिता (७/६६/४) के लिए तुर्फरी, जर्भुरी इत्यादि ऐसे प्रयोग है, जो प्राकृत प्रयोग की ओर सड्केत करते है। नीड, दूडभ और षोडश का रूप पूर्ण वैदिक है।

७. ऋग्वेद मे सन्धिरूपो मे स्वर–सन्धि सम्बन्धी लौकिक–सस्कृत के नियमो पर विशेष ध्यान नही दिया गया है। दो स्वरो के बीच मे अवरोध को स्वीकार किया गया है। अभिनिहित सन्धि भाषा का एक विशिष्टरूप प्रस्तुत करती है। अनेक सन्धियो के हो जाने पर भी उच्चारण के समय उनका विश्लेषण कर दिया जाता है। क्षैप्र (यण्) तथा प्रश्लिष्ट (दीर्घ) सन्धि होने पर उसे पुन· दो अक्षरो के रूप मे उच्चारण के समय रखना आवश्यक होता था। अभिनिहित सन्धि मे भी यही नियम लागू था, अर्थात् पाद के भीतर या दो पादो के भीतर उसकी दो स्वरो के रूप मे पुन स्थापना आवश्यक रहता था।

८. ऋग्वेद मे सहिता मे स्थित पदो को उच्चारण के लिए परिवर्तित कर लिया गया है। 'पावक' को पौअक, 'वीर्याणि' को 'वीरिआणि', 'इन्द्र' को 'इन्दर' पढ़ा जाता है।

९. स्वर और छन्द की दृष्टि से भी ऋग्वेद की भाषा परवर्ती काल की संस्कृत–भाषा से सर्वथा भिन्न है जिसके कारण वाक्य–विन्यास की इसकी अपनी विशिष्टता है। छन्द की विशिष्टता से पता चलता है कि एक ही पद के भीतर व्यञ्जन और रेफ के संयोग होने पर दोनो के बीच मे लघुस्वर का योग करना पडता

है। 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्दर' किया जाता था। 'मरूद्भिरग्न आ गहि' आदि ऋचाओ मे 'अग्न' के उच्चारण मे ग तथा न के बीच बडे ही हल्के ढग का अकार भी उच्चारित होता है, यथा– 'मरूद्भिरगन आ गहि'। इ, उ, और ऋ से अन्त होने वाले शब्दो का षष्ठी–सप्तमी का द्विवचन यो, वो तथा रो बनता है, परन्तु उच्चारण दो अक्षरो का ही होता है।

१०. ह्रस्व ऋकार दीर्घ ॠ का भी कार्य करता है। दृढ, दॄढ के स्थान पर प्रयुक्त मिलता है, यद्यपि मुनीन् और साधून् के सादृश्य पर 'पितॄन्' मे दीर्घ ऋकार विद्यमान् है। ऋग्वेद की भाषा मे भारोपीय युग का एक बहुमूल्य अवशेष है पष्ठी बहुवचन मे 'आम्' प्रत्यय का योग, जब इस पद का उच्चारण अ आम् रूप से करना पडता है।

भाषा की दृष्टि से ऋग्वेद तथा अन्य वेदों का महत्त्व –

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी वेदो का महत्त्व है। वेदो मे, विशेष रूप से ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तो मे प्रयुक्त वैदिक भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषाओ मे से एक है।

आधुनिक भाषाविज्ञान विषय का प्रारम्भ १८ वी शताब्दी मे, भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन के रूप में हुआ था। तब कुछ युरोपीय विद्वानो का ध्यान सस्कृत–भाषा की ओर गया तथा उन्होने सस्कृत की तुलना अपनी प्राचीन भाषाओ ग्रीक, लैटिन आदि से की। इस तुलना मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन सभी भारोपीय भाषाओ का विकास किसी एक ही मूलभाषा से हुआ है, जिसे उन्होने 'मूलभारोपीय' भाषा का नाम दिया। मूलभारोपीय भाषा के स्वरूप को निर्धारित करने मे वैदिक (प्राचीन–सस्कृत) भाषा से उन्हे सबसे अधिक सहायता मिली। इसका कारण यह है कि वेदो मे भाषा का प्राचीनतम रूप सुरक्षित रखा गया है।

वैदिक–भाषा के अध्ययन ने भाषा–विज्ञान को सुदृढ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर दिया है। वेदो का अनुशीलन करना प्रत्येक भाषाशास्त्र के प्रेमी व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। कुछ दृष्टान्तो के द्वारा भाषा–विज्ञान के लिए वेदो के अनुशीलन के महत्त्व को समझा जा सकता है–

हिन्दी–पाठक ईसाई धर्मोपदेशक के लिए प्रयुक्त होने वाले 'पादरी' शब्द से परिचित ही हैं। भारत की प्रायः समस्त भाषाओ मे यह शब्द इसी अर्थ मे व्यवहृत पाया जाता है। इसका इतिहास विशेष मनोरञ्जक है। यूरोपीय जातीयो मे पोर्चुगीजो (पुर्तगाल के निवासी) ने भारत मे आकर अपना सिक्का जमाने के लिए ईसाई धर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। वे लोग इन धर्मोपदेशको को 'पाद्रे' (Padre) कहते थे। इस शब्द से भारतीय भाषाओ का 'पादरी' शब्द ढल कर तैयार हुआ है। पोर्चुगीज 'पाद्रे' शब्द लैटिन 'पेतर' शब्द का अपभ्रश है और यह 'पेतर' संस्कृत–भाषा का सुप्रसिद्ध 'पितर' (पितृ) ही है। इस प्रकार संस्कृत की सहायता से हम 'पादरी' का अर्थ 'पिता' समझ सकते है। अग्रेजी मे आज भी इन पूजनीय धर्मोपदेष्टाओं के लिए 'पिता' (फादर) शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।

अग्रेजी के रात्रिवाचक 'नाइट' (Night) शब्द मे उपलब्ध, परन्तु अनुच्चार्यमाण 'gh' वर्णों का रहस्य सस्कृत की सहायता के बिना नही समझा जा सकता। gh, 'घ' का सूचक है, जो मूल शब्द मे किसी कवर्गीय वर्ण

की सूचना दे रहा है। सस्कृत 'नक्तम्' के साथ इसकी विवेचना करने पर इस रहस्य का उद्‌घाटन हो जाता है कि, 'नाइट' शब्द का मूल यही 'नक्तम्' शब्द है। लैटिन नाक्‌टरनल (Nocturnal) मे भी इसी प्रकार ककार की स्थिति बनी हुई है। अग्रेजी फार्चुन (Fortune) शब्द के रहस्य का परिचय कम मनोरञ्जक नही है। 'फार्चुन' का अर्थ होता है– धन–सम्पत्ति, समृद्धि, भाग्य आदि। 'फार्चुन' शब्द इटली देश की एक प्राचीन 'फोर्स' (Fors) नामक देवी के साथ सम्बद्ध है। जो ज्युपिटर की पुत्री मानी जाती है। ये दोनो शब्द 'लाने' के अर्थ मे व्यवहृत 'फेरे' (Ferre to bring) धातु से सम्बद्ध है। 'फोर्स' देवी की कल्पना 'उषा' देवी से बिल्कुल मिलती है। दोनो के स्वरूप एक ही प्रकार से उल्लिखित है। जिस प्रकार उषा देवी नाना प्रकार के कल्याणो को भक्तो के लिए लाती है, उसी प्रकार यह देवी भी करती है। 'फोर्स' का शाब्दिक साम्य 'हरति' के साथ है, तथा इसीलिए √'हृ' से व्युत्पन्न 'हर्यत्' (सुन्दर) शब्द का प्रयोग उषा के लिए बहुश किया गया है। इस प्रकार की समता से 'फोर्स' तथा 'फार्चुन' शब्दो का ठीक अर्थ समझा जा सकता है, अत अग्रेजी शब्दो के अर्थ तथा रूप को समझने के लिए सस्कृत शब्दो से परिचय अत्यपेक्षित है।

वैदिक–भाषा की लौकिक–भाषा के साथ तुलना करने पर अनेक मनोरञ्जक बाते दृष्टिपथ मे आ जाती है। भाषाशास्त्र का यह एक सामान्य नियम है कि भौतिक अर्थ मे व्यवहृत होने वाले शब्द कालान्तर मे अध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त होने लगते है तथा पार्थिव जगत् से हटकर वे सुदूर मानसिक जगत् की वस्तुओं को सूचना देते है। वेद इस विषय मे बहुत से रोचक उदाहरण उपस्थित करता है। इन्द्र की स्तुति के प्रसङ्ग मे गृत्समद ऋषि की अन्तर्दृष्टि पुकार कर रही है– "य पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्" अर्थात् इन्द्र ने चलायमान पर्वतो को स्थिर किया। यहाँ √कुप् तथा √रम् धातु के प्राचीन अर्थ का ऊहापोह भाषा की दृष्टि से नितान्त उपदेशप्रद है। √कुप् धातु का मौलिक अर्थ है 'भौतिक सञ्चालन' और √रम् धातु का अर्थ है 'स्थिरीकरण, चञ्चल पदार्थ को निश्चल बनाना'। कालान्तर मे इन धातुओ ने अपनी दीर्घकालीन यात्रा में पलटा खाया। सबसे अधिक मानसिक विकार उस दशा मे उत्पन्न होते हैं जब हम क्रोध के वशीभूत होते है। हम उस दशा मे अपने मन के भीतर एक विचित्र प्रकार की प्रखर चञ्चलता का अनुभव पद–पद पर करते हैं। अत अर्थ की समता के बल पर 'कोप' शब्द भौतिक–जगत् के स्तर से ऊपर उठकर मानस–स्तर तक अनायास पहुँच गया। आधुनिक सस्कृत मे यदि हम कहे "कुपितो मकरध्वज" तो वाक्यपदीय के मन्तव्यानुसार कोप रूपी 'लिङ्ग' की सत्ता के कारण मकरध्वज से अभिप्राय 'काम' से समझा जाता है और 'रम्' का अर्थ है भौतिक स्थिरीकरण, परन्तु धीरे–धीरे इस शब्द ने भौतिक–भाव को छोडकर मानस–भाव से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया। खेल–तमाशों मे चञ्चल चित्त स्थिर हो जाता है, क्योकि उससे इन वस्तुओ मे एक विचित्र प्रकार के आनन्द का सञ्चार होता है। यही कारण है कि आजकल √'रम्' का प्रयोग क्रीडा अर्थ मे किया जाता है। प्रचलित भाषा के प्रयोगो मे कभी–कभी प्राचीन अर्थ की भी झलक आ जाती है। 'क्रीडाया रमते चित्तम्' (क्रीडा मे चित्त रमता है) यहाँ 'रमते' का लक्ष्य स्थिरीकरण के लिए स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः सस्कृत शब्दों के अर्थ मे इस परिवर्तन की जानकारी के लिए वेद तथा वैदिक–भाषा का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

ऋग्वेद संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का भाषा की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन –

ऋग्वेद सहिता के **पौरस्त्य व्याख्याकारों में आचार्य स्कन्दस्वामी, आचार्य नारायण, आचार्य उद्गीथ, माधव भट्ट, वेङ्कटमाधव, धनुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थ एवं आत्मानन्द** ने ऋग्वेद–सहिता की व्याख्या वैदिक सस्कृत–भाषा मे की है। इन भाष्यकारो की भाषा सहज, सरल तथा मिताक्षर है।

सायणाचार्य ने भी वैदिक–सस्कृत मे ऋग्वेद का भाष्य किया है। सायण ने यथास्थान कही समाधि–भाषा, कही परकीय–भाषा और कही लौकिक–भाषा का प्रयोग किया है, तथा सायण ने यथास्थान तीनो भाषाओ का रहस्य भी बताया है। सायण की भाषा सरल, सरस, सुन्दर, ललित, प्राञ्जल एव परिष्कृत है। इनकी भाषा मे रोचकता एव प्रवाह है। इन्होने अपनी भाषा मे प्रसङ्ग एव भावो के अनुकूल शब्दावली का चयन किया है। इनकी भाषा प्राचीन वैदिक–सस्कृत होने पर भी उनमे अर्वाचीन विद्वानो एव भाष्यकारो की भाषा के तुल्य प्रौढता एव परिष्कार परिलक्षित होता है। जबकि

यास्काचार्य ने ऋग्वेद के प्रमुख मन्त्रो का वैदिक–सस्कृत मे भाष्य एव निर्वचन किया है, तत्पश्चात् यास्क ने हिन्दी भाषा मे भी मन्त्रार्थ एव भाष्यार्थ प्रस्तुत किया है। इनकी भाषा भी सरल, सुबोध एव ग्राह्य है। इन्होने वैदिक–मन्त्रस्थ पदो के स्थान पर अनेक पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है। इनकी भाषा मे प्रवाह एव रोचकता है। इन्होने अपने भाष्य मे भावानुकूल शब्दो का प्रयोग किया है। भाषा–सौष्ठव के कारण कही–कही लयात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है। यास्क ने वैदिक सस्कृत भाषा मे मन्त्रो का भाष्य एव निर्वचन करने मे 'वा' अवयय का बहुत प्रयोग किया है जो इनके भाषा एव भाष्य की प्रमुख विशेषता है। इसी विशेषता के कारण इनका भाष्य अन्य भाष्यो से अपनी पृथक् पहचान रखता है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदीय सूक्तो का हिन्दी एव सस्कृत दोनो भाषाओ मे भाष्य, अनुवाद एवं भावार्थ लिखा है। इनकी भाषा मे दार्शनिक एव आध्यात्मिक शब्दो का प्रयोग अधिक है। इन्होने अपने भाष्य में दार्शनिक एव आध्यात्मिक भावों को प्रमुखता दी है। अत इनकी भाषा में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक भावो की अधिकता दृष्टिगत होती है। जबकि

श्री अरविन्द स्वामी जी ने ऋग्वेदीय मन्त्रो की सरल एवं बोधगम्य अग्रेजी भाषा मे अनुवाद एव व्याख्या प्रस्तुत की है। इनकी भाषा मे आध्यात्मिक एव रहस्यात्मक शब्दो एवं भावो की प्रधनता है। इनकी भाषा सुस्पष्ट एव सारगर्भित है। जबकि

ऋग्वेद-संहिता के पाश्चात्य भाष्यकारों मे **एच. एच. विल्सन, मैक्समूलर, मैक्डानल्ड, कीथ, ग्रिफिथ, प्रो. पाउल थीमे** एव **पीटर्सन** आदि ने ऋग्वेदीय सूक्तो का अग्रेजी भाषा मे अनुवाद एव व्याख्या किया है। इनकी भाषा यद्यपि अग्रजी है फिर भी वह बहुत ही स्पष्ट, सहज, सरल, सर्वजनग्राह्य तथा सुबोध है। जबकि

रॉथ, ओल्डेनबर्ग, लुड्विग, ग्रासमैन, पिशेल और **गैल्डनर** ने ऋग्वेदीय सूक्तो का जर्मन भाषा मे अनुवाद, व्याख्या एव विवेचन प्रस्तुत किया है। चूँकि सभी पाठक जर्मन भाषज्ञ नही है। अत उनके लिये यह क्लिष्ट, अग्राह्य एव अबोधगम्य है। परन्तु जर्मन भाषाज्ञो के लिये बहुत सरलता से ग्राह्य एव बोधगम्य है। जबकि

बर्गेन्य, प्रो लुईरेनू एव **प्रो. लाग्लवाइस** ने ऋग्वेद का फ्रेच भाषा मे अनुवाद एव व्याख्या प्रस्तुत की है। ऋग्वेद का फ्रेच अनुवाद फ्रेच भाषा–भाषियो एव फ्रेच भाषाज्ञ पाठको के लिए बहुत ही उपयोगी है।

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से तुलनात्मक अनुशीलनोपरान्त यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद–सहिता के विभिन्न पौरस्त्य एव पाश्चात्य भाष्यकारो ने ऋग्वेद–सहिता का विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद एव भाष्य (व्याख्या) प्रस्तुत किया है। अत हम ये कह सकते है कि ऋग्वेद का अध्ययन–अध्यापन न केवल सस्कृत एव हिन्दीभाषी पाठक ही कर सकते है अपितु अन्य अग्रेजी, फ्रेच, जर्मन आदि विदेशी भाषाओ के पाठकगण एवं विद्वान्जन भी इसका अध्ययन–अध्यापन सहजता एव सरलता से कर सकते है।

अत वैदिक साहित्य से सम्बद्ध 'ऋग्वेद' प्रचीन परम्परागत पौरस्त्य भाषाओ मे ही उपलब्ध नही है, और न ही ये विस्तार–क्षेत्र की सीमित परिधि मे स्थित एवं व्याप्त है बल्कि पाश्चात्य जगत् मे भी इसका प्रचार–प्रसार और अध्ययन–अध्यापन विदेशी भाषाओ में वैदिक सहित्य के उपलब्ध होने से असीमित परिधि मे व्याप्त है।

तृतीय अध्याय

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का व्याकरण की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

'व्याकरण' शब्द की व्युत्पत्ति –

वि + आङ् उपसर्ग पूर्वक √कृ धातु से ल्युट् (अन) प्रत्यय करने पर व्याकरण शब्द निष्पन्न होता है।

'व्याकरण' शब्द का अर्थ है–

व्याकरण शब्द का अर्थ है–जिससे भाषा मे प्रयुक्त शब्दो की व्युत्पत्ति की जाती है। यह व्युत्पत्ति शब्दो के अर्थो का भी निर्धारण करती है। इसीलिए सायणाचार्य ने कहा है–

''व्याकरणमपि प्रकृति–प्रत्ययादि–उपदेशेन पदस्वरूप तदर्थ निश्चयाय प्रसज्यते।''

अर्थात् व्याकरण प्रकृति और प्रत्यय को बतलाकर पद के स्वरूप का और पद के अर्थ का निश्चय कराता है। **"व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयो यस्मिन् तद् व्याकरणम्''।**

व्याकरण वेदाङ्ग का तात्पर्य –

व्याकरण वह वेदाङ्ग है, जिसके द्वारा वेद और लोक मे प्रयुक्त शब्दो की मीमांसा की जाती है। इस प्रकार–**"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम् ।"**

व्याकरण वेदाङ्ग को, वेद–पुरूष का मुख्य कहा गया है–**''मुखं व्याकरण स्मृतम्''**।– (पाणिनीय शिक्षा) अन्य वेदाङ्गो की अपेक्षा व्याकरण वेदाङ्ग का महत्त्व अधिक है, इसी मत का समर्थन महाभाष्यकार 'पतञ्जलि' के इस कथन से होता है– **''प्रधानं च षट्सु-अङ्गेषु व्याकरणम्''**।– (महाभाष्य)

अर्थात् वेद के छहो अङ्गो मे व्याकरण ही प्रधान है।

व्याकरण वेदाङ्ग का विकास –

व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रथम सङ्केत हमे ऋग्वेद मे उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में वृषभ रूप में व्याकरण का उल्लेख हुआ है और कहा गया है –

चत्वारि श्रृंगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

ऋग्वेद, ४/५८/६

अर्थात् इस वृषभ रूपी व्याकरण के चार सीग– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात (शब्दो के चार भेद) है। इसके तीन पाद–भूत, वर्तमान और भविष्यत् (तीन काल) है। इसके दो सिर–सुप् और तिङ् प्रत्पय है। इसके सात हाथ–सात विभक्तियॉ है। यह उरस्, कण्ठ और मूर्धा–इन तीन स्थानो पर बॅधा हुआ शब्द करता है। यह बडा देव मनुष्यो मे प्रविष्ट हो गया है। बाद मे ब्राह्मण–ग्रन्थो और कल्पसूत्रो मे भी व्याकरण का थोडा सा विवेचन हुआ है। इसके उपरान्त वैदिक व्याकरण का सर्वप्रथम विवेचन हमे प्रातिशाख्य–ग्रन्थो मे मिलता है। प्रातिशाख्यो मे व्याकरण विषयक जिन विषयो का उल्लेख है, उनमे से प्रमुख है–

१ वर्ण–समाम्नाय २ पद–विभाग ३ सन्धि–विच्छेद ४ स्वर–विचार ५ पाठ–विचार और अन्य उच्चारण सम्बन्धी विषयो का विवेचन ।

वैदिक व्याकरण के पश्चात् लौकिक (सस्कृत) व्याकरण का प्रादुर्भाव हुआ । सस्कृत–व्याकरण के सबसे प्रमुख व्याकरणकार है–पाणिनि । इनके व्याकरण के ग्रन्थ का नाम है–अष्टाध्यायी । इसमे आठ अध्याय है। प्रत्येक अध्याय मे चार पाद है और कुल सूत्रो की सख्या लगभग चार हजार है।

यद्यपि पाणिनि की अष्टाध्यायी मे 'स्वरवैदिकी' प्रकरण का सम्बन्ध वैदिक व्याकरण से है तथापि मुख्य रूप से पाणिनि का व्याकरण सस्कृत–व्याकरण ही है। वैदिक भाषा का विवेचन उसमे बहुत कम है। वैदिक प्रयोगो के लिए प्राय 'व्यत्ययो बहुलम्' और 'बहुल छन्दसि' जैसे सूत्र ही वहॉ मिलते है जिनसे प्रकट होता है कि वैदिक भाषा के विवेचन मे पाणिनि की विशेष रूचि नही थी।

सस्कृत–व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ पाणिनि–रचित 'अष्टाध्यायी' ही है। इसका रचना काल ई० पूर्व ६०० वर्ष माना जाता है। इसके उपरान्त ई० पूर्व ४०० वर्ष में 'कात्यायन' ने अपने वार्तिक रचे और उसके बाद, फिर ई० पूर्व २०० मे पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की।

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि को ही व्याकरण–शास्त्र का 'मुनित्रय' कहा जाता है। और इन तीनो वैयाकरणो की रचनाऍ ही व्याकरण–वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करती है। बाद मे रचे गये सभी व्याकरण–ग्रन्थ इन्ही तीनो की रचनाओ पर विशेषरूप से 'अष्टाध्यायी' पर आधारित है।

व्याकरण वेदाङ्ग का प्रयोजन –

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण वेदाङ्ग के जिन प्रयोजनो का उल्लेख किया है, उनमे वेदो की रक्षा का प्रयोजन ही प्रमुख है। पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण के पॉच प्रमुख प्रयोजन इस प्रकार है–

१. रक्षार्थ वेदानाम् अध्येय व्याकरणम् ।

२. ऊह खल्वपि

३. आगम. खल्वपि

४. लघ्वर्थ चाध्येय व्याकरणम्

५. असन्देहार्थ चाध्येय व्याकरणम्

उपर्युक्त प्रयोजनो द्वारा व्याकरण वेद की रक्षा मे इस प्रकार सहायक होता है–

१ रक्षार्थ वेदानाम् अध्येयं व्याकरणम् –

पतञ्जलि मुनि के अनुसार वेदो की रक्षा के लिए व्याकरण पढना चाहिए। व्याकरण द्वारा शब्दो की व्युत्पत्ति के विषय मे वर्ण के लोप, वर्ण के आगम और वर्ण के विकार आदि को जानने वाला ही वेदो का पालन कर सकता है, अर्थात् व्याकरण से शब्दज्ञान, शब्दज्ञान से अर्थज्ञान अर्थात् शब्द और अर्थ को जानकर ही वेदो की रक्षा हो सकती है। व्याकरण का प्रधान उद्देश्य वेदो की रक्षा करना है। वेदो की रक्षा पद, वर्ण एव मात्रा के उचित उच्चारण तथा प्रयोग से ही सम्भव है।

२ ऊहः खल्वपि –

'ऊह' का अर्थ है नूतन पदो की कल्पना। यह व्याकरण–शास्त्र के ज्ञान के बिना सम्भव नही है। वेदों मे मन्त्रो मे सभी लिङ्गो एव सभी विभक्तियो का प्रयोग नही हुआ है। यज्ञ आदि मे मन्त्रो का प्रयोग करते समय, प्रकरण के अनुसार उनमे कल्पना का प्रयोग करना पडता है। जैसे –अग्नि को आहुति देते समय–"अग्नये त्वा जुष्ट समर्पयामि" कहा जाता है, और सूर्य को आहुति देते समय–"सूर्याय त्वा जुष्ट समर्पयामि" कहा जाता है। एक ही मन्त्र मे 'अग्नये' के स्थान पर 'सूर्याय' का प्रयोग व्याकरण जानने वाला ही कर सकता है।

३ आगमः खल्वपि –

वेद के छह अङ्गो मे व्याकरण प्रमुख है। अत व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है, अर्थात् स्वय श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन की अनिवार्यता की बोधक है।

४. लघ्वर्थ चाध्येयं व्याकरणम् –

व्याकरण के द्वारा ही शब्दो का ज्ञान शीघ्रतया हो सकता है। संस्कृत–भाषा अपार समुद्र जलराशि के समान है। जन्म जन्मान्तरो मे भी उसका पूर्ण ज्ञान सम्भव नही है। व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसके आश्रय से हम ज्ञानोपार्जन सहजता से कर सकते है।

५ असन्देहार्थम् अध्येयं व्याकरण् –

वैदिक शब्दो के विषय में उत्पन्न सन्देह का निवारण व्याकरण–शास्त्र ही कर सकता है। वैदिक मन्त्रों के पदों मे उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित– इन तीन स्वरों का ज्ञान आवश्यक है। यहॉ स्वर से ही अर्थ का

निश्चय होता है। 'स्थूलपृषती' जैसे वैदिक शब्दो मे यह सन्देह हो जाता है कि इसका अर्थ बहुव्रीहि समास के अनुसार करे या तत्पुरूष के अनुसार करे। व्याकरण के द्वारा 'स्थूलपृषती'–जैसे शब्दो मे उदात्त आदि स्वर को पहचान कर, इसका ठीक अर्थ जाना जा सकता है। अत. अर्थ मे सन्देह होने पर उसे दूर करने के लिए व्याकरण पढना चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते है कि व्याकरण वेदाङ्ग, वेद का उपकारक है। इसके द्वारा शब्द का ज्ञान, स्वर का ज्ञान और अर्थ का ज्ञान ठीक–ठीक हो जाता है। इसी कारण व्याकरण वेदाङ्ग का महत्त्व है।

वैदिक-स्वर

वैदिक स्वर का अर्थ –

''स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग् भवति व्यञ्जनम्''– (महाभाष्यकार पतञ्जलि)

अर्थात् स्वर स्वतन्त्र रूप से शोभित होते है तथा व्यञ्जन उनका अनुसरण करते है।

अक्षर ही स्वर है। 'नक्षरति इति अक्षर·' स्वर वह ध्वनि है जिसके उच्चारण मे वायु अबोध गति से मुख विवर से बाहर निकलती है।

वैदिक स्वर-भेद –

वैदिक स्वर के निम्नलिखित भेद है –

१. उदात्त

२. अनुदात्त

३. स्वरित

४. प्रचय

५. कम्प

उदात्त स्वर –

'उच्चैरूदात्तः' अर्थात् उच्च ध्वनि से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है। आयामेन = उर्ध्वगमनेन गात्राणां य स्वरो निष्पद्यते स उदात्त सञ्ज्ञ· भवति। आयामेन अर्थात् शरीर के उच्चारण अवयवो के उर्ध्वगमन के साथ जो स्वर उच्चरित होता है उसे उदात्त सञ्ज्ञक स्वर कहते हैं।

इस प्रकार गात्रो का उर्ध्वगमन आयाम कहलाता है, तथा आयाम के साथ उच्चरित स्वर उदात्त है।

उदात्त स्वर सहिता तथा पदपाठ दोनो मे अनङ्कित रहता है। अनुदात्त स्वर के ठीक बाद मे उदात्त स्वर होता है। यथा–अ॒ग्निभि, अग्ना३इ, लाजी३न्, शाचीश्न्

अनुदात्त स्वर –

'नीचैरनुदात्तः' नीची ध्वनि से उच्चरित स्वर अनुदात्त कहलाता है। मार्दवेण = अधोगमनेन गात्राणा य· स्वरो निष्पद्यते स अनुदात्त सज्ञ भवति। मार्दव या विश्रम्भ का अर्थ गात्रो का अधोगमन। इस प्रकार मार्दव या विश्रम्भ के साथ उच्चरित स्वर अनुदात्त कहलाता है।

अर्थात् जिस अक्षर के उच्चारण में गात्रो के उच्चारणावयवो मे शिथिलता होती है या गात्रों की शक्ति का अवरोह अर्थात् अधोगमन होता है वह अक्षर अनुदात्त कहलाता है ।

अनुदात्त अक्षर को पदपाठ मे अधोरेखया अङ्कित करते है। अनुदात्त सदैव उदात्त के पूर्व आता है। यथा– आ॒र्षे॒यु॒त्र॒ऋ॒षी॒णा॒म्

स्वरित स्वर –

'उभयवान्स्वरितः' अथवा **'समाहारः स्वरितः'** उदात्त एवं अनुदात्त इन दोनो प्रयत्नो से उच्चरित होने वाला स्वर स्वरित कहलाता है।

अभिघातेन = तिर्यग्गमनेन गात्राणा य स्वरो निष्पद्यते स स्वरित सज्ञ भवति । अर्थात् गात्रो का तिर्यक् गमन अभिघात या आक्षेप कहलाता है। अत अभिघात के साथ उच्चरित स्वर स्वरित कहलाता है ।

स्वरित स्वर उर्ध्वरेखया अङ्कित किया जाता है। अदात्त के ठीक बाद मे स्वरित आता है।

यथा –धा॒न्य॑मसि, स्थो॒वै॒ष्णु॒व्यौ॑, अ॒ग्निभि॑

स्वरित स्वर के भेद –

१. सामान्य स्वरित

२. जात्य स्वरित

३. अभिनिहित स्वरित

४. क्षैप्र स्वरित

सामान्य स्वरित –

वेद का यह नियम है कि प्रत्येक पद मे एक उदात्त स्वर वाला अक्षर अवश्य होता है तथा उदात्त के पूर्व वाला अनुदात्त हो जाता है, परन्तु उदात्त के ठीक पश्चात् आने वाला अनुदात्त पदपाठ मे नियमेन स्वरित हो जाता है।

यथा – अग्निभिः

जात्य स्वरित –

''एक पदे नीचपूर्वः सयवो जात्यः''

इसे स्वतन्त्र स्वरित या असन्धिज स्वरित भी कहते है। एक पद मे यकार और वकार से अन्वित जिस स्वरित के पूर्व मे अनुदात्त होता है वह जात्य स्वरित कहलाता है।

यथा – कन्यां, धान्यंमसि

अभिनिहित स्वरित –

''यदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः''

जब उदात्त एकार और ओकार से परवर्ती अनुदात्त अकार लुप्त हो जाता है तो अभिनिहित सञ्ज्ञक स्वरित निष्पन्न होता है। यथा–तेंऽपसरसाम्, तेंऽवन्तु, वेदोंऽसि, तुथोंऽसि।

प्रश्लिष्ट स्वरित –

''इवर्ण उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः''

पूर्ववर्ती ह्रस्व इकार उदात्त हो और परवर्ती ह्रस्व इकार अनुदात्त हो तो दोनो की सन्धि होने पर दीर्घ ईकार उत्पन्न होता है जिसे प्रश्लिष्ट सञ्ज्ञक स्वरित कहते है।

यथा –	अभि + इन्धताम्	=	अभींन्धताम्
	स्रुचि + इव	=	स्रुचींव

क्षैप्र स्वरित –

''युवर्णौ यवौ क्षैप्रः''

अनुदात्त बाद मे होने पर जब पूर्ववर्ती उदात्त इ, ई, उ, ऊ क्रमश यकार और वकार हो जाते हैं तो क्षैप्रस्वरित होता है।

यथा – त्रि + अ॒म्बकम् = त्र्य॑म्बकम्

वा॒जी + अ॒र्वन् = वा॒ज्य॑र्वन्

प्रचय स्वर –

"स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।"

स्वरित से बाद मे आने वाले अनुदात्तो का प्रचय स्वर हो जाता है। ऐसी अवस्था मे ये अनुदात्त उदात्त के समान सुनाई पडते है चाहे वे एक हो दो हो या अनेक हो । प्रचय स्वर 'स्वरित स्वर' के ठीक बाद मे आने वाले स्वर को कहते है, प्रचय स्वर भी उदात्त के समान अनङ्कित होता है। यथा

१. अ॒ग्निमी॑ले

२. नास॑त्याभ्याम्

३. इमं मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति

कम्प स्वर –

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वराः प्रकम्पेते यत्रोच्चस्वरितोदया : ।।

उदात्त या स्वरित स्वर बाद मे हो तो जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये स्वरित स्वर कम्प को प्राप्त करते है, अर्थात् ये कम्प के साथ उच्चरित होते है।

जात्यादि चार प्रकार के स्वरितो का प्रारम्भ वाला उदात्त अश उदात्ततर अर्थात् उदात्त से भी उच्चतर उच्चरित होता है और उक्त जात्यादि चार प्रकार के स्वरितों का अवशिष्ट अनुदात्त अश अनुदात्त उच्चरित होता है।

यदि बाद मे उदात्त हो तो पहले वाले उदात्ततर और बाद वाले उदात्त उच्चारणो के बीच मे अनुदात्त का उच्चारण करने मे कठिनाई होना स्वाभाविक है, क्योकि स्वरित के प्रथम उदात्त अंश का उदात्ततर के रूप मे उच्चारण करने के लिए ध्वनि को नीचे उतारना पडता है, और परवर्ती उदात्त का उच्चारण करने के लिए ध्वनि को पुन ऊपर चढाना पडता है ऐसी स्थिति मे स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण झटके के साथ होता है। इस झटके को ही कम्प कहते है।

इसी प्रकार जात्य स्वरित बाद मे होने पर भी पूर्ववर्ती स्वरित का अनुदात्त अश कम्प के साथ उच्चरित होता है, क्योकि पूर्ववर्ती स्वरित का प्रारम्भ वाला उदात्त अश उदात्ततर उच्चरित होता है।

यदि यह कम्प ह्रस्व स्वरित स्वर के उदात्त अश मे हो तो कम्प को दर्शाने के लिए ह्रस्व स्वरित अक्षर के बाद मे १ सख्या को लिखते है और उस सख्या के ऊपर स्वरित का चिह्न तथा अनुदात्त का चिह्न लगाते है। यथा– न्य १ न्यम्

परन्तु यदि यह कम्प दीर्घ स्वरित के अनुदात्त अश में हो तो कम्प को प्रदर्शित करने के लिए दीर्घ स्वरित अक्षर के बाद मे ३ सख्या तथा दीर्घ स्वर के नीचे भी अनुदात्त का चिह्न लगाते है।

यथा– अभी३दम्

वैदिक-सन्धि

वैदिक भाषा मे सन्धि के नियम प्राय वही है जो लौकिक सस्कृत मे है, कुछ नियम नये है तथा वैदिक सस्कृत मे लौकिक सस्कृत के समान ही सन्धियॉ है, परन्तु उनके पारिभाषिक नाम भिन्न–भिन्न है।

स्वर-सन्धि –

पदादि या पदान्त मे आने वाले स्वरो के मेल को स्वर–सन्धि कहते है। स्वर सन्धि के निम्न भेद है–

१. प्रश्लिष्ट सन्धि
२. क्षैप्र सन्धि
३. भुग्न सन्धि
४. अभिनिहित सन्धि
५. पदवृत्ति सन्धि
६. उद्ग्राह सन्धि
७. उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि
८. उद्ग्राहवत् सन्धि
६. प्राच्य–पञ्चाल पदवृत्ति सन्धि
१० प्रकृतिभाव सन्धि

प्रश्लिष्ट सन्धि –

पद के अन्त तथा पद के आदि में विद्यमान् स्वर मिलकर जब एक हो जाते हैं तो उसे 'प्रश्लिष्ट–सन्धि' कहते है। वैदिक व्याकरण मे दीर्घ–सन्धि, गुण–सन्धि और वृद्धि–सन्धि को 'प्रश्लिष्ट–सन्धि' कहते है। यह सन्धि पॉच प्रकार की होती है–

१. दो समान अक्षरो के स्थान पर एक समानाक्षर दीर्घ स्वर हो जाता है। यथा–

अश्व + अजनि = अश्वाजनि

दिवि + इव = दिवीव

मधु + उदकम् = मधूदकम्

२. अ, आ के बाद इ, ई आने पर दोनो के स्थान पर 'ए' स्वर हो जाता है। यथा–

आ + इन्द्रम् = एन्द्रम्

पिता + इव = पितेव।

३. अ, आ के बाद उ, ऊ, आने पर दोनो के स्थान पर 'ओ' स्वर हो जाता है। यथा–

सुभगा + उषा = सुभगोषा

४. अ, आ के बाद सन्ध्यक्षर ए, ऐ स्वर आने पर दोनो के स्थान पर 'ए' स्वर हो जाता है। यथा–

आ + एनम् = ऐनम्

परा + एत् + अप = परैदप

५. अ, आ के बाद सन्ध्यक्षर ओ, औ स्वर आने पर दोनो के स्थान पर 'औ' स्वर हो जाता है। यथा–

यत्र + औषधि = यत्रौषधि

प्र + ओक्षन् = प्रौक्षन्

क्षैप्रः सन्धि –

लौकिक सस्कृत की यण्–सन्धि को 'क्षैप्र–सन्धि' कहते है। पदान्त इ, ई, उ, ऊ के बाद असमान स्वर आने पर इ, ई के स्थान पर 'य्' और उ ऊ के स्थान पर 'व्' हो जाता है। यथा–

अभि + आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्

अनु + अत्र = अन्वत्र

भुग्न सन्धि –

ओ, औ के बाद उ, ऊ से भिन्न कोई स्वर आवे तो ओ तथा औ के स्थान पर 'अ' हो जाता है और उसके बाद 'व्' का आगम हो जाता है। यथा–

वा॒यो + आयाहि = वायवायाहि

अभिनिहित सन्धि –

पाद के अन्त मे स्थित ए, ओ के बाद पादादि अ के होने पर दोनो के स्थान पर पूर्वरूप ए या ओ हो जाता है। यथा–

दाशुषे + अग्ने = दाशुषेऽग्ने

ते + अवदन् = तेऽवदन्।

मन्यो + अविधत् = मनयोऽविधत्।

पदवृत्ति सन्धि –

ए, ओ, ऐ, ओ के बाद कोई स्वर हो तो ए, ओ, के स्थान पर 'आ' हो जाता है। यथा–

उभौ + उ + नूनम् = उभा उ नूनम्।

अन् + एतवे + उ + अन्वेतवा उ।

उद्ग्राह सन्धि –

यदि अरिफित विसर्ग, ए, ओ के बाद ह्रस्व हो तो उसके स्थान पर 'अ' हो जाता है। यथा–

य + इन्द्र = य इन्द्र

अग्ने + इन्द्र = अग्न इन्द्र।

वायो + उक्थेभिः = वाय उक्थेभि

उग्राह पदवृत्ति सन्धि –

यदि अरिफित विसर्ग तथा ए, ओ के बाद कोई दीर्घ स्वर आ जावे तो उसके स्थान पर 'अ' हो जाता है। यथा–

क + ईषते = क ईषते।

प्रतिरन्ते + आयु = प्रतिरन्त आयुः।

उद्ग्राहवत् सन्धि –

यदि अ, आ के बाद ऋ आवे तो अ, आ के स्थान पर 'अ' हो जाता है। यथा–

मधुना + ऋतस्य = मधुन ऋतस्य

प्र + ऋभुभ्य = प्र ऋभुभ्य

प्राच्य-पञ्चालपदवृत्ति सन्धि –

यदि ए, ओ अथवा विसर्ग के स्थान पर आये हुए ओ के बाद ह्रस्व 'अ' आवे तो अभिनिहित सन्धि नहीं होती है। यथा–

ते + अग्रेया = ते अग्रेयाः।

यो + अस्मै = यो अस्मै।

प्रकृतिभाव-सन्धि –

सन्धि सम्भव होने पर भी उसका न होना प्रकृतिभाव कहलाता है। प्रकृतिभाव का शाब्दिक अर्थ है–जैसा है–वैसा ही रहना। इसके कुछ नियम तो वैदिक और लौकिक दोनो भाषाओ मे समान है। दीर्घ ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचनान्त को स्वर परे रहते प्रकृतिभाव होता है। यथा– 'इन्द्रावायू इमे सुता' (ऋ० १/२/४)यह नियम लौकिक सस्कृत मे तथा ऋषिदृष्ट सहिता–पाठ मे समान रूप से चलता है। ऐसे नियमो के अतिरिक्त वैदिक–भाषा मे प्रकृतिभाव करने वाले कुछ विशेष नियम भी है–

१. तीन वर्णो वाले ईकारान्त द्विवचनो को 'इव' परे रहते सहिता मे प्रकृतिभाव नही होता। यथा–'दम्पतीव क्रतुविदा' परन्तु 'वृहती इव' अपवाद है।

२. किसी को पुकारते समय पद के अन्त मे आने वाले ओकार को इतिकरण मे तथा ऋषि –निर्मित सहिता–पाठ मे प्रकृतिभाव होता है। यथा–'इन्द्रो इति'।

स्वतन्त्र पद के रूप मे आने वाले ओकार को भी इतिकरण मे तथा सहितापाठ मे प्रकृतिभाव होता है। यथा– 'प्रो इति, प्रो अयासोदिन्दु '।

३. अस्मे, युष्मे, त्वे, अमी इन पदो को प्रकृतिभाव होता है। यथा–'अस्मे वा वहत रयिम्', 'त्वे इद्धयते हवि ।'

४. 'उ' को इतिकरण मे प्रकृतिभाव होता है। यथा–'ऊँ इति'।

५. यण्–सन्धि से उत्पन्न होने वाले य अथवा विवृत्ति के बाद के 'उ' को प्रकृतिभाव होता है। यथा–'प्रत्यु अदर्शि'। यहॉ वस्तुत प्रति उ अदर्शि है। ति के इकार को यण्–सन्धि होकर प्रत्यु हुआ है। अत य् के बाद वाले 'उ' को प्रकृतिभाव हुआ है।

प्रकृतिभाव होने पर दो स्वरो के बीच अन्तर को **'विवृत्ति'** कहते हैं।

व्यञ्जन-सन्धि –

व्यञ्जन सन्धि के निम्नलिखित भेद है–

१. अन्वक्षर सन्धि

२. अवशङ्गम सन्धि

३. वशगम सन्धि

४. परिपन्न सन्धि

५. अन्त पात सन्धि

अन्वक्षर सन्धि –

अन्वक्षर सन्धि दो प्रकार की होती है– अनुलोम अन्वक्षर सन्धि और प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि। जहाँ पर वर्णमाला के क्रम के अनुसार स्वर के बाद व्यञ्जन आते है, उसे अनुलोम अन्वक्षर सन्धि कहते है। यथा–

एष + देव + अमर्त्य = एष देवो अमर्त्य।

स + सुत + पीतये = स सुत पीतये।

जब व्यञ्जन पहले और स्वर बाद मे आता है तो प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि होती है। इस सन्धि मे स्पर्श सज्ञक प्रथम वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का तृतीय अक्षर हो जाता है। यथा–

अर्वाक् + आ + वर्त्तय = अर्वागावर्त्तय

हव्यावाट् + अग्नि = हव्यवाडग्नि

यत् + अङ्ग + दाशुषे = यदङ्ग दाशुषे

अवशङ्गम सन्धि –

स्पर्श के बाद व्यञ्जन आवे तो अवशगम सन्धि होती है। इस सन्धि मे वर्ण परस्पर सामीप्य मे हो जाते है किन्तु उसमे किसी प्रकार विकार या परिवर्तन नही होता है। यथा–

इमम् मे वरूण = इयम्मे वरूण

आरैक + पन्थाम् + यातवे = आरैक्पन्था यातवे

वशंगम सन्धि –

इस सन्धि मे व्यञ्जन एक दूसरे से प्रभावित होकर विकार को प्राप्त होते है। भाव यह है कि इसमें विकार अवश्य होता है। यथा–

यत् + वाक् + वदन्ती + अवचेतनानि = यद्वाग्वदन्त्यवचेतनानि।

अर्वाक् + नरा + दैव्येन = अर्वाङ्नरा दैव्येन।

अवाद् + हव्यानि = अर्वाड्ढव्यानि।

यम् + कुमारम् + नवम् + रथम् = यङ्कुमार नव रथम्।

अहम् + च, त्वम् + च = अहञ्च त्वञ्च।

जिगीवान् + लक्षम् = जिगीवॉल्लक्षम्।

मघवत् + शग्धि = मघवञ्छग्धि।

तत् + चक्षु. + देवहितम् = तच्चक्षुर्देवहितम्।

भद्रैषाम् + लक्ष्मीः = भ्रदैषॉलक्ष्मीः।

उद्ग्राह सन्धि –

यदि विसर्ग के पूर्व ह्रस्व स्वर हो और बाद मे कोई स्वर हो तो विसर्ग को उपधासहित 'अ' हो जाता है। यथा–

य + इन्द्र = य इन्द्र

नियत सन्धि –

अरिफित विसर्ग के बाद सघोष वर्ण आने पर उपधासहित विसर्ग को 'आ' हो जाता है। यथा–

पुनाना + यान्ति = पुनाना यान्ति

प्रश्रित सन्धि –

यदि ह्रस्व स्वर के बाद अरिफित विसर्ग आवे और उसके पश्चात् सघोष व्यञ्जन हो तो विसर्ग पूर्व स्वर के साथ 'ओ' हो जाता है। यथा–

देव + देवेभि + आगमन् = देवो देवेभिरागमन्।

रेफ सन्धि –

यदि ह्रस्व या दीर्घ स्वर के बाद रिफित विसर्ग हो और उसके पश्चात् पदादि स्वर या सघोष व्यञ्जन हो तो विसर्ग के स्थान पर 'र' (रेफ) हो जाता है। यथा–

प्रात. + अग्निम् = प्रातरग्निम् हवामहे।

प्रात + मित्रावरूणा = प्रातर्मित्रावरूणा।

अकाम सन्धि –

यदि रिफित विसर्ग के बाद 'र' आवे तो विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा–

अश्वा + रथ = अश्वा रथः।

युवो + रजासि = युवो रजांसि।

व्यापन्न सन्धि –

यदि विसर्ग के बाद अघोष स्पर्श व्यञ्जन आवे और उसके बाद कोई उष्म वर्ण हो तो विसर्ग को उसी स्थान का ऊष्म वर्ण हो जाता है। यथा–

ऋषि + क + विप्र । = ऋषि को विप्र।

अग्निः + च = अग्निश्च

देवा. + तम् = देवास्तम्

विक्रान्त सन्धि –

यदि उपर्युक्त नियम के अनुसार सन्धि नही होती विसर्ग ज्यो का त्यो रहता है तो विक्रान्त सन्धि कहलाती है। यथा–

य ककुभो निधारय ।
व शिवतमो रस ।
देवी षलुर्वी ।

अन्वक्षर वक्त्र सन्धि –

यदि विसर्ग के बाद कोई ऊष्म वर्ण हो उसके बाद कोई अघोष व्यञ्जन हो तो विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा–

समुद्र + स्थ + कलश· = समुद्रस्थ कलश ।
क + स्वित् + वृक्ष = कस्वित् वृक्ष ।

उपचरित सन्धि –

१. यदि अ, आ को छोडकर किसी भी स्वर, के बाद विसर्ग आवे और उसके बाद 'क' या 'प' हो तो विसर्ग के स्थान पर 'ष' हो जाता है। यथा–

नि + कृति = निष्कृति·

२. यदि अ, आ के बाद विसर्ग हो और उसके बाद 'क' या 'प' आवे तो विसर्ग के स्थान पर 'स' हो जाता है। यथा–

शाश्वत + क. = शश्वतस्क ।
ब्राह्मण· + पति = ब्राह्मणस्पति ।
नम· + कृतम् = नमस्कृतम्।
तमस + पारमस्य = तमसस्पारमस्य।

नकार-विकार –

१. यदि आ के बाद मे पदान्त न हो और उसके बाद में स्वर हो तो 'न' का लोप हो जाता है। यथा–

सर्गान् + इव + सृजतम् = सर्गा इव सृजतम्।
महान् + इन्द्र· = महाँइन्द्र ।

२. पाद के अन्त मे आने वाले निम्नलिखित पदो के नकार का लोप हो जाता है। यथा–

जघन्वान् अत्यान् इव = जघनवाँ अत्याँ इव।

देवहुतमान् अश्वान् = देवहूतमॉं अश्वान्।

इन्द्रसोमान् इव = इन्द्रसोमॉं इव।

देव देवान् अच्छ = देव देवॉं अच्छ।

दधन्वान् य = दधन्वॉं य

पीव अन्नान् रपिवृध = पीवो अन्नॉं रपिवृध।

पणीन् वचोभि. = पणी वचोभि।

३. ई, ऊ के बाद 'न' आवे और उसके बाद स्वर हो तो 'न' को 'र्' हो जाता है। यथा–

रश्मीन् इव = रश्मीरिव यच्छतम्।

दस्यून् एक = दस्यूँरेक।

वैदिक-समास

समास का पूर्व पद अपने प्रातिपदिक रूप मे रहता है। जबकि समास का अन्तिम पद विभक्तियुक्त होता है। समास उन्ही पदो के मध्य हो सकता है, जिनमे अर्थ की दृष्टि के सम्बन्ध है। सामान्य रूप से समास मे एक ही प्रधान स्वर होता है, जो उदात्त होता है। वैदिक भाषा मे प्रमुख समास निम्न है –

वैदिक भाषा मे दो या चार पदो से अधिक समासान्त पद नही मिलते । इनमे भी तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व समास ही विशेष रूप से पाये जाते है।

द्वन्द्व समास –

इस समास के सभी पद समान रूप से प्रधान होते है तथा अर्थ की दृष्टि से आपस में सम्बन्धित होते है। इसके दो भेद है– इतरेतर योग द्वन्द्व और समाहार द्वन्द्व। इतरेतर द्वन्द्व के दोनों पदो का अपना–अपना उदात्त स्वर होता है और दोनो ही पदो के साथ द्विवचन की विभक्ति प्रयुक्त होती है। उदाहरण–मित्रावरुणा, मातरापितरा। समाहार द्वन्द्व के द्विवचनान्त रूप 'आ' अक्षर से अन्त होने वाले होते है। उदाहरण–इष्टापूर्त्तम् और इध्माबर्हि। द्वन्द्व समास के दोनो ही भेदों के अन्तर्गत आने वाले हलन्त शब्दों को औकारान्त कर लिया जाता है। उदाहरण–स्त्रीपुसौ। द्वन्द्व समास मे कम अक्षरो वाला पद पहले प्रयुक्त होता है। कभी–कभी अधिक महत्त्वपूर्ण पद पहले होता है, और बाद मे उससे कम महत्त्वपूर्ण शब्द। अजादि और अकारान्त शब्द भी द्वन्द्व समास के पूर्व पद मे प्रयुक्त होता है। उदाहरण–सूर्याचन्द्रमसा।

द्वन्द्व समास मे दो प्रकार की प्रक्रिया है–

१. दोनो पद विशेषण होते हैं यथा– नीललोहित, ताम्रधूम्र आदि ।

२. देवताद्वन्द्व समास मे प्रत्येक पद द्विवचनान्त होते है। यथा– मित्रावरूणा, सूर्याचन्द्रमसा, परन्तु परवर्ती ऋचाओ मे ये रूप लुप्त होने लगे है। ऋग्वेद मे अकारान्त पुलिड्ग के द्विवचन का प्रत्यय 'आ' है, अत 'मित्रावरूणा' पद मे दोनो ही पद पृथक्–पृथक् द्विवचन है।

तत्पुरूष समास –

इस समास के द्वितीया समास आदि, एकदेशि समास, उत्तर पद समास, कर्मधारय समास, द्विगु समास, नञ् समास और कुगति आदि–समास ये सात भेद होते है। जिस समास के पूर्वपद मे द्वितीया विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक की किसी भी विभक्ति का अर्थ ज्ञात होता है, जो उस विभक्ति विशेष के नाम से जाना जाता है। उदाहरण–भूमिगता (द्वि० तत्पुरूष), मधुमिश्र (तृ० तत्पुरूष), भूतबलिम् (च० तत्पुरूष), वृकभीति (प० तत्पुरूष), सोमपीति (ष० तत्पुरूष), उदप्लुत (स० तत्पुरूष)।

एकदेशि समास के उत्तर पद से एक सम्पूर्ण द्रव्य का बोध होता है, जिसके अनेक अश हो सकते है। पूर्व पद का शब्द उसके किसी हिस्से का बोधक होता है। जैसे–अर्धर्च, पूर्वार्द्ध।

उपपद समास का उत्तर पद केवल कृदन्त शब्द होता है, जो उपपद के बाद मे ही प्रयुक्त होता है और स्वतन्त्र रूप से इसका प्रयोग नहीं होता। उदाहरण– अग्निचित्, पतिकामा, ब्रह्मचारिन् आदि।

कर्मधारय समास विशेषण और विशेष्य का समास है। उदाहरण–पूर्णमास।

द्विगु समास कर्मधारय समास का ही अवान्तर प्रकार है। जिसके पूर्व पद मे सख्यावाचक शब्द हो, वहाँ द्विगु समास है। समाहार द्विगु नपुसक लिड्ग के एकवचन मे प्रयुक्त होता है। उदाहरण–दशाड्गुलम्, त्रियोजनम्।

नञ् समास के पूर्व पद में निषेधार्थक अव्यय 'न' जोडा जाता है। उदाहरण–असाधु, अनृजु।

कुगतिप्रादि समास मे कु, सु आदि निपातो का समास होता है। जैसे–दुर्मति, सुमति आदि।

बहुव्रीहि समास –

जिस समास मे अन्य पद के अर्थ की प्रधानता रहे, वह बहुव्रीहि समास है। यथा–इन्द्रशत्रु।

जहाँ दोनो पदो का अधिकरण एक ही हो, वह समानाधिकरणपद बहुव्रीहि है। यथा– शुक्रवर्ण।

जहाँ दोनो पदो का अधिकरण भिन्न–भिन्न हो, वह व्यधिकरणपद बहुव्रीहि है। जैसे–धियावसु वज्रबाहु आदि।

बहुव्रीहि समास मे 'गो' का 'गु' 'रै' का 'रि' तथा समासान्त में इकार का अकार परिवर्तन कर दिया जाता है।

बहुव्रीहि–समास के अनेक प्रकार है–

१. पूर्वपद विशेषण– उग्रबाहु, हतमातृ, रूशद्वत्स (चमकने वाले बछडे वाली), सुपर्ण आदि इसके उदाहरण है।

२. पूर्व–पद षष्ठयन्त या सप्तम्यन्त पद होता है यह अलुक् समास है जिसमे विभक्ति का लोप नही होता। यथा– 'रायस्काम' (धन की कामना वाला), देवियोनि (स्वर्ग मे उत्पत्ति वाला), भासाकेतु (प्रकाश से पहचानने योग्य) त्वाकाम (तुमको चाहने वाला) इस प्रभेद के दृष्टान्त योग्य है। यहॉ पूर्वपद की विभक्ति प्रतिष्ठित रखी गई है।

३. अन्य पदार्थ प्रधान होने से विशिष्ट सज्ञाओ के अभाव मे इनका प्रयोग होता है। यथा–वृहदुक्य (बडी स्तुति वाला ऋषि) वृहद्दिव (बडे स्वर्ग मे रहने वाला) ये ऋषियो के वाचक पद है। इसी प्रकार अन्य समासों के भी प्रकार वेदो मे उपलब्ध होते है।

पूर्वपद प्रधान समास –

इस समास मे पूर्वपद का अर्थ प्रधान होता है। इसके दो भेद है–अव्यय प्रधान समास और शत्रन्त प्रधान समास।

अव्यय प्रधान समास को ही अव्ययीभाव समास भी कहते है। जिसमे पूर्व पद के अर्थ की प्रधानता रहे, वह अव्ययीभाव समास है। उदाहरण–अधियज्ञम्, यथास्थानम्।

शत्रन्त प्रधान समास मे पूर्वपद सकर्मक धातु के शतृप्रत्ययान्त रूप से युक्त होता है और उत्तर पद मे कर्मवाचक शब्द होता है। जैसे–मन्दयत्सखम् और धारयत्कवि।

द्विरूक्त समास –

इस समास मे एक ही पद दो बार बोला जाता है। 'बार–बार' के अर्थ को प्रकट करने के लिए द्विरूक्त का प्रयोग किया जाता है। जैसे–दिवे–दिवे, द्यवि–द्यवि आदि।

अव्यवस्थित समास –

जो समास किसी निश्चित लक्षण से युक्त नही होते, वे इस कोटि मे आते है। यथा–याद्राध्यम्, कित्व, माम्पश्य आदि।

सामान्यत द्वन्द्व और तत्पुरूष समास मे समस्त शब्द का लिङ्ग परवर्ती शब्द के लिङ्ग के समान होता है, परन्तु वैदिक–भाषा मे हेमन्त और शिशिर शब्दो का द्वन्द्व समास करने पर समस्त शब्द का लिङ्ग पूर्वपद के समान होता है। यथा– हेमन्तश्च शिशिरञ्च–हेमन्त–शिशिरौ। यहॉ पूर्वपद हेमन्त पुल्लिङ्ग है। समस्त शब्द का लिङ्ग उसी के समान हुआ है। जबकि लौकिक सस्कृत मे हेमन्तशिशिरे होता है। अहन् और रात्रि शब्दो के द्वन्द्व समास मे भी समस्त शब्द का लिङ्ग पूर्वशब्द के अनुसार होता है। यथा अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे। 'हेमन्तशिशिरावह्वोरात्रे च छन्दसि', (अष्टा० २/४/२८)।

पितृ शब्द और मातृ शब्द का द्वन्द्व समास करने पर वैदिकभाषा में पितरा–मातरा रूप बनता है। वैदिक साहित्य मे 'मातरापितरा' का भी प्रयोग मिलता है। 'पितरामातरा च छन्दसि', (अष्टा ० ६/३/३३)।

वैदिक-भाषा में कारकों का प्रयोग –

वैदिक भाषा मे √हु धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनो विभिक्तियो मे रखा जा सकता है। यथा– 'यवाग्वा अग्निहोत्र जुहोति'। यहॉ यवागू भी 'जुहोति' का कर्म है। तद्वाचक शब्द तृतीया विभक्ति मे रखा गया है। 'तृतीया च होश्छन्दसि', (अष्टा० २/३/३)

वैदिक–भाषा मे कभी–कभी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी और षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग होता है। यथा– 'गोधाकालकादार्वाघाटास्ते वनस्पतीनाम्।' यहॉ वनस्पतीभ्य के स्थान पर 'वनस्पतीनाम्' आया है। 'अहल्यायै जार' यहॉ 'अहल्याया' के स्थान पर 'अहल्यायै' आया है। 'चतुर्थ्यर्थे बहुल छन्दसि', (अष्टा० २/३/६२) तथा 'षष्ट्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या'।

√यज् धातु का करण षष्ठी और तृतीया दोनो विभक्तियो मे रखा जा सकता है। यथा– 'घृतस्य घृतेन वा यजते।' 'यजेश्च करणे' (अष्टा० २/३/६३)।

वैदिक कृदन्त –

क्त्वा प्रत्यय–वैदिक सस्कृत मे क्त्वार्थ में त्वा के अतिरिक्त त्वाय , त्वी, मसि, ध्वा, ए आदि प्रत्ययो का प्रयोग होता था परन्तु अब मस, ध्वम्, त का प्रयोग होता है।

क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग लौकिक सस्कृत के विपरीत सोपसर्ग धातुओ से भी होता है। यथा– परिधापयित्वा

क्त्वा के स्थान पर 'त्वी' तथा 'त्वाय' प्रत्ययो का भी प्रयोग होता है– भूत्वी, कृत्वी, दत्त्वाय, गत्वाय

लौकिक सस्कृत मे क्त्वा प्रत्यय के विविध रूप समाप्त हो गये । वैदिक सस्कृत में क्त्वा प्रत्यय त्वी, त्वाय, त्वीन् के रूप मे मिलता है। यथा– हित्वी, युद्धवी।

क्रिया के साथ उपसर्ग होने पर 'या' तथा 'त्या' प्रत्यय होते है। अभिअच्या, एत्या।

तव्यत् प्रत्यय –

तव्य के स्थान पर तवै, ए, एन्य, त्व प्रत्यय भी होते है– अन्वेतवैय, नावगाहे, शुभ्रषेण्य', कर्त्वन् ।

तुमुनर्थक प्रत्यय –

लौकिक सस्कृत मे 'लिए' के अर्थ में तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग होता है। यथा–गन्तुम्, कर्तुम्, द्रष्टुम, पठितुम्। परन्तु वैदिक सस्कृत मे 'लिए' के अर्थ मे तुमुन् के अतिरिक्त अनेक प्रत्यय लगते है।

'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ मे धातु से निम्नलिखित १५ प्रत्यय वेद मे होते है–

१.	से	–	√वह् + से	–	वक्षे
२.	सेन्	–	√इ + सेन्	–	एषे (चरसे, पुष्पसे आदि)

३.	असे	–	√जीव् + असे	–	जीवसे
४.	असेन्	–	√जीव् + असेन्	–	जीवसे (वक्षसे, अवसे आदि)
५.	कसे	–	√इ + कसे	–	इसे, राक्षसे
६	कसेन्	–	√श्रि + कसेन्	–	श्रियसे
७.	अध्यै	–	√पृ + अध्यै	–	पृणध्यै
८.	अध्यैन्	–	√चर् + अध्यैन्	–	चरध्यै
६	कध्यै	–	आ + √हु + कध्यै	–	आहुध्यै
१०	कध्यैन्	–	√गम् + कध्यैन्	–	गमध्यै
११	शध्यै	–	√मद् + णिच् + शध्यै	–	मादयध्यै
१२	शध्यैन्	–	√पा + शध्यैन्	–	पिबध्यै
१३.	तवै	–	√दा + तवै	–	दातवै
१४	तवेड्	–	√सू + तवेड्	–	सूतवे
१५	तवेन्	–	√कृ + तवेन्	–	कर्त्तवे

ये सभी प्रत्यय वस्तुत धातु से बने है। धातुज सज्ञा पदों के चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त, पञ्चम्यन्त, पष्ठयन्त तथा सप्तम्यन्त रूप ही है। इन प्रकारो मे चतुर्थ्यन्त द्वितीयान्त की अपेक्षा ऋग्वेद मे १२ गुना तथा अथर्ववेद मे तिगुना अधिक है। लौकिक सस्कृत का तुमुन् प्रत्यय तो ऋग्वेद मे केवल पॉच बार ही आया है।

चतुर्थ्यन्त पद –

इसका सामान्य प्रत्यय 'ए' है, जो धातु के अन्तिम आ के साथ युक्त होकर 'ऐ' बन जाता है।

यथा– भुवे– √भू + ए – भुवे (होने के लिए)

दृशे– √दृश् + ए – दृशे (देखने के लिए)

यह 'ए' प्रत्यय कतिपय धातुज सज्ञा पदो से भी सयुक्त होता है–

१. 'अस्' प्रत्ययान्त धातुज संज्ञा पदों से–
   यथा– अवसे, रक्षसे, चरसे, पुष्पसे

२. 'इ' प्रत्ययान्त धातुज सज्ञा पदों से–
   यथा– दृश्ये, मह्ये, सुधये, गृहये ।

३. 'ति' प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो से–
यथा– पीतये, सातये

४. 'तु' प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो से–
यथा–गन्तवे, पातवे, वक्तवे, एतवे

५. 'तवा' प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो से–
यथा– एतवै, गन्तवै, ओतवै, वक्तवै

६. 'ध्या' प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो से–
यथा– गमध्यै, पिबध्यै हुवध्यै, चरध्यै

७. मन्–वन् प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञाओं के चतुर्थ्यन्त का उदाहरण अत्यल्प है।
यथा– त्रामणे, दामने, दावने, धूर्वणे

८. 'त्या'– प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो के चतुर्थ्यन्त का उदाहरण भी अत्यल्प है।
यथा– √इ+त्यै – इत्यै, मत्यै आदि

द्वितीयान्त पद –

इसमे दो प्रकार के प्रयोग मिलते है–

१ 'अम्' प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो से–
यथा– सपृच्छम्, आरभम्, शुभम्

२. 'तु' प्रत्ययान्त धातुज सञ्ज्ञा पदो से–
यथा– दातुम्, द्रष्टुम्

पञ्चम्यन्त और षष्ठयन्त पद –

इस श्रेणी के प्रयोगो के अन्त मे 'अस्' या 'तोस' (तो) जोडा जाता है, जो धातुज सञ्ज्ञा पदो के पञ्चम्यन्त या पष्ठयन्त रूप प्रतीत होते है। यथा– सपृच, आतृद

तो प्रत्ययान्त– एतो, गन्तो. जनितो, हन्तो ।

सप्तम्यन्त पद –

धातुज सञ्ज्ञा पदो से जैसे–बुधि, दृशि, सदृशि

सन् प्रत्ययान्त सञ्ज्ञा से–

यथा–नेषणि, वर्षणि , तरीषणि , गृणीषणि ।

वैदिक लेट्लकार –

वैदिक भाषा मे लौकिक सस्कृत के दश लकारो के अतिरिक्त लेट् लकार का भी प्रयोग होता है। जबकि लौकिक सस्कृत मे लेट् लकार का प्रयोग नही होता। वैदिक भाषा मे आज्ञा, सम्भावना, विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, हेतुहेतुमद्भाव आदि लिङ्ग के सभी अर्थो मे वैदिक सस्कृत मे लिड् तथ लेट् लकार का प्रयोग होता है– 'लिडर्थे लेट्', (अष्टा० ३४/७)। लेट् के प्रयोगो की विधिलिड् के प्रयोगो से तुलना करने पर लेट् का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट किया जा सकता है।

लेट् का प्रयोग दो अर्थो मे होता है–

१. उपसवाद अर्थात् प्रतिज्ञा या सड़्कल्प। यथा– यदि तुम यह काम करोगे, तो मै तुम्हे अभीष्ट वस्तु दूँगा।

२. आशड्का अर्थात् इच्छा या सम्भावना (उपसवादाशड्कयोश्च अष्टा० ३/४/६)

लेट् का मूलभूत अर्थ 'सड्कल्प' है। जबकि विधिलिड् का 'इच्छा' या 'सम्भावना', इसीलिए लेट् को विकल्प से इच्छार्थक या सम्भावनार्थक कहा जाता है। विधिलिड् का प्रयोग 'सम्भावना' के ही अर्थ मे प्रधानतया होता है, परन्तु लेट् सड्केत करता है 'इच्छा' जिसके कारण किसी कार्य का सम्पादन सुगम हो जाता है। यह भेद इस बात से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद मे स्वतन्त्र वाक्यो मे उत्तम पुरूष की क्रियाओ के एक वर्ग मे अपवाद रूपेण अथवा लगभग अपवाद रूपेण लेट् का प्रयोग किया गया है। जबकि दूसरे वर्ग मे विधिलिड् का। कारण यह है कि प्रथम वर्ग में क्रिया कर्ता की इच्छा पर निर्भर करती है। जबकि द्वितीय वर्ग मे यह कर्ता के वश मे नही होती और केवल इसके होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार ऋग्वेद के एतत् प्रयोगो के तुलनात्मक अध्ययन से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। वक्ता के सामर्थ्य के भीतर ही किसी कार्य का सम्पादन है– इस अर्थ की सूचना लेट् के उत्तम पुरूष के द्वारा दी गई है। कार्य वक्ता के सामर्थ्य के बाहर है और उसका सम्पादन सम्भावना–कोटि में ही है, इस अर्थ की सूचना विधिलिड् के द्वारा दी जाती है। यथा– 'प्रणु वोचा सुतेषु वाम्' वक्ता की इच्छा का स्पष्ट द्योतक है। 'हनो वृत्र जया अप' यह प्रेरणा का अर्थ रखता है।

लेट् लकार मे निम्नलिखित धातुओ का प्रयोग मिलता है–

१. √हन्– प्रहार करना

२. √सु– अभिषव करना

३. √कृ– करना

४. √ब्रू– बोलना

विधिलिड् मे निम्नलिखित धातुओ का प्रयोग होता है–

१. √जि– जीतना

२. √वृ– अभिभव करना

३. √अश्– प्राप्त करना

४. √शक्– समर्थ होना

५. √नश्– नाश करना

६. √मद्– आनन्दित होना

कतिपय यज्ञ विषयक धातुओ के योग मे–

१. √इध्– प्रज्वलित करना

२ √दाश्– पूजा करना

३. √वच्– बोलना

४. √वद्– बोलना

लेट् के भिन्न–भिन्न पुरूषो द्वारा अभिव्यक्त अर्थ अधोलिखित हैं–

१ लेट् के उत्तम पुरूष की क्रिया वक्ता के सड्कल्प को द्योतित करती है। यथा– "स्वस्तये वायुमुप् ब्रवामहे" (योग क्षेम के लिए हम वायु को बुलाएँगे।) अनेक बार लेट् के उत्तम पुरूष की क्रिया के योग मे 'नु' और 'हन्त' का प्रयोग मिलता है। यथा– "प्रनु वोचा सुतेषु वाम्" अर्थात् मै सवनो (प्रात मध्याह्न और सायम्) के समय आप दोनो की स्तुति करूँगा।

२. लेट् लकार मध्यम पुरूष का प्रयोग प्रेरणा के लिए किया जाता है। यथा–"हनो वृत्र जया अप·" अर्थात् वृत्र को मारो और जल को जीत लो।

बहुत बार यह लेट् लकार लोट् मध्यम पुरूष के बाद आता है। यथा– "अग्ने श्रृणुहि देवेभ्यो ब्रवसि" अर्थात् हे अग्ने! सुनो तुम देवताओ से कहना।

कभी–कभी यह लेट् लकार, लोट् लकार प्रथम पुरूष के बाद आता है। यथा– "आ वां वहन्तु अश्वा पिवापो अस्मे मधूनि" अर्थात् घोडे आप दोनो को इधर लाये, आप हमारे साथ मधुपान करे।

३. यदि सम्भावना प्रकट करनी हो तो लेट् का अर्थ लगभग लृट् लकार का अर्थ हो जाता है । प्रथम पुरूष नियमेन देवताओ को प्रेरित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि कर्ता किसी देवता का नाम हो। यथा– "इम न श्रृण्वद्ध्वम्" (वह इस प्रकार पुकार को सुनेगा) लेट् वाला वाक्य

कभी–कभी पूर्ण वाक्य से सम्बद्ध होता है। यथा– "अग्निमीळे स उ अवत्" अर्थात् मै अग्नि की स्तुति करता हूँ वह उसे सुनेगा।

यहॉ लेट् अर्थ की दृष्टि से प्राय लृट् के निकट पहुँच जाता है, उस अवस्था मे 'नूनम् ' या 'नु' के योग मे इसका अन्य क्रिया के साथ काल–भेद पाया जाता है। यथा– "उदुष्य देव सविता–अस्थात् ।" कभी–कभी यह काल–भेद नही भी पाया जाता है। यथा– "आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामय कृण्वन्जामि"

वाक्य मे लेट् का प्रयोग दो प्रकार से होता है–

१ यह मुख्य वाक्यो मे प्रश्नवाचक शब्दो के योग मे पाया जाता है, जो कि या तो सर्वनाम होता है या 'कदा', 'कुविद्' के रूप मे होता है।

२. निषेधपरक वाक्यो मे यह 'न' के योग मे पाया जाता है। यथा– "न ता न सन्ति" अर्थात् वे नष्ट नही होते है।

३. पराश्रित वाक्यो मे लेट् या तो निषेध–वाचक या सम्बन्ध–वाचक सर्वनाम या क्रिया–विशेषण शब्दो के योग मे पाया जाता है।

वैदिक संस्कृत-भाषा के व्याकरण की विशेषताएँ –

प्रत्येक भाषा का अपना एक पृथक् व्याकरण होता है जो कि भाषा विशेष का आधार–स्तम्भ होता है। पृथक् व्याकरण के कारण ही भाषा विशेष का अपना एक पृथक् अस्तित्व एव पहचान होती है।

ठीक उसी प्रकार वैदिक सस्कृत भाषा का भी अपना एक पृथक् व्याकरण एव पृथक् अस्तित्व होता है जिसके द्वारा हम वैदिक भाषा को पहचानने मे सक्षम एवं समर्थ होते है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्याकरण ही किसी भी भाषा विशेष का आधारभूत तथ्य एव मेरूदण्ड है जो भाषा की सरचना को निर्धारित करता है तथा किसी भाषा को एक पृथक् अस्त्वि एव पहचान बनाने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

लौकिक सस्कृत भाषा के व्याकरण एव वैदिक सस्कृत भाषा के व्याकरण मे समानता होते हुए भी भिन्नता प्राप्त होती है, इसीलिए वैदिक व्याकरण एव संस्कृत व्याकरण की पृथक्–पृथक् विशेषताएँ है। वैदिक सस्कृत व्याकरण की विशेषताओ को हम उसके शब्द–रूपो एवं धातु–रूपों की विशेषताओ के आधार पर ज्ञात कर सकते है।

वैदिक शब्द रूपों की विशेषताएँ –

शब्द–रूपो की दृष्टि से वैदिक संस्कृत व्याकरण अत्यन्त समृद्ध है। वैदिक सस्कृत व्याकरण के शब्द–रूपों मे जो विशेषताएँ प्राप्त होती है, वो निम्नलिखित हैं–

१. यकारान्त शब्दो के पुलिड्ग मे प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन के द्विवचन मे 'औ' तथा 'आ' दोनो का प्रयोग होता है। यथा–

देवौ, देवा, अश्विनौ, अश्विना, सुरथौ, सुरथा।

२. अकारान्त पुलिड्ग शब्दो के प्रथमा तथा सम्बोधन के बहुवचन मे आस् (आ) और आसम् (आस) दोनो का प्रयोग होता है। यथा–

देवा, देवास, जना, जनास ।

३. अकारान्त नपुँसक मे प्रथमा, द्वितीया एव सप्तमी बहुवचन मे 'आनि' और 'आ' दोनों प्रत्यय लगते है। यथा–

विश्वानि, विश्वा। अद्भुतानि, अद्भुता।

४. अकारान्त पुलिड्ग तथा नपुँसकलिड्ग मे तृतीया बहुवचन मे 'ऐ' और 'एभि' दोनो प्रत्यय लगते है। यथा–

देवै, देवेभि

५. दीर्घ आकारान्त स्त्रीलिड्ग शब्दो के प्रथमा, द्वितीया एव सम्बोधन बहुवचन में 'आः' तथा 'आस' दोनो का प्रयोग होता है। यथा–

जाया, जायास, दक्षिणा, दक्षिणास

६. इकारान्त एव उकारान्त पुलिड्ग शब्दो के तृतीया एकवचन मे 'आ' और 'ना' दोनो प्रत्यय लगते है। यथा–

पत्या, पतिना, क्रत्वा, क्रतुना।

७. इकारान्त नपुँसकलिड्ग मे प्रथमा, द्वितीया एव सम्बोधन द्विवचन मे 'ई' तथा बहुवचन मे 'ईनि' दोनो प्रत्यय लगते है। यथा–

द्विवचन – शुची

बहुवचन – शुची, शुचीनि

८. इकारान्त स्त्रीलिड्ग मे तृतीया एक वचन मे 'आ' और 'ई' दोनो लगते है। यथा–

सुस्तुती, सुस्तुत्या, अती, अत्या, मती, मत्या

९. इकारान्त शब्दो के तीनो लिड्गो में सप्तमी एक वचन मे 'औ' तथा 'आ' का प्रयोग होता है। यथा–

अग्नौ, अग्ना।

१०. ऋकारान्त पुलिड्ग तथा स्त्रीलिड्ग के प्रथमा, द्वितीया, सम्बोधन के द्विवचन मे 'ओ' तथा 'आ' का प्रयोग होता है। यथा–

नृ शब्द से – नरौ, नरा।

पितृ शब्द से – पितरौ, पितरा।

११. ओकारान्त पुलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग मे प्रथमा, द्वितीया एव सम्बोधन के द्विवचन मे 'औ' तथा 'आ' दोनो का प्रयोग होता है। यथा–

गो शब्द गाव, गावौ

इसी प्रकार षष्ठी बहुवचन मे 'नाम' एव 'आम' दोनो लगता है। यथा–

गोनाम्, गवाम्।

१२ हलन्त शब्दो के प्रथमा, द्वितीया एव सम्बोधन के द्विवचन में 'औ' तथा 'आ' दोनो का प्रयोग होता है। यथा–

अश्विनौ, अश्विना।

१३. नकारान्त हलन्त शब्दो के सप्तमी एकवचन मे सप्तमी विभक्ति का लोप हो जाता है। यथा–

व्योमन्, चर्मन्, धन्वन्।

१४. सकारान्न शब्दो के सप्तमी एकवचन मे 'ई' लगता है। यथा–

सरस् शब्द से – सरसी।

१५. सर्वनाम शब्दो मे निम्नलिखित परिवर्तन पाये जाते है–

		अस्मद् शब्द	युष्मद् शब्द
प्रथमा द्विवचन मे	–	वाम्	युवम्
तृतीया एकवचन मे	–	–	त्वा, त्वया
चतुर्थी एकवचन मे	–	मह्य, अस्मभ्यम्	–
चतुर्थी बहुवचन मे	–	अस्मे, अस्मभ्यम्	–
पञ्चमी एकवचन मे	–	–	युवत्, त्वम्
षष्ठी द्विवचन मे	–	–	युवा, युवयो
सप्तमी एकवचन मे	–	मे, मयि	त्वे, त्वयि
सप्तमी बहुवचन मे	–	अस्मे, अस्मासु	युष्मे, युष्माषु

वैदिक संस्कृत के धातु-रूपों की विशेषताएँ –

वैदिक सस्कृत भाषा का व्याकरण धातु–रूपो एव लकारो की दृष्टि से सुसमृद्ध है। वैदिक व्याकरण के धातु–रूपो की विशेषताऍ निम्नलिखित है–

१. लट् लकार परस्मैपद मध्यमपुरूष एकवचन मे 'थ' और 'थन' का प्रयोग होता है। यथा–

√वद् धातु मे – वदथ, वदथन

२. लट् लकार परस्मैपद उत्तमपुरूष बहुवचन में 'म' और 'मसि' दोनो लगते है। यथा–

मिनीम., मिनीमसि।

३. लोट् लकार परस्मैपद मध्यमपुरूष एकवचन मे 'हि' तथा 'धि' दोनो का प्रयोग होता है। यथा–

√श्रु धातु से – शृणुहि, शृणुधि

४. लोट् लकार आत्मनेपद मध्यमपुरूष बहुवचन मे 'ध्वम्' और ध्वात्' दोनो प्रत्यय लगते है। यथा–

वारयध्वम्, वारयध्वात्।

५. लोट् लकार मध्यमपुरूष बहुवचन मे त, तात्, तन, थन आदि प्रत्यय लगते है। यथा–

√कृ धातु से – कृणुतु, कृणुतात् कृणुतन।
√धा धातु से – दधातन। √यत् धातु से – यतिष्ठन्।

६ वेदो मे लेट् लकार का प्रयोग होता है। लेट् लकार मे धातु के अनेक रूप बनते है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–

तारिषत्। भवाति। यजाति। पताति। करवाव। करणव। मन्त्रयैते।

७ वेदो मे 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में निम्नलिखित प्रत्यय लगते हैं–

ए – हरो, भुवे।
असे – जीवसे, चक्षसे।
तवे – कर्त्तवे, दातवे।
तवै – दातवै, पातवै।
ध्यै – पिबध्यै, गमध्यै।
तये – सातये, पीतये।
मने – दामने।

८ तुमुन् प्रत्यय के अर्थ मे पञ्चमी एवं षष्ठी अर्थबोधक 'अस' और 'तोस्' प्रत्यय लगते है। यथा–

विसृप, आतृप, उदेतो, गन्तो·।

६ क्त्वा प्रत्यय के अर्थ मे त्वा, त्वी, त्वाय प्रत्यय लगाकर रूप बनते है। यथा–

√गम् धातु से – गत्वा, गत्वी, गत्वाय।

१०. तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में– धातुज सज्ञा से एव सन् प्रत्यायान्त संज्ञा सप्तम्यन्त बोधक अर्थ में 'इ' प्रत्यय लगता है। यथा–

धातुज सज्ञा से – बुधि। दृशि। संदृशि।
सन् प्रत्ययान्त संज्ञा से – पर्षणि। नेषणि। तरीषणि

वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत में व्याकरणात्मक वैषम्य –

वैदिक सस्कृत एव लौकिक सस्कृत मे निम्नलिखित व्याकरणात्मक वैषम्य है –

१. वैदिक सस्कृत मे अकारान्त पुलिङ्ग शब्दो के प्रथमा तथा सम्बोधन के बहुवचन मे 'असम्' और 'अस्' प्रत्ययान्त दो रूप मिलते है। इन दोनों प्रत्ययो से बने शब्दों के अन्त मे 'आ·' और 'आसः' आते हैं। यथा– देवास देवा , ब्राह्मणास ब्राह्मणाः, मर्त्यास मर्त्या । जबकि

लौकिक सस्कृत मे 'अस्' से निर्मित देवा, मर्त्या, ब्राह्मणा ये रूप ही मिलते है।

२. वैदिक सस्कृत मे अकारान्त पुलिड्ग शब्दो का प्रथमा एव द्वितीया द्विवचन का रूप 'आ' और 'औ' प्रत्यय के योग से बनता है, यथा– 'अश्विना'। जबकि

लौकिक सस्कृत मे अकारान्त शब्दो के प्रथमा एव द्वितीया द्विवचन का रूप 'औ' प्रत्यय के सयोग से बनता है। यथा– अश्विनौ।

३. वैदिक सस्कृत के अकारान्त नपुसकलिड्ग के प्रथमा एव द्वितीया बहुवचन का रूप 'आ' तथा 'आनि' प्रत्ययो के योग से बनते है, यथा– विश्वा, विश्वानि, अद्भुता, अद्भुतानि। जबकि

लौकिक सस्कृत मे केवल 'आनि' प्रत्यय वाला रूप ही मिलता है, यथा– विश्वानि–अद्भुतानि।

४. वैदिक सस्कृत मे ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिड्ग शब्दो का तृतीया एकवचन 'ई' और 'अ' दोनो प्रत्यय के योग से बनता है, यथा– सुष्टुती, दुष्टुती। जबकि

लौकिक सस्कृत मे 'आ' प्रत्यय के योग से बनता है। यथा– दुष्टुत्या, सुष्टुत्या।

५. वैदिक सस्कृत मे अकारान्त पुलिड्ग शब्दो के तृतीया बहुवचन में 'भिस्' और 'ऐस' दो प्रत्ययो को जोडने पर देवेभि, देवै, पूर्वेभि, पूर्वै रूप मिलता है। जबकि

लौकिक सस्कृत मे देवै, पूर्वै ये अन्तिम रूप ही मिलते है।

६. वैदिक सस्कृत में सप्तमी एकवचन अनेक स्थानो पर लुप्त हो जाता है। यथा– परमेव्योमन्। जबकि

लौकिक सस्कृत मे यह लुप्त नही होता यहॉ पर 'व्योमनि' या 'व्योम्नि' लिखा जाता है।

७ वैदिक सस्कृत मे क्रिया पदों के अन्तर्गत वर्तमान काल के अर्थात् लट् लकार उत्तम पुरूष बहुवचन का रूप 'मसि' तथा 'म.' प्रत्यय के योग से बनते है। यथा– इमसि, इम, स्मसि, स्म, मिनीमसि, मिनीम। जबकि

लौकिक सस्कृत मे केवल म प्रत्यय वाला ही रूप मिलता है। यथा– पठाम, मिनीमः, गच्छामः।

८. वैदिक सस्कृत मे लोट्–लकार मध्यम पुरूष के बहुवचन मे त, तन्, थन्, तात् प्रत्यय लगते हैं। यथा श्रुणोत, सुनोतन्, यतिष्ठन्, कृणुतात् आदि। जबकि

लौकिक सस्कृत मे इस प्रकार के रूपो का सर्वथा अभाव है, केवल 'त' प्रत्ययान्त रूप ही मिलते हैं। यथा– पठत, भवत, कृणोत आदि।

९. वैदिक सस्कृत मे १० लकारो के अतिरिक्त लेट् लकार भी पाया जाता है, अर्थात् कुल ११ लकार होते है। जबकि

लौकिक संस्कृत मे लेट् लकार का प्रयोग नहीं होता है।

१०. वैदिक सस्कृत मे लड्, लुड्, लिट् लकार का प्रयोग किसी भी काल मे हो सकता है। जबकि लौकिक सस्कृत मे केवल भूतकाल मे ही हो सकता है।

व्युत्पत्ति-चिन्तन में सहायक व्याकरण –

भाषा सम्प्रेषण का सबसे अधिक सुलभ और फलप्रद साधन है। यह न केवल हमारे सम्पूर्ण भौतिक कार्यो के मूल मे अधिष्ठित है, वरन् सोच और चिन्तन से भी गहरी सम्पृक्त है। एक तरह से भाषा समस्त चिन्तन के पूर्व है, समस्त भेद–व्यवस्था के पूर्व है और नामरूप के पूर्व है।

भर्तृहरि के अनुसार कोई भी प्रत्यय भाषा (शब्द) के बिना सम्भव नही है। ऋग्वेद के अनुसार भाषा (वाक्) ही वस्तुओ की सगमनी है तथा हमारे बीच सवाद की जननी है। हमारी प्राचीन सूक्त–सहितियॉ ऋग्वेद के रूप मे सुरक्षित है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि भाषिक इतिहास मूलत ऋग्वेद से जुडा हुआ है। इसकी भाषा का एक नाम छन्दस् है, पर अधिक प्रचलित रूप मे इसे वैदिक–भाषा कहा जाता है। यह भाषा न केवल परस्पर मनुष्य को जोडती है, अपितु परोक्ष शक्तियो के साथ सम्वाद भी स्थापित करती है। परोक्ष शक्तियॉ परोक्षप्रिय होती है। इस परोक्षप्रिय भाषा का कालान्तर मे हमारे लिए और दुरूह हो जाना स्वाभविक ही है। इसीलिए साक्षात्कृतधर्मा ऋषियो ने इनके अन्तस् को समझने और समझाने के लिए वेदाड्गो की रचना की। इनमे निरूक्त और व्याकरण– दो ही अर्थोन्मीलन मे सबसे अधिक सहायक रहे। इनके द्वारा जिस विद्वान् ने अपनी प्रतिज्ञा का परिष्कार कर लिया है, उसके लिए वाक् पर्त दर पर्त अपने रहस्य को खोलती जाती है और अविद्वान् के लिए देखी जाती हुई भी अनदेखी के समान, सुनी जाती हुई भी अनसुनी के समान बनी रहती है। पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण का मुख्य प्रयोजन ही वेद–रक्षा है। निरूक्त और व्याकरण दोनो का प्रमुख क्षेत्र भाषा–चिन्तन के द्वारा शब्द को व्याकृत कर उसके रहस्य को उन्मीलित करना है, शल्यक्रिया के द्वारा उसके जोड–जोड को पहचानना है। व्युत्पत्ति चिन्तन भाषा–चिन्तन की प्रमुख विधा है और किसी भी अन्य विधा की अपेक्षा शब्द की रचना से उसका निकट का सम्बन्ध है। व्युत्पत्ति का सम्बन्ध शब्द की प्रकृति और प्रत्यय से है। प्रकृति–प्रत्यय के सम्मिलित अर्थो द्वारा किसी शब्द के मूलभाव तक पहॅुचा जा सकता है और उसके साथ अर्थस्फीतियो की सगति भी बिठायी जा सकती है। इसीलिए वाक्–केन्द्रित भारतीय परम्परा मे व्युत्पत्ति–चिन्तन को महत्त्व दिया गया है।

निर्वचन और व्युत्पत्ति –

निर्वचन का सम्बन्ध निरूक्त से तथा व्युत्पत्ति का सम्बन्ध व्याकरण से जोड़ा जाता है। ये दोनों ही अर्थ ज्ञान मे सहायक है। व्याकरण मे शब्दो की बारीकी से परीक्षा की जाती है और उसके लिए प्रकृति–प्रत्यय तथा उन दोनो मे होने वाले ध्वानिक–परिवर्तनो आदि का सहारा लिया जाता है। एक तरह से व्युत्पत्ति में जहॉ शब्द की ऊपरी सघटना की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, वही निर्वचन मे अर्थ को ध्यान मे रखकर उसके किसी मूल रूप की खोज करना लक्ष्य होता है। इसमे प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन नही मिलता, केवल प्रकृति का तथा नाम मात्र को कही प्रत्यय का उल्लेख किया गया है। परन्तु उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं

कि व्याकरण का अर्थ से कोई सम्बन्ध नही है। उसकी पद–विधि की आवश्यक शर्त समर्थ होना है। व्याकरण की योजना का प्रारम्भ आर्थी–धारणा से होता है, और उसका पर्यवसान शाब्दी प्रतीति मे। व्याकरण मे भी कही–कही निरूक्त की शैली देखी जा सकती है, विशेषत समास के विग्रह–वाक्यो, सन्नन्त–रूपो तथा तद्धित आदि के प्रयोगो मे। यास्क के अनुसार निरूक्त व्याकरण की पूर्णता है।

ऋग्वेदीय व्युत्पत्ति चिन्तन –

ऋग्वेद का भाषिक–विश्लेषण करने पर व्युत्पत्ति–चिन्तन के विकसित रूप का पता चलता है। वृहस्पति आङ्गिरस के अनुसार लोगो ने उन्ही ऋषियो द्वारा दर्शित शब्द–कोटियो में वाक् के मार्ग को ढूँढा। पतञ्जलि के अनुसार यह वाक् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात–चार रूपो मे परिमित है। और इसे मनीषी ब्राह्मण ही समझ सकते है। ऐसा प्रतीत होता है, ऋषियो ने कही सम्बन्ध को लक्षित करने वाले शब्द–प्रयोग से व्युत्पत्ति की सम्भावना व्यक्त की, तो कही एक ही आख्यात से बने कृदन्त रूपो के साथ–साथ प्रयोग से। निष्कर्षत ऋग्वेद मे व्युत्पत्ति चिन्तन के दो प्रकार के सङ्केत की कल्पना की जा सकती है–

१. प्रथम प्रकार मे पदो के ऐसे प्रयोग आते हैं, जिनसे व्युत्पत्ति का सहज अनुमान हो जाता है। यथा–तन्तु (√तन्) शक्र (√शक्), प्रवात (√वा)।

२. दूसरे प्रकार मे पदो के ऐसे प्रयोग आते हैं, जो ध्वनि आदि की दृष्टि से बहुत दूर निकल गए है। ये सहज अनुमानगम्य नही है। यथा– यज्ञ (√यज्), अर्क (√अर्च्)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में व्युत्पत्ति-चिन्तन –

ब्राह्मण मन्त्रो के विनियोग और व्याख्या के साथ–साथ आवश्यकतानुसार विशिष्ट शब्दो के निर्वचन भी प्रस्तुत करते है। इनका उद्देश्य इन शब्दो की सकल्पना मे निहित उद्देश्यो पर बल देना और उनकी साधार व्याख्या करना है। ये निर्वचन ही निरूक्त के आधार है। इनमे मुख्यत दो प्रकार अपनाए गए प्रतीत होते है–

१. प्रथम प्रकार मे निर्वचनीय शब्द के विषय में प्रश्न किया जाता है, तदनन्तर उसका निर्वचन किया हुआ मिलता है।

२. दूसरे प्रकार मे परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्दो का निवर्चन 'परोक्षकथन' (परोक्षेण) से किया गया है।

ऋगर्थ को समझने की तीन पद्धतियाँ –

संहिताओ, ब्राह्मणो और उपनिषदो मे ऋषियों द्वारा व्युत्पत्ति–चिन्तन के सूक्ष्म सङ्केतो के प्रदत्त होने पर भी हम पूरी तरह उनके रहस्य को नही जान पाते हैं। वेङ्कटमाधव के अनुसार जिन लोगों ने निरूक्त और व्याकरण मे परिश्रम किया है, वे भी वेद के समस्त अर्थ को नही, अपितु तीसरे भाग को ही जानते हैं। उनके

अनुसार शाकल्य, यास्क तथा पाणिनि ही ऋगर्थो के प्रति श्रदालु है, और अपनी शक्ति के अनुसार अनुधावन करते है। वेङ्कट के कथन को इस रूप मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऋग्र्थ को समझने की तीन पद्धतियॉ प्रयोग मे लायी जाती थी–

१. शाकल्य की पदपाठ–पद्धति

२. यास्क की निरूक्त–पद्धति

३. पाणिनि की विश्लेषणात्मक–पद्धति

शाकल्य की पदपाठ पद्धति –

शाकल्य ने पदपाठ की स्पष्टता के लिए बहुत ही सूक्ष्म पद्धति प्रस्तुत की। प्रत्येक पद के अवान्तरभूत पदो का अवग्रह के द्वारा पृथक्करण कर पदपाठ दिया है। इससे न केवल अर्थ का ही परिचय मिलता है, अपितु पदो के व्युत्पत्ति–निर्धारण मे भी सुविधा होती है। प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति तीन प्रकार के शब्दो मे प्रथम प्रकार के शब्दो की व्युत्पत्ति का सङ्केत अवग्रह के द्वारा किया गया है। दूसरे और तीसरे प्रकार के शब्दो मे अवग्रह नही दिया गया और इस प्रकार उनकी व्युत्पत्ति मे मतभेद की ओर इगित कर दिया गया है। जैसे 'मेहन' शब्द की व्याख्या मे दुर्ग का कथन है–"ऋग्वेदीयो के अनुसार यह एक ही पद है, पर छान्दोग्यो (सामवेदीयो) के अनुसार तीन पद (म + इह + न) है। यास्क ने शाकल्य और गार्ग्य के मतो का समीकरण किया है।

इन सभी पदकारो मे परस्पर विषमता है। एक आचार्य जिसे एक पद मानता है, दूसरा उसे दो–दो, तीन–तीन पद मानता है। स्कन्द के अनुसार इन पदपाठकारो के अभिप्राय विचित्र है। पर वेद के अनुशीलन के लिए ये ही प्रथम सोपान हैं। बिना पद को जाने अर्थ का ज्ञान असम्भव है।

यास्क की निरूक्त-पद्धति –

यास्क के अनुसार बिना निरूक्त के न तो मन्त्रो के अर्थ का प्रत्यय हो सकता है और न ही पद–विभाग। निरूक्त–शैली ब्राह्मणो का विकसित रूप है और यास्क इसके प्रतिनिधि है। इन्होने निघण्टु मे आए दुरूह पदों की व्याख्या प्रस्तुत की है, साथ ही आनुषगिकरूप मे आए मन्त्रों की व्याख्या कर दी है। यास्क की दृष्टि में हर एक शब्द का निर्वचन करना चाहिए । इसके लिए इन्होने कुछ सिद्धान्त स्थिर किए हैं, जिनकी विस्तृत चर्चा निरूक्त के दूसरे अध्याय के प्रारम्भ मे प्राप्त होती है।

जयादित्य वामन ने इन सम्पूर्ण सिद्धान्तो का समाहार निम्न कारिका मे कर दिया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरूक्तम् ।।

१. वर्णागम – द्वार (<√वृ), अस्थात् (<√अस्), भरूजा (<√भ्रस्ज्)

२. वर्णविपर्यय – सिकताः <√कस् + इ + ता, रज्जू < सर्ज् <√सृज्।

३. वर्णविकार – राजा < राजन्, दण्डी < दण्डिन्, मेघ <√मिह्

४. वर्णनाश – गत्वा <√गम् + त्वा, गतम् <√गम् + त

५. शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोडकर किसी अर्थान्तर के साथ धातु का योग– मयूर <√रू (रमण)

यास्क प्रत्यक्षवृत्ति शब्दो (वाचक, कारक) के लिए व्याकरण का उपयोग करना स्वीकार करते है। उनकी दृष्टि मे परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्द व्याकरण से परे है। यदि मात्र व्याकरण पर ही भरोसा किया गया तो इन्हे समझना कठिन हो जायेगा क्योकि व्याकरण की वृत्तियॉ विशयवती होती है। इसलिए जिस किसी रूप मे चाहे अक्षर या वर्ण मात्र की ही समानता क्यो न हो, निर्वचन करना चाहिए। इस प्रसङ्ग मे शौनक के निर्वचन सिद्धान्त को भी ध्यान मे रखना चाहिए। उनके अनुसार शब्दो के पॉच भेद है– धातुज, धातुज से उत्पन्न (तद्धित), समस्त, वाक्यो से ही उत्पन्न यथा– इति + ह + आस = इतिहास तथा अनवगत ।

पाणिनि की विश्लेषणात्मक पद्धति –

पाणिनि व्याकरण मे सस्कृत–भाषा के दोनो स्तर–वैदिक तथा लौकिक विश्लेषित मिलते है। सामान्यत पाणिनि पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने वैदिक– भाषा का विश्लेषण 'बहुलं छन्दसि' जैसे अव्यवस्थित नियमो से किया है और इस प्रकार का विश्लेषण अपर्याप्त है। ऐसा वे ही लोग कहते हैं जिन्होने पाणिनीय–व्याकरण की गहराई से परीक्षा नही की। ब्लूमफील्ड के अनुसार इसमे रूप–साधन, समास–रचना, वाक्य–रचनात्मक प्रयोग सभी के सम्बन्ध मे छोटी से छोटी बातो का वर्णन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी सूत्रबद्ध है और वह अधिकाश मे अभिहित है। कुछ अशो मे गम्य है और कही अन्तर्विरोधो की सगति बिठाने मे उसके टीकाकारो की सहायता अपेक्षित है। इस प्रकार उनका विश्लेषण वैदिक–भाषा के विषय मे भी शिथिल नही है। अष्टाध्यायी मे न केवल प्रत्यक्ष–वृत्ति शब्दो को ही ध्यान मे रखा गया है, अपितु परोक्ष–वृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्दो का भी विश्लेषण किया गया है–

१. परोक्षवृत्ति – उणादयो बहुलम् (पा० ३/३/१)

२. अतिपरोक्षवृत्ति – पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पा० ६/३/१०६)

३. प्रत्यक्षवृत्ति – शेष अष्टाध्यायी

'पाणिनि ने शब्दो की सिद्धि के लिए निपातन, बहुल तथा उपसंख्यान आदि युक्तियो का सहारा लिया है। इन्होने शब्दो के दो भेद–व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न स्वीकार किए है, और इसलिए वे अव्युत्पन्न शब्दो की व्युत्पत्ति देने के लिए बाध्य नही है, फिर भी उनकी व्याकरण–परम्परा के लिए वे शब्द अछूते नही रहे। इसीलिए जहॉ कही पाणिनि मे अन्तर्विरोध दीखता हो, उसकी सगति के लिए पूरी परम्परा का आकलन करना चाहिए और तब हम पाएँगे कि उनमे शैथिल्य और अन्तर्विरोध नही है, वरन् एक आन्तरिक अनवच्छिन्नता है, भाषा की गहराई से छान–बीन करने की अपूर्व सजगता है।

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का व्याकरण की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन –

मिमिक्ष्व –

सायणचार्य, मैक्समूलर और **ग्रासमैन** ने इस पद की व्युत्पत्ति √मिह् सेचने धातु से की है। जबकि **मैक्डानल** और **गैल्डनर** ने √miks 'to mix' धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पराञ्जपे ने √mis 'to mix' धातु से व्युत्पत्ति की है।

जगुरिः –

सायणाचार्य √गृ 'निगरणे' से किन् प्रत्यय करके इस पद की व्युत्पत्ति की है। जबकि

यास्क और **ग्रासमैन** ने √गा या √गम् "जाना" धातु से इस पद की व्युत्पत्ति है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने √jr या √jur "to waste away" अर्थात् √जर् या √जुर् धातु से जगुरि पद की व्युत्पत्ति की है।

पोषम् –

स्कन्दस्वामी तथा **वेङ्कटमाधव** इसे सज्ञा मानते है। जबकि

सायणाचार्य ने यहॉ पर पोषम् को रयिम् का विशेषण माना है। अन्यत्र सायण ने पोषम् पद को पुष्टिवाचक सज्ञा मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति "पोषम् भावे कर्मणि वा घञ्। गवा पुष्टिं यद्वा गवादिकम्" व्युत्पत्ति की है। इन्होने √पुष् धातु "पोषण करना" से घञ् प्रत्यय कर्तृवाचक करके पोषम् पद का निर्वचन किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ओल्डेनबर्ग, ग्रिफिथ और **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने पोषम् पद को समृद्धि अर्थात् पुष्टि वाचक सज्ञा माना है।

यशसम् –

स्कन्दस्वामी तथा **वेङ्कटमाधव** ने इस पद को कीर्तिवाचक संज्ञा माना है। जबकि

सायणाचार्य ने इसे विशेषण मान कर "यशोयुक्तम्" व्याख्यान किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसे विशेषण नही माना है। इन्होने इसका "glorious" अर्थ किया है।

मिमिक्ष्व	–	ऋग्वेद	१/४८/१६
जगुरिः	–	ऋ०	१०/१०८/१
पोषम्	–	ऋ०	१/१/३
यशसम्	–	ऋ०	१/१/३

उपस्था –

सायणाचार्य ने इसे सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे लिया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद को प्रथमा द्विवचन माना है।

विराषाट् –

सायणाचार्य ने √वृञ् वरणे धातु से घञ् प्रत्यय करके इसकी व्युत्पत्ति की है।

मैक्डानल ने इसे प्रथमा विभक्ति एकवचन माना है।

अगात् –

सायणाचार्य ने इसे √इण् गतौ धातु का लुङ् लकार का प्रथम पुरूष एकवचन का रूप माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे √गा "जाना" धातु से निष्पन्न माना है।

उरूगायः –

सायणाचार्य ने इस पद की निष्पत्ति उरू + √गा "गाना" धातु से की है। जबकि

यास्काचार्य ने उरू + √गा 'गमने' धातु से व्युत्पत्ति करते हुए इसे बहुव्रीहि समास माना है।

अपधा –

सायण ने अप + √धा + अङ् से व्युत्पत्ति करते हुए इसको पञ्चमी एकवचन का रूप माना है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इसे प्रथमा एकवचन माना है। जबकि

पीटर्सन ने सप्तमी एकवचन का रूप माना है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इसे तृतीया एकवचन का रूप स्वीकार किया है।

उपस्था – ऋग्वेद १/३५/६

विराषाट् – ऋ० १/३५/६

अगात् – ऋ० १/३५/८

उरूगाय – ऋ० १/१५४/१

अपधा – ऋ० २/१२/३

इषः –

सायणाचार्य ने इष पद को सज्ञा पद माना है। जबकि

गैल्डनर ने इसे क्रिया पद मानते हुए √is 'to desire' धातु से इसकी व्युत्पत्ति की है। जबकि

पराञ्जपे ने क्रिया पद मानते हुए √is 'to strive' or 'Set in action' अर्थ वाली धातुओ से इष पद की व्युत्पत्ति की है।

वितरम् –

सायणाचार्य ने वितरम् पद को क्रियाविशेषण माना है। जबकि

विल्सन ने इस पद को विशेषण माना है।

नमस्या –

सायणचार्य ने √नम् 'झूकना' धातु के लोट् लकार के मध्यम पुरूष एकवचन का रूप माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे लेट् लकार उत्तम पुरूष का एकवचन माना है।

नानाम –

सायणाचार्य ने इसे √नम् "झूकना" धातु के लिट् लकार का उत्तम पुरूष माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे लिट् लकार प्रथम पुरूष का रूप स्वीकार किया है।

रासि –

सायणाचार्य ने √रा 'देना धातु के लट् लकार के मध्यम पुरूष एकवचन का रूप माना है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसे लोट् लकार का रूप माना है। जबकि

मैक्डानल ने लट् लकार वर्तमान काल के अर्थ मे स्वीकार किया है।

इष	–	ऋग्वेद	१/४८/१५
वितरम्	–	ऋ०	२/३२/२
नमस्या	–	ऋ०	२/३३/८
नानाम	–	ऋ०	२/३३/१२
रासि	–	ऋ०	२/३३/१२

धीरा –

सायणाचार्य ने इसकी धीर + टाप् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

गैल्डनर ने √धृ धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √धी धातु से निष्पन्न माना है।

ध्रुतिः –

सायणाचार्य ने इसे √ध्रु 'गतिस्थैर्ययो + क्तिन् प्रयय से निष्पन्न माना है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मैक्डानल** √ध्रु √ध्वृ या √धूर्व 'लालच करना' या 'नष्ट करना' धातुओ से निष्पन्न मानते है।

उपारे –

सायणाचार्य ने उपागते समीपे अर्थ करते हुए उप + √यम् 'उपरमे' धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पीटर्सन ने उप उपसर्ग + √रा 'दाने' धातु से व्युत्पत्ति की है।

प्रयोता –

सायणाचार्य ने प्र + √यु "मिश्रणामिश्रणयो." धातु से 'मिश्रण करना' अर्थ मे इस पद की व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रिफिथ और **पीटर्सन** ने √यु 'अमिश्रण करना' अर्थ वाली धातु से निष्पत्ति की है।

न –

सायणाचार्य ने इसको उपमार्थक माना है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसको निषेधार्थक माना है।

धीरा – ऋग्वेद ७/८६/१

ध्रुति – ऋ० ७/८६/६

उपारे – ऋ० ७/८६/६

प्रयोता – ऋ० ७/८६/६

न – ऋ० ७/८६/६

रेकु –

सायणाचार्य ने इस पद को √रेकृ शङ्कायाम् धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय करके व्युत्पन्न माना है। जबकि

मोनियरविलियम्स ने √रिक् 'to leave' धातु से व्युत्पत्ति की है।

श्रुधि –

सायणाचार्य ने √श्रु 'सुनना' के लोट् लकार मध्यम पुरूष एक वचन का रूप माना है। श्रुधि पद वस्तुत श्रुत पद से बना है श्रुत पद √श्रु + क्त प्रत्यय से व्युत्पन्न होता है।

सायण तथा **वेङ्कटमाधव** ने इसे सम्बोधन माना है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** आदि ने इसे लोट् लकार मध्यम पुरूष बहुवचन माना है।

लुड्विग ने भी राथ के मत का अनुसरण किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **ह्विटने** ने इसे सम्बोधन पद माना है।

दविषाणि –

सायणाचार्य ने इसे √दु 'परितापे' अथवा √दिव् धातु से निष्पन्न माना है। जबकि

ग्रासमैन, डेलब्रुक और **मैक्डानल** ने इसे √दू 'गतौ' धातु के लेट् लकार के प्रथम पुरूष एक वचन का रूप माना है।

भक्षीमहि –

सायणाचार्य ने √भक्ष् धातु के विधिलिङ् आत्मनेपद उत्तम पुरूष बहुवचन का रूप माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे √भज् धातु से निष्पन्न माना है।

रेकु	–	ऋग्वेद	१०/१०८/७
श्रुधि	–	ऋ०	१०/१२५/४
दविषाणि	–	ऋ०	१०/३४/५
भक्षीमहि	–	ऋ०	८/४८/७

कनिष्कन् –

सायण ने √स्कन्द + यङ् + शतृ प्रत्यय प्रथमा एकवचन माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे √स्कन्द धातु के विधिलिङ् प्रथम पुरूष एकवचन का यङ्न्त रूप माना है।

व्युष्टौ –

सायणचार्य ने वि उपसर्ग पूर्वक √उछि 'उञ्छे तुदादिगण की परस्मैपद सेट् धातु से कर्मणि क्तिन् प्रत्यय करके निष्पत्ति की है। जबकि

पराञ्जपे ने वि उपसर्ग पूर्वक √अस् 'भुवि' अदादिगण परस्मैपद + क्तिन् प्रत्यय करके व्युत्पत्ति की है।

विश्वा –

सायण ने सम्पूर्ण सहित–पाठ तथा पदपाठ मे समान स्थिति होने से इसे सम्बोधन पद माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे इमा का विशेषण मानकर पदपाठ मे विश्वा पाठ समीचीन माना है।

शंसा –

सायण ने √शस् धातु के लोट् लकार के मध्यम पुरूष एकवचन का रूप माना है। जबकि

मैक्डानल इसे √शस् धातु के लेट् लकार के उत्तम पुरूष एकवचन का रूप मानते है।

दिदृक्षु –

सायण ने इसे √दृश् + सन् + उ प्रत्यय प्रथमा एकवचन का छान्दस रूप माना है। जबकि

लुड्विग ने इसे कल्पित प्रातिपदिक ''दिदृश्' के सप्तमी बहुवचन का रूप माना है। जबकि

मैक्डानल ने सायण की निष्पत्ति को स्वीकार किया है।

कनिष्कन्	–	ऋग्वेद	७/१०३/४
व्युष्टौ	–	ऋ०	७/७१/३
विश्वा	–	ऋ०	७/६१/५
शसा	–	ऋ०	७/६१/४
दिदृक्षु	–	ऋ०	७/८६/३

व्रतेन –

यास्काचार्य ने √वृ 'वारणार्थक' धातु से निष्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √वृ 'वर्तनार्थक' या 'रक्षणार्थक' धातु से निष्पन्न माना है। जबकि

मैक्समूलर ने √वृ 'इच्छार्थक' धातु से निष्पन्न माना है।

विदथे –

सायण ने इसकी व्युत्पत्ति √विद् + अथच् प्रत्यय सप्तमी एकवचन की है। जबकि

रॉथ एव **ग्रासमैन** ने √विद् लाभे से व्युत्पत्ति की है। जबकि

रेग्नाड ने √विध् यजने धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने √धा धातु से व्युत्पत्ति की है।

दयसे –

सायण ने इसे √देङ् रक्षणे से निष्पन्न माना है। जबकि

तैलङ्ग तथा **मैक्डानल** ने √दोऽवखण्डने धातु से व्युत्पत्ति की है।

विष्यन्ति –

सायण ने इसे √षोऽन्तकर्मणि + लट् लकार प्रथम पुरूष बहुवचन माना है। जबकि

मैक्डानल ने इसे √सा बन्धने धातु से निष्पन्न माना है।

अंहति –

सायणाचार्य ने √हन् हिसागत्यो + अति प्रत्यय, धातु को अह आदेश तथा प्रत्ययचित् (हन्तेरह च, उणादिसूत्र ४/६४) अन्तोदात्त (चित, पाणिनीय व्याकरण ६/१/१६३)।

व्रतेन	–	ऋग्वेद	३/५६/२
विदथे	–	ऋ०	२/३३/१५
दयसे	–	ऋ०	२/३३/१०
विष्यन्ति	–	ऋ०	१/८५/५
अहति	–	ऋ०	१/६४/२

यास्काचार्य ने √हन् से 'अह' की निरूक्ति वर्ण विपर्यय से की है। √हन् > अ + न् + ह = अह जबकि

ग्रासमैन ने √अह् धातु से व्युप्तन्न माना है।

अकूपार –

सायणाचार्य के अनुसार अ + कु + पार > अकूपार, छान्सस दीर्घ।

यास्क ने इसका 'दान' और 'कच्छप' अर्थ किया है। प्रथम अर्थ मे अ + कु + परण = अकूपार,

दूसरे अर्थ मे न + कूप + √ऋच्छ् (जो कूप तक न जा सके)। जबकि

देवराजयज्वा ने अ + कु + पार < पार √पृ पालनपूरणयो + घञ्, तथा अ + कूप + √ऋ + अण् > अकूपार व्युत्पन्न किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **बरो** के अनुसार अकूपार का कू √कव् धातु से सम्बन्ध है।

अक्र –

सायणाचार्य के अनुसार **१.** = अ + √क्रम् + विट् (जनसनखनक्रगमो विट्, पाणिनीय व्याकरण ३/२/६७) अव्ययपूर्वपदप्रकृति स्वर।

२. = आ + √क्रम् + ड प्रत्यय छान्दस (अन्येष्वपि दृश्यते, अष्टाध्यायी ३/२/१०१) आकार को छान्दस ह्रस्व, आ समन्तात् क्रमतीति अक्र, आद्युदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ३/१/३) तथा समास के बाद भी वही प्रत्यय स्वर शेष रहता है। (गति०, पा० ६/२/१३६)

राजवाडे ने √क्रम् से – अ = अत्यन्त क्र धनं यस्य स अक्र तथा √अञ्च् + र > अक्र (जैसे शुक्र, चित्र, विप्र, शुभ्र इत्यादि) व्युत्पत्ति दी है। जबकि

ग्रासमैन ने √कृ धातु से व्युत्पन्न माना है।

अक्षर –

सायणाचार्य ने √अश् (व्याप्ति–भोजन) + क्स प्रत्यय औणादिक से व्युत्पत्ति की है।

ऋग्वेद में क्षरति के साथ अक्षर का प्रयोग मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे इसे √क्षर् तथा √क्षि धातु से निष्पन्न बताया गया है।

अकूपार – ऋग्वेद ५/३६/२

अक्र – ऋ० १/१२०/२

अक्षर – ऋ० १/३४/४, १/१६४/३६–४२

यास्काचार्य ने एक निर्वचन अ + √क्षर् अथवा √क्षि से किया है, जो कि सम्भवत ब्राह्मणो पर आधारित है, तथा एक दूसरा मौलिक निर्वचन अक्ष + र से किया है।

गीता मे कूटस्थ को अक्षर (अ + क्षर) कहा गया है।

पतञ्जलि ने √क्षर् तथा √अश् दोनो ही धातुओ से अक्षर को व्युपन्न माना है।

देवराजयज्वा ने कई व्युत्पत्तियॉ दी है–

१. √अश् (व्याप्ति–भोजन) + सरन् (उणादिसूत्र ३/६७)।

२. √अञ्ज् + सरन्

३. न + √क्षर् + अच् (पा० ३/१/११३)

उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियो को ध्यान मे रखते हुए √क्षर् तथा √अश् से व्युत्पन्न करना सङ्गत प्रतीत होता है। परन्तु सायणाचार्य ने जिस 'क्स' प्रत्यय की कल्पना की है वह पाणिनीय व्याकरण सम्मत नही है।

महाभाष्यकार **पतञ्जलि** ने सरन् का स्पष्ट उल्लेख किया है।

उज्ज्वल दत्त इत्यादि वृत्तिकारो के अनुसार शाकटायन ने सरन् ही स्वीकार किया है।

भोज ने सरन् माना है, जबकि **पेरूसूरि** तथा **दुर्गसिंह** ने 'सर' माना है।

भट्टोजिदीक्षित के अनुसार वेद मे अक्षर शब्द मध्योदात्त मिलता है। 'सरन्' स्वीकार करने पर नित्स्वर (आद्युदात्त) की आपत्ति होगी जबकि प्रत्यय स्वर मानकर यह मध्योदात्त है। इसलिए महाभाष्यकार ने 'अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्' कहा । इस प्रकार 'अशे सर' यही पाठ उचित है। जबकि

महाभाष्यकार ने वार्तिक व्याख्यान के समय 'अश्नोतेर्वा' पुनरयमौणादिक. सरन् प्रत्यय·' यह व्युत्पत्ति की है। जबकि

कैय्यट ने ''सरन् प्रत्ययस्यानुबन्धलोपे कृतेऽनुकरण सर इति'' कहकर' सरन्' ही स्वीकार किया है।

अत **भट्टोजिदीक्षित** की बात स्वीकार्य नही हो सकती है। स्वर का समाधान बाहुलक से सम्भव है।

अक्षि –

सायणाचार्य ने √अञ्ज् धातु से 'अक्षि' को व्युत्पन्न माना है। जबकि

अक्षि – ऋग्वेद १०/१/२७

यास्काचार्य ने √चक्ष् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

आग्रायण भी सायण की भॉति √अञ्ज् से व्युत्पन्न मानते है। जबकि

पतञ्जलि ने √अश् + सि > अक्षि से व्युत्पत्ति की करते है। जबकि

उणादिवृत्तिकारो ने 'क्सि' प्रत्यय माना है। जबकि

भोज और **दुर्गसिंह** ने 'सिक्' प्रत्यय स्वीकार किया है। वस्तुत 'क्सि' या 'सिक्' प्रत्यय को नित् करना पडता है, जिससे आद्युदात्त सम्भव होता है।

अग्नि –

सायणाचार्य के अनुसार √अग् (<√अगि गतौ) + नि प्रत्यय तथा नलोप, (अगेर्नलोपश्च, उणादिसूत्र ४/५२) अगति स्वर्गे गच्छति हतिर्नेतुमित्यग्नि । अकार उदात्त (धातो , पा० ६/१/१६२) तथा प्रत्ययगत इकार भी उदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ३/१/३)

गार्ग्य के मत मे 'अग्नि' के अखण्ड प्रातिपदिक होने से अन्तोदात्त (फिषोऽन्तोदात्त) इस व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति के साथ सायण ने यास्क के निर्वचन को भी उद्धृत किया है।

ऋग्वेद सहिता मे इसके दो निर्वचन सङ्केतित प्रतीत होते हैं –

१ अग्नि < अग् २. √अञ्ज्

यास्काचार्य ने इसका चार प्रकार से निर्वचन किया है, जिनमे दो निर्वचन **स्थौलाष्ठीवि** तथा **शाकपूणि** द्वारा किये गये है।

१. अग्र + √नी नयने > अग्नि। यह देवसेना को आगे ले जाता है, पुरोहित है, इसलिए अग्नि है। अथवा अग्निहोत्र इष्टि इत्यादि मे अग्र = पूर्वदिग्वर्ती आहवनीय की ओर गार्हपत्य से उठाकर लाया जाता है, इसलिए अग्नि है। सम्भवत यास्क के इस निर्वचन के आधार ब्राह्मण हैं।

२. अग + √नी। भली भॉति स्वय झुकता हुआ अपने शरीर को काष्ठदाह या हविष्पाक में प्रेरित करता है। सम्भवत इस व्युत्पत्ति का आधार अग्नि का अपना स्वभाव है।

३. अग्नि < अ (=न) + क्नोपन, <√क्नूयी = गीला करना, यहॉ क् > ग् होकर रूप बनता है, स्थौलाष्ठीवि की इस व्युत्पत्ति का आधार सम्भवत अग्नि का कार्य है, जिसमे आर्द्र करने की अपेक्षा काष्ठ इत्यादि को रूक्ष कर देता है।

४ शाकपूणि– अग्नि < अयन (<√इण् गतौ) का 'अ' अनक्ति (<√अञ्ज् व्यक्तिम०) का क् < ग् अथवा

अग्नि – ऋग्वेद १/१/१

दग्ध (< √दह् भस्मीकरणे) का ग् नी (√णीञ् प्रापणे) का नी < नि (छान्दस) लेकर अग्नि शब्द बना हुआ है। चूँकि इसमे तीनो कार्य गति, व्यक्ति अथवा दहन तथा प्रापण—एक साथ देखे जाते है, इसलिए इसे तीन धातुओ से निष्पन्न माना है, तथा अग्नि की अन्य विशेषताओ की अपेक्षा गति को ही स्वीकार किया है।

जबकि **पाश्चात्य विद्वान्** √अग् धातु से ही व्युत्पन्न मानते है।

अग्रिय –

सायणाचार्य के अनुसार अग्र + घच् प्रत्यय (घच्छौ च, पा० ४/४/११७) अग्र <√अग् (गति) + रन् प्रत्यय (ऋज्रेन्द्रा०, उणदिसूत्र २/३१) घ को इयादेश (पा० ६/४/१४८) >अग्रिय (अन्तोदात्त) (चित, पा० ६/१/१६३)। जबकि

यास्क ने आ + √गम् + अग्रिय निर्वचन किया है। जबकि

देवराज ने इस पद का चार प्रकार से निर्वचन किया है –

१. अग्र + √या + क प्रत्यय बाहुलक (गेहे क, पा० ३/१/१४४)

२. अग्र + य (छन्दसि च, पा० ५/१/६७), इकार उपजन,

३. अग्र + घन् (अर्ह अर्थ मे)

४. अग्र + घ (स्वार्थ मे)

गैल्डनर महोदय सायण की व्युत्पत्ति से सहमत हैं।

अग्रुवः –

सायण के अनुसार <अग्र <√अग् + रू प्रत्यय (जत्र्वादयश्च, उणादिसूत्र (४/१११) अगति गच्छतीति अग्रु, आद्युदात्त (पा० ३/१/३) अग्र + जस्, उवङ्, प्रत्ययस्वर। जबकि

देवराजयज्वा ने √अहि अथवा √अगि + रू >अग्रु अथवा अग्र + √गम् + रू प्रत्यय, ग्र लोप, गम् का टिलोप, अग्रे गच्छन्तीति अग्रुव व्युत्पन्न किया है।

अघायु –

सायणचार्य अघ + क्यच् (सुप आत्मन क्यच्, पा० ३/१/८ छन्दसि परेच्छायाम्, वार्तिक पाणिनीय सूत्र

अग्रिय	–	ऋग्वेद	१/१३/१०
अग्रुव	–	ऋ०	३/२६/१३
अघायु	–	ऋ०	१/२७/३

३/१/८) आत्व (अश्वाघस्यात्, पा० ३/२/१७०) > उघाय' + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३/२/१७०) > अघायु। अघ हिसन परेषामिच्छतीति अघायु। जबकि

यास्क ने आ + √हन् > अघ निर्वचन किया है।

अघशंस –

सायणाचार्य के अनुसार अघ + शस < √शस् स्तुतौ। अघे पापे शंसो मनस्यभिलाषो यस्य सोऽयमघशस। बहुव्रीहि मे पूर्वपदप्रकृतिस्वर होता है, (पा० ६/२/१)। जबकि

देवराजयज्वा ने अघ < आ + √हन् + ड प्रत्यय (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३/२/१०१) + शस् + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३/१/१३४) > अघशस व्युत्पन्न किया है।

अघ्न्य –

सायण के अनुसार < अ + √हन् + क प्रत्यय (घञर्थेकविधानम्०, पा० ३/३/५८) > अघ्न· (अहननम्) √हन् का उपधा लोप (गमहन० पा० ६/४/९८) ह् को घ् (हो हन्ते०, पा ७/३/५४) > अघ्न + य प्रत्यय प्रातिपदिकमात्र से होने वाला (छन्दसि च, पा० ५/१/६७) अथवा (अघ्न्यादयश्च, उणादिसूत्र ४/१२०) से निपातनात् यक् प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त, अथवा घ्न (हनन) + य प्रत्यय अर्हार्थ मे > घ्न्य, न + घ्न्य > अघ्न्य, अव्ययपूर्वपद प्रकृतिस्वर।

यास्काचार्य ने न + √हन् > अघ्न्य तथा अघ + √हन् + अघन्य निर्वचन दिए है।

उणादिवृत्तिकारो मे **दशपादी उणादि वृत्तिकार, उज्ज्वलदत्त, श्वेतवनवासी,** तथा **भोज** ने अघन्य पद को √हन् से व्युत्पन्न माना है। जबकि

श्वेतवनवासी ने √अघ् (गति–आक्षेप) से निपातन से भी सिद्ध किया है। जबकि

पेरूसूरि ने √हन्, अट् का आगम अथवा न + √हन् + यक् से व्युत्पत्ति दी है।

अङ्गिरस् –

यह ऋषि का नाम तथा अग्नि का विरूद है। **सायण** ने मुख्यत इसकी दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

अघशस – ऋग्वेद १/४२/४

अघ्न्य – ऋ० १/३०/१९

अङ्गिरस् – ऋ० १/१/६

१. अगार + √सृ (गतौ) + असुन् (उणादिसूत्र ४/२४१) नित्स्वर (पा० ६/१/१६७)

२. √अग् (गतौ) + असुन् निपातन से सिद्ध।

सायण की पहली व्युत्पत्ति का आधार ब्राह्मण और यास्क है। जबकि–

स्कन्द ने अगानि तद्वत् अगि + रस > अगिरस तं करोति अगिरसयति – इस अर्थ मे णिच् (तत्करोति तदाचष्टे, वार्तिक पाणिनि ३/१/२६) पुन क्विप् > अगिरस– व्युत्पत्ति दी है।

गोपथ-ब्राह्मण मे इसे अग + रस से व्युत्पन्न किया गया है। यह वरूण के अग से उत्पन्न है।

उणादिवृत्तिकारो मे **दशपादी उणादि वृत्तिकार** ने असि प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है। (अगिरा॰, उणादिसूत्र ६/६६) **उज्ज्वलदत्त, श्वेतवनवासी** ने √अग् (गतौ) + असि तथा प्रत्यय को इरूट् का आगम कर व्युत्पन्न किया है। जबकि

दुर्गसिह ने √गृ (निगरणे) + असुन् निपातन से 'अ' पूर्व मे, अनुस्वार को ङ् तथा इरादेश से व्युत्पन्न माना है। जबकि

तिलक ने इसे ग्रीक एग्गिलोस तथा पर्सियन अगर से सम्बद्ध माना है।

अजिर –

सायणाचार्य ने √अज् गतिक्षेपणयो + इरच् अथवा किरच् प्रत्यय निपातन से (अजिरशिशिर०, उणादिसूत्र १/५३) अन्तोदात्त (चित, पा० ६/१/१६३)।

दशपादी उणादिवृत्तिकार ने न + √जृष् (वयोहानौ) + किरप् से भी व्युत्पन्न माना है । जबकि –

ग्रासमैन ने √अज् धातु से व्युत्पन्न माना है।

अतसाय्या –

सायणाचार्य ने < √अत् (सातत्यगमने) + साय्य प्रत्यय (औणादिक) + अट् का आगम > अतसाय्या। आगम के अनुदात्त होने से प्रत्यय का आदि उदात्त। जबकि

स्कन्दस्वामी ने पूवोक्त व्युत्पत्ति के साथ √तसु उपक्षये से भी व्युत्पन्न माना है। वस्तुत यहॉ बाहुलक से आय्य प्रत्यय तथा षुक् का आगम > अतसाय्य + टाप् (स्त्री–प्रत्यय) > अतसाय्या अथवा **स्कन्दस्वामी** की दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार अ + √तस् (उपक्षये) + आय्य + टाप् > अतसाय्या होना चाहिए। सायण की साय्य प्रत्यय की कल्पना चिन्त्य है।

अजिर – ऋग्वेद १/६२/१

अतसाय्या – ऋ० १/६३/६

अतूर्तदक्षा –

सायणाचार्य के अनुसार √तृ + क्त प्रत्यय निपातित (नसत्तनिषत्तानुत्त०, पा० ८/२/६१) अ + तूर्त + दक्ष + औ, विभक्ति को डादेश। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **हेनेस स्कोल्ड** ने अ + √तुर्, अ + √त्वर् > अतूर्त बनाया है।

अत्रि –

सायणाचार्य ने अत्रि पद की निम्न प्रकार से व्युत्पत्ति की है –

१. न + त्रि। मातृपित्रात्मसम्बन्धिनस्त्रिविधा दोषा न सन्ति अस्मिन्निति अत्रि ।

२. √अद् भक्षणे + त्रिनि प्रत्यय

३. √अद् + √त्रा (<त्रैङ् पालने) + क प्रत्यय

(आतोऽनुपसर्गे क, पा० ३/२/३) + इन् (मत्वर्थीय) अत्रि। जबकि

यास्काचार्य ने 'अत्रि' के दो निवर्चन किए है–

१. अत्र + त्रि > अत्रि

२. अ + त्रि > अत्रि निवर्चन किया है।

यास्क के प्रथम निर्वचन का आधार शतपथ– ब्राह्मण है। सायणाचार्य ने अपने दूसरी व्युत्पत्ति मे 'त्रिनि' प्रत्यय स्वीकार किया है।

दशपादी उणादिवृत्ति मे भी त्रिनिच् के साथ चकरात् त्रिप् माना गया है। जबकि

भट्टोजिदीक्षित ने त्रिप् प्रत्यय ही माना है, और यह युक्तिसङ्गत है।

अदब्धः –

सायणाचार्य ने न + दब्ध <√दम्भ् (दम्भे) + क्त प्रत्यय इट् प्रतिषेध (यस्य् विभाषा, पा० ७/२/१५) नलोप (अनिदिताम्०, पा० ६/४/२४) धत्व – (झषस्तथोर्धोध, पा० २/८/४०) दब्ध का न के साथ नञ्समास, अव्ययपूर्वपद प्रकृतिस्वर । जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** ने √दभ् धातु से व्युत्पन्न माना है।

अतूर्तदक्षा	–	ऋग्वेद	८/२६/१
अत्रि	–	ऋ०	१/३६/१४
अदब्ध.	–	ऋ०	१/२४/१३

अदिति –

सायणाचार्य ने अदिति पद की निम्न प्रकार से व्युत्पत्ति की है –

१. न + √दो (अवखण्डने) + क्त प्रत्यय कर्म मे, इत्व (द्यातिस्यति मास्था०, पा० ७/४/४०) नञ्समास

२ न + दिति < √दीङ् (क्षये), छान्दस ह्रस्व्, नञ्स्वर।

३ √दाण् (दाने) + क्तिन् प्रत्यय कर्ता मे, न + दिति > अदिति

सायणाचार्य के अनुसार दूसरी व्युत्पत्ति यास्काचार्य की है। इसके अतिरिक्त

देवराजयज्वा तथा **स्कन्दस्वामी** ने 'अदिति' पद की व्युत्पत्ति √दीङ् धातु से की है।

सायण की तीसरी व्युत्पत्ति सम्भवत शतपथ–ब्राह्मण पर आधारित है परन्तु शतपथ–ब्राह्मण मे √अद् भक्षणे से ही इसका निर्वचन किया गया है, जो मिथकीय व्युत्पत्ति प्रतीत होती है।

नैरुक्तों और **इतिहासकारों** ने अदिति को देवमाता स्वीकार किया है। इस अर्थ मे √दीङ्. क्षये अधिक उपयुक्त है। जबकि पृथिवी अर्थ मे √दो या √दा अधिक सङ्गत है।

अद्‌मसत् –

सायणाचार्य के अनुसार √अद् + मन्, अद्यते इति अदम्। तस्य पाकाय गृहे सीदति इति अद्‌मसत् < अद्‌म + √सद् + क्विप् (अनेभ्योऽचि दृश्यन्ते, पा० ३/२/१७८)। जबकि

यास्काचार्य के अनुसार अद्‌म गृह नाम है तथा अद्‌मसत् का अर्थ 'जननी' है। इसका निर्वचन अद्‌म + √सद् अथवा अद्‌म + √सन् > अद्‌मसत् किया है। जबकि

दुर्ग सिंह ने इसे अनवगत की कोटि मे रखा है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** ने अद्‌मन + √सद् धातु से स्वीकार किया है।

अद्यूत्ये –

सायणाचार्य के अनुसार √द्युत् दीप्तौ धातु + ण्यत् प्रत्यय (ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३/१/१२४) > द्युत्य > द्यूत्य, वर्ण व्यापत्ति से। न + द्यूत्य > अद्यूत्य द्यूत्य प्रकाशनमस्मिन्नास्तीति बहुव्रीहि । व्यत्यय से अन्तस्वरित। जबकि

स्कन्दस्वामी ने अ + √दिव् (विजिगीषा) + यत्(स्वार्थिक) > अद्यूतमेव अद्यूत्यम्, व्युत्पत्ति दी है।

अदिति	–	ऋग्वेद	१/८९/१०
अद्‌मसत्	–	ऋ०	१/२४/४
अद्यूत्ये	–	ऋ०	१/११२/२४

अधमम् –

सायणाचार्य के अनुसार √अव् (रक्षणे) + अमच् प्रत्यय तथा व् को धादेश (अवद्यावमाधमार्वरेफा कुत्सिते, उणादिसूत्र) अन्तोदात्त (चित, पा० ६/१/१६३)। जबकि

दुर्गसिह ने न + √धा (धाञ्) + मक् > अधम व्युत्पत्ति दी है।

अध्रिगो –

सायणाचार्य के अनुसार– अधृत + गौ < √गम् + डो प्रत्यय भाव मे (गमेर्डो उणादिसूत्र २/६८) अधृता गौर्येन = अध्रिगु, उपसर्जनह्रस्व (गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य, पा० १/२/४८) पृषोदरादित्वात् (पा० ६/३/१०६) अधृत को अध्रिभाव = अध्रिगु + सु (सम्बोधन एकवचन)। जबकि

यास्काचार्य ने अधि + गो तथा अ + √धृ + गो > अध्रिगु निर्वचन किया है। जबकि

दुर्गसिंह ने इसे अनवगत माना है। परन्तु **देवराजयज्वा** ने 'अधिकृत + गौ' (अधिकृत > अध्रि) 'अधि + गो' तथा 'अधृत + गो' से व्युत्पन्न माना है। जबकि

सायण की व्युत्पत्ति सम्भवत यास्क के दूसरे निर्वचन पर आधारित है।

अध्वर्यु –

सायणाचार्य ने अध्वर्यु पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है– अध्वर + क्यच् प्रत्यय (छन्दसि परेच्छायाम्, वार्तिक पाणिनि ३/१/८) अध्वर के अन्त्य अकार का लोप (कव्यध्वर०, पा० ७/४/३६) > अध्वर + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३/२/१७०) > अध्वर्यु, प्रत्यय स्वर (आद्युदत्तश्च, पा० ३/१/३) जबकि

यास्काचार्य ने 'अध्वर्यु' पद के दो निर्वचन किए हैं–

१. अध्वर + यु

२. अधि + √इ (अध्ययने) + यु प्रत्यय। जबकि

स्कन्दस्वामी ने चार व्युत्पत्तियॉ दी है–

१. अध्वर + √युज्

२. अध्वर + √या प्रापणे + यु (नयति का समानार्थक)

अधमम्	–	ऋग्वेद	१/२४/१५
अध्रिगो	–	ऋ०	१/६१/१
अध्वर्यु	–	ऋ०	२/१४/१

३. अध्वर + क्यच् + उ

४. अध्वर + यु (तदधीते तद्वेद, पा० २/२/५८)। जबकि

श्वेतवनवासी ने अध्वर यातीति अर्थ मे अध्वर < अध्वर + √या (प्रापणे) + कु प्रत्यय, यकार के आकार का लोप, ये व्युत्पत्ति दी है। जबकि

उज्जवलदत्त ने अध्वर + क्यच् + उ से व्युत्पन्न माना है। जबकि

भोज ने न + ध्वर + युस् प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है।

अनामृण –

सायणाचार्य के अनुसार– अ + √मृण् (हिसने) + क प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिर क, पा० ३/१/१३५) मृणन्ति हिसन्तीति मृणा, (न मृणा अमृणा), नास्ति अमृणा अस्य बहुव्रीहि समास, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६/२/१७२)। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** महोदय ने आ + √मृण् धातु से व्युत्पन्न माना है।

अनुभर्त्री –

सायणाचार्य के अनुसार अनु + √हृ (हृञ् – हरणे) + तृच् प्रत्यय < अनुहर्तृ, हकार को भकार छान्दस (हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वा०, पा० ३/१/८४) = अनुभर्तृ + ङीप् (ऋन्नेभ्यो ङीप्, पा० ४/१/५), ईकार उदात्त (उदात्तयणो हल्पूर्वात्, पा० ६/१/१७४) जबकि

स्कन्दस्वामी ने √भृञ् (धारणे) धातु से व्युत्पन्न माना है।

अनृक्षरा –

सायणाचार्य के अनुसार √ऋष् (ऋषी गतौ) + क्सरन् प्रत्यय (तन्यृषिभ्या क्सरन्, उणादिसूत्र ३/७२) > ऋक्षर, कित् होने से गुणाभाव, कत्व (पा० ८/२/४१) षत्व (पा० ८/३/५६) क् + ष् = क्ष > ऋक्षर, न + ऋक्षर = अनृक्षर, नुट् का आगम (तस्मान्नुडचि०, पा० ६/३/७४), उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६/२/१७२) ऋषन्ति गछन्तीति ऋक्षरा कण्टका, न विद्यन्ते ऋक्षरा अस्मिन्निति अनृक्षरा । स्त्री रूप अनृक्षरा। जबकि

यास्काचार्य मे √ऋच्छ् धातु से निर्वचन किया है।

अनामृण – ऋग्वेद १/३३/१

अनुभर्त्री – ऋ० १/८८/६

अनृक्षरा – ऋ० १/२२/१५

अनेद्य –

सायणाचार्य के अनुसार– √निद् (कुत्सायाम्) धातु + ण्यत् प्रत्यय (ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३/१/१२४) = नेद्य, न + नेद्य > अनेद्य, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृति स्वर। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** महोदय ने √निद् तथा √निन्द दोनो धातुओं से व्युत्पन्न माना है।

अनेहस् –

सायणाचार्य ने न + √हन् (हिसागत्यो) + असुन् प्रत्यय तथा धातु को 'एह' आदेश (नञि हन् एह च, उणादिसूत्र ६/८३ पञ्च पादी ४/२२६) नलोप (नलोपो नञ, पा० ६/३/७३), नुट् का आगम (तस्मान्नुडचि, पा० ६/३/७४), न हन्यते इति अनेहा। उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६/२/१७२) जबकि

उणादिवृत्तिकारों मे केवल **भोज** तथा **दुर्गसिंह** ने न + √ईह् (चेष्टायाम्) न ईहते अनेहा ये व्युत्पत्ति दी है।

सायण के असुन् प्रत्यय की सङ्गति मात्र दुर्गसिह से है, शेष सभी 'असि' प्रत्यय स्वीकार करते है क्योकि (मिथुने असि पूर्ववच्च सर्वम् उणादिसूत्र ४/२२८ से) 'असि' का अधिकार चलता है। नित् होने से असुन् के अद्युदात्त की आपत्ति होने लगेगी। जबकि

ग्रासमैन ने न + एहस् <√ ईह् ऐसा मानते है।

अन्तः –

सायणाचार्य ने √अम् (गतौ) + तन् प्रत्यय (हसिमृग्रि०, उणादिसूत्र ३/८२) अमति समाप्नोति अनेनेति–अन्तम्।

आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६/१/१६७)। जबकि

यास्काचार्य ने √अन् धातु से निर्वचन किया है।

अन्तर्वावत् –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्ति की है–

१. √वा (गतिगन्धनयो·) + विच् प्रत्यय (आतो मनिन्०, पा० ३/२/७४), अन्तर् + वा, अन्तर्वान्ति

अनेद्य	–	ऋग्वेद	१/८७/४
अनेहस्	–	ऋ०	१/४०/४
अन्त	–	ऋ०	१०/१११/८
अन्तर्वावत्	–	ऋ०	१/४०/७

अप्रायुवः –

सायणाचार्य के अनुसार अ + प्र + √इ (गतौ) + उण् प्रत्यय (छन्दसीण, उणादिसूत्र १/२), नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर। > अप्रायु + जस् (प्रथमा बहुवचन) (जसादिषु छन्दसि वा वचनम्, वार्तिक पा० ७/३/६७) से गुण के विकल्प होने से अभाव मे उवङ् (तन्वादीना छन्दसि बहुलम्, वार्तिक पाणिनि ६/४/८६)।

स्कन्दस्वामी ने सायण की व्युत्पत्ति के साथ √यु (मिश्रणामिश्रणयो) से भी व्युत्पन्न माना है। जबकि

यास्काचार्य ने अ + प्र + आ + यु स्वीकार किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** महोदय ने अ + प्र + आयु व्युत्पत्ति की है।

अप्साः –

सायणाचार्य के अनुसार –

१ अप् + सन् (सन्म्भक्तौ) + विट् प्रत्यय (जनसन०, पा० ३/२/६७) अनुनासिक को आत्।

२. न + प्सा < √प्सा (भक्षणे) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३/२/७६) न विद्यते प्सा अस्येति बहुव्रीहि, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६/२/१७२)। जबकि

यास्काचार्य ने अ + √प्सा, √आप् तथा अ + √स्पश् से निर्वचन किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने निम्न व्युत्पत्ति दी है –

१. न + √प्सा + असुन् प्रत्यय बाहुलक आकारलोप,

२. √आप् + स प्रत्यय (वृतृवदिहनिकमिकविभ्य स, उणादिसूत्र ३/५६)

अभ्वः –

सायण के अनुसार–

१. आ + √भू + ड्वन् प्रत्यय (औणादिक), उपसर्ग को ह्रस्व पृषोदरादी मानकर (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, पा० ६/३/१०६)

२. न + √भू + क्वन् प्रत्यय (न भुवो डित्, सरस्व० २/३/१३३)। जबकि

ग्रासमैन महोदय ने न + √भू धातु से व्युत्पन्न माना है।

अप्रायुव	–	ऋग्वेद	१/८६/१
अप्सा	–	ऋ०	१/६१/२१, ६/६५/२०
अभ्वः	–	ऋ०	१/३६/८, १/६३/६

अभिष्टि –

सायणाचार्य के अनुसार–

१. अभि + इष्टि < √इष् (इच्छा, गति) धातु + क्तिन् प्रत्यय भाव मे, अभि के इकार को पररूप (एमन्नादिषु छन्दसि पररूप वक्तव्यम्, वार्तिक पाणिनि० ५/१/६४, अथवा शकन्ध्वादित्वात्) गति को प्रकृति स्वर (तादौ च निति०, पा० ६/२/५०), अभि आन्तोदात्त (उपसर्गाश्चाभिवर्ज्यम्, फिट्सूत्र ८१)।

२. अभि + √यज् (देवपूजा०) + क्तिन् प्रत्यय सम्प्रसारण (ग्रहिज्या०, पा० ६/१/१६), ज् को ष् (व्रश्च०, पा० ८/२/३६) ष्टुत्व, पररूप। स्वर पूर्ववत्। जबकि

ग्रासमैन महोदय ने– अभि + √इष् से व्युत्पन्न माना है। जबकि

गेल्डनर महोदय ने अभि + √अस् धातु से व्युत्पन्न माना है । जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रिफिथ** ने अभि + √स्त्यै 'शब्दसघातयो' धातु से + क्विप् प्रत्यय, सम्प्रसारण (स्ता. सुपूर्वस्य, पा० ३/१/२३ का योग विभागकर) इस प्रकार व्युत्पत्ति की है।

अभोग्घनः –

सायणाचार्य ने अ + भोज् + √हन् + क्विप् प्रत्यय (बहुल छन्दसि, पा० ३/२/८८) हकार को घकार (झयो होऽन्यतरस्याम्, पा० ८/४/६२) दीर्घ का अभाव (इन्हन्पूषा०, पा ६/४/१२) भोजयन्तीति भोज, न भोज अभोज, तेषा हन्तार । जबकि

ग्रासमैन ने घन् < √हन् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

गेल्डनर महोदय ने अ + भो (< √भू) + √हन् धातु से व्युत्पन्न माना है।

अमत्रः –

सायणाचार्य के अनुसार –

१. √अम् (गत्यादिषु) + अत्रन् प्रत्यय (अभिनक्षि०, उणादिसूत्र ३/६८) आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६/१/१९७)।

अभिष्टि	–	ऋग्वेद	१/६/१, ४७/५, ५२/४, १/६/८, ३/३४/४, ३/५६/८
अभोग्घन	–	ऋ०	१/६४/३
अमत्र	–	ऋ०	१/६१/६, २/१४/१, ३/३६/४

२. अमा + √अद् (भक्षणे), अमा सहादन्त्यत्र होत्रादय इत्यमित्राणि चमसा । जबकि

यास्काचार्य ने अमा + √अद् तथा अभि + अ + √मा से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने अमात्र > अमत्र तथा अ + मित, मित > मत्र > अमत्र निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार, **गैल्डनर** ने √मा धातु से व्युत्पन्न माना है।

अमन्तु –

सायणाचार्य के अनुसार √मन् + तु प्रत्यय औणादिक, न + मन्तु > अमन्तु बहुव्रीहि समास, उत्तरपदान्तोदात्त(पा० ६/२/१७२)। जबकि

उद्गीथ ने अव + मन्तु > अमन्तु, वकारलोप इस प्रकार से व्युत्पत्ति की है।

अमन्यमानान् –

सायणाचार्य ने अ + √मन् (ज्ञाने) + श्यन् + शानच्, मन्यन्ते जानन्तीति मन्यमाना·, श्यन् आद्युदात्त (पा० ६/१/१६७), नञ्समास मे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर (वार्तिक पाणिनि ६/२/२)। जबकि

स्कन्दस्वामी ने अर्चतिकर्मा √मन् धातु से व्युत्पन्न माना है।

अमिनः –

सायणाचार्य ने √अम् (गत्यादिषु) + इनच् प्रत्यय (औणादिक) से व्युत्पन्न किया है। जबकि

यास्काचार्य ने अ + √मा, धातु से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने अमिन पद की तीन व्युत्पत्तियॉ की हैं–

१. अ + √मा (माने) + क्त प्रत्यय > अमित > अमिन,

२. अ + √मि (वधकर्मा) + नक् प्रत्यय,

३. अ + √मि + त्त प्रत्यय अमित् > अमिन

अमन्तु	–	ऋग्वेद	१०/१२५/४
अमन्यमानान्	–	ऋ०	१/३३/६
अमिन	–	ऋ०	१०/११६/४

अमीवचातनम् –

सायणाचार्य ने अमीव + चातन, अमीव <√अम् (रोगे) + वन् प्रत्यय तथा ईडागम निपातित (शेवयह्वजिह्वाग्री०, उणादिसूत्र १/४०), आद्युदात्त (पा० ६/१/१६७)। चातन <√चत् (चते हिसायाम्) + णिच् + ल्यु प्रत्यय, (नन्दिग्रहि०, पा० ३/१/१३४), 'यु' को अनादेश (पा० ७/१/१), णिलोप (णेरनिटि, पा० ६/४/५१), धातु का अकार उदात्त (लिति, पा० ६/१/१६३) अमीवाना चातन, समास मे कृदुत्तरपदस्वर से अकार का उदात्त शेष रहता है। जबकि

देवराजयज्वा ने अमीव <√अम् (रोगे) + ईव प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है। जबकि

उणादिसूत्रकारों ने √अम् + वन् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है।

अमूर –

सायणाचार्य ने अमूर पद की चार व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ अ + मूर्च्छा (मोहसमुच्छ्राययो) + क्विप् प्रत्यय छ् का लोप (राल्लोप, पा० ६/४/२१) + र प्रत्यय, (मत्वर्थीय)।

२. √अम् (गत्यादिषु) + ऊरन् प्रत्यय (औणादिक)

३. अ + √मुह् (वैचित्ये, वैचित्यमविवेक) + क्त प्रत्यय, ह् को द् अमूढ ढ > र, छान्दस नञ्समास।

४. √मूड् (बन्धने) से भी व्युत्पन्न माना है। जबकि–

देवराजयज्वा ने केवल √मुह् (वैचित्ये) धातु से ही 'अमूर' पद की व्युत्पत्ति की है।

अम्बरीषः –

सायणाचार्य ने √अब् (अबि शब्दे) >√अम्ब् + ईषन् प्रत्यय तथा अरुक् का आगम (अम्बरीषं च, उणादिसूत्र ४/३०)। जबकि

दशपादी उणादि मे–

१. √पच् + ईषन् धातु को अमुट् का आगम, पकार का बकार तथा चकार को रेफ निपातित, पचन्त्यस्मिन्निति अम्बरीषम्।

अमीवचातनम्	–	ऋग्वेद	१/१२/७
अमूर	–	ऋ०	१/६८/७, ८, ३/१९/१, ४/४/१२
अम्बरीष	–	ऋ०	१/१००/१७

२. √आप + ईषन् प्रत्यय, धातु को अम्ब आदेश, तथा रूट् का आगम, आप्यते वायुभिरित्यम्बरीषम्–आकाशम् व्युत्पत्ति मिलती है। जबकि

भोज ने √अम् + ईषन्, वरट् का आगम करके व्युत्पत्ति की है। जबकि

दुर्ग ने अम् (आकाश) + √वृ (वरणे) + ईष प्रत्यय, अम् आकाशं वृणोतीति अम्बरीष. व्युत्पत्ति की है।

अरूणप्सु –

सायणाचार्य ने √प्सा (भक्षणे) + कु प्रत्यय (औणादिक), आकार लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६/४/६४) प्सान्ति भक्षयन्ति स्तन पिबन्ति इति प्सवो वत्सा। अरूण + प्सु > अरूणप्सु – अरूणा प्सवो यासा तास्तथोक्ता। अरूण < √ऋ + उनन् प्रत्यय (अर्तेश्च, उणादिसूत्र ३/५८), चित् (तृणाख्याया चित्, उणादिसूत्र ३/५७) की अनुवृत्ति कर अन्तोदात्त, बहुव्रीहि मे पूर्वपद प्रकृतिस्वर से वही शेष रहता है। (बहुव्रीहौ प्रकृत्या०, ६/२/१)। जबकि

यास्काचार्य ने अरूण का निर्वचन आ + √रूच् धातु से किया है।

अरूष –

सायणाचार्य के अनुसार तीन व्युत्पत्तियॉ प्रस्तुत की गयी है–

१ √रिष् (हिसायाम्) + क प्रत्यय (इगुपध०, पा० ३/१/१३५) धञर्थे कविधानम्, वा० पा० ३/३/५८ प्रत्यय स्वर से उदात्त। रिष् > रूष, न + रूष > अरूष, न सन्ति रूषो अस्य असौ अरूषः, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६/२/१७२)।

२. √ऋ (गतौ) + उषन् प्रत्यय (उणादिसूत्र ४/७५), धातु को गुण, रपर > अरूष।

३ √ऋ + उषच् प्रत्यय (उणादिसूत्र ४/७५) सायण ने अन्यत्र आ + √रूच् + उषच् (बाहुलक, टिलोप आड् को ह्रस्व) कर व्युत्पन्न किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने आ + √रूच्, आ + √रूश् (दीप्त्यर्थ गत्यर्थक), √ऋष् (दीप्तिकर्मा), अथवा √अरूष् (गतिकर्मा) से व्युत्पन्न माना है। जबकि

अरूणप्सु – ऋग्वेद १/४६/१

अरूष – ऋ० १/६/१, ३/७/५

देवराजयज्वा ने ऋ तथा आ + √रूच् धातु से व्युत्पत्ति दी है। जबकि

उणादिवृत्तिकारो मे **उज्ज्वलदत्त**, **श्वेतवनवासी** तथा **भोज** ने उषन् प्रत्यय माना है। वेद मे 'अरूष' शब्द अन्तोदात्त है, तथा इसी के समान व्युत्पन्न 'नहुष' शब्द आद्युदात्त। सायण ने कही उषन् किया है, कही उषच्। दोनो ही पाठ उपयुक्त है, स्वर का समाधान व्यत्यय से सम्भव है।

अर्क –

सायणाचार्य के अनुसार–

१. √अर्च् (पूजायाम्) धातु + घ प्रत्यय करण मे (पुसि संज्ञायां घ. प्रायेण, पा० ३/३/११८), कुत्व (चजोः कु घिण्ण्यतो, पा० ७/३/५२), प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। अर्च्यते एभि इति अर्का मत्रा ।

२. √ऋच् (स्तुतौ) + घ प्रत्यय, कुत्व, लघूपधगुण, प्रत्ययस्वर। ऋच्यते स्तूयतेऽनेनेति अर्को मन्त्र । जबकि

ऋग्वेद-संहिता मे इसकी व्युत्पत्ति √अर्च् से सङ्केतित है। जबकि

याज्ञवल्क्य ने √अर्च् + क (उदक) > अर्क्क > अर्क निर्वचन किया है ।

यास्काचार्य ने भी √अर्च् धातु से व्युत्पन्न माना है तथा देव, मन्त्र, अन्न और वृक्ष अर्थ बताया है।

अर्जुन –

सायणाचार्य ने √अर्ज् (अर्जने) + उनन् प्रत्यय (अर्जेर्णिलुक् च्, उणादिसूत्र ३/५६) आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६/१/१९७) अर्जयति इति अर्जुन । किन्तु तृणवाचक अर्जुन शब्द अन्तोदात्त होता है। (अर्जुनस्य तृणाख्या चेत्, फिट्सूत्र १६)। जबकि

वेलणकर ने √ऋज् धातु से व्युत्पन्न माना है।

अर्थम् –

सायणाचार्य ने √ऋ (गतिप्रापणयो) + थन् प्रत्यय (उषिकुषिगर्तिभ्यस्थन्, उणादिसूत्र २/४) आद्युदात्त, (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६/१/१९७)। जबकि

यास्काचार्य ने √ऋ तथा अरण + स्था से निर्वचन किया है।

अर्क	–	ऋग्वेद	३/२६/८, ८/८८/४
अर्जुन	–	ऋ०	३/३६/२, ४४/५
अर्थम्	–	ऋ०	१/१०/२, ३८/२, १३०/५, २/३६/१, ३/११/३, ५३/५, ६१/३, १०/१८/४

अर्धम् –

सायणाचार्य के अनुसार– √ऋध् (हिसाकर्मा) + अच् प्रत्यय, अन्तोदात्त। जबकि

यास्काचार्य ने √ह्व, √धृ > धारय् तथा √ऋध् धातुओ से निर्वचन किया है।

अर्बुदम् –

सायणाचार्य के अनुसार– अम्बु + √दा (+ क प्रत्यय), अनुस्वार को रेफ, छान्दस, = अर्बुद। जबकि

यास्काचार्य ने अरण + √दा, अम्बु + √भा, अम्बु + भू निर्वचन किया है। जबकि

भोज ने √ऋ + उदन् तथा बुक् का आगम करके व्युत्पत्ति की है।

अर्बुदम् पद आद्युदात्त और अन्तोदात्त दोनो ही मिलता है। व्युत्पत्ति पक्ष मे आद्युदात्त (पा० ६/१/१६७ तथा नाम मानने पर अन्तोदात्त (फिषोऽन्तोदात्त फिट्सूत्र – १)।

अर्भगाय –

सायणाचार्य ने इस पद की दो व्युत्पत्तियॉ–

१ अर्भ + कन् प्रत्यय स्वार्थिक (सञ्ज्ञाया कन्, पा० ५/३/८७) छान्दस गकार > अर्भग > अर्भगाय (चतुर्थी एकवचन)।

२. अर्भ + √गै (शब्दे) + टक् प्रत्यय (गापोष्टक्, पा० ३/२/८) आलोप (आतो लोप इटि च, पा० ६/४/६४)। जबकि

यास्काचार्य ने अव + √ह्व से निर्वचन किया है। जबकि

श्वेतवनवासी ने √अर्ह् (पूजायाम्) + अकन्, ह् > भ् अर्भक, व्युत्पत्ति की है। जबकि

दशपादी उणादिवृत्ति– √ऋच्छ् अथवा √ऋ + अक् प्रत्यय, भुक् का आगम। जबकि

भोज ने √ऋ + वुन प्रत्यय तथा भुक् का आगम करके व्युत्पन्न माना है। जबकि

दुर्ग ने √अर्ह् + क प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है।

अर्धम्	–	ऋग्वेद	७/१८/१६
अर्बुदम्	–	ऋ०	२/११/२०
अर्भगाय	–	ऋ०	१/११६/१

अलातृणः –

सायणाचार्य ने अलम् + √तृह् (हिसायाम्) + क प्रत्यय, कर्म मे (घञर्थे कविधानम्, वा० पा० ३/३/५८) अलम् > अला तृण = अलातृण समासस्वर। जबकि

यास्काचार्य ने अलम् + आ + √तृद् से व्युत्पन्न माना है। जबकि

देवराजयज्वा ने अलम् + √तृद् (हिसा) + ण प्रत्यय, दकार लोप, गुणाभाव – वृषोदरादि (पा० ६/३/१०६) अथवा अलम् + √तृद् + ल्युट् प्रत्यय शेष पूर्ववत्। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **रॉथ** महोदय ने अ + ला (=√रा) धातु से व्युत्पन्न माना है।

अवसाय –

सायण ने अव + √षो (अन्तकर्मणि) धातु को आत्व (आदेच उपदे०, पा० ६/१/४५) = अव + √सा + ल्यप् (समासेऽनञ्, पा० ७/१/३७। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √स्यतिर्विमोचने से व्युत्पन्न माना है। जबकि

यास्काचार्य ने √अव्, अव + √सो धातुओ से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने अव + √सा धातु से निर्वचन किया है।

अविद्रियामभिः –

सायणाचार्य ने अ + वि + √द्रा (गति – कुत्सा) + कि प्रत्यय, भाव में (औणादिक) आकार लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६/४/६४) विद्रि = निद्रा, तद्विरोधिनी अविद्रि = स्तुति, अविद्रि + √या (प्रापणे) + विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३/२/७५) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। जबकि

स्कन्दस्वामी √दृ (विदारणे) धातु से व्युत्पन्न मानते है।

अवृक् –

सायणाचार्य के अनुसार– अ + वृक् < √वृ (वरणे) + कन् प्रत्यय (सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित्, उणादिसूत्र ३/४१), नास्ति वृकोऽस्सिन्, बहुव्रीहि, उत्तरपदान्तोदात्त (नञसुभ्याम्, पा० ६/२/१७२)। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √व्रश्च (छेदने) तथा √वृक् (आदाने) +घञ् भाव मे, वृको हिस्रप्राणी, तत्स्वभावरहित व्युत्पत्ति की है।

अलातृण	–	ऋग्वेद	१/१६६/७, ३/३०/१०
अवसाय	–	ऋ०	१/१०४/१
अविद्रियामभि	–	ऋ०	१/४६/१५
अवृक्	–	ऋ०	१/४८/१५, ५५/६

अश्विना –

सायण ने अश्व + इनि प्रत्यय (मत्वर्थीय) > अश्विन् + औ (प्रथमा द्विवचन) विभक्ति को आकार (सुपा सुलुक्०, पा० ७/१/३६)। जबकि

यास्काचार्य ने √अश् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

और्णवाभ ने √'अश्व' धातु से ही निर्वचन किया है। अश्विना (अश्विनौ) युग्म देवता है।

असुर –

सायणाचार्य के अनुसार दो व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की गयी है –

१. √अस् (क्षेपणे) + उरन् प्रत्यय (असेरूरन्, उ० सू० १/४३), आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६/१/१९७)अस्यति शत्रून् इति असुर ।

२. असु + √रा (दाने) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे क, पा० ३/२/३)

३. असु + र प्रत्यय (मत्वर्थीय) = शक्तिशाली।

सायण की अन्तिम व्युत्पत्ति का आधार तै० ब्रा० है। **जैमिनीयोपनिषद्-बाह्मण** मे √अस् + रम (< √रम्) असुर निर्वचन मिलता है। जबकि

यास्काचार्य ने अ + सु + √रम्, √अस्, असु + √रा धातुओ से निर्वचन किया है।

स्कन्द तथा **माहेश्वर** ने असु + र (मत्वर्थीय) से व्युत्पन्न माना है। जबकि

देवराजयज्वा ने 'असुर' पद की पाँच व्युत्पत्तियाँ दी है –

१. √अस् (भुवि) + उ = असु + √रा + क प्रत्यय (पा० ३/२/३) अस्ति तिष्ठति असु. प्राण तद्राति असुर ।

२. असु + र प्रत्यय (मत्वर्थीय)।

३. √अस् (क्षेपणे) + उरन् प्रत्यय, अस्यति क्षिपति भूमौ जलम्, यद्वा अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वर्षार्थम्।

४. √अस् (गतिदीप्त्यादानेषु) + उरन्, असति गच्छति अन्तरिक्षे दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जल वर्षितुम्।

अश्विना – ऋग्वेद १/५३/४

असुर – ऋ० १/२४/१४, ३५/७, ५४/३, १०८/६, २/३३/६, १०/९६/११

५ √सुर् (ऐश्वर्ये) + क प्रत्यय (पा०३/१/१३६) > सुर, सुरतीति सुर ईश्वर स्वतन्त्र इत्यर्थ, असुर अनीश्वर इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थ ।

रामचन्द्रजैन ने इसका सुरा न पीने वाला अर्थ किया है, अ + सुरा = असुर।

वेद मे 'असुर' शब्द आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनो ही प्रयुक्त है। आद्युदात्त हीनार्थक तथा अन्तोदात्त बलवान् सूचक है। अन्तोदात्त 'असुर' शब्द अवेस्ता मे 'अहुर' रूप से परिणत हो गया है।

अहिम् –

सायण ने आ + √हन् + इ प्रत्यय (आङि श्रिहनिभ्या ह्रस्वश्च, उ० सू० ४/१४७) आङ् को ह्रस्व तथा पूर्वपद को उदात्त अथवा (वृषादीना च, पा० ६/१/२०३)। **ऋग्वेद** मे √हन् के साथ अहि का प्रयोग कई स्थान पर किया गया है। जबकि

यास्काचार्य ने √इ, तथा आ + √हन् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने √इण्गतौ, √अहि (गतौ), √अह् (व्याप्तौ), आ + √हन् धातु से व्युत्पन्न किया है। अहि शब्द असुर वाचक आद्युदात्त तथा नदी वाचक अन्तोदात्त है।

अह्यर्षु –

सायणाचार्य ने अहि + √ऋष् (गतौ) (+ उ प्रत्यय) अहिमाहन्तारं शत्रुमर्षन्त्यभिगच्छन्तीत्यह्यर्षव । जबकि

ग्रासमैन ने अहि + अर्षु व्युत्पत्ति की है। जबकि

गैल्डनर ने अहि + √ऋष् धातु से व्युत्पन्न माना है।

आघृणे –

सायणाचार्य के अनुसार आ + √घृ (क्षरणदीप्त्यो) + नि प्रत्यय तथा गुण का अभाव निपातन से (घृणिपृश्नि०, उ० सू० ४/५४), णत्व (ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्, वार्तिक पाणिनि) जिघर्ति दीप्यते इति घृणि, प्रादिसमास, आमन्त्रित आद्युदात्त। जबकि

यास्काचार्य ने आगत + ह्णि से निर्वचन किया है जबकि–

अहिम् – ऋग्वेद १/३२/१, ३/३२/११

अह्यर्षु – ऋ० २/३८/३

आघृणे – ऋ० १/२३/१३

देवराजयज्वा ने √घृ (क्षरणदीप्त्यो) √घृणु (दीप्तौ) से व्युत्पन्न किया है। सायण ने अन्यत्र √घृणि की व्युत्पत्ति √घृणु दीप्तौ + इन् औणादिक से दी है।

माधवीय धातु वृत्ति मे इसे (√घृ) छान्दस धातु माना गया है।

भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी √घृणु को √घृ का विकसित रूप मानते है, तथा घृणि की व्युत्पत्ति √घृण् धातु से देते है।

खोंदा के अनुसार सम्भवत ऋषि भी इसके मूल अर्थ से परिचित नही थे।

आङ्गूष –

सायणाचार्य के अनुसार –

१. आङ् + √घुष् + घञ् प्रत्यय कर्म मे, आघुष्य इति आघोष । घो को गू आदेश (पृषोदरादीनि०, पा० ६/३/१०६), अनुनासिक व्यत्यय से (आङोऽनुनासिकश्छन्दसि, पा० ६/१/१२६) उत्तरपदान्तोदात्त (व्याथघञ्०, पा० ६/२/१४४)।

२. आङ् + √घुष् + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३/१/१३४) अन्तोदात्त (चित, पा० ६/१/१६३)।

३. √अग् (गतौ) + उषच् प्रत्यय निपातित (अङ्गूष, उ० सू० ४/८२) अङ्गति गच्छति देवान् इत्यङ्गूष स्तोत्रम्। अङ्गूष एव आङ्गूण > अङ्गूष + अण् प्रत्यय (प्रज्ञादि०, पा० ५/४/४८) प्रत्यय स्वर। जबकि–

यास्काचार्य ने आ + √घुष् > आघोष > आगूष > आङ्गूष। जबकि

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसे अङ्ग से सम्बद्ध माना है। प्रत्येक गत्यर्थक धातु तीन अर्थो को समेटती है– ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। जबकि

दयानन्द ने आङ्गूष का अर्थ 'प्राप्तविद्य' किया है। अत √अग् से व्युत्पत्ति अधिक सङ्गत प्रतीत होती है। वैयाकरणो ने भी √अग् + उषन् प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है।

आजि –

सायणाचार्य ने √अज् (गतिक्षेपणयो) + इण् प्रत्यय (आज्यतिभ्या च, उ० सू० ४/१४०), उपधावृद्धि, अजन्ति गच्छन्ति अस्मिनिति आजिर्युद्धम् । प्रत्यय स्वर। जबकि

यास्काचार्य ने √अज् के अतिरिक्त आ + √जू तथा आ + √जि धातुओ से भी निर्वचन किया है।

आङ्गूष	–	ऋग्वेद	१/६१/२, ३/५८/५
आजि	–	ऋ०	१/५१/३, ३/३२/६

आत –

सायणाचार्य ने √अत् (सातत्यगमने) + घञ् प्रत्यय, कर्म मे (अकर्तरि च कारके, पा० ३/३/१६), आद्युदात्त। जबकि

देवराजयज्वा ने पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ आ + √तन् + ड प्रत्यय बाहुलक (उपसर्गे च सज्ञायाम्, पा० ३/२/९६) भी व्युत्पत्ति दी है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने आ + √तन् धातु से व्युत्पन्न माना है।

आत्मदाः –

सायणाचार्य के अनुसार– आत्मन् + √दैप् (शोधने) + विच् प्रत्यय (आतो मनिन्०, पा० ३/२/७४) जबकि

यास्काचार्य ने आत्मन् का निर्वचन √अत् तथा √आप् से किया है। जबकि

दुर्ग ने √अत् से यास्क का निर्वचन स्वीकार नही किया है। जबकि

उपनिषदों मे √आप्, आ + √दा, √अद् तथा √अत् से निर्वचन मिलता है। जबकि

वररूचि ने √अत् धातु से व्युत्पन्न किया है।

आदारः –

सायणाचार्य के अनुसार आ + √दृ (दृङ् आदरे) + धञ् प्रत्यय (दारजारौ कर्तरि णिलुक् च, वार्तिक, पा० ३/३/२७), उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६/२/१४४)। जबकि

ग्रासमैन ने आ + √दर् धातु से निष्पन माना है।

आदित्य –

सायणाचार्य के अनुसार अदिति + ण्य प्रत्यय (दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाद्ण्य, पा० ४/१/८५) आतो लोप, यलोप, उपधावृद्धि, प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त।' जबकि

आत	–	ऋग्वेद	३/४३/६
आत्मदा	–	ऋ०	१०/१२१/२
आदार	–	ऋ०	१/४६/५
आदित्य	–	ऋ०	१/२०/५, १/१४/३, ७/५/१

ब्राह्मणो मे आ + √दा तथा अदिति से निर्वचन मिलता है। जबकि

यास्काचार्य ने आ + √दा, आ + √दीप् तथा अदिते पुत्र निर्वचन किया है।

सायणाचार्य ने इसके विभक्तयन्त रूपो की व्युत्पत्ति भी दी है– अदित्यास प्रथमा बहुवचन आदित्येभि तृतीया बहुवचन।

आरङ्गरेव –

सायणाचार्य के अनुसार– अरम् + गर < √गृ (शब्दे) + अप् प्रत्यय भाव मे (ॠदोरप्, पा० ३/३/५७) > अरङ्गर + अण् (तस्येदम्,पा० ४/३/१२०) अरम् अल पर्याप्तम्, गर शब्दनम् तस्य सम्बन्धिनौ। जबकि

ग्रासमैन ने आरङ्ग + रा, जैसे पतङ्गरा इस प्रकार व्युत्पत्ति की है।

आरणे –

सायणाचार्य के अनुसार– आ + √ऋ + ल्युट् प्रत्यय से व्युत्पत्ति हुई है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** ने आ + अरण से व्युत्पन्न माना है।

आरीः –

सायणाचार्य के अनुसार–

१. √ऋ (गतौ) + इण् बाहुलक (जनिघसिभ्यामिण्,उ० सू० ४/१४८) = आरि + ङीष् (कृदिकारादक्तिनः) = आरी + जस् (प्र० बहुवचन) पूर्वसवर्णदीर्घ (वाच्छन्दसि, पा० ६/१/१०६) व्यत्यय से आद्युदात्त।

२. √ऋ + यङ् (सूचिसूत्रि, वा० पा० ३/१/२२) यङ् का अनैमित्तिक लुक् (यङोऽचि च, पा० २/४/७४), प्रत्यय लक्षण से द्विर्भाव, उरदत्व, हलादिशेष, अ ऋ+ रूक् (रूग्रिकौ च लुकि, पा० ७/४/९१) + 'कि' प्रत्यय औणादिक, यणादेश, रेफलोप (रोरि, पा० ८/३/१४) दीर्घ (पा० ६/३/१११) = आरि + ङीष् स्त्री प्रत्यय > आरी + जस्। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √ऋ तथा आ + √रा (दानार्थक) धातु से व्युत्पन्न माना है।

आरङ्गरेव	–	ऋग्वेद	१०/१०६/१०
आरणे	–	ऋ०	१/१२/६
आरी	–	ऋ०	१/७७/३

आर्त्नी –

सायणाचार्य ने √ऋ (गतौ) + नि प्रत्यय तथा धातु को आर्तभाव बाहुलक = आर्त्नि + ङीष्, स्त्री प्रत्यय (कृदिकारादक्तिन, पा० ४/१/४५) > आर्त्नी + औऱ (प्र० द्वि०) पूर्वसवर्णदीर्घ। जबकि

यास्काचार्य ने आ + √ऋ, अ + रिष् तथा अरण्य से निवर्चन किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √ऋ (गतौ), √कृती (छेदने), √ऋष् (गतौ) तथा √रिष् (हिसायाम्) से व्युत्पत्ति दी है। जबकि

देवराजयज्वा ने √ऋ तथा √रिष् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने आ + अर् से व्युत्पत्ति की है।

आस्य –

सायणाचार्य ने अस् (क्षेपणे) + ण्यत्, अधिकरण मे (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३/३/११३), स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६/१/१८५)। जबकि

यास्काचार्य ने √अस् आ + √स्यन्द धातु से निर्वचन किया है।

आहवम् –

सायणाचार्य के अनुसार– आ + ह्वे (स्पर्द्धयाम्) + अप् प्रत्यय (आङि युद्धे, पा० ३/३/७३), सम्प्रसारण (बहुल छन्दसि, पा० ६/१/३४)। आहूयतेऽत्र इति आहवो युद्धम्। जबकि

ग्रासमैन ने आ + √हु (दानादनयो) धातु से व्युत्पन्न माना है।

इन्द्र –

सायणाचार्य ने √इद् (परमैश्वर्ये) + रन् (ऋजेन्द्रा, उ० सू० २/३१) छन्दति परमेश्वरो भवतीति इन्द्रः। आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६/१/१९७) सायण ने इसे वृषादि माना है; जो उपयुक्त नही है। जबकि

आर्त्नी	–	ऋग्वेद	६/७५/४
आस्य	–	ऋ०	१/३८/१४
आहवम्	–	ऋ०	२/२३/११
इन्द्र	–	ऋ०	१/२/७, ४/४/१०

स्कन्दस्वामी ने √इदि (परमैश्वर्ये), इन् (√इन्ध्) + √द्रा अथवा √द्रप् से व्युत्पन्न माना है।

ब्राह्मणों मे √इन्ध् तथा इन्द्रिय से निवर्चन किया गया है। जबकि

यास्काचार्य ने निम्न निर्वचन किया है– इरा + √दृ, इरा + √दा, इरा + √धा, इरा + √दारय् इरा + √धारय्, इन्दु + √द्रु, इन्दु + √रम्, √इन्ध्। जबकि

आग्रायण ने इदम् + √कृ धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

औपमन्यव ने इदम् + √दृश एव √इन्द् (परमैश्वर्ये) धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

यास्क की इदम् + √दृश् = इन्द्र, व्युत्पत्ति का आधार ऐतरेय आरण्यक है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **रॉथ** महोदय ने √इन + द्र प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है।

इषुम् –

सायणाचार्य ने √इष् (गतौ) + उ प्रत्यय (इषे किच्च, उ० सू० १/१३) ने व्युत्पत्ति की है। जबकि

देवराजयज्वा ने √इष् गत्यर्थक तथा वधार्थक दोनो से व्युत्पन्न माना है–गच्छति शत्रून् हन्ति वा तान्।

इष्मिणः –

सायणाचार्य ने √इष् गतौ + मक् प्रत्यय (इषियुधीन्धि०, उ० सू० १/१३१) गुणाभाव, = इष्म + इनि, मत्वर्थीय = इष्मिन्। जबकि

देवराजयज्वा ने पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ √इष् + मिन् (औणादिक) से भी व्युत्पन्न माना है।

ईर्मा –

सायणाचार्य ने √ऋ + मन् से व्युत्पत्ति की है। सायण ने प्रत्यय का सङ्केत नही किया है। जबकि

यास्काचार्य ने √ईर् धातु से निर्वचन किया है।

उत्सम् –

सायणाचार्य ने √उन्द् (क्लेदने) + स प्रत्यय (उन्द्यमिगुधिकुषिभ्य. कित्, उ० सू० ३/६८/) प्रत्यय के कित् विधान होने से नलोप, उनत्तीत्युत्स व्यत्यय से आद्युदात्त।

इषुम्	–	ऋग्वेद	१/३६/१०
इष्मिण	–	ऋ०	१/८७/६
ईर्मा	–	ऋ०	५/७३/३
उत्सम्	–	ऋ०	३/२६/६

ऋग्वेद-संहिता मे √उन्द् धातु से उत्स की व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है। जबकि–

यास्काचार्य ने उद् + √सृ, उद् + √सद्, उद् + √स्पन्द तथा √उद् धातुओ से निर्वचन किया है।

उदरेषु –

सायणाचार्य ने उद + √दृ (विदारणे) + अल् प्रत्यय तथा 'उद्' शब्द का अन्त्य लोप (उदिदृणाते रलचौ पूर्वपदान्तलोपश्च, उ० सू० ५/१७), लित् स्वर (लिति, पा० ६/१/१६३), उत्तरपदप्रकृतिस्वर (गतिकारको०, पा० ६/२/१३६)। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** ने उद् + √ऋ धातु से निष्पन्त माना है। जबकि–

ग्रासमैन ने– उद् + अर् से व्युत्पन्न किया है।

उद्वत् –

सायणाचार्य के अनुसार–

१ उत् + वन् (सम्भक्तौ) + क्विप् प्रत्यय, अनुनासिक लोप, तुक् का आगम। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर।

२ उत् + वति (उपसर्गाच्छन्दसि वत्यर्थे, पा० ५/१/११८) उद्वत् ब्राह्मणो में एक विशेष साम का नाम है। जबकि

यास्काचार्य ने √अव् धातु से निर्वचन किया है। जबकि–

ग्रासमैन ने √उद् धातु से व्युत्पन्न किया है।

उपब्दि –

सायणाचार्य ने उप + √पद्+ इन् (इन्सर्वधातुभ्य., उ० सू० ४/११४), पृषोदरादित्वात् (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, पा० ६/३/१०६) व्युत्पन्न, उप गुर्वादिसमीपे गम्यते ज्ञायते उपपद्यते इति वा उपब्दिर्वाक्। सायण ने अन्यत्र उप + √वद् (शब्दनार्थ), उप + √पद् तथा उप + √बद् (स्थैर्ये) से व्युत्पत्ति दी है। जबकि–

देवराजयज्वा ने उप √वद्, उप + √दा (द्यते), उप + √दे (दयतेः) + कि प्रत्यय तथा वकारोपजन बाहुलक (उपसर्गे घो किः, पा० ३/३/९२) व्युत्पत्ति देते है। जबकि

ग्रासमैन ने उप + √वद् धातु से व्युत्पत्ति की है।

उदरेषु – ऋग्वेद १/२५/१५
उद्वत् – ऋ० १/३५/३
उपब्दि – ऋ० १/७४/७

उपाभृति –

सायणाचार्य ने – उप + आ + √हृ (हरणे) + क्तिन् प्रत्यय, हकार के स्थान पर छान्दस भकार = उपाभृति + ङि, सप्तमी एकवचन, विभक्ति का लुक् (सुपासुलुक्०, पा० ७/१/३६) गति को प्रकृतिस्वर (तादौ च०, पा० ६/२/५०)। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √भृ धातु से निष्पन्न माना है।

उराणः –

सायण ने – उरू + णिच् + कानच्, णिलोप (णेरनिटि, पा० ६/४/५१) छान्दस वरादेश का अभाव, चित्स्वर जबकि–

ग्रासमैन ने √वृ धातु से निष्पन्न माना है।

उलूखल –

सायण ने इसे पृषोदरादि माना है– उर्ध्व खम् अस्य इति उलूखल ।

शतपथ-ब्राह्मण मे उरू + कर (√कृ)से निर्वचन किया है। जबकि

यास्काचार्य ने उरू + √कृ, उर्ध्व + खम्, √ऊर्ज् + कर धातुओ से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने उरू + खल से व्युत्पत्ति की है।

उशधक् –

सायण ने √वश् (कान्तौ) पृषोदरादि से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने उश <√वश्, + धक् <√दह् धातु से व्युत्पत्ति की है।

उषर्बुधः –

सायण ने उषस् + √बुध् (अवगमने) + क्विप्, रू को उत्वाभाव छान्दस, धातुस्वर से अकार उदात्त, उषसि, बुध्यन्ते इति उषर्बुध समास मे कृदुत्तरपदप्रकृति स्वर। जबकि

ऋग्वेद-संहिता मे उषस् की व्युत्पत्ति √उच्छी (विवासे) धातु से सङ्केतित है। जबकि

उपाभृति – ऋग्वेद १/१२८/२

उराणः – ऋ० ३/१६/२

उलूखल – ऋ० १/२८/६

उशधक् – ऋ० ३/३४/३

उषर्बुध. – ऋ० १/१४/६

यास्काचार्य ने √वश् तथा √उच्छ् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

वैयाकरण √उष् (दाहे) धातु से व्युत्पन्न मानते है।

ऊधनि –

सायण ने ऊधस् + ङि, सप्तमी एकवचन, अनङ् छान्दस (ऊधसोऽनङ्, पा० ५/४/१३१) ऊधस् <उत् + धृ (धारणे) + सुन्न् । जबकि

यास्क ने उद् + √हन्, उप + √नह् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने यास्क से सहमत होते हुए √उन्द् (क्लेदने) धातु से भी व्युत्पत्ति दी है। जबकि

क्षीरस्वामी ने 'उनत्त्यवश्यायेन भूतानि उनत्त्यूध· इति' यह व्युत्पत्ति की है।

ऊर्जः –

सायण ने √ऊर्ज् (बले) + क्विप् ताच्छीलिक (भ्राजभास, पा० ३/२/१७७), ऊर्जयति शरीरमिति, ऊर्क्, विभक्ति को उदात्त (सावेकाच, पा० ६/१/१६८)। जबकि

यास्क ने– √ऊर्ज्, √पच् तथा √व्रश्च् धातुओ से निर्वचन किया है।

ऊर्ध्वसानः –

सायण उर्ध्वस + क्विप्+ शानच् अन्तोदात्त (चित, पा० ६/१/१६८) सायण ने उर्ध्वस <उर्ध्व + √सो (अन्तकर्मणि) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

यास्क ने ऊर्ध्व का निर्वचन उद् + √श्रि धातु से किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** ऊर्ध्व से व्युत्पन्न मानते है।

ऊर्मिः –

सायण ने– √ऋ (गतौ) + मि प्रत्यय तथा धातु को ऊकार अन्तादेश (अर्तेरूच, उ० सू० ४/४६) ऋच्छति गच्छतीति ऊर्मि प्रत्ययस्वर। जबकि

यास्काचार्य ने √ऊर्ण धातु से निर्वचन किया है।

ऊधनि – ऋग्वेद १/५२/३, ३/१२६/१४

ऊर्ज – ऋ० ३/२७/१२

उर्ध्वसान – ऋ० १०/६६/७

ऊर्मि – ऋ० १/२७/६

ऊर्वम् –

सायण ने √ऊर्व् (हिसार्थ) + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३/१/१३४) ऊर्वति क्षुध हिनस्ति इति ऊर्वन्नम्। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने इसे √वृ धातु से निष्पन्न माना है।

ऋक्ष –

सायण ने ऋ + √क्षण् + ड प्रत्यय (औणादिक), ऋृन् मनुष्यान् क्षणोति। जबकि

यास्काचार्य ने– √ऋ + √ख्या से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने– √ऋष् गतौ + किदिन्, √स्तृञ् आच्छादने + क्विप् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

वैयाकरण √ऋष् + स प्रत्यय से व्युत्पन्न करते है। जबकि

ग्रासमैन ने √अर्च् धातु से निष्पन्न माना है।

ऋचीषम –

सायण ने ऋचीषम पद की तीन व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ ऋच् + सम ईकारोपजन पृषोदरादि मानकर, मूर्धन्यादेश (सुषामादिषु च, पा० ८/३/९८) ऋचा सम, तृतीया समास मे पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया तत्कृत०, पा० २/१/३०)।

२ √ऋच् + (स्तुतौ) + इ प्रत्यय (इगुपधात्कित्, उ० सू० ४/१२६) ऋचि + ङीष्, स्त्री प्रत्यय।

३. ऋच् + √ईष् (गतिहिसादर्शनेषु) + अम प्रत्यय।

सायण की पहली और दूसरी व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है। देवराज सायण की दूसरी व्युत्पत्ति से सहमत है। जबकि

ग्रासमैन ने √अर्च् धातु से व्युत्पन्न माना है।

ऊर्वम्	–	ऋग्वेद	१/७२/८
ऋक्ष	–	ऋ०	८/२४/२७
ऋचीषम	–	ऋ०	१/६१/१, ८/६२/६

ऋजिप्याः –

सायण ने ऋजु + √प्याय् (ओप्यायी वृद्धौ) + क्विप्, यलोप (लोपो व्योर्वलि, पा० ६/१/६६) व्यत्यय से पूर्वपद के उकार को इकार, कृदुत्तपद प्रकृतिस्वर। जबकि

गैल्डनर ने √ऋज् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √ऋज्ज् धातु से व्युत्पन्न किया है।

ऋदूदरः –

सायणचार्य ने यास्क का निर्वचन प्रस्तुत किया है। यास्क ने ऋदु (<√मृदु) + उदर से निर्वचन किया है। जबकि

गैल्डनर ने ऋदु + उदर से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ऋदु (<√अर्द) + √दृ धातु से व्युत्पन्न मानते है।

ऋभु –

सायणचार्य ने चार व्युत्पत्तियाँ दी है–

१. उरू + √भा (दीप्तौ)

२. उरू + √भू (सत्तायाम्)

३. ऋत + √भा

४. ऋत + भू, सर्वत्र 'कु' प्रत्यय तथा पूर्वपद को ऋभाव निपातित (मृगय्वादयश्च, उ० सू० १/३७), भा कि आकार का लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६/४/६४) उरू विस्तीर्ण भाति, ऋतेन यज्ञेन भाति भवतीति वा ऋभु। सायण की व्युत्पत्ति सम्भवत यास्क पर आधारित है।

यास्काचार्य ने उरू + √भा, ऋत + √भा, ऋत + √भू ये तीन निर्वचन दिए है। जबकि

ग्रासमैन ने √रभ् धातु से व्युत्पत्ति की है।

ऋजिप्याः – ऋग्वेद ३/३१/१७

ऋदूदर – ऋ० २/३३/५

ऋभु – ऋ० १/२०/४

ओजस् –

सायण ने √उब्ज् (आर्जवे) + असुन् प्रत्यय तथा बलोप (उब्जेर्बलेबलोपश्च, उ० सू० ४/१६७) गुण–आर्धधातुक लक्षण, उब्जतीति ओज । आद्युदात्त (पा० ६/१/१६७) जबकि

यास्क ने √ओज्, √उब्ज् दो धातुओ से निर्वचन किया है। परन्तु

भोज ने √उष् (दाहे) + असुन्, तथा ज का आगम यह व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √उज् (√वज्) धातु से व्युत्पन्न माना है।

ओहम् –

सायणचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ √वह् + घञ् प्रत्यय कर्म मे, छान्दस सम्प्रसारण

२. √ऊहिर् (अदने) + घञ् प्रत्यय । जबकि

ग्रासमैन ने √ऊह् धातु से व्युत्पन्न माना है।

ककुभ –

सायण ने इसे वृषोदरादि माना है। ब्राह्मण के अनुसार ककुप् >√कुज् (कौटिल्यार्थ) अथवा √उब्ज (न्यग्भाव) से व्युत्पन्न है। **यास्क** ब्राह्मण के निर्वचन से सहमत है। जबकि

देवराज के अनुसार **क्षीरस्वामी** के मत मे √ककुभ् से निर्वचन किया गया है। जबकि

माधव ने √कुभ् (उच्छ्य–आश्रित) से व्युत्पन्न किया है। जबकि–

भोज ने 'क' (ब्रह्म) + √स्तभ् अथवा √कक् + उभ् व्युत्पत्ति देते है। जबकि

नागेश ने क + √स्कुभ् + क्विप्, पृषोदरादि मानकर सलोप = ककुभ्, व्युत्पत्ति देते है।

कर्त –

सायण ने √कृ + त प्रत्यय (औणादिक) कर्ते सप्तमी एकवचन यह व्युत्पत्ति की है। जबकि

देवराजयज्वा ने √कृ (हिसायाम्) + तन् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √कृत् धातु से व्युत्पत्ति की है।

ओजस् – ऋग्वेद १/८/७, ६/१/११, ३/२७/७
ओहम् – ऋ० १/६१/१
ककुभ – ऋ० ३/५४/१४
कर्त – ऋ० ६/७३/८

कव्यत् –

सायण ने √कु (शब्दे) + यत् प्रत्यय भाव मे (अचो यत्, पा० ३/१/६७) काव्य कवन स्तुति करोति इस अर्थ मे कव्य + णिच् (तत्करोति तदाचष्टे, वा० पा० ३/१/२६) + क्विप्, णि का लोप (बहुलमन्यत्रापि सज्ञाच्छन्दसो), = कव्य + तुक् = कव्यत् + धातु स्वर से अन्तोदात्त। कव्यता–कव्यत् + आ, तृतीया एकवचन। जबकि

ग्रासमैन ने कव्य + ता से व्युत्पत्ति की है।

किरण –

सायण ने √कृ (विक्षेपे) + क्यु प्रत्यय यु को अनादेश (युवोरनाकौ, पा० ७/१/१) कृ > किर् (ऋृत इद्धातो, पा ७/१/१००) कीर्यन्ते विक्षिप्यन्ते इति किरणा। प्रत्ययस्वर। जबकि

ग्रासमैन ने √किर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

केतु –

सायण ने दो व्युत्पत्तियॉ की है–

१. √कित् (ज्ञाने) + उ प्रत्यय (औणादिक), प्रातिपदिकस्वर (फिषोऽन्तोदात्त, फिटसूत्र १)

२. √चाय् (पूजानिशामनयो) + तु प्रत्यय, धातु को की, आदेश (चाय की च, उ० सू० १/७०), आर्धधातुकलक्षण गुण।

ऋग्वेद-संहिता मे चित् के साथ केतु का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे मिलता है। यह चित् अकर्मक प्रज्ञान अर्थ मे प्रयुक्त है। मधुच्छन्दस ने अकर्मक क्रिया को प्रेरणार्थक रूप मे सकर्मक बनाकर 'केतु' (शुद्धावस्था के कर्त्ता) को करण के रूप मे प्रस्तुत किया है। अत केतु मे चित् सकर्मक रूप मे अभिप्रेत है। यही कारण है कि चित् से अर्थ निर्वचन नही किया, अपितु व्युत्पत्ति सम्बन्ध ही प्रकट किया गया है।

पाणिनि-तन्त्र मे 'स्वतन्त्र' 'की' अथवा 'कि' प्रयुक्त नहीं है अपितु √चाय् के स्थान मे कुछ विशिष्ट शब्द रूपो की सिद्धि के लिए है। (चाय. की, पा० ६/१/२५)

कव्यत् – ऋग्वेद १/६६/२
किरण – ऋ० १/६३/१
केतु – ऋ० १/३/१२

उणादिवृत्तिकारों मे श्वेतवनवासी, भोज, दशपादी, महादेववेदान्ती सभी ने √चाय् + तु से व्युत्पन्न माना है। जबकि

दुर्ग ने √कै शब्दे + तुन् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। अर्थ की दृष्टि से (प्रवृत्ति–निमित्त) यह फारसी 'निशान' के समकक्ष है। जबकि

ग्रासमैन ने √कि धातु से व्युत्पन्न किया है।

केशिन् –

सायणाचार्य ने √क्लिश् (उपताप–विबाधन) + अन प्रत्यय तथा धातुगत ल् का लोप (क्लिशेरन् लोपश्च ल, दशपादी ६/२) क्लिश्नाति क्लिश्यते वाऽनेनेति केश, केश + इनि (मत्वर्थीय), प्रशस्ता केशा अस्य सन्तीति केशी, जबकि

यास्काचार्य ने √काश् धातु से निष्पन्न माना है।

क्षा –

सायणाचार्य ने तीन व्युत्पत्तियॉ की है–

१. √क्षै (क्षये) + क्विप प्रत्यय अधिकरण मे, धातु को आत्व (आदेचउपदेशेऽशिति, पा० ६/१/४५), क्षाययन्ति निवसन्ति अस्यामिति क्षा। यह पृथिवी का नाम है (नि० १/१/५)।

२. √क्षि (निवासगत्यो) + णिच् + क्विप्।

३. √क्षि + ड प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३/२/१०१) क्ष + टाप्, स्त्री– प्रत्यय क्षा, क्षियन्ति निवसन्त्यस्या प्राणेन इति क्षा भूमि, उदात्तनिवृत्ति– स्वर से अन्तोदात्त। जबकि

यास्काचार्य ने √क्षि (निवासकर्मा) से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने √क्षि (क्षये), √क्षि (निवासगत्यो.), √क्षि (हिसायाम्), √क्षै (क्षये), √क्षमूष् (सहने), क्ष्मायी (विधूनने) + ड प्रत्यय इन विभिन्न धातुओं से व्युत्पत्ति की है।

गन्धर्व –

सायणाचार्य के अनुसार– गो + √धृ (धारणे) + व प्रत्यय तथा गो के स्थान पर गन् आदेश, प्रत्यय स्वर, गावो रश्मय: तान् धारयतीति गन्धर्व आदित्यः।

केशिन्	–	ऋग्वेद	१/१०/३
क्षा	–	ऋ०	१/१२७/१०
गन्धर्व	–	ऋ०	१/२२/१४, ३/३८/६, १०/१२३/७

शतपथ ब्राह्मण मे √गृधु (अभिकाङ्क्षायाम्) तथा गन्ध से निर्वचन किया गया है। जबकि

श्वेतवनवासी ने गो + √धृङ् से व्युत्पन्न माना है। जबकि

भोज ने √गन्ध + व प्रत्यय तथा अरक् का आगम। इस प्रकार व्युत्पत्ति की है।

गभस्ति –

सायण ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ √भस् (भर्त्सनदीप्त्यो) + ति (प्) प्रत्यय, धातु को गट् का आगम (भसेर्गट्च, सरस्वती कष्ठाभरण २/१/१८५)।

२. √ग्रह (उपादाने) + ति प्रत्यय (औणादिक) धातु को असुक् का आगम, छान्दस हकार को भकार। जबकि

देवराजयज्वा ने पूर्वोक्त व्युत्पत्तियो के साथ –गो + भस् (भक्षणदीप्त्यो) से भी व्युत्पन्न माना है। जबकि

ग्रासमैन ने √गभ् = जभ् धातु से व्युत्पत्ति की है।

गभीर –

सायण ने √गाध् (प्रतिष्ठा– लिप्सा ग्रन्थ) + ईरच् प्रत्यय तथा ध् > भ्, आ > अ में निपातित (गभीरगम्भीरौ च, उ० सू० ४/३६) आन्तोदात्त। जबकि

देवराजयज्वा ने उपर्युक्त व्युत्पत्ति के साथ √गभ् + ईरन्, तथा गो + भीर <√भी (भये) + √रा– भीयन्ति रातीति भीरा, गवा भीरा गभीरा गम्भीरा च, व्युत्पत्ति दी है। जबकि

उणादिवृत्तिकारों मे इसकी व्युत्पत्ति को लेकर पर्याप्त मतभेद है। **श्वेतवनवासी** के अनुसार √गा + ईरन् प्रत्यय। जबकि

उज्ज्वलदत्त के अनुसार √गम् + ईरन् प्रत्यय। जबकि

दशपादी के अनुसार √गाध् ईरन् प्रत्यय। जबकि

महादेव वेदान्ती ने √गम् + भ + ईरन् (उणादिकोष ४/३५)। जबकि

भोज ने √गम् + ईरच् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

गभस्ति – ऋग्वेद ३/६०/५

गभीर – ऋ० ३/३२/१६

दुर्ग ने √गम् + ईर से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √गाह् धातु से व्युत्पत्ति की है।

गर्भ –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ √गॄ निगरणे धातु + भन् प्रत्यय (अर्तिगृभ्या भन्, उ० सू० ३/१४३), गिरति गीर्यते वा गर्भ, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६/१/१९७)

२ √गॄ (शब्दे) + भन् प्रत्यय, शेष पूर्ववत। जबकि

यास्काचार्य ने √गभ् (गृणाति अर्थ मे) तथा √गृ (निगरणे) धातु से निर्वचन किया है। जबकि

दुर्गाचार्य ने √ग्रह धातु से व्युत्पन्न माना है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √गृभ् धातु से निर्वचन किया है।

गाथपतिम् –

सायणाचार्य ने गाथा + पति, गाथा < √गै (शब्दे, अर्चतिकर्मा च, निघण्टु ३/१४) + थन् प्रत्यय (उषिकुषिगर्तिभस्थन् उ० सू० २/४), नित्स्वर, गाथ + टाप् स्त्री–प्रत्यय गायत्यसौ देवता गायन्ति तामिति वा गाथा, गाथाया पति गाथपति पूर्वपद मे ह्रस्व (ङयापो सञ्ज्ञाच्छन्दसोर्बहुलकम्, पा० ६/३/६३) (पत्या वैश्वर्ये, पा० ६/२/१८) से प्राप्त पूर्वपदप्रकृति स्वर को बाधकर पूर्वपदान्तोदात्त (मरूद्वृधादीना छन्दस्युपसख्यानम्, वार्तिक०)। जबकि

गैल्डनर महोदय ने गाथा < √गै धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन महोदय ने √गा धातु से व्युत्पत्ति की है।

घ्रंस –

सायणाचार्य ने– √ग्रह (उपादाने) + घञ्, पृषोदरादि, ग् > घ्, नुक् का आगम, ह् > स् = घ्रंस, गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा इति घ्रस·। जबकि

गर्भ – ऋग्वेद ३/२७/६, ८/१२/११

गाथपतिम् – ऋ० १/४३/४

घ्रंस – ऋ० ५/३४/३

यास्काचार्य ने √ग्रस् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इसे √घृ (क्षरणदीप्त्यो) से निष्पन्न क्रिया शब्द मानते है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √घर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

चक्षुस् –

सायण ने √चक्ष् + असि प्रत्यय (चक्षे शिच्च, उ० सू० २/१२१), शित् होने से आर्धधातुक, अतएव ख्याञादेश का अभाव, नित्स्वर (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फिटसूत्र २६)। जबकि

यास्काचार्य ने √ख्या और √चक्ष् दोनो धातुओ से निर्वचन किया है।

चनस् –

सायणाचार्य ने √चाय् (पूजानिशामनयो) + असुन् प्रत्यय, नुट् का आगम तथा धातु को ह्रस्व (चायेरन्ने ह्रस्वश्च, उ० सू० ४/२०५) यकारलोप, आद्युदात्त। जबकि

गैल्डनर ने √कन् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासैमन ने √चन् धातु से व्युत्पत्ति की है।

चन्द्र –

सायणाचार्य ने √चन्द् (चदि आह्लादने, दीप्तौ च) + रक् (स्फायिताञ्चि०, उ० सू० २/१३), प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त – चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्र । जबकि

यास्काचार्य ने √चन्द्र (कान्तिकर्मा), चारू + √द्रम, चिर + √द्रम्, √चम् (अदने) + √द्रम् धातुओ से निर्वचन किया है।

चन्द्रमस् –

सायणाचार्य ने चन्द्र + √मा + असि प्रत्यय (चन्द्रे मो डित्, उ० सू० ४/२३३), चन्द्रमाह्लादन मिमीते निर्मिमीते इति चन्द्रमाः, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (दासीभारादित्वात्)। जबकि

यास्काचार्य ने √चाय् + √द्रम्, चन्द्र + √मा, चन्द्र + मान आदि निर्वचन किया है।

चक्षुस् – ऋग्वेद १/२२/२०, ३/२६/७
चनस् – ऋ० १/३/६
चन्द्र – ऋ० १/५२/३
चन्द्रमस् – ऋ० १/२४/१०

चर्षणि –

सायण ने √कृष् (आकर्षणे, विलेपने) अनि प्रत्यय तथा धातु के आदि को चकारादेश (कृषेरादेश्च च, उ० सू० २/१०४) प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। जबकि

यास्काचार्य ने √चाय् धातु से निष्पन्न माना है। जबकि

वररूचि ने √चाय् + √ऋष् धातुओ से निष्पन्न माना है। जबकि

देवराजयज्वा के अनुसार भट्टभास्कर 'आकर्षन्ति वशीकुर्वन्ति अर्थकर √कृष् धातु से ही निष्पन्न मानते है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** √चर् धातु से निष्पान्न मानते है।

चिकितानः –

सायण ने √कित् + लिट् + कानच् (लिट कानज्वा, पा० ३/२/१०६) व्युत्पत्ति की है। जबकि

गैल्डनर ने √चित् धातु से व्युत्पत्ति की है।

छन्दस् –

सायण ने √छद् (सवरणे) धातु से व्युत्पत्ति की है। सायण ने प्रत्यय का सड्केत नही किया है।

स्कन्दस्वामी छन्दस् को कान्तिवचन मानते है। ब्राह्मणो मे √छद्(सवरणे–छादन) से निर्वचन किया गया है।

यास्काचार्य ने √छादय् (सवरण) से निर्वचन किया है। स्कन्द छद् को व्याप्त्यर्थ बताते हैं। जबकि

वैयाकरण √चदि(आह्लादने) + असुन् प्रत्यय, धातु के आदि को छकारादेश, चन्दति आह्लादयति वैदिकान् इति छन्द । जबकि

भोज तथा **दुर्गसिंह** ने √छद् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √छन्द् धातु से निष्पन्न माना है।

चर्षणि – ऋग्वेद १/७/६

चिकितानः – ऋ० ३/१८/२

छन्दस् – ऋ० १/६२/६

छर्दिः –

सायण ने √छृद् (उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयो) + इसि प्रत्यय (अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिछादिभ्य इसि, उ० सू० २/१०६) लघूपधगुण, छृद्यते दीप्यते सुवर्णादिभिर्धनै प्रकाश्यते इति छर्दि । प्रत्यय स्वर। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √छद् धातु से व्युत्पत्ति की है।

जगत् –

सायण ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ √गम् (गतौ) + अति तथा शतृवद्भाव (वर्तमाने पृषद्बृहन् महज्जगच्छतृवच्च, उ० सू० २/८४), निपातन से द्विर्वचन तथा मकारलोप, गच्छतीति जगत्, आद्युदात्त (अभ्यस्तानामादि, पा० ६/१/१८६)।

२ √गम् (गतौ) + क्विप् प्रत्यय तथा द्वित्व (द्युतिगमिजहातीनां द्वे च, वार्तिक पाणिनि ३/२/११८), अनुनासिक लोप (गम. क्वौ, पाणिनि ६/४/४०), अभ्यास आद्युदात्त। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √गा धातु से निष्पन्न माना है।

जठर –

सायण ने √जन् (प्रादर्भावे) + अर प्रत्यय तथा धातु को ठकार अन्तादेश (जनेररठश्च, उ० सू० ५/३६), जनयतीति जठरम् उदर कठिन च, प्रत्यय स्वर। जबकि

यास्काचार्य ने जग्ध √अद् + √धृ, जग्ध (√अद्) + धा धातु से निष्पन्न माना है।

जरा –

सायण ने √जृ (जृष् वयोहानौ) + अड् प्रत्यय (षिदिभदादिभ्योऽड् ३/३/१०४), गुण (ऋदृशो डि गुण., पा० ७/४/१६), जर + टाप् स्त्री–प्रत्यय (अजाद्यतष्टाप्, पा० ४/१/४), प्रत्यय का आदि उदात्त (आद्युदात्तश्च पा० ३/१/३)। जबकि

यास्काचार्य ने √जृ (स्तुतौ) धातु से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √जर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

छर्दि	–	ऋग्वेद	१/४८/१५
जगत्	–	ऋ०	१/१०१/५
जठर	–	ऋ०	३/३६/१४
जरा	–	ऋ०	१/२७/१०

जरितृ –

सायण ने √जृष् (वयोहानौ) + तृच् , इट् का आगम्, अन्तोदात्त। ऋग्वेद सहिता में यह धातु स्तुति और वयोहानि के अर्थो मे प्रयुक्त है। विश्वामित्र ऋषि ने √जृ के साथ कर्त्ता के रूप मे जरितृ का प्रयोग किया है। जबकि

यास्काचार्य ने √गृ > गरितृ > जरितृ निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने √जृ (अर्चतिकर्मा) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √जर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

जिह्वाः –

सायण ने √लिह् (आस्वादने) + वन् प्रत्यय निपातित (शेवायह्वाजिह्वाग्रीवाप्वामीवा, उ० सू० १/१४०), लकार जकार मे परिवर्तित, गुण का अभाव, व्यत्यय से अन्तोदात्त व्युत्पत्ति की है। जबकि

यास्काचार्य ने √ह्वे (स्पर्धाया शब्दे च) से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने √लिह् + व, √ह्वे + यङ् + क, √हु + यङ् + क आदि निर्वचन किया है।

वैयाकरणो मे **दशपादी** तथा **भोज** ने भी √लिह् धातु से ही व्युत्पत्ति की है– 'लिहन्ति अनया रसान्'। जबकि

श्वेतवनवासी ने √जीव् (प्राणधारणे) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

दुर्गसिह ने √हा (त्यागे) + क्त प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है।

तुर –

सायण ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ √तुर् (त्वरणे) + क प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, पा० ३/१/१३५)।

२. √तुर्व् (हिसार्थक) + अच् प्रत्यय (पचादि), छान्दस वलोप। जबकि

यास्काचार्य ने √त्वर्, धातु से निर्वचन किया है। जबकि

जरितृ	–	ऋग्वेद	१/३८/५
जिह्वा	–	ऋ०	३/२०/२
तुर	–	ऋ०	१/१८/२

स्कन्दस्वामी ने √त्वर्, √तुर्व्, तु + √रिष् धातुओ से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √तुर् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

रॉथ महोदय ने √तु धातु से व्युत्पत्ति की है।

तुर्वणिः –

सायण ने √तुर्वी (हिसार्थ) + अनि (औणादिक) प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

यास्क ने तूर्ण + √वन् धातु से निर्वचन किया है।

देवराजयज्वा ने भी तूर्ण + √वन् (सभजन) + इन् (इन सर्वधातुभ्य, उ० सू० ४/११४) > तूर्णवनि > तूर्वणि–तूर्ण वनोति सभजते तूर्णवनि । जबकि

ग्रासमैन ने √तुर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

तुविग्रि –

सायण ने तुवि + √गृ शब्दे + कि प्रत्यय (औणादिक) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √गिर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

तृण –

सायण ने √तृह् (हिसायाम्) + क्नन् प्रत्यय तथा हकार लोप (तृहे क्नन् हलोपश्च, उ० सू० ५/७), कित् होने से गुण का अभाव, तृह्यते तद् गवादिभिरिति तृणम्, नित्स्वर ये व्युत्पत्ति की है। जबकि

यास्काचार्य ने √तृद् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

श्वेतवनवासी के अनुसार √तृण (अदने) + क प्रत्यय (इगुपधलक्षण) से भी तृण की सिद्धि सम्भव है, परन्तु स्वर सिद्धि के लिए पुनर्वचन आवश्यक है।

तोकसाति –

सायण ने तोक + साति (< सन् (षणु दाने), दीयतेऽस्मिन्नपत्यमिति तोकसाति) व्युत्पत्ति की है। परन्तु

यास्काचार्य ने तोक < √तुद् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

तुर्वणि. – ऋग्वेद १/५६/३
तुविग्रि – ऋ० २/२१/२
तृण – ऋ० ३/२६/६
तोकसाति – ऋ० १०/२५/६

देवराजयज्वा ने √तुद् + घ, साति < √स्तु + क, √तु (सौत्र धातु) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √तुच् धातु से व्युत्पत्ति की सम्भावना की है।

त्वष्टृ –

सायण ने दो व्युत्पत्तियॉं दी है –

१ √त्वक्ष (तनूकरणे) + तृन् प्रत्यय (औणादिक) ककारलोप (स्को सयोगाद्योरन्ते च, पा० ८/२/२६), ष्टुत्व, आद्युदात्त।

२ √त्विष् (दीप्तौ) + तृन् निपातित (नप्तृनेष्टृ०, उ० सू० २/९६)। जबकि

यास्काचार्य ने तूर्ण + √अश्, √त्विष् (वृद्ध्यर्थ), √त्वक्ष् (करोतिकर्मा) आदि विभिन्न धातुओ से निर्वचन किया है।

दंसुजूतः –

सायण ने दसु + जूत, दसु < √दम् (उपशमे) + विच् प्रत्यय पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि, पा० ६/२/४८)। जबकि

गैल्डनर ने √दम् + सु प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने जूत < √जु धातु से व्युत्पत्ति की है।

दधीचः –

सायण ने दधि + √अञ्च + क्विन् + ङस्, षण्ठी एक वचन, विभक्ति उदात्त (अञ्चेश्छन्दस्य सर्वनामस्थानम्, पा० ६/१/१७०)। जबकि

यास्काचार्य ने √ध्यै + √अञ्च् धातुओ से निर्वचन किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने ध्यान + √अञ्च् + क्विन्–पृषोदरादि होने से ध्यान को दधि भाव। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने दधि + √अच् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

रॉथ महोदय ने सायणाचार्य की व्युत्पत्ति का अनुसरण किया है।

त्वष्टृ	–	ऋग्वेद	१/१३/१०
दसुजूत	–	ऋ०	१/१२२/१०
दधीच	–	ऋ०	१/८४/१३

दुर्गृभिश्वनः –

सायण ने दुर् + √ग्रह् (उपादाने) + अश (व्याप्तौ), पृषोदरादि। इस प्रकार व्युत्पत्ति की है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने दुर्गृभि (दुर्ग्रहवचन) + शु + अन् + ङस्, षण्ठी एकवचन, दुर्गृभि श्वा क्षिप्रप्रश्वास यस्य स दुर्गृभिश्वा शु अनन तस्य दुर्गृभिश्वन । दुर्गृभि < दुर् + √ग्रह् + इन् (औणादिक), सम्प्रसारण (ग्रहिज्या०, पा० ६/१/१६), हकार के स्थान पर भकार (हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वार्तिक पाणिनि ८/२/३१) आद्युदात्त (पा० ६/१/१६७) समास मे गति स्वर (गति०, पा० ६/२/१३६)। जबकि

ग्रासमैन ने गृभि < √ग्रभ् धातु से निर्वचन किया है।

धायसे –

सायण ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है –

१ धायस् = < √धा + असुन् (वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि, उ० सू० ४/२६), युक् का आगम (आतो युक् चिण्कृतो, पा० ७/३/३)।

२. √धेट् (पाने) धातु से व्युत्पत्ति की है।

स्कन्दस्वामी ने भी √धेट् पाने धातु से ही व्युत्पत्ति की है। जबकि

गैल्डनर महोदय ने √धी धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन महोदय ने √धा धातु से निर्वचन किया है।

पपुरिः –

सायण ने √पृ + किन् प्रत्यय(आदृगमहन०, पा० ३/२/१७१), कित्करणसामर्थ्य से गुण (ऋच्छत्यृताम्, पा० ७/४/११) का अभाव, उत्व (उदोष्ठ्य पूर्वस्य, पा० ७/१/१०२), नित् होने से आद्युदात्त। **ऋग्वेद-संहिता** मे √पृ से ही इसकी व्युत्पत्ति अभीष्ट होती है। जबकि

यास्काचार्य ने √पृ तथा √प्री दोनो धातुओं से व्युत्पत्ति की है। जबकि

गैल्डनर ने √पृ धातु से तथा **ग्रासमैन** ने √पर अथवा √पुर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

दुर्गृभिश्वन – ऋग्वेद १/५२/६
धायसे – ऋ० १/३१/१३
पपुरि. – ऋ० १/४६/४

परिज्मन् –

सायणचार्य ने तीन व्युत्पत्तियाँ दी है –

१. परि + √अज् (गतिक्षेपणयो) + मनिन् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३/२/७५) छान्दस अकारलोप, आमान्त्रित निघात, अन्यत्र नित् होने से आद्युदात्त इस प्रकार व्युत्पत्ति की है।

२. परि + √अज् + मनिन् निपातन से (श्वन्नुक्षन्, उ० सू० १/१४६)।

३. परि + √अज् + कनिन् (उ० सू० १/१४६)। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √अज् (गतौ) धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

श्वेतवनवासी ने परि + √ज्वर + कनिन् धातु को ज्मादेश यह व्युत्पत्ति देते है। जबकि

उज्ज्वलदत्त परिज्वा रूप मानते है, परन्तु **पेरूसूरि** इसे उचित नही मानते। जबकि

दशपादी ने परि + √जन् (प्रादुर्भावे) + कनिन्, प्रत्यय परि का उपधा लोप, तथा 'म' अन्तादेश। जबकि

रामभद्रदीक्षित ने परि + √जस् (जसि प्रादुर्भावे से व्युत्पन्न मानते है)। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने परि + √गम् धातु से व्युत्पत्ति की है।

पर्जन्य –

सायणाचार्य ने यास्क की व्युत्पत्ति उद्धृत कर दी है – √तृप्, आद्यन्तविपर्यय द्वारा > √पर्त् + जन्य, पर + √जि, पर + √जन्, प्र + √अर्ज् (< √ऋज्)। जबकि

स्कन्दस्वामी ने यास्क के निर्वचनो को स्पष्टता दी है –

१. पर्त् (< तृप्) + जन्य < जन + य (हितार्थ में नामकरण)।

२. √पर्त् + जन् + य, हितार्थ मे तर्पयिता चासौ जन्यश्चेति।

३. पर + √जि + न्य प्रत्यय, पर के अकार का लोप।

४. पर + √जन् + य, नामकरण।

५. प्र + √अर्ज् + न्य प्रत्यय, प्र का रेफलोप, अकारद्वय का पररूप।

परिज्मन् – ऋग्वेद १/६/६, ५/१०/५
पर्जन्य – ऋ० ५/८३/१

वररूचि ने √तृप् + जन्य से आद्यन्तविपर्यय तथा तकारलोप द्वारा व्युत्पन्न माना है। जबकि

शौनक ने प्र + √अर्ज् से व्युत्पत्ति दी है। जबकि

क्षीरस्वामी √पृष् (सेचने) से व्युत्पन्न माना है। उणादि वृत्तिकारो मे इस शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर पर्याप्त मतभेद है।

उज्ज्वलदत्त √पृष् (सेचने से) निपातित मानते है। जबकि

श्वेतवनवासी √अर्ज् (आर्जने) + अन्य प्रत्यय तथा धातु को पुट् का आगम कर व्युत्पत्ति देते है। जबकि

दशपादी ने परि + √वृष (सेचने) + अन्य प्रत्यय तथा परि + √गर्ज् + अन्य प्रत्यय निपातन से, परिवर्षति परिगर्जति वा पर्जन्य व्युत्पत्ति करते है। जबकि

दण्डनाथ नारायण ने √प्रु + क्यप् तथा जुट् का आगम करके व्युत्पत्ति की है। जबकि

दुर्ग सिह ने √पृच् (सम्पर्के) + अन्य प्रत्यय निपातन से। जबकि

भट्टोजिदीक्षित √पृषु (सेचने) + ष > ज, से व्युत्पन्न करते है।

पर्फटीका –

सायण ने तीन व्युत्पत्तियॉ दी है –

१. √फल् (ञिफला विशरणे) + ईक प्रत्यय निपातित (पर्फटीकादयश्च, उ० सू० ४/२०)।

२. √पृ (पालनपूरणयो) + ईकन्, निपातित।

३. √फर्व् (पूरणार्थ)। जबकि

वेङ्कटमाधव √फर् (फरिर्गमनकर्मा) से व्युत्पन्न मानते हैं। जबकि

उज्ज्वलदत्त ने √स्फुट् (स्फुरणे), धातु व पर्फरादेश इस प्रकार व्युत्पत्ति की है। जबकि

श्वेतवनवासी ने √फल् (निष्पत्तौ) + ईकन्, धातु को पर्फराभाव इस प्रकार व्युत्पत्ति की है। जबकि

पेरूसूरि ने √स्फुट्, √फल, √पर्व् तथा √वृ धातुओ से निपातनात् व्युत्पत्ति की है ।

पृश्निगुम् –

सायणाचार्य ने पृश्नि + गो, पृश्नयो नानावर्णा गावो यस्य स तथोक्तः, गो को ह्रस्व (गोस्त्रियोरूपसर्ज नस्य, पा० १/२/४८)। जबकि

पर्फटीका – ऋग्वेद १०/१०६/६

पृश्निगुम् – ऋ० १/११२/७

यास्काचार्य ने पृश्नि का निर्वचन प्र + √अश्, प्र + √स्पृश् धातुओ से किया है। जबकि

श्वेतवनवासी ने √पृष् (सेचने) + नि प्रत्यय, शकार अन्तादेश तथा गुण का अभाव निपातन से (घृणिपृश्निपार्ष्णिभूर्णि, उ० सू० ४/५४) जबकि

दशपादी वृत्तिकार √स्पृश (सस्पर्शने) से व्युत्पत्ति देते है।

प्रेणिम् –

सायणाचार्य ने √प्रेण् (गतिप्रेरणश्लेषणेषु) + इ प्रत्यय (औणादिक) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √प्री धातु से व्युत्पत्ति की है।

फर्वरेषु –

सायण ने √फर्व् (पूरणार्थक)+ रन् प्रत्यय (औणादिक) से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √फर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

भूर्णि –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है–

१ √भृ (भरणे) + नि प्रत्यय, गुणाभाव तथा ऊकार निपातन से (घृणिपृश्निपार्ष्णिभूर्णि, उ० सू० ४/५४) व्युत्पत्ति की है।

२ √भृ (भये) + क्तिन् प्रत्यय कर्त्ता मे (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३/३/११३), उत्व (उदोष्ठ्यपूर्वस्य, पा० ७/१/१०२), दीर्घ (हलि च, पा० ८/३/७७) निष्ठावद्भाव (ऋकारल्वादिभ्य क्तिन्, निष्ठावद्भवति, वा० पा० ८/२/४४) होने से नत्व, आद्युदात्त इस प्रकार व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √भुर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

मख –

सायण ने √मह् (पूजायाम्) + ख प्रत्यय तथा हलोप (महेश्च, उ० सू० ५/२३) मह्यते पूज्यते सर्वैरिति मखः, अन्तोदात्त (खान्तस्याश्मादे, फि० ६) वचन सामर्थ्य से। जबकि

वेङ्कटमाधव ने √मह् (दानकर्मा) धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √मख् धातु से व्युत्पत्ति की है।

प्रेणिम्	–	ऋग्वेद	१/११२/१०
फर्वरेषु	–	ऋ०	१०/११६/२
भूर्णि	–	ऋ०	१/५५/७
मख	–	ऋ०	३/३४/२

मातरिश्वन् –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है –

१. मातृ + डि + √श्वस् (प्राणने) + कनिन् प्रत्यय निपातित (श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १/१४६) निर्माण–हेतुत्वात् माता, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति प्राणतीति मातरिश्वा वायु।

२. मातरि + √अस् (गतिदीप्यादानेषु) + ड्वन् प्रत्यय (औणादिक) सायण की व्युत्पत्ति यास्क से प्रभावित है। जबकि

यास्काचार्य ने मातरि + आशु + √अन् (प्राणने) निर्वचन किया है। जबकि

वैयाकरण मातरि + √शिव (टुओश्वि गतिवृद्धयो·) + कनिन्, टिलोप, तथा विभक्ति का अलुक् निपातन से, व्युत्पत्ति देते है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √श्वस् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने मातरि + √शु धातु से व्युत्पत्ति की है।

मूर्धा –

सायणाचार्य ने √मुह् (वैचित्ये) + कनिन् प्रत्यय, उपधादीर्घ, धकार अन्तादेश तथा अन्त्य से पूर्व को रेफ निपातित। जबकि

यास्काचार्य ने मूर्त + √धा धातु से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √मुर् धातु से व्युत्पत्ति की है।

यह्वस्य –

सायणाचार्य ने √या (प्रापणे) वन् प्रत्यय, हुक् का आगम तथा धातु को ह्रस्व–(शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा., उ० सू० १/१४०), यान्त्यनेनेति यह्वोऽग्नि., व्यत्यय से अन्तोदात्त जबकि

यास्काचार्य ने √या + √ह्वे धातु से निर्वचन किया है। जबकि

भोज ने √यस् (प्रयत्ने) + क्वन् प्रत्यय, हकार अन्तादेश यह व्युत्पत्ति की है। जबकि

मातरिश्वन् – ऋग्वेद १/३१/३

मूर्धा – ऋ० १/५६/२

महादेव वेदान्ती ने √यज् धातु ये व्युत्पत्ति की है। जबकि

देवराजयज्वा ने √यज्, √यस्, √या + √ह्वे धातुओ से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √यह् धातु से व्युत्पत्ति की है।

रक्षस् –

सायणाचार्य ने रक्षस् पद की तीन व्युत्पत्तियॉ दी है –

१ √रक्ष् (पालने) + असि प्रत्यय, अपादान मे (औणादिक अथवा भीमादित्वात्, पा० ३/४/७४), रक्षितव्यमस्मादिति रक्ष ।

२. √रक्ष् + असुन् करण मे (असुन्, उ० सू० ४/१६४), रक्षत्यनेनेति रक्षोबलम्।

३ √क्षर् + णिच् + असि प्रत्यय, णिलोप, धातु का वर्ण विपर्यय, रक्षस्, प्रत्यय स्वर । जबकि

ब्राह्मण ग्रन्थो मे √रक्ष् (घेरा डालना) से इसका निर्वचन अभीष्ट है। जबकि

यास्काचार्य ने √रक्ष् रहस् + √क्षण्, रात्रि + √नक्ष् आदि विभिन्न धातुओ से निर्वचन किया है।

रण्व –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी हैं–

१. √रव् (गत्यर्थ) + अच् बाहुलक (नन्दिग्रहि०, पा० ३/१/१३४), रण्वति रण्व्यते प्राप्यते यज्ञान् गच्छन्तीति रण्व, नुमागम (इदितो नुम्धातो, पा० ७/१/५८), चित्स्वर (पा० ६/१/१६३)।

२. √रव् + क प्रत्यय कर्म मे, इदित् होने से नुमागम। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √रण् धातु से निर्वचन किया है।

रथ –

सायणाचार्य ने रथ पद की दो व्युत्पत्तियॉ दी हैं–

१. √रम् (क्रीडायाम्) + क्थन् प्रत्यय (हनिकुषिनीरमिकाशिभ्य क्थन्, उ० सू० २/२) कित् होने से मकारलोप (उनुदात्तोपदेश, पा० ६/४/३७), इट् प्रतिषेध (एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात्, पा० ७/२/१०) रमन्तेऽस्मिन्निति रथ, आद्युदात्त (पा० ६/१/१६७)।

रक्षस्	–	ऋग्वेद	१/३५/१०
रण्व	–	ऋ०	१/६५/३, १/६६/२, ३/२६/१, ३/६१/५

वितन्तसाय्यः –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है –

१ वि + √तन् (विस्तारे), छान्दसरूप ।

२. वि + √तन्तस् (वृद्ध्यर्थक, हिंसा, कण्ड्वादि) + आय्य प्रत्यय कर्त्ता मे (औणादिक)। जबकि

स्कन्दस्वामी ने तीन व्युत्पत्तियॉ की हैं –

१. वितन् < √तन् (विस्तारे) + √सो अन्तकर्मणि।

२ वितन् < √तन् विस्तारे + तसाय्य (< तसु उपक्षये)।

३. वि + √तम् (अभिकाक्षायाम्) + तन् प्रत्यय कर्त्ता मे, = वितन् + √तस् (उपक्षये) + (आय्य) = वितन्तसाय्य, तसाय्य विगतो यस्य स वितन्तसाय्य । जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने वि + √तंस् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

गैल्डनर ने वि + तमस् से व्युत्पत्ति की है।

विधु –

सायणाचार्य के अनुसार – वि + √धा (करोत्यर्थे) + कु प्रत्यय (पृभिदिव्यधिगृधिधृषिदृशिभ्य., उ०सू० १/२३)। जबकि

श्वेतवनवासी ने √व्यध् (ताडने) + कु प्रत्यय विध्यतीति विधु· व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √विध् धातु से व्युत्पत्ति की है।

विपश्चितम् –

सायणाचार्य ने विप् + शस् + √चि (चयने) + क्विप्, तुक् का आगम (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्, पा० ६/१/७१), बाहुलक द्वितीया का अलुक् (तत्पुरूषे कृति बहुलम्, पा० ६/१/१४), विशेषेण पातीति विपा वाक्, विपो वाचश्चिनोतीति, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर । जबकि

गैल्डनर ने विप् + √चित् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने विपस् + √चित् धातु से व्युत्पत्ति की है।

वितन्तसाय्यः – ऋग्वेद ७/१८/६, ८/७/२२

विधु – ऋ० १०/५५/५

वृकः –

सायणाचार्य ने दो व्युत्पत्तियॉ दी है –

१. √वृक् (आदाने) + 'क' प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिर क, पा० ३/१/१३५) वर्कते इति वृक आद्युदात्त (वृषादीना च, पा० ६/१/२०३)।

२. √वृ (वरणे) + 'क' प्रत्यय (सृवृभूशुषिमुषिभ्य कित्, उ० सू० ३/४१) कित् होने से गुण का अभाव, वृणोतीति वृक । जबकि

यास्काचार्य ने वि + √वृ, वि + √कृ, वि + √क्रम्, √वृज्, वि + √कृन्त् आदि धातुओ से व्युत्पत्ति की है। जबकि

देवराजयज्वा ने √वृक्, √वृ √वृज् (वृणक्ति) आदि धातुओ से निर्वचन किया है। जबकि

ग्रासमैन ने √व्रक् (√व्रश्च्) धातु से निर्वचन किया है।

शवस् –

सायणाचार्य ने √श्वि (गतिवृद्ध्यो.) + असुन् तथा सम्प्रसारण (श्वे सम्प्रसारण च, उ० सू० ४/१९८), गुण. अवादेश, आद्युदात्त (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० सू० २६)। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** तथा **ग्रासमैन** √शू धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।

संस्तिरः –

सायणाचार्य के अनुसार सम् उपसर्ग + √स्तृ (स्तृञ् आच्छादने) + क प्रत्यय (मूलविभुजादित्वात्, पा ३/२/५) उत्तरपदाद्युदात्त (परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६/२/१९९), संस्तिर प्र० ए०। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √स्तिर धातु से व्युत्पत्ति की है।

सत्यः –

सायणाचार्य ने सत् + यत् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। 'सत्सु साधु' सत्य.' सायण के अनुसार हरदत्त के मत मे निपातन से अन्तोदात्त व्युत्पन्न होता। जबकि

वृक	–	ऋग्वेद	१/१०५/१८
शवस्	–	ऋ०	१/८/५
संस्तिर.	–	ऋ०	१/१४०/७

यास्क ने √अस् (भुवि) + √इ, सत् + √तन् धातुओ से सत्य पद का निर्वचन किया है , जबकि **देवराजयज्वा** साधु तथा अर्ह अर्थ मे यत् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न मानते है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** तथा **ग्रासमैन** सत् (< √अस्) धातु से व्युत्पन्न मानते है।

समुद्र –

सायण ने समुद्र पद की अनेक व्युत्पत्तियॉ की है –

१. सम् + √उन्द् (क्लेदने) + रक् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। कित् होने से नलोप, समास मे कृदुत्तरपदस्वर।

२. सम् + उत् + √द्रु (गतौ) + ड प्रत्यय।

३. सायण ने अन्यत्र √मुद् (हर्षे) धातु से व्युत्पत्ति दी है। जबकि

ब्राह्मणों मे सम् + √द्रु धातु से निर्वचन मिलता है। जबकि

यास्काचार्य ने सम् + उद् + √द्रु, सम् + अभि + √द्रु, सम् + √उन्द्, सम् + √मुद्, सम् + उद (जल) आदि अनेक निर्वचन प्रस्तुत किये है। जबकि

वैयाकरण सम् + √उन्द् (क्लेदने) धातु से व्युत्पन्न मानते है।

सवितृ –

सायण ने अनुसार √सु (प्रेरणे) + तृच्, इडागम (आर्धधातुकस्येड्वलादे , पाणिनि की अष्टाध्ययी ७/२/३५), अन्तोदात्त (चित , पा० ६/१/१६३) सायण की व्युत्पत्ति ब्राह्मण एव निरूक्त से पुष्ट है। जबकि

अर्हिबुध्न्यसंहिता मे इसे √षु (प्रेरणे) + √अव् (गति–कान्ति) + √तृ (दानकर्मा) इन तीन धातुओ से व्युत्पन्न बताया गया है। जबकि

शौनक ने √षु (प्रेरणे) धातु से ही निर्वचन किया है।

सस्नि –

सायणाचार्य ने इसकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति की है –

१. √स्ना (शौचे) + किन् प्रत्यय

समुद्र – ऋग्वेद १/१६/८, ३/३६/७

सवितृ – ऋ० १/२२/५, ३/२०/५

२. √सस् (षस् स्वप्ने) + निन् प्रत्यय (औणादिक, आद्युदात्त) जबकि

यास्काचार्य ने √स्ना धातु से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √सन् आधु से व्युत्पत्ति की है।

सिनम् –

सायण ने √सि (बन्धने) + नक् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। सिनाति बध्नाति, सीयतेऽनेनेति वा, व्यत्यय से आद्युदात्त। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **रॉथ** तथा **गैल्डनर** ने √सन् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन ने √सा, √सन्, √सि इन तीनो धातुओ से सिनम् पद की व्युत्पत्ति की है।

सिन्धु –

सायण ने √स्यन्द् (प्रस्रवणे) + उ प्रत्यय, सम्प्रसारण तथा धकार अन्तादेश (स्यदे सम्प्रसरण धश्च, उ० सू० १/११), 'नित्' (उ० सू० १/६) की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त (पा० ६/१/१९७) स्यन्दत इति सिन्धु। जबकि

यास्काचार्य ने √स्यन्द् तथा √स्रु धातु से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √सिध् धातु से व्युत्पत्ति की है।

सुवृक्ति –

सायण ने दो व्युत्पत्ति की है –

१. सु + √वृज् (वर्जने) + क्तिन् प्रत्यय करण मे, व्यत्यय से उत्तरपदान्तोदात्त।

२. सु + √वृज् + क्तिच् (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्, पा० ३/३/१७४), कृत्स्वर से अन्तोदात्त। जबकि

यास्काचार्य ने सु + √वृत् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** ने सु + ऋक्ति (< √अर्च्), से व्युत्पत्ति की है। जबकि

मैक्समूलर √वृज् धातु से साफ–सुथरी, निर्दोष, पवित्र स्तुति अर्थ में पर्यवसित मानते हैं। जबकि

सिनम् – ऋग्वेद ३/६२/१

सिन्धु – ऋ० १/११/६, ३/३२/१६

रॉथ महोदय ने सु + √रूच् धातु + क्तिन् प्रत्यय, 'व' का आगम (सु + व् + इतर < सु + इत के सादृश्य पर) कर व्युत्पन्न करते है।

सूर्य –

सायण ने दो प्रकार से व्युत्पत्ति की है –

१. √सू (प्रेरणे) + क्यप् प्रत्यय तथा रूट् का आगम निपातित (राजसूयसूर्य० पा० ३/१/११४), कित् होने से गुण का अभाव, पित्स्वर (आद्युदात्त) तथा धातुस्वर।

२. सू (प्रेरणे) + क्रन् (औणादिक) + यत् प्रत्यय (स्वार्थिक), आद्युदात्त (यतोऽनाव, पा० ६/१/२१३)। सायण ने अन्यत्र √सृ तथा सु + √ईर् धातु से भी व्युत्पत्ति की है।

जैमिनीय ब्राह्मण मे √सु, √सृ, स्वर्य से व्युत्पत्ति मिलती है। **वृहद्देवता** में सूर्य को प्रवर्तित करने वाला बताया गया है। जबकि

सूर्य-सिद्धान्त मे प्रसूति से सूर्य नाम पडा हुआ माना गया है। जबकि

यास्काचार्य ने √सू, √सृ, सु + √इर् धातु से निर्वचन किया है। जबकि

पतञ्जलि ने √सु तथा √सृ धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

स्कन्द माहेश्वर यास्क के निर्वचन से सहमत होते हुए √स्नु से भी व्युत्पन्न मानते हैं।

हव –

सायणाचार्य ने 'हव' पद की तीन व्युत्पत्तियॉ की हैं –

१. √ह्वे (स्पर्धाया शब्दे च) √हु (सम्प्रसारण–बहुलम् छन्दसि, पा० ६/१/३४), √हु + अप् प्रत्यय (ऋदोरप, पाणिनि ३/३/५७)। पित् होने से अनुदात्त, धातुस्वर शेष रहता है।

२. √ह्वे + अप् (भावेऽनुपसर्गस्य, पाणिनि–३/३/७५) सम्प्रसारण।

३. √हु + अप् प्रत्यय अधिकरण मे। जबकि

यास्काचार्य ने √ह्वे (शब्दे) से निर्वचन किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √हु धातु से निर्वचन किया है।

सूर्य – ऋग्वेद १/३/५

हेळ् –

सायण ने हेळ् पद का निर्वचन इस प्रकार किया है– √हेड् (अनादरे) + क्विप्। हेळ > हेड् + शस्, द्वि० ब०, सुप् के अनुदात्त होने से धातुस्वर। दो स्वरो के मध्य आने वाला डकार ळकार हो जाता है। (ऋक्प्रातिशाख्य १/५२)। जबकि

ग्रासमैन ने √हीड् धातु से व्युत्पत्ति की है।

अश्नवत् –

सायण ने √अश् धातु + लेट् लकार प्र० पु० एकवचन इस प्रकार, व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन, मैक्डानल, ह्विटने आदि पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार, इस क्रिया का मूल धातु √अश् है जिसके विकार √अश् से ऐसे रूप बनते है। पाद मे अतिडन्त पद से परे आने के कारण यह तिडन्त सर्वानुदात्त है।

आगमत् –

सायण के अनुसार– √गम् के अड्–लुड् के अड्ग से विधिमूलक प्र० पु० एक वचन। जबकि

मैक्डानल इसे विकरण लुग्– लुड् के अड्ग से लेट् लकार का रूप मानते है।

दीदिविम् –

सायण, यास्क, महीधर प्रभृति भारतीय विद्वान् √दिव् + कि प्रत्यय तथा लिड्वद्भाव के द्वारा दीदिवि शब्द की सिद्धि करते है।

उणादिसूत्र के अनुसार √दिव् के द्वित्वयुक्त अड्ग से परे क्विन् प्रत्यय है और अभ्यास दीर्घ है। जबकि

ह्विटनी, ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स, तथा **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य विद्वान् √दी 'चमकना' के द्वित्वयुक्त अड्ग के साथ 'वि' प्रत्यय मानकर दीदिवि का समाधान करते है।

हेळ् – ऋग्वेद ४/१/४
अश्नवत् – ऋ० १/१/३
आगमत् – ऋ० १/१/५
दीदिविम् – ऋ० १/१/८

रीरधः –

सायण इसे √राध् ससिद्धौ का लुड्रूप मानते है। जबकि

ग्रासमैन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार यह √रध् (रन्ध्) का लुड्रूप (म० पु० ए०) णिजन्त अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यह चड्लुड् से बना हुआ विधिमूलक है। अतिडत पद से परे आने के कारण यह तिडन्त पद सर्वानुदात्त है।

नावः –

सायण तथा **स्कन्द** इसे नौ का षष्ठी एकवचन मानते है, और इसके साथ पदम् की अनुवृत्ति करते है, जबकि

वेड्कटस्वामी इसे द्वितीया बहुवचन समझते है। जबकि

ग्रासमैन और **पीटर्सन** इसे षष्ठी एकवचन का रूप मानते है। प्रसड्गानुसार यही मत वाक्यार्थ के अधिक अनुकूल है।

दर्शम् –

सायण ने √दृश् धातु के अड् लुड् का अडागमरहित उत्तम पुरुष एकवचन का रूप माना है। पाद के आदि मे आने के कारण इस पर उदात्त है। लुड् का अडागमरहित रूप भूतकालवाचक भी हो सकता है और विधिमूलक भी। अतएव इस बात का निर्णय केवल प्रसड्गानुसार किया जा सकता है। **सायण, वेड्कट, स्कन्द** इत्यादि भारतीय भाष्यकार और **ग्रिफिथ, पीटर्सन** तथा **मैक्समूलर** प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इसे भूतकालवाचक मानते हुए व्याख्यान करते है। इसके विपरीत

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** आदि आधुनिक विद्वान् इसे विधिमूलक मान कर व्याख्यान करते है।

जुषत –

सायण के अनुसार जुष् का (लड् का अडागमरहित) विधिमूलक प्र० पु० एकवचन का रूप है। पाद मे अतिडन्त पद से परे आने के कारण यह सर्वानुदात्त है। **सायण, ग्रिफिथ, पीटर्सन** इसे भूतकाल वाचक रूप समझते है। जबकि

स्कन्द, वेड्कटमाधव, ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** इसे विधिमूलक का रूप मानकर व्याख्यान करते है ।

रीरध	–	ऋग्वेद	१/२५/२
नाव	–	ऋ०	१/२५/७
दर्शम्	–	ऋ०	१/२५/१८
जुषत	–	ऋ०	१/२५/१८

आ + चके –

सायण ने इसे √कै 'शब्दे' का लिट् लकार का रूप माना है। जबकि

ह्विटने, मैक्डानल, ग्रासमैन प्रभृति आधुनिक विद्वान् चके को √का (√कन्) धातु का लिट् लकार के उ० पु० एकवचन आत्मनेपद का रूप मानते है।

मज्मना –

मज्मन् पद का तृतीया एकवचन का रूप है। परन्तु **रॉथ** तथा **मोनियर-विलियम्स** इसे अकारान्त प्रातिपदिक 'मज्मन्' का तृ० ए० वचन क्रियाविशेषण मानते है।

सायण मज्मना पद की व्युत्पत्ति √मस्ज् धातु से करते है। **रॉथ** तथा **मोनियर-विलियम्स** भी सायण की व्युत्पत्ति को स्वीकार करते है। जबकि

ग्रासमैन इस शब्द की व्युत्पत्ति √मह् धातु से मानते हुए इस पद का अर्थ महत्ता करते है।

शग्मैः –

सायण ने √शम् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ, ओल्डेनबर्ग, मैक्डानल एव **पीटर्सन** प्रभृति पाश्चात्य भाष्यकारो ने √शक् धातु से इस पद की व्युत्पत्ति की है।

शुष्मात् –

सायण, यास्क एव **वेङ्कटमाधव** ने √शुष् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स तथा **मैक्डानल** ने √श्वस् धातु से बने शुष् अङ्ग के द्वारा शुष्म की निष्पत्ति की है।

अपधा बलस्य –

सायण अपधा को अपधा का पञ्चमी एकवचन का रूप मानते है।

आ + चके – ऋग्वेद १/२५/१६

मज्मना – ऋ० १/१४३/२

शग्मै – ऋ० १/१४३/८

शुष्मात् – ऋ० २/१२/१

अपधा बलस्य– ऋ० २/१२/३

पीटर्सन अपधा को सप्तमी एकवचन का रूप मानते है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल आदि विद्वान् अपधा को अपधा का तृतीया एकवचन मानते है। **गैल्डनर** तथा **मैक्डानल** अप + √धा से इसकी व्युत्पत्ति मानते है।

दुध्रः –

वेङ्कटमाधव एव **सायण** आदि ने दुर् + √धृ धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, मोनियरविलियम्स, ह्विटने, ग्रिफिथ प्रभृति आधुनिक विद्वान् √दुध् धातु से दुध्र की व्युत्पत्ति करते है।

ग्रासमैन और **ह्विटने** आदि आधुनिक विद्वानो का अनुमान है कि √दुध् सम्भवत √धू का द्वित्वयुक्त रूप हो सकता है।

सुवृक्तिभिः –

सायण एव **यास्क** ने √वृज् + क्तिन् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है। जबकि

मैक्समूलर ने भी सु + √वृज् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

रॉथ, मोनियर-विलियम्स, मैक्डानल आदि कतिपय आधुनिक विद्वान् सु + ऋक्ति (√अर्ज् + ति) से इस की व्युत्पत्ति मानते है।

गोओपशा –

सायण ने आ + उप + √शी धातु से इसकी व्युत्पत्ति की है। जबकि

रॉथ एव **ग्रासमैन** ने अव + √पश् 'बॉधना' धातु से व्युत्पत्ति की है।

हतम्, अवतम् –

वेङ्कट तथा **सायण** इन्हे क्रमश √हन् और √अव् धातु के लोट् लकार मध्यम पुरूष द्विवचन के रूप मानते है। **गैल्डनर** तथा **वेलणकर** भी इसी मत को स्वीकार करते है। जबकि

दुध्र – ऋग्वेद १/१२/१५
सुवृक्तिभि – ऋ० ३/६१/५
गोओपशा – ऋ० ६/५३/६
हतम्, अवतम् – ऋ० ७/८३/१

ग्रिफिथ, पीटर्सन, मैक्डानल आदि कतिपय आधुनिक विद्वान् इसे अडागमरहित लड् लकार के रूप मानते हुए भूतकालिक अर्थ मे अनुवाद करते है।

अधि वोचम् –

सायण, गैल्डनर तथा **मैक्डानल** ने √वच् धातु के अड् लुड् के अड्ग से लोट् मध्यम पुरूष द्विवचन का रूप माना है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इसे लड् लकार माना है जो असमीचीन है।

होतारम् –

होतृ शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे **यास्क** तथा **सायण** दोनो का एक ही विचार है क्योकि दोनो ने √ह्व "आह्वान करना" धातु से निर्वचन किया है। जबकि

ग्रासमैन ने √हु "होम करना" या √हू "पुकारना" से इसकी सिद्धि की है।

मोनियर-विलियमस ने भी √हु "होम करना" धातु से इसकी सिद्धि की है। जबकि

ह्निटने, रॉथ तथा **मैक्डानल** के इसकी व्युत्पत्ति √ह्वे "पुकारना" धातु से की है।

दोषावस्तः –

स्कन्दस्वामी ने इसे सम्बोधन पद माना है। जबकि

सायण व **वेड्कटमाधव** ने क्रिया विशेषण माना है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार, मैक्समूलर, ओल्डेनबर्ग, ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने भी सम्बोधन पद माना है।

सायण तथा **स्कन्दस्वामी** ने वस्तृ की √वस् "आच्छादने" धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

उव्वट तथा **महीधर** ने √वस् "निवासे" से व्युत्पत्ति की है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो ने वस्तृ की व्युत्पत्ति √वस् "चमकना" धातु से किया है।

अधि वोचम् – ऋग्वेद ७/८३/२

होतारम् – ऋ० १/१/१

दोषावस्त – ऋ० १/१/७

समुद्रियः –

सायण तथा **गैल्डनर** ने इसे षष्ठी एकवचन का रूप माना है इसी प्रकार **स्कन्दस्वामी** ने भी इसे षष्ठी एकवचन का रूप माना है। **ग्रासमैन** तथा **पीटर्सन** ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव, रॉथ तथा **ग्रिफिथ** ने इसे द्वितीया बहुवचन माना है।

यूपः –

सायण ने √यु (मिश्रणे) धातु + 'प' प्रत्यय नित् (कुयुभ्या च, उ० सू० ३/२६), प्रत्यय सन्नियोग से दीर्घ। जबकि

ऐतरेय-ब्राह्मण √यूप् (विमोहने) धातु से निर्वचन करता है। जबकि

वैयाकरण √यु धातु से व्युत्पन्न मानते है। जबकि

ग्रासमैन ने √युप् धातु से व्युत्पत्ति की है।

दूढ्यः –

सायणाचार्य ने दुर् + ध्यै (चिन्तायाम्) धातु + क्विप् प्रत्यय, सम्प्रसारण, उत्व तथा ढत्व दूढ, स्त्रीलिङ्ग मे दूढी + शस् यणादेश, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त, विभक्ति के साथ एकादेश होने पर "शस" को स्वरित।

यास्काचार्य ने भी दुर् + ध्यै धातु से निर्वचन किया है।

पाश्चात्य भाष्यकार **गैल्डनर** ने दुस् + √धी धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

वैयाकरणों के अनुसार दुर् + √ध्यै धातु + क प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे, पा० ३/१/१३६), धातु को आत्व (आदेच उपदेशेऽशिति, पा० ६/१/४५) = दुर् + √ध्या + क प्रत्यय, धातु के आकार का लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६/४/६२), उपसर्ग के रेफ को उत्व, सवर्णदीर्घ, धकार को ष्टुत्व से ढकार करने पर दूढ्य पद सिद्ध होता है।

समुद्रिय	–	ऋग्वेद	१/२५/७
यूप	–	ऋ०	१/५१/१४
दूढ्य	–	ऋ०	१/६४/८, ३/१६/२

दूळभ –

सायणाचार्य ने इस पद की दो व्युत्पत्तियॉ दी है –

१. दुर्दभ < √दभ् (हिसायाम्) धातु + खल् प्रत्यय, रेफ को उत्व (दुरो दाशनाशध्यादभेषूत्व वक्तव्यम्, वा० पा० ६/३/१०६) तथा उत्तरपदादि को ष्टुत्व – दुर्दभ, दम्भित, दम्भितु हिसितुमशक्य इति।

२. दुर् + √द्ह (भस्मीकरणे) धातु + खल् प्रत्यय (ईषद्, पा० ३/३/१२६), बाहुलक उकार का ऊकार, रेफ लोप, दकार को अकार, हकार का भकार, दु खेन दह्यते इति दुर्दहम्, प्रत्यय से पूर्व को उदात्त (लिति, पा० ६/१/१६६)। जबकि

स्कन्दस्वामी ने √दभ् (वधार्थक) धातु से निष्पन्न माना है। जबकि

ग्रासमैन ने दुस् + √दभ् धातु से व्युत्पत्ति की है। जबकि

टर्नर ने दुष् + √दभ् धातु से व्युत्पत्ति की है।

वस्तुत दूलभ < दुर्दभ < दुर् + √दम्भ + खल् प्रत्यय से इस पद की व्युत्पत्ति सङ्गत प्रतीत होती है, परन्तु **न्यासकार** ने घञ् प्रत्यय से व्युत्पत्ति की है।

इंस प्रकार उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रस्थ पदो का व्याकरण की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् हम यह कह सकते है कि ऋग्वेद के पौरस्त्य एव पाश्चात्य विभिन्न व्याख्याकारो ने ऋग्वेद के मन्त्रस्थ पदो का भिन्न–भिन्न प्रकृति–प्रत्यय एव धातुओ के आधार पर भिन्न–भिन्न निर्वचन एव व्युत्पत्तियॉ प्रस्तुत की है।

दूळभ – ऋग्वेद २/२८/८, ३/५६/८

चतुर्थ अध्याय

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का विनियोग की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

'विनियोग' शब्द की व्युत्पत्ति –

'विनियोग' शब्द वि और नि उपसर्ग पूर्वक √युजिर्योगे युज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। 'विनियुज्यते अनेन इति विनियोग' अर्थात् जिसके द्वारा विनियोग किया जाता है।

'विनियोग' शब्द का अर्थ –

'विनियोग' शब्द का अर्थ है मन्त्रो का प्रयोग या उपयोग जिसे अग्रेजी मे Application कहते है। ऋषि (Author), छन्द (Meter) एव देवता (Deity) ये तीन विषय जिसे सूक्त या ऋचा के पूर्व उच्चरित किया जाना आवश्यक माना जाता है, इसको ही विनियोग का विषय माना जाता है या यही विनियोग का विषय है, अर्थात् सूक्त या ऋचा विशेष के प्रयोग को विनियोग का विषय कहा जाता है। लेकिन सूक्त या ऋचा का मन्त्रोच्चार करने वाले को सूक्त या ऋचा के विनियोग (प्रयोग या उपयोग) के विषय मे भी स्पष्ट करना होगा, यह तथ्य या ज्ञान शौनक के ऋग्विधान तथा वृहद्देवता मे दिया गया है। किसी विशेष बलिदान के अवसर, पर्व, समारोह या सस्कार के लिए पृथक्–पृथक् विशेष सूक्त या ऋचा के विनियोग तदनुसार निश्चित है। देवताओ की प्रशसा एव स्तुति का प्रकृति के अनुसार विनियोग निश्चित किए गए है परन्तु ये प्रत्येक स्थिति मे ऐसा नही होता है, चूँकि कालान्तर मे सूक्त और ऋचा मन्त्रो के समकक्ष हो गये हैं। मन्त्रशास्त्र के अनुसार मन्त्रो का प्रभाव उनके ध्वनि पर निर्भर करता है न कि उनके शब्दार्थ पर, अत बहुधा विनियोग पद्याश या मन्त्र के अर्थ से कोई सम्बन्ध नही रखता है। कुछ ऐसे सङ्केत या चिह्न है जिन्हे लिङ्ग कहा जाता है जो विनियोग को निश्चित करते है। ब्राह्मण तथा गृह्यसूत्र यह घोषित करते है कि किस अवसर पर कौन सा मन्त्र उच्चरित किया जाय। इस प्रकार ये प्रथम विनियोग अर्थात् विनियोग– प्रथा ब्राह्मण काल की देन एव उपज है। इसके अतिरिक्त ऋग्विधान मे अन्य प्रयोगो के विषय मे भी उल्लेख है। जैसे– चिकित्सकीय उद्देश्य से या सम्मोहन के उद्देश्य से या परिवर्तन या सशोधन के उद्देश्य से या जप या पुनराभ्यास के उद्देश्य से विनियोग का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यो से विनियोग का क्या अर्थ है यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है।

विनियोग-विधि का अर्थ एवं स्वरूप निरूपण –

मीमासा–दर्शन के प्रकरण ग्रन्थ लौगाक्षिभास्कर कृत "अर्थसङ्ग्रह" के अनुसार विनियोग–विधि का अर्थ एव स्वरूप निरूपण–

विनियोग विधि –

"अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोग विधिः" यथा 'दध्ना जुहोतीति'।

अर्थात् द्रव्य देवतादि रूप अङ्गो का प्रधान होमादि के साथ सम्बन्ध बोधक विधि को विनियोग विधि कहते है। यथा– 'दध्ना दुहोति' मे 'दध्ना' इस तृतीया श्रुति से बोधित दधिरूप अङ्ग का ('अग्निहोत्र जुहोति' इस वाक्य से बोधित) अग्निहोत्र रूप प्रधान अर्थात् अङ्गी के साथ सम्बन्ध का विधान करता है, अत 'दध्ना जुहोति' यह विनियोगविधि है और 'दधि'से होम की भावना करे यह बोध होता है।

द्रव्य, देवता, क्रियादि रूप अङ्गो का तत्–तत् वाक्यो द्वारा विधान होता है। जहॉ कर्मो मे एक ही की प्रधानता है उसका विधायक वाक्य भी एक ही होता है और जहॉ विविध कर्मो का प्राधान्य है वहॉ उनके विधायक वाक्य भी भिन्न–भिन्न होते है। अत अङ्ग एव अङ्गी या शेषशेषिभाव का सम्बन्ध प्रतिपादन ही विनियोगविधि की सज्ञा से अभिहित होता है। वस्तु, द्रव्य, देवता, यजमान, ऋत्विज, अग्नि, आहुति तथा छोटी–मोटी अवान्तर क्रियाये भी यज्ञ क्रिया अर्थात् अङ्गी के अङ्ग है।

अङ्ग का लक्षण करते हुए सूत्रकार, जैमिनि ने कहा है– 'शेष परार्थत्वात् इति। पर एव अर्थ प्रयोजन यस्य स परार्थ ' अर्थात् दूसरे की स्वरूपसिद्धि ही जिसका प्रयोजन हो उसे ही 'शेष' कहेगे।

'दध्ना जुहोति' वाक्य मे 'जुहोति' द्वारा प्रतिपादित होम है, उद्दिष्ट देश मे द्रव्य की प्रक्षेपरूपा क्रिया है, और उसका साधक दधि रूप द्रव्य है। इस प्रकार 'दधि' परार्थ होने से होम का अङ्ग हुआ एव होम अङ्गी हुआ। इसी प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' अर्थात् यागोद्देश्य से यवो का विधान होने से 'यव' या व्रीहि का यागाङ्गत्व सिद्ध है। इसी प्रकार 'यजेत स्वर्गकाम ' मे भी स्वर्गोद्देश्य से याग का विधान होने से याग का स्वर्गाङ्गत्व सिद्ध है।

विनियोगविधि मे धात्वर्थ अर्थात् क्रिया का (होम का) अन्वय साध्यत्व रूप मे होगा और कही–कही धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप मे भी किया जाता है। वस्तुत जिस विनियोगविधि मे फल उद्दिष्ट न हो और अधिकार विधि के द्वारा लक्षणाश्रय करके भी फल श्रुत न हो वहॉ धात्वर्थ का अन्वय साध्यरूप मे होगा यथा– 'दध्ना जुहोति'। परन्तु धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में तब होगा जब साक्षात् या अधिकारी के विशेषण रूप मे फल का विधान किया गया हो। यथा–'दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्' मे इन्द्रिय रूपी फल का श्रवण होता है, अत यहॉ धात्वर्थ का अन्वय आश्रय रूप मे हुआ है। इस विधिवाक्य का अर्थ है दधिकरणत्व से इन्द्रिय रूपी फल की कामना करे। दधिकरणत्व किस आश्रम मे रहेगा यह आकाङ्क्षा होने पर समीप श्रुत होम ही आश्रयरूप मे अन्वित होगा।

विनियोग-विधि के सहकारी षट् प्रमाण –

विनियोग–विधि के सहकारी अङ्ग एवं अङ्गी भाव–बोधक षट् प्रमाण निम्नलिखित है –

१. श्रुति – 'निरपेक्षो रव श्रुति·'

२. लिङ्ग –'शब्द सामर्थ्य लिङ्गम्'

३. वाक्य – 'समभिव्याहारो वाक्यम्'

४. प्रकरण –'उभयाकाड्क्षा प्रकरणम्'

५. स्थान – 'देशसामान्य स्थानम्'

६. समाख्य – 'समाख्या यौगिक शब्द'

इन उपर्युक्त षट् प्रमाणो के सहयोग से विनियोगविधि अड्गत्व का बोध कराती है। अड्गत्व परार्थ्य का दूसरा पर्याय शब्द है और अड्गत्व का लक्षण है–**'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वम्'** अर्थात् साध्य स्वर्गादि फल के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष का कृतिसाध्य या यत्नव्याप्य जो हो उसी को अड्ग कहते है।

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न पौरस्त्य व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का विनियोग की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन –

सायणाचार्य ने अपने **'वेदार्थप्रकाश'** मे ऋग्वेद के मन्त्रो की मण्डलानुसारी क्रम मे व्याख्या की है।

इन्होने प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे मण्डल, अनुवाक, सूक्त, ऋषि, देवता एव छन्द आदि का उल्लेख किया है। इन्होने मन्त्रो का पदपाठ भी किया है। सायणाचार्य ने मन्त्रो का भाष्य करते समय उसका विनियोग भी लिखा है। सायणाचार्य ने ऋग्वेद के मन्त्रो का भाष्य लिखने से पूर्व प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे विनियोग का उल्लेख किया है। सायणाचार्य के ऋग्वेद के मन्त्रो का विनियोग 'याज्ञिक' है परन्तु सायण ने कुछ मन्त्रो का विनियोग लैड्गिक किया है। सायण के अधिकाड्श मन्त्रों का विनियोग याज्ञिक है अर्थात् कर्मकाण्डपरक है। वस्तुत याज्ञिक विनियोग का अर्थ है वे सभी मन्त्र जिनका प्रयोग यज्ञ की क्रियाओ तथा यज्ञ विधान से सम्बन्धित है अर्थात् याज्ञिक विनियोग मे मन्त्रो का प्रयोग यज्ञ–याग एवं कर्मकाण्डो के लिए होता है।

सायण ने अपने ऋग्वेद के भाष्य मे कुछ सूक्तो का 'लैड्गिक' विनियोग किया है। 'लैड्गिक' पद का अर्थ है– **'शब्द सामर्थ्य लिड्गम्'** अर्थात् शब्द के सामर्थ्य (क्षमता, शक्ति, बल) को लिड्ग कहते है। चूॅकि शब्द का प्रयोग लोक मे होता है इसलिए 'शब्द सामर्थ्य' को लौकिकता का सूचक माना जा सकता है। लिड्ग का परोक्ष (अप्रत्यक्ष) अर्थ लोक या लौकिकता से है जिसे हम इहलौकिक भी कह सकते है। चूॅकि लिड्ग ही इस लोक (जगत्) मे सृष्टि प्रक्रिया को अक्षुण्ण बनाने मे सक्षम है इसीलिए लिड्ग का प्रतीकार्थ 'लौकिक' माना जाता है। अत जिन मन्त्रो का प्रयोग लोक में होता है उन्हें सायण ने लैड्गिक कहा है तथा लैड्गिक विनियोग किया है अर्थात् इस प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग लौकिक रूप में किया है याज्ञिक रूप मे नही किया। इस प्रकार वे मन्त्र जो याज्ञिक या कर्मकाण्ड परक नहीं है यज्ञेतर है उनका प्रयोग लैड्गिक किया गया है।

सायण ने ऋग्वेद से सम्बद्ध 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' एव गृह्यसूत्र' के आधार पर मन्त्रो का विनियोग किया है, क्योकि इन्होने जिन सूक्त के मन्त्रो का याज्ञिक या लैड्गिक विनियोग किया है उन सभी मन्त्रो का वही विनियोग आश्वलायन गृह्य एव श्रौतसूत्र मे भी प्राप्त है। सायण ने सभी सूक्तो के विनियोग मे आश्वलायन श्रौतसूत्र के विनियोग को भी हूबहू उद्धृत कर दिया है, जिससे सायण के विनियोग की सत्यता एव विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता सिद्ध एव प्रमाणित हो जाती है अथवा ये कहा जा सकता है कि सायण के विनियोग की वैधता एव प्रामाणिकता को प्रमाणित करने मे बल मिलता है एव आश्वलायन श्रौतसूत्र एव गृह्यसूत्र सायणकृत मन्त्र विनियोग के लिए प्रबल साक्षी है।

ऋक्सर्वानुक्रमणी मे ऋग्वेद के मन्त्रो को देवताओ के स्वरूप एव कर्म के अनुसार लौकिक एव अलौकिक रूप मे विभक्त किया गया है अर्थात् मन्त्रों का याज्ञिक या कर्मकाण्डपरक तथा लैड्गिक विनियोग प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रौत एव गृह्यसूत्र मे भी अधिक से अधिक मन्त्रो का याज्ञिक विनियोग है परन्तु कुछ मन्त्रो का लैड्गिक अर्थात् लौकिक विनियोग भी प्राप्त होता है। जिसका उल्लेख सायण ने अपने विनियोग मे भी किया है और उन श्रौतसूत्र के विनियोगो को अक्षरश उद्धृत भी किया है।

सायण ने यज्ञो की दृष्टि से अपने भाष्यो को लिखा है सायण के अनुसार वेदो का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा देवताओ का आह्वान करना है, अत सायण के ऋग्वेदीय मन्त्र विनियोग एव भाष्य इसी दृष्टिकोण से लिखे गए है तथा ऋग्वेद के अधिकाड्श मन्त्रो का याज्ञिक विनियोग किया है। इसीलिए पाश्चात्य भाष्यकारो ने सायण को **'याज्ञिक भाष्यकार'** कहा है।

वैसे तो सायण ने आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ये तीन प्रकार के अर्थ तथा विनियोग किये है जिनमे आधिदैविक अर्थात् देवताविशेषपरक विनियोग एव अर्थो को प्रधानता देकर अपने भाष्य को लिखा है अर्थात् सायण ने याज्ञिक अर्थो एव कर्मकाण्डो को अपने विनियोग एव भाष्य मे प्रमुखता दी है। चूँकि सायण की दृष्टि याज्ञिक एव कर्मकाण्डीय अधिक रही है क्योकि सायण के समय मे कर्मकाण्डो का बोलबाला था इसीलिए इनकी व्याख्या–पद्धति मे यज्ञपरक विनियोग एव भाष्य का प्राधान्य है।

परन्तु सायण ने जहॉ अपने विनियोग मे मन्त्रो का याज्ञिक विनियोग बहुल रूप में किया है वहीं अल्प मात्रा मे कुछ मन्त्रो का आधिभौतिक अर्थात् भौतिक जगत् से सम्बद्ध लैड्गिक अर्थात् लौकिक विनियोग भी किया है। जैसे– सायण ने प्रथम मण्डल से सभी सूक्तो का याज्ञिक विनियोग किया है परन्तु अपवादरूपेण प्रथम मण्डल का ३८वॉ सूक्त (मरूत् सूक्त) के मन्त्रो का लैड्गिक विनियोग किया है। जबकि अन्य मण्डलो मे इसका विनियोग याज्ञिक भी किया गया है।

लैड्गिक विनियोग का यदि सूक्ष्म विभाजन किया जाय तो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक (भौतिक) एव सवादात्मक आदि अनेक विभाग हो सकते है। सायण ने द्वितीय मण्डल का ३५वॉ

'अपांनपात्' सूक्त का लैड्गिक विनियोग किया है। इसी प्रकार तृतीय मण्डल का ३३वॉ **विश्वामित्र-नदी** सम्वाद सूक्त का लैड्गिक विनियोग किया है। चतुर्थ मण्डल का ७वॉ **अग्नि** सूक्त का विनियोग भी लैड्गिक है। जबकि प्रथम एव अन्य मण्डलो मे अग्नि देवता से सम्बन्धित सूक्त के मन्त्रो का विनियोग याज्ञिक एव कर्मकाण्डपरक है। षष्ठम मण्डल का ४८वॉ सोम सूक्त का विनियोग लैड्गिक है। जबकि आठवे मण्डल मे एव नवम मण्डल जिसको कि **पवमान** मण्डल भी कहा जाता है इन मण्डलो मे सोम सूक्त के मन्त्रो का याज्ञिक विनियोग है, (सोमयज्ञ मे)।

इसी प्रकार दशम मण्डल का १५४ वॉ **'श्रद्धा'** सूक्त एव १६१ वॉ **'सञ्जनाना'** सूक्त के मन्त्रो का विनियोग भी सायण ने लैड्गिक किया है। ऋग्वेद के कुछ सूक्तो को लैड्गिक विनियोग के अन्तर्गत हम **सामाजिक विनियोग** की श्रेणी मे रख सकते है क्योकि इन सूक्तो मे समाज के रीति–रिवाज, परम्पराओ एव सस्कारो के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओ एव कुरीतियो तथा दुष्प्रवृत्तियो एव रोगादि का तथा औषधियो का भी वर्णन है। जैसे– ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५वॉ सूक्त **विवाह सूक्त** के नाम से जाना जाता है। दशम मण्डल के १४ तथा १८वॉ सूक्त **'अन्त्येष्टि या शवसंस्कार'** या **अग्निदाह** के नाम से जाना जाता है। दशम मण्डल का ३४वॉ सूक्त **द्यूतकर का विषाद** नाम से सुप्रख्यात **अक्ष** सूक्त है। दशम मण्डल का १६१वॉ एव १६३वॉ सूक्त मे राजयक्ष्मा रोग का एव उसके नाशन के उपाय का वर्णन है। १०/१६२ वे सूक्त को **रक्षोहा** सूक्त कहते है, जिसमे राक्षसो के विघ्नो से रक्षा का प्रबन्ध बताया गया है। १०/१६६ वे सूक्त **'सपत्नघ्न'** सूक्त मे शत्रुओ को परास्त करने की भावना का वर्णन है इसके अतिरिक्त १०/५८वे सूक्त का नाम **'मन आवर्तन'** है जिसमे किसी व्यक्ति के दूरगामी मन को पारावर्तित करने की प्रार्थना है। १०/१६४ वे सूक्त मे दुष्ट स्वप्न को दूर करने का वर्णन है १०/११७ मे सुकर्मो के मूल्यो का वर्णन है इन सभी का सायण ने लैड्गिक विनियोग किया है।

सम्पूर्ण ऋग्वेद मे हमे **भौतिक तथा प्राकृतिक** तत्त्वो एव नैसर्गिक सम्पदाओ का वर्णन भी मिलता है, जिसे हम लैड्गिक विनियोग के अन्तर्गत **भौगोलिक या प्राकृतिक** सूक्त कह सकते है–जैसे क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, नदी, समुद्र, उषा, रात्रि, पर्वत, पर्जन्य एव वृक्ष, लतादि का वर्णन प्राप्त होता है साथ ही इसमे पशुपक्षियो का वर्णन भी मिलता है जिनमे अश्व, गौ, सर्प, मण्डूक, वन्य पशुओ मे सिंह, गज, वृक, वराह, महिष, ऋक्ष, कपि, भेड, अजा, गर्दभ, श्वान आदि तथा पक्षियो मे हस एव चक्रवाक् आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त १०/६७ औषधि सूक्त एव १०/६७ वॉ सूक्त मे भी **औषधि** के नाना प्रकारों तथा रोग निवारण शक्ति की प्रशसा की गई है।

चूँकि उपर्युक्त सभी का वर्णन भौतिक जड जगत् से सम्बन्धित है, अतः इनको भौतिक (लैड्गिक) विनियोग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सायण ने इन सूक्तो का भी लैड्गिक विनियोग किया है।

ऋग्वेद के **आर्थिक सूक्तों** का सायण ने लैड्गिक विनियोग किया है। जैसे १०/३४वॉ **अक्ष** सूक्त। चूँकि ऋग्वेद कालीन समाज का मुख्य कार्य तथा अर्थोपार्जन का मुख्य साधन कृषि एव पशुपालन था, तथा सभी व्यवसायो मे सम्भवत कृषि ही प्रधान थी, इसीलिए अक्ष सूक्त मे सभी कर्मो को छोडकर कृषि करने की सलाह दी गई है। इसके अतिरिक्त ६/११२ वॉ सूक्त मे विभिन्न प्रकार के धनोपार्जन के भावो का वर्णन है।

ऋग्वेद के **राजनैतिक** सूक्तो का भी सायण ने लैड्गिक विनियोग किया है। जैसे १०/१७३,१७४ सूक्त मे राजा की प्रशस्ति–स्तुति की गई है ये सूक्त राजनीति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त द्वितीय मण्डल मे देवराज इन्द्र की महिमा का वर्णन भी प्राप्त होता है। १०/१७३ वॉ सूक्त यह पूरा सूक्त ही राजा के निर्वाचन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के ६/६२ सूक्त मे समिति मे जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमानरूपेण किया गया है। ७/८३ सूक्त मे पुरोहित की महत्ता का वर्णन है।

ऋग्वेद मे कुछ सूक्त मानवीय भावनाओ से उपेत है। जिन्हे हम **भावात्मक या भावनात्मक सूक्त** कह सकते है, सायण ने ऐसे सूक्तो का विनियोग भी लैड्गिक ही किया है। यथा– ऋग्वेद के दशम मण्डल का श्रद्धा, मन्यु, काम एव सञ्जनाना आदि मानवीय भावो से युक्त मन्त्रो का लैड्गिक विनियोग किया है। इसके अतिरिक्त मनस्, सत्य, वाक् और ज्ञान का भी लैड्गिक विनियोग किया है।

सायण ने ऋग्वेद के **ऐतिहासिक** अर्थात् सवाद या आख्यान परक सूक्तो का भी लैड्गिक विनियोग किया है। यथा–

सूक्त मे विश्वामित्र–नदी–सम्वाद (३/३३), इन्द्र–मरूत्– सम्वाद (१/१६८–७०), अगस्त्य–लोपामुद्रा–सम्वाद (१/१७६), इन्द्र–वृत्र–युद्ध (२/१२), श्यावाश्व सूक्त (५/६१), मण्डूक सूक्त (७/१०३), इन्द्र–वरूण–सम्वाद (४/१२), त्रिविक्रम पादविक्षेपाख्यान (१/१५४), पुरूरवा–उर्वशी–सम्वाद (१०/६५), यम–यमी–सम्वाद (१०/१०), सोम–सूर्या–सूक्त (१०/८५), सरमा–पणि–सम्वाद (१०/१०८), अक्ष सूक्त (१०/३४), देवगण तथा अग्नि–सम्वाद (१०/८६), वरूण–अग्नि–सम्वाद (१०/५१), इन्द्र–इन्द्रणी–सम्वाद (१०/८६)

इन सभी आख्यानो का सायण ने आंशिक अथवा पूर्ण रूप मे लैड्गिक विनियोग किया है।

इसके अतिरिक्त कुछ **दान-स्तुतियॉ** है जिनको कि लौकिक मन्त्रो की श्रेणी मे रखा जा सकता है। यथा–

पाकस्थामा–कौरायण की दान स्तुति (८/३), अभ्यावर्ती चायमान की (६/२७), सावर्णि की दान स्तुति (१०/६२), प्रकण्व की दान स्तुति (८/५५) इसके अतिरिक्त दान की महिमा का ओजस्वी वर्णन (१०/११७) है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो मे **प्रहेलिकाएँ** भी मिलती हैं जिनको लौकिक मन्त्रो की श्रेणी मे रखते हुए सायण ने इनका लैड्गिक विनियोग किया है–(१/१६४)।

इस प्रकार सायणाचार्य ने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक एव ऐतिहासिक विषयो से सम्बद्ध सूक्तो के मन्त्रो का लैड्गिक विनियोग किया है साथ ही दान–स्तुतियो एव प्रहेलिकाओ का भी लैड्गिक विनियोग किया है।

उपर्युक्त सभी लैड्गिक विनियोग के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्रो का विनियोग याज्ञिक किया है। इस प्रकार सायण ने ऋग्वेद के अधिक से अधिक मन्त्रो का याज्ञिक विनियोग किया है तथा कुछ मन्त्रो का विनियोग यज्ञेतर अर्थात् लैड्गिक विनियोग किया है।

सायणाचार्य से पूर्ववर्ती प्राचीन भाष्यकारो मे– **स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ** तथा **माधवभट्ट** एव **वेड्कटमाधव** आदि ऋग्वेद के प्राचीन भाष्यकारो ने भी ऋग्वेद के मन्त्रो का याज्ञिक विनियोग किया है तथा कुछ अल्प सूक्तो का ही लैड्गिक विनियोग किया है। चूँकि ये सभी भाष्यकार सायण से पूर्ववर्ती है एवम् सुतरा प्राचीन है। जबकि सायण इन भाष्यकारो से परवर्ती है, अत सायण ने अपने पूर्ववर्ती भाष्यकारो की व्याख्यापद्धति एव विनियोग की परम्परा को अपनाकर अपने भाष्य मे कायम रखा है, क्योकि सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकारो का भाष्य एव विनियोग याज्ञिक पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि

वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य **धनुष्कयज्वा** एव **आनन्दतीर्थ** ने भी ऋग्वेद का भाष्य लिखा है एव वैष्णव सम्प्रदाय के इन भाष्यकारो ने वैदिक मन्त्रो को नारायण अर्थात् विष्णु देवता के लिए विनियुक्त किया है। इनके अनुसार वेद के समग्र मन्त्रो मे विष्णु की ही स्तुति की गई है।

'वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इस गीता वचन मे भगवान् श्री कृष्ण ने अपने विषय मे कहा है कि 'समस्त वेद मेरा ही प्रतिपादन करते है, अर्थात् श्रीमद्भागवद्गीता के अनुसार नारायाण (विष्णु) की स्तुति वेदो मे विद्यमान् है।

अत वैष्णव समप्रदाय के आचार्यो धनुष्कयज्वा एव आनन्दतीर्थ का वेदो मे भगवान् विष्णु (नारायण) का सर्वत्र प्रतिपादन देखना अनुचित प्रतीत नही होता है।

आनन्दतीर्थ अपने भाष्य के प्रारम्भ मे स्वय कहते है–

स पूर्णत्वात् पुमान् नाम पौरूषे सूक्त ईरितः।

स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च।।

अर्थात् 'नारायण' पूर्ण है। अत पुरूष सूक्त मे–'सहस्रशीर्षा पुरूष' आदि ऋचाओ मे वे ही 'पुरूष' कहे गये है। समस्त वेद तथा शास्त्र का अभिप्राय उसी पूर्ण पुरूष के प्रतिपादन से है। इसी दृष्टि को अपने समक्ष रखते हुए इन वैष्णवाचार्यो ने वैदिक ऋचाओ को विष्णु देवतार्थ विनियुक्त किया है।

आनन्दतीर्थ का दूसरा नाम 'मध्व' है। अत जयतीर्थ के कथनानुसार इस मध्व भाष्य मे आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थ के अतिरिक्त आध्यात्मिक अर्थ का भी सुन्दर प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकार आनन्दतीर्थ का ऋग्वेद से सम्बन्धित 'मध्व' भाष्य विलक्षणता से पूर्ण है। जबकि

आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अन्तर्गत ***'अस्य-वामीय'*** सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो का आध्यात्मिक विनियोग एव अर्थ किया है।

आत्मानन्द जी ने स्वय अपने भाष्य के अन्त मे लिखा है कि 'स्कन्दस्वामी' आदि का भाष्य यज्ञपरक है, निरूक्त अधिदेव परक है, परन्तु यह भाष्य आध्यात्म विषयक है। तिस पर भी मूलरहित नही है, इसका मूल विष्णुधर्मोत्तर है''—

''अधियज्ञविषय स्कन्दादिभाष्यम्, निरूक्तमधिदैवतविषयम्, इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणा विरोध। अस्य भाष्यस्यमूल विष्णुधर्मोत्तरम्।''

इस प्रकार आत्मानन्द ने ऋग्वेद के मन्त्रो का आध्यात्मिक विनियोग किया है, अर्थात् इनके भाष्य मे प्रत्येक मन्त्र का अर्थ परमात्मा को लक्ष्य कर रहा है। यह आत्मानन्द के ऋग्वेदीय भाष्य की सबसे बडी विशेषता है। जबकि

यास्काचार्य ने ऋग्वेद के मन्त्रो का आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विनियोग किया है। परन्तु मुख्यत आधिदैविक विनियोग ही किया है। यास्क के अनुसार इन तीनो विनियोगो से सम्बद्ध अर्थ तीन जगत् से सम्बन्ध रखते है और तीनो यथार्थ है। प्रत्येक मन्त्र भौतिक अर्थ को बताता है, किसी देवता विशेष को भी सूचित करता है, साथ ही परमेश्वर के अर्थ का भी बोधक है। उदाहरणस्वरूप—'अग्नि' शब्द भौतिक अग्नि का बोधक है जिसकी कृपा से इस जगत् का समस्त व्यवहार सिद्ध होता है। 'अग्नि' शब्द उस देवता का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है। साथ ही साथ यह 'अग्नि' शब्द इस जगत के नियामक परमेश्वर के अर्थ को भी प्रकट करता है। अग्नि के ये तीनो रूप ठीक है और सूक्ष्म विवेचना करने पर अग्नि मन्त्र तीनो रूपो को समभावेन लक्षित करते है। इसके अतिरिक्त कही—कही यास्काचार्य ने ऋग्वेद के मन्त्रो का निर्वचनात्मक एव ऐतिहासिक विनियोग भी किया है। जिसमे इतिहास की कल्पना की गई है तथा देवताओ को ऐतिहासिक पुरूष स्वीकार किया गया है। यास्क के अनुसार वेद मे इतिहास अनुस्यूत है।

निरूक्त के कई स्थानो मे ''तत्रेतिहासमाचक्षते'' आया है। निरूक्त मे यास्क ने इषितसेन, शान्तनु, देवापि आदि के इतिहास का उल्लेख किया है। पिजवन पुत्र सुदास, कुशिक पुत्र विश्वामित्र आदि का भी विवरण यास्क ने दिया है। यास्क ने लिखा है—''तत्र ब्रह्मेतिहास मिश्र गाथा मिश्र भवति", अर्थात् वेद इतिहासो, ऋचाओ और गाथाओ से युक्त है। अत इनके मत मे वेद मे इतिहास है, इसीलिए इन्होने कुछ सूक्तो के मन्त्रो का ऐतिहासिक विनियोग करते हुए ऐतिह्य शैली अथवा पद्धति से मन्त्रो की व्याख्या की है। जबकि

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के मन्त्रो का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विनियोग किया है। महर्षि दयानन्द जी के ऋग्वेदीय भाष्य मे वेदो के अनादि होने का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इनके अनुसार वेदो मे लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है। वेदो के सभी शब्द यौगिक तथा योगरूढ है, रूढ नही यह सिद्धान्त

स्वामी जी की अर्थनिरूपण–पद्धति की आधारशिला है, इसी आधारशिला पर स्वामी जी के भाष्य का भवन खडा हुआ है। स्वामी जी के अनुसार इन्द्र, अग्नि, वरूण आदि जितने भी देवतावाचक शब्द है वे यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक है। स्वामी जी इस प्रकार आध्यात्मिक शैली के मानने वाले है।

स्वामी दयानन्द जी का कहना है कि वेदो मे वस्तुत एक ही ईश्वर की स्तुति की गई है अर्थात् ऋग्वेद के सम्पूर्ण सूक्तो के मन्त्रो का विनियोग एक ही ईश्वर की स्तुति के लिए किया गया है। इन्द्र, अग्नि, वरूण आदि सभी देवतापरक नाम एक ही परमात्मा के अर्थ को व्यक्त करते है तथा ये विभिन्न नाम एक ही परमात्मा की विभिन्न शक्तियो को बतलाते है।

अशत यह सिद्धान्त ठीक है। निरूक्तकार ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि जितने देवता है वे सब एक ही महान् देवता परमेश्वर की विशिष्ट शक्ति के प्रतीक मात्र है–

"महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" (निरूक्त, ७/४)। ऋग्वेद का स्पष्ट प्रतिपादन है– "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वनमाहु" (२/१६४/४६)

दयानन्द जी ने इन्द्र, अग्नि, वरूण आदि देवतावाचक शब्दो का अर्थ बहुधा 'ईश्वर' ही कर दिया है और इस प्रकार देवता विज्ञान उनके भाष्य से अप्रकाशित ही रह गया है। दयानन्द जी ने ऋग्वेद के मन्त्रो मे विष्णु आदि शब्दो का अर्थ "परमात्मा" ही किया है।

दयानन्द जी के अनुसार ऋग्वेद मे आये हुये नाम भौगोलिक या ऐतिहासिक नही है अपितु यौगिक है। वेदो मे आया हुआ 'वशिष्ठ' शब्द ऋषि के लिए नही है, अपितु वह प्राण का बोधक है। इसी प्रकार 'भारद्वाज' का अर्थ ऋषि भारद्वाज न होकर मन है और 'विश्वामित्र' का अर्थ ऋषि विश्वामित्र न होकर कर्ण (कान) है। इसी प्रकार 'जमदग्नि' शब्द का अर्थ ऋषि जमदग्नि न होकर नेत्र है– "चक्षुर्वै जमदग्नि"।

इस प्रकार ऋग्वेदोल्लिखित समग्र उर्वशी, पुरूरवा, नहुष, यम, सुदास आदि के नाम एव कर्म नित्य है और वेदो मे नित्य इतिहास है, पौराणिक इतिहास नही, पुराणादि मे इन नामो (सज्ञाओ) को लेकर इतिहास रचना की गई है। वेदो मे अनित्य इतिहास का अभाव है ऐसा दयानन्द जी का मानना है। इस प्रकार स्वामी जी यौगिक आध्यात्मपरक अर्थ के आधार पर ऐतिहासिकता का विरोध करते है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम ये कह सकते है कि दयानन्द जी ने ऋग्वेद के मन्त्रो का न तो याज्ञिक विनियोग किया है और न ही लैङ्गिक विनियोग किया है, बल्कि आध्यात्मिक तथा दार्शनिक अर्थो मे मन्त्रो का विनियोग किया है, अर्थात् उन्होंने आधिदैविक एव आधिभौतिक विनियोग नहीं किया बल्कि ऋग्वेद के मन्त्रो का आध्यात्मिक (परमात्मा के अर्थ मे) दार्शनिक विनियोग किया है।

दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेद भाष्य मे मन्त्रो का मण्डलानुसारी एवं अष्टकानुसारी दोनों क्रम में भाष्य, अर्थ तथा भावार्थ किया है। इन्होने प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ऋषि, देवता, छन्द तथा षडज, ऋषभ, गन्धार आदि स्वरों का पूर्ण एव स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।

दयानन्द जी ने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ एव भावार्थ करने से पहले इस बात का भी उल्लेख किया है कि मन्त्र मे किस विषय का वर्णन है तथा मन्त्र मे किन तथ्यो का वर्णन है, इन सभी का निर्देश इन्होने मन्त्र के पहले सन्दर्भ तथा प्रसड्ग के रूप मे किया है। दयानन्द सरस्वती जी ने मन्त्रो का स्वराड्कन सहित पदपाठ किया है। जबकि

श्री अरविन्द घोष ने ऋग्वेद के मन्त्रो का आध्यात्मिक एव गूढ मनोवैज्ञानिक तथा रहस्यात्मक विनियोग किया है। इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द जी ने ऋग्वेद के मन्त्रो का सड्केतात्मक या प्रतीकात्मक (चिह्न के रूप मे) विनियोग भी किया है। श्री अरविन्द जी ने मन्त्रो की व्याख्या के पूर्व ऋषि, देवता एव छन्द के नाम का उल्लेख किया है।

श्री अरविन्द के अनुसार वेदो का अर्थ मुख्यत अध्यात्मपरक तथा रहस्यवादी है। इसीलिए इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो की व्याख्या तथा विनियोग के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोंण अपनाया है। श्री अरविन्द वर्तमान काल के मान्य तत्त्वचिन्तको तथा अध्यात्म साधको मे मूर्धन्य है। श्री अरविन्द का प्रत्येक मन्त्र के पीछे आध्यात्मिक दृष्टिकोण है, इसीलिए इनके अनुसार ऋग्वेद के सभी मन्त्रो मे कुछ न कुछ आध्यात्मिक रहस्य छिपा हुआ है। ऋग्वेदीय मन्त्रो के शब्द किसी आध्यात्मिक तत्त्व के प्रतीक है–

वेदो मे 'गौ' प्रकाश का प्रतीक है, वैदिक 'अश्व' शक्ति, आध्यात्मिक सामर्थ्य तथा तपोबल का प्रतीक है। वेद का ऋषि जब अश्व के लिए किसी मन्त्र मे प्रार्थना करता है तो इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि ऋषि सामान्य दौडने वाले घोडे के लिए प्रार्थना करता है। यह प्रार्थना तो अन्तर्बल की स्फुर्ति की ओर सड्केत करती है।

इसी प्रकार 'घृत' शब्द सामान्य यज्ञ के साधन भूत 'घी' (आज्य) का बोध कराता है परन्तु श्री अरविन्द की दृष्टि मे 'घृत' का अर्थ 'प्रकाश' भी हो सकता है (√घृ–प्रकाश करना)। इसलिए इन्द्र के अश्व जब 'घृतस्नु' बतलाये गये है तो इसका अर्थ 'घी चुआने वाला' नही है, प्रत्युत् प्रकाश को सर्वत्र विकीर्ण करने वाला है। इसी प्रकार अग्नि से तात्पर्य केवल बाहरी 'वह्नि' से न होकर अन्त स्फुरित होने वाले प्राण से है।

श्री अरविन्द के अनुसार वेदो में रहस्यवादी दर्शन और गुप्त सिद्धान्त सम्भुत है। मन्त्रो के देवी–देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के चिह्न है। सूर्य बुद्धि का चिह्न है, अग्नि सड्कल्प का चिह्न है और सोम अनुभूति का चिह्न है। श्री अरविन्द ने धी, मति, ऋतम्, मनीषा, विप्र, प्रार्थना आदि शब्दो मे मनोवैज्ञानिक रहस्यो का उद्घाटन किया है।

श्री अरविन्द का कहना है कि वेद प्राचीन यूनान के आरफिक और एल्युसिनिक मतो के समान रहस्यात्मक धर्म है। श्री अरविन्द का कहना है कि "मै जो सिद्धान्त उपस्थित करता हूँ, वह यह है कि ऋग्वेद

स्वय एक महान् अभिलेख है जो कि मानवविचार के उस आदिकाल से हमारे पास बना है, जिसके ऐतिहासिक एल्युमिनिक और आरफिक रहस्य असफल अवशेष थे, जिस काल से जाति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान कुछ कारणो से जिनको कि अब निश्चित करना कठिन है, चिह्नो के मूर्त और भौतिक रूप के आवरण मे छिपा दिया गया था, जो कि भ्रष्टो से अर्थ को छिपा लेते थे और दीक्षितो को प्रकट कर देते थे।''

श्री अरविन्द की दृष्टि मे वेदो के प्रति असीम श्रद्धा से ही उनके अर्थ स्वत खुलते है। वेद का अर्थ योग एव तपस्या के द्वारा विधूत एव पवित्र हृदय मे स्फुरित होता है। वेद के अर्थ रहस्यात्मक तथा निगूढ है इसकी सूचना स्वय वेद से हमे प्राप्त होती है। वैदिक ऋषियो की यह दृढ धारणा थी कि मन्त्रो का उन्मेष चेतना के निगूढ तथा अन्तरतम स्तरो से होता है, इसलिए उनमे निगूढ ज्ञान की निधि वर्तमान है।

श्री अरविन्द का कहना है कि ऋग्वेद–सहिता के मन्त्रो मे अद्वैत तत्त्व का पूर्ण सङ्केत उपलब्ध होता है। जो विद्वान् ऋग्वेद–सहिता को केवल कर्मकाण्ड का प्रतिपादक और उपनिषदो को ज्ञानकाण्ड का विवेचक मान कर दोनो मे पार्थक्य दिखाने का प्रयत्न करते है वे सत्य से बहुत दूर है, क्योकि ऋग्वेद–सहिता कर्म के साथ ज्ञान का स्पष्ट प्रतिपादक है। ऋग्वेद उस अद्वैत परमतत्त्व की सूचना अनेक मन्त्रो मे देता है–'एक तत् (१/१६४/४६) 'तदेकम्' (१०/१२६/२) वैदिक ऋषि इसे ही परम सत्य स्वीकार करते है, अन्य देव उसी की नाना अभिव्यक्तिमात्र है।

इस प्रकार श्री अरविन्द की दृष्टि मे वेद सिद्धो की वाणी है और वह अन्तर्जगत् के आध्यात्मिक तथ्यो का ही निरूपक है। इस निरूपण मे जिन सामान्य शब्दो का प्रयोग वेद करता है, उनका अर्थ नितान्त गूढ, असामान्य तथा अन्त स्तर की साधना पर आधारित है।

अत उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्री अरविन्द जी ने ऋग्वेदीय मन्त्रो का विनियोग एव अर्थ मनोरहस्यात्मक (Psycho Spiritual) तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया है। इनकी पद्धति मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण पूर्णत. बहिष्कृत रहता है।

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न पाश्चात्य व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का विनियोग की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन –

रॉथ ने भाषाविज्ञान की सहायता से वेदो का भाष्य और अर्थ किया है। इनकी वेद विषय पर अपनी स्वतन्त्र वेद व्याख्याएँ है इनका कहना है कि वेदोत्पत्ति के पर्याप्त समय पश्चात् आज एक भारतीय जैसा अर्थ कर सकता है उससे अच्छा अर्थ पाश्चात्य देशीय भाषाविज्ञान की समालोचना पद्धति पर वेद–भाष्य कर सकता है।

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रवर्तित 'आधुनिक व्याख्या–पद्धति' जो कि 'ऐतिहासिक–पद्धति' के नाम से ख्यात है वैदिक अर्थानुशीलन के इतिहास मे एक नूतन युग को जन्म देती है। इस नूतन वैदिक व्याख्या–पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक श्री रूडाल्फ रॉथ महोदय है। इस पद्धति के प्रमुख नियामकतत्त्व है– तुलनात्मक भाषाशास्त्र, इतिहास तथा तुलानात्मक देवशास्त्र व धर्म आदि। रॉथ महोदय ने ऋग्वेदीय मन्त्रो का तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव तुलनात्मक ऐतिहासिक विनियोग किया है।

इस प्रकार रॉथ महोदय ने सायण की भॉति याज्ञिक और यास्क की भॉति आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक विनियोग व अर्थ नही किया अर्थात् रॉथ ने सायण की भॉति ऋग्वेदीय मन्त्रो का याज्ञिक व कर्मकाण्डीय विनियोग व अर्थ तथा व्याख्या नही किया न ही श्री अरविन्द स्वामी की भॉति आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक व रहस्यवादी विनियोग किया और न ही दयानन्द के समान दार्शनिक विनियोग किया और न ही विल्सन, मैक्डानल, मैक्समूलर तथा ओल्डेनबर्ग की भॉति परम्परागत आध्यात्मिक एव कर्मकाण्डीय विनियोग किया है। इस प्रकार रॉथ महोदय ने न तो परम्परागत विनियोग किया है और न ही समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखते हुए ऋग्वेदीय मन्त्रो का विनियोग किया है बल्कि परम्परागत लीक से हटकर ऋग्वेदीय मन्त्रो का तुलनात्मक ऐतिहासिक एव भाषा वैज्ञानिक विनियोग प्रस्तुत किया है। जबकि

अलफर्ड लुड्विग ने पूर्ण रूपेण रॉथ एव ग्रासमैन की व्याख्या–पद्धति एव विनियोग को नही अपनाया है और न ही पूर्णरूपेण सायण की याज्ञिक, यास्क की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो विनियोग व व्याख्या–पद्धति को और न ही श्री अरविन्द के रहस्यात्मक व्याख्या एव विनियोग को एव न ही दयानन्द सरस्वती जी के दार्शनिक व्याख्या एव विनियोग को अपनाया है। बल्कि लुड्विग ने परम्परागत व्याख्या–पद्धति एव विनियोग तथा पाश्चात्य व्याख्या–पद्धति एव विनियोग दोनो के बीच मध्यम मार्ग का अवलम्बन करते हुए सम्पूर्ण ऋग्वेद का छ जिल्दो मे जर्मन भाषा मे विस्तृत व्याख्या के साथ गद्यानुवाद किया है। इनके इस गद्यानुवाद मे उतनी स्वतन्त्रता स्वीकार नही की गई है जितनी कि ग्रासमैन के सम्पूर्ण ऋग्वेद के पद्यानुवाद मे दृष्टिगत होती है।

इस प्रकार अलफर्ड लुड्विग ने ऋग्वेदीय मन्त्रो का स्वतन्त्र–तुलनात्मक–ऐतिहासिक, भाषावैज्ञानिक एव भावात्मक विनियोग तो किया ही है साथ ही सायण, यास्क आदि भाष्यकारो द्वारा प्रस्तुत परम्परागत विनियोग को भी ग्रहण किया है।

अलफर्ड लुड्विग वह पहले व्यक्ति है जिन्होंने यह माना है कि प्रारम्भिक समीक्षाकारो का ऑख मूँदकर अनुसरण नही करना चाहिए फिर भी उनका यह विश्वास है कि जो समीक्षक अखण्डित परम्पराओं पर अपने विचार आधारित किए है वे सम्मान के योग्य है, जैसे– सायण, यास्क, महीधर। जबकि

ग्रासमैन रॉथ महोदय के शिष्य थे एव सायण विरोधी वर्ग के व्याख्याकार हैं। अतः इन्होने रॉथ महोदय की व्याख्या–पद्धति का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र तुलनात्मक ऐतिहासिक भाषा वैज्ञानिक विनियोग किया

है। रॉथ महोदय की भॉति ग्रासमैन ने भी सायण, अरविन्द तथा अन्य पाश्चात्य भाष्यकारो की भॉति ऋग्वेदीय मन्त्रो का परम्पराप्राप्त आध्यात्मिक, आधिदैविक, रहस्यात्मक तथा कर्मकाण्डीय विनियोग नही किया और न ही समन्वयातमक दृष्टिकोण को ही प्रमुखता दी बल्कि गुरू के पद चिह्नो पर चलते हुए उनकी व्यख्या–पद्धति का अनुसरण करके उनकी शैली के अनुरूप ग्रासमैन महोदय ने ऋग्वेदीय मन्त्रो का जर्मन भाषा मे सटिप्पण पद्यानुवाद किया और उन मन्त्रो का सायणभाष्य व विनियोग की उपेक्षा करते हुए स्वतन्त्र तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक व्याख्या तथा विनियोग प्रस्तुत किया है। जबकि

विल्सन के ऋग्वेदीय सूक्तो का विशुद्ध भारतीय परम्परागत विनियोग को अपनाते हुए याज्ञिक अर्थात् कर्मकाण्डीय, लैड्गिक एव तुलनात्मक देवशास्त्री विनियोग किया है। विल्सन ने ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त को मण्डलानुसारीक्रम मे विभाजित किया है। इन्होने मन्त्रो की व्याख्या के पूर्व सूक्त की सख्या, मन्त्रो मे देवताओ के नाम, छन्द आदि के नाम तथा ऋषि एव ऋषि के पिता आदि के नामो का भी उल्लेख किया है। विल्सन का कहना है कि वेद के मन्त्र अपने आप मे किसी भी सूक्त का निर्देश नही देते है बल्कि प्रामाणिक ऋषियो, वेद के विद्वानो तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे उन सूक्तो का विनियोग प्राप्त होता है। जबकि

मैक्समूलर महोदय ने भी ऋग्वेदीय सूक्तो का तुलनात्मक देवशास्त्रीय एव तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक, याज्ञिक अर्थात् कर्मकाण्डीय एव लैड्गिक विनियोग किया है। इन्होने प्रत्येक पद की यज्ञीय पद्धति से व्याख्या की है तथा मन्त्रो मे प्रयुक्त हुए प्रत्येक पद का यज्ञीय दृष्टि से अर्थनिर्धारण करने का प्रयास किया है। इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो को मण्डल एव अष्टक दोनो क्रमो मे विभाजित किया है। मैक्समूलर महोदय ने ऋग्वेदीय सूक्तो का अनुवाद एव व्याख्या करने से पूर्व मन्त्रद्रष्टा ऋषि, ऋषि के पिता, देवता एव छन्दादि के नामो का भी उल्लेख किया है। जबकि

ग्रिफिथ महोदय ने सायण विरोधी पाश्चात्य वैदिक व्याख्याकार तथा आधुनिक व्याख्या–पद्धति के प्रवर्तक रूडाल्फ रॉथ महोदय एव उनके शिष्य ग्रासमैन की भॉति स्वतन्त्र तुलनात्मक ऐतिहासिक एव भाषावैज्ञानिक विनियोग नही किया और न ही यास्काचार्य के अनुरूप आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विनियोग किया है और न ही श्री अरविन्द के समान रहस्यात्मक तथा दयानन्द के समान दार्शनिक विनियोग भी नही किया है और न ही परम्परागत विनियोग तथा पाश्चात्य व्याख्याकारो द्वारा प्रवर्तित आधुनिक विनियोग के मध्य समन्वयात्मक दृष्टिकोण को भी नही अपनाया अर्थात् इन्होने मध्यम मार्ग का अवलम्बन न करके मात्र सायणाचार्य के आधिदैविक, याज्ञिक एव कर्मकाण्डीय विनियोग को अपनाते हुए सायणभाष्य का समुचित उपयोग करते हुए ऋग्वेदीय मन्त्रो का कर्मकाण्डीय, एव आधिदैविक विनियोग किया है।

ग्रिफिथ महोदय ने सायणभाष्य एव विनियोग का समुचित उपयोग करते हुए सम्पूर्ण ऋग्वेद का अग्रेजी मे पद्यानुवाद आवश्यक टिप्पणियो एव उपयोगी सूचियों के साथ किया है। ग्रिफिथ ने सूक्त से सम्बन्धित ऋषि, ऋषि–परिवार, देवता एव छन्दादि के नामो का उल्लेख सूक्त सख्या को अङ्कित करते हुए किया है। जबकि

मैक्डानल्ड महोदय ने "A Vedic Reader for Students" मे ऋग्वेदीय सूक्तो का आधिभौतिक तथा तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव तुलनात्मक ऐतिहासिक देवशास्त्रीय तथा आधिदैविक एव याज्ञिक अर्थात् कर्मकाण्डपरक विनियोग किया है।

इन्होने ऋग्वेदीय सूक्तो की व्याख्या के पूर्व मण्डल, अनुवाक, सूक्त तथा देवताओ का स्वरूप एव चारित्रिक विशेषताएँ तथा छन्दादि के नामो का उल्लेख किया है। इन्होने ऋग्वेदीय मन्त्रो को पहले वैदिक सस्कृत मे स्वराड्कन के साथ उद्धृत करके तत्पश्चात् रोमन भाषा मे मन्त्रो को हूबहू लिखा है उसके बाद आग्ल भाषा मे अनुवाद एव व्याख्या प्रस्तुत किया है। इन्होने यास्क की भॉति आधिभौतिक व आध्यात्मिक विनियोग नही किया न ही श्री अरविन्द की भॉति रहस्यात्मक न ही दयानन्द जी की भॉति दार्शनिक विनियोग किया है बल्कि समणानुकूल परम्परागत विनियोग को अपनाते हुए ऋग्वेदीय मन्त्रो का आधिदैविक व कर्मकाण्डीय विनियोग किया है इसके अतिरिक्त मैक्डानल ने मन्त्रो का तुलनात्मक भाषा–वैज्ञानिक विनियोग एव अर्थ भी किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेदीय मन्त्रो का परम्परागत याज्ञिक एव कर्मकाण्डीय, लैड्गिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक तथा तुलानात्मक भाषावैज्ञानिक एव तुलनात्मक देवशास्त्रीय विनियोग किया है। इन्होने ऋग्वेद के प्राकृतिक शक्तियो से सम्बन्धित देवताओ के विषय मे विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। ओल्डेनबर्ग ने वेद के विषयो मे आत्मा, स्वर्ग, मृतात्माओ के देवता स्वरूप यम, स्वर्ग की विशेषता, नरक, तथा अमरत्व की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख किया है। जहॉ तक मन्त्रो की व्याख्या का प्रश्न है ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद किया है तत्पश्चात् एक–एक शब्द का भावार्थ, व्याकरणात्मक टिप्पणियॉ तथा अन्य विद्वानो के मत का भी प्रतिपादन किया है। साथ ही इन्होने मन्त्रो मे प्रयुक्त होने वाले छन्द आदि का भी सूक्ष्म विवेचन किया है। इन्होने मन्त्रो की व्याख्या के पूर्व मन्त्रद्रष्टा ऋषि एवं ऋषि के पिता, देवता एवं छन्दादि के नामो का उल्लेख किया है।

अल्डेनबर्ग का कहना है कि यज्ञशाला मे मन्त्रो के द्वारा बर्बर–युगीन पुरोहित अपने देवो का आह्वान करते थे ये देवगण आकाशमार्ग से अश्व एव रथ पर आरूढ होकर घृत, मांस आदि हव्य ग्रहण करने तथा सोमपानार्थ आते थे। ये पुरोहितगण किसी एक देव को नहीं अपितु अनेक देवताओ को अनेक विशेषणो से लाद देते थे। इन्ही कर्मकाण्ड मे दक्ष पुरोहितो ने ही वेदमन्त्रों का निर्माण किया है। इसीलिए वेदों को ओल्डेनबर्ग ने 'Document of Indian literature and Religion' कहा है। यही नही ये तो 'The clear trace of an ever increasing intellectual enervation' भी मानते है।

ओल्डेनबर्ग तथा लुड्विग आदि पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि जो परम्परा गृत्समद, विश्वामित्र तथा उनके वशधरो को उक्त सूक्तों का ऋषि बतलाती है, वही परम्परा स्वय सूक्तो के कथन के साथ मेल नही

खाती। ऋग्वेद की ऋचाओ मे गृत्समद, विश्वामित्र एव वशिष्ठ ऋषि असख्य पुराण कथाओ तथा उपाख्यानो के नायको के रूप मे उपवर्णित है, फिर उन्हे स्वय ही इन सूक्तो का कर्ता एव द्रष्टा कैसे स्वीकार किया जा सकता है। जबकि

पिशेल और **गैल्डनर** ने लुड्विग महोदय की व्याख्या–पद्धति एव विनियोग को अपनाया है। साथ ही इन्होने रॉथ और लुड्विग दोनो की पद्धतियो को एक साथ जोड दिया है, अर्थात् लुड्विग की परम्परागत विनियोग एव व्याख्या–पद्धति तथा पाश्चात्य–पद्धति मे स्वतत्र तुलनात्मक ऐतिहासिक–भाषावैज्ञानिक व्याख्या एव विनियोग के बीच मध्यम मार्ग को अपनाते हुए व्याख्या एव विनियोग किया है अर्थात् पिशेल तथा गैल्डनर ने परम्परागत सायणादि भारतीय व्याख्याकारो की व्याख्या–पद्धति और विनियोग को अपनाते हुए एव पाश्चात्य व्याख्या–पद्धति और विनियोग का अनुसरण करते हुए ऋग्वेदीय मन्त्रो का आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, याज्ञिक एव कर्मकाण्डीय व्याख्या तथा विनियोग एव स्वतत्र तुलनात्मक–ऐतिहासिक–भाषावैज्ञानिक विनियोग भी किया है।

इस प्रकार पिशेल तथा गैल्डनर ने अन्तत सायण की व्याख्याओ और विनियोग को काल्पनिक, अतार्किक एव सतही अर्थात् (जिसमे गहराई न हो) मानते हुए भी सायण की समीक्षाओ और विनियोग को उपेक्षित करना उचित नही माना है जैसा कि रॉथ और ग्रासमैन ने उपेक्षित किया है। जबकि

पीटर्सन ने ऋग्वेद के मन्त्रो का कोई मौलिक विनियोग नही प्रस्तुत किया बल्कि सायण के ही याज्ञिक एव कर्मकाण्डीय विनियोग को उद्धृत किया है। पीटर्सन ने अपने अनुवाद मे सायणकृत विशेष विनियोग को भी उद्धृत किया है। इन्होने मन्त्रो का अपने अनुसार कोई स्वतन्त्र विनियोग नही प्रस्तुत किया है।

'Hymens from the Rigveda' मे पीटर्सन ने ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूक्तो का अनुवाद एव व्याख्या की है। पीटर्सन ने ऋग्वेदीय मन्त्रो का सायणकृत आधिदैविक एवं धार्मिक विनियोग भी प्रस्तुत किया है। इन्होने विनियोग एव ऋषि, देवता तथा छन्दादि के नामो का उल्लेख ऋग्वेदीय सूक्तो की व्याख्या के पूर्व किया है तथा मन्त्रस्थ प्रमुख पदो की व्याख्या तथा व्याकरणात्मक टिप्पणियो का भी विवेचना किया है।

पीटर्सन ने जर्मन एव अग्रेजी भाष्यकारो के समान ही ऋग्वेद के पदो का अर्थ एव विनियोग किया है। इन्होने पाश्चात्य भाष्यकारो की भॉति तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव तुलनात्मक देवशास्त्रीय अर्थ एव विनियोग किया है। जबकि

ए. केयी का ऋग्वेद के सूक्तो के सम्बन्ध मे अपना विचार यह है कि अधिकतर सूक्त देवताओं के प्रति विभिन्न अवसरो पर किय गये आह्वान तथा उनसे सम्बद्ध यशोगान के लिए है उनमे हार्दिक सुकुमारता एव अमर्त्य देवताओ की सस्तुतियॉ है। केयी तो ऋग्वेद के सम्बन्ध मे यह भी लिखते है कि ऋग्वेद मे निम्न कोटि की रचनाएँ भी मिलती है किन्तु इन रचनाओ मे सर्वथा उदात्त आध्यात्मिक तत्त्वो का अभाव हो, ऐसा

स्वीकार नही किया जा सकता है, यह सत्य है कि अनेक सूक्तो का प्रयोग यज्ञ के अवसरो पर किया जाने लगा था फिर भी इन मन्त्रो मे भी उत्तम कविता के दर्शन होते है इनमे अपने पूर्वजो का आध्यात्मिक विकास उत्कृष्ट रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार केयी महोदय ने अन्य पाश्चात्य व्याख्याकारो की भॉति ऋग्वेदीय मन्त्रो का स्वतत्र–तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक विनियोग नही किया है और न ही भारतीय भाष्यकारो की भॉति आधिभौतिक, आधिदैविक, दार्शनिक व रहस्यात्मक विनियोग भी नही किया बल्कि लीक से हटकर ऋग्वेदीय मन्त्रो का कविता के रूप मै काव्यात्मक तथा आध्यात्मिक विनियोग किया है। केयी ने "Der Rigveda" नामक ग्रन्थ मे ऋग्वेद का अग्रेजी अनुवाद किया है।

केयी के अनुसार ऋग्वेदीय मन्त्रो मे हम "Child like simplicity the freshness or delicacy of feelings boldness of methaphor flight of imagination" अर्थात् सरलता, नवीनता, उदात्तभावना, अलङ्करण और कल्पना का वैभव देख सकते है। जबकि

एम. विन्टरनिट्ज ने भी वेदो को क्रमिक सङ्कलन का परिणाम मानते हुए कहा है कि 'कुछ मन्त्रो का निर्माण यज्ञो से पृथक् सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग पर हुआ है। यद्यपि बाद मे कुछ मन्त्र यज्ञो के लिए भी निर्मित हुए, स्वतन्त्ररूपेण भी बने किन्तु बाद मे दोनो का प्रयोग एक साथ होने लगा। कहने का आशय यही है कि वैदिक सूक्तो की रचना यज्ञ एव देवो की स्तुतियो के लिए ही हुई है किन्तु कुछ सूक्तो मे अन्यान्य विषयो का भी समावेश हो गया है।'

इस प्रकार विन्टरनिट्ज ने भी ऋग्वेदीय मन्त्रो का आधिदैविक एवं याज्ञिक तथा कर्मकाण्डीय एव आधिभौतिक विनियोग किया है। विन्टरनिट्ज ने जो ऋग्वेदीय मन्त्रो की व्याख्या तथा विनियोग किया है वह सायणाचार्य आदि भारतीय भाष्यकारो के अनुरूप है अर्थात् इन्होने ऋग्वेदीय मन्त्रो की परम्परागत व्याख्या–पद्धति तथा विनियोग का अनुसरण किया है।

ऋग्वेद के सम्वाद (आख्यान)-सूक्तों का विभिन्न व्याख्याकारों के अनुसार विनियोग–

ऋग्वेद का यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करे तो ऋग्वेद के मन्त्र दो प्रकार के मिलते है– एक तो वे है जो कि यज्ञ एव देवताओ की स्तुति के प्रयोग मे आते है दूसरे वे है जिनमें ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एव मान्यताओ का उद्घाटन किया गया है।

ऋग्वेद मे जिस प्रकार दार्शनिक सूक्त ऋग्वेद के मन्त्रो को उपनिषदो के तात्त्विक विवेचनो के साथ सम्बद्ध करते है, उसी प्रकार कतिपय सूक्त प्रबन्धकाव्य तथा नाटकों के साथ भी सम्बन्ध जोड़ने वाले हैं। ऐसे सूक्तो मे कथोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें सम्वादसूक्तो की सज्ञा प्रदान की गई है। सम्वाद सूक्त भारतीय साहित्य मे अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। परवर्ती साहित्य मे अनेक काव्यों, नाटकों तथा पुराणों में इन कथाओ का विस्तार से उल्लेख मिलता है। सम्वादसूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस है। इनके विषय

मे श्री पाण्डेय एव जोशी 'वैदिक साहित्य की रूपरेखा' मे लिखते हैं "प्राचीन आख्यान महाकाव्य तथा नाटक दोनो प्रकार की साहित्यभित्तियो के उद्गम स्थान है क्योकि ये आख्यायिकाएँ नाटकीय तत्त्वो से अनुस्यूत है। इन आख्यानो का नाटकीय तत्त्वो से दृढतर पारस्परिक सम्पर्क है, क्योकि इन्ही आख्यानो के नाटकीय तत्त्वो से नाटको का उदय हुआ।"

सम्वादसूक्तो के स्वरूप के विषय मे पश्चिमी विद्वानो मे गहरा मतभेद है–

विन्टरनिट्ज ऋग्वेदीय आख्यानो को महाकाव्य तथा नाटक के उद्गम रूप मे मानते है– "Witch froms a connecting link with the epic and dramatic poetry" जबकि **ओल्डेनबर्ग** सम्वादसूक्त को आख्यान मन्त्र कहकर नवीन विचार प्रस्तुत करते है–

"The oldest from of epic poetry in India, He said was a mixture of prose and verse the speeches of the persons only being in verse, while the events connected with the speeches were narrated in prose."

अर्थात् ओल्डेनबर्ग का मत है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय वीरगाथात्मक काव्य गद्य–पद्यात्मक ही था। कथोपकथन पद्यमय तथा घटनाओ का विवरण गद्यात्मक होता था। पद्य स्मरण करने के कारण ही अवशिष्ट है। जबकि गद्य कथा को सुनने वाले व्यक्ति सम्पूर्ण गद्य भाग को स्मरण रखने की क्षमता के अभाव मे क्रमश भूलते गए और मात्र पद्यात्मक सम्वाद ही शेष रह गए है। क्योकि गद्य का कथन अनेक शब्दो मे करना पडता था, अल्डेनबर्ग का कहना है कि ऋग्वेदीय आख्यान गद्यपद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे धीरे लुप्त हो गया। यह सत्य है कि कुछ आख्यायिकाओ की रक्षा ब्राह्मण ग्रन्थो द्वारा आशिक रूप मे हुई, किन्तु कही–कहीं प्रामाणिक आधारो के आभाव मे हमे केवल वार्तालाप द्वारा कथा का अनुमान करने के लिए प्रयत्न करना पडता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि मे ओल्डेनबर्ग वेद के अतिरिक्त आयरिश तथा स्केण्डेनेवियन भाषाओ के प्राचीन साहित्य को भी प्रमाण रूप मे प्रस्तुत करते है। यही नही वह तो भारतीय साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के कुछ आख्यान–भागो मे, महाभारत के प्राचीन भागो मे, बौद्ध साहित्य में, नीतिकथा, लोककथा के साहित्य मे नाटको और चम्पू साहित्य मे भी इसी प्रवृत्ति को सिद्ध करता है।

वर्तमान चम्पूशैली के आधार पर ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेदीय सम्वाद सूक्तो को आख्यान के नाम से अभिहित किया है। ओल्डेनबर्ग का ऋग्वेदीय आख्यान विषयक यह सिद्धान्त चिर समय तक विद्वानो मे मान्य रहा किन्तु उसकी इस विचारधारा का विरोध हुआ। **मैक्समूलर** तथा **सिल्वालेवी** ने यह बतलाया कि ऋग्वेद के सम्वाद सूक्त एक प्रकार के नाटक है। **डा० हर्टल** तथा **श्रोडर** ने मैक्समूलर की उपर्युक्त विचारसरणि का अनुमान करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वस्तुत· ये सम्वाद सूक्त धार्मिक उत्सवो पर खेले जाने वाले धार्मिक अभिनय थे। इस प्रकार इनके अनुसार ये आख्यान नाटक के अवशिष्ट अंश हैं, जिनका सगीत तथा पात्र के उचित सन्निवेश कर देने पर यज्ञ के अवसरों पर वस्तुत. अभिनय होता था।

डा. विन्टरनिट्ज का कथन यह है कि ऋग्वेद के ये छन्दोबद्ध कथोपकथन मूलत प्राचीन वीरकाव्य या लोकगीतकाव्य (Ballads) का नमूना है। ये अर्द्धकथात्मक तथा अर्द्धरूपात्मक होने से कथानक तथा नाटक के सम्मिश्रण है। यही वीरकाव्य तथा नाटक के स्रोत है क्योकि इनमे वर्णनात्मक तथा नाटकीय तत्त्व विद्यमान् थे। प्राचीन वीरकाव्यो के वर्णनात्मक अश से (Epic) का तथा नाटकीय तत्त्वो से नाटक साहित्य का उदय हुआ। ये प्राचीन आख्यान कविता मे तथा आशिक रूप से पद्य मे लिखे जाते थे। इस प्रकार के तत्त्वो की यदि हमे उपलब्धि हो जाती तो बहुत सम्भव था कि सूक्तो के ये वार्तालाप स्पष्ट हो जाते। ओल्डेनबर्ग का भी यही अभिमत था। वैसे भी इन आख्यान सूक्तो मे भी प्रायश अर्द्धमहाकाव्यीय तथा अर्द्धनाटकीय तत्त्वो का समावेश मिलता है। हॉ इन्हे पूर्णत नाटक स्वीकार नही किया जा सकता तथापि कुछ विद्वानो ने इन्हे नाटक के रूप मे स्वीकार किया है।

'वैदिक साहित्य की रूपरेखा' नामक पुस्तक के लेखक द्वय लिखते है कि ऋग्वेद साहित्य के सङ्ग्रह मे प्राचीनतम भारतीय कविता के दर्शन होते है। यह हमे मानना ही पडता है कि आज जिस रूप मे हमे ऋग्वेद प्राप्त होता है, अपने मूल रूप मे ऋग्वेद उससे कही अधिक विस्तृत था और उसका एक विशाल साहित्यिक अश कण्ठ परम्परा के कारण सुरक्षित होते हुए भी लुप्त हो गया क्योकि इन सूक्तो की प्रचुर सख्या का प्रयोग याज्ञिक मन्त्रो के रूप मे तथा यज्ञिक प्रार्थना–गीतो के रूप मे हुआ करता था और यह कल्पना विचार–सङ्गत है कि धीरे–धीरे काल विपरिणाम से सूक्तो को ग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठित होने का श्रेय मिला, किन्तु कुछ रचनाऍ लुप्त हो गयी।

यदि यह कह दिया जाय कि ऋग्वेद वैदिक देवतावाद का कोषग्रन्थ है तो अनुचित न होगा, किन्तु दैवत–साहित्य के अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्ड, दार्शनिक विचारधारा तथा आख्यान–साहित्य का भी इसमें एक प्रमुख स्थान है। परवर्ती काल मे प्राप्त होने वाले नाटक, काव्य, इतिहास, पुराण, कथा, गीतिकाव्य निश्चय ही इसी आख्यान–साहित्य के परिष्कृत स्वरूप है ऐसी विभिन्न आलोचको की धारणा है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन मे ऋग्वेद के मंत्रो का विनियोग की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् हम यह कह सकते है कि ऋग्वेद सहिता के पौरस्त्य एव पाश्चात्य विभिन्न व्याख्याकारो ने ऋग्वेद के मन्त्रो का भिन्न–भिन्न विनियोग किया है।

पञ्चम अध्याय

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का अर्थ-विनिश्चय की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

अर्थ-विचार की अनिवार्यता –

शब्द तथा अर्थ का समन्वित रूप भाषा है। बिना अर्थ के शब्द निरर्थक रहता है तथा बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति असम्भव है। अर्थ शब्द की आत्मा है, शब्द शरीर है। ध्वनि–विज्ञान, पद–विज्ञान और वाक्य–विज्ञान भाषा के शरीर है। इनमे भाषा के शरीर या वाह्यरूप का विवेचन विश्लेषण किया जाता है। अर्थ आत्मा है। अर्थविज्ञान मे शब्दार्थ के आन्तरिक पक्ष का विवेचन–विश्लेषण किया जाता है।

जिस प्रकार शरीर के ज्ञान के बाद आत्मा का ज्ञान अपेक्षित है, उसी प्रकार ध्वनि, पद एव वाक्य के ज्ञान के बाद अर्थरूपी आत्मा का ज्ञान अपेक्षित एव अनिवार्य है।

अतएव भर्तृहरि ने वाक्यार्थरूपी प्रतिभा को आत्मा कहा है– **''यन्नेत्रः प्रतिभात्माऽयं भेदरूपः प्रतीयते''** (वाक्यपदीय, १–११८)

अर्थ-विज्ञान का नामकरण –

प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे अर्थसम्बन्धी विवेचन को अर्थविज्ञान नाम दिया है।

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ।।

(महाभारत, वनपर्व २–१६)

यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते ।
शब्दज्ञानर्थविज्ञाशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ ।।

(श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद–१३)

भाषाविज्ञान के अर्थ–विषयक विवेचन को आजकल अग्रेजी मे Semanthıcs (सीमेन्टिक्स) कहते है। यह नाम फ्रेच विद्वान् **मिशेल ब्रील** (Mıchel Bre'al) द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी मे इसके लिए अर्थविचार, शब्दार्थविचार, शब्दार्थविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि नाम भी प्रचलित रहे है। सम्प्रति 'अर्थविज्ञान' नाम ही सर्वप्रिय है। अग्रेजी में इसके लिए प्रारम्भ मे अनेक नाम चले, जैसे Rhematology (र्हेमेटोलॉजी), Semasıalogy (सिमेसिआलोजी), Rhemetıcs(र्हेमेटिक्स), Sematology (सीमेटोलॉजी) आदि। एक दर्जन से भी अधिक नामो मे से अब Semantıcs (सीमेन्टिक्स) नाम ही शेष रह गया है।

अर्थविज्ञान की परम्परा –

भारतवर्ष मे शब्द और अर्थ का विवेचन दर्शनशास्त्र का विषय रहा है। न्यायदर्शन और मीमासादर्शन मे शब्दशक्ति, शब्दार्थज्ञान, स्वत प्रामाण्य– परत प्रामाण्य आदि का गहन विवेचन हुआ है।

यद्यपि अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्राकर शब्द के साथ अर्थ का आविर्भाव जुडा हुआ है उसी प्रकार शब्द–विचार के साथ ही अर्थ–विचार का भी आरम्भ अति प्राचीन काल मे ही हो गया होगा, तथापि भारतवर्ष मे यास्क का निरूक्त इसका प्राचीनतम एव पुष्ट प्रमाण है। यास्क कृत निरूक्त ही अर्थविज्ञान का सर्वप्रथम भारतीय ग्रन्थ है। जिसमे निर्वचन के नियम, अर्थ का महत्त्व, मन्त्रार्थ की विधि, प्रकरण आदि का महत्त्व बताया गया है। वैदिक साहित्य मे इन्द्र, वृत्र वृत्रहा, नदी, उदक, तीर्थ आदि शब्दो की निरूक्ति मिलती है।

व्याकरण–ग्रन्थ मे व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न अर्थात् यौगिक और रूढ तथा योगरूढ तीन प्रकार के शब्दो से तीन प्रकार के अर्थो को बताया गया है– यौगिकार्थ, रूढार्थ, योगरूढार्थ ।

काव्यशास्त्रो के ग्रन्थो मे– वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का विवेचन उपलब्ध होता है।

पतञ्जलि के 'महाभष्य' तथा भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' मे भी शब्दार्थ–विषयक विवेचन मिलते है।

'अर्थ' का लक्षण –

अर्थ के अनेक लक्षण दिए गए है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे १८ और ओग्डेन एव रिचार्ड्स ने "Meaning of Meaning" मे अर्थ के १६ लक्षण दिए है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते है–

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थ तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।।

वाक्यपदीय, २/३२८

अर्थात् "शब्द के उच्चारण के द्वारा जब जिस अर्थ की 'प्रतीति' होती है तब वही उस शब्द का अर्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अर्थ का कोई अन्य लक्षण नही है।"

इससे स्पष्ट है कि अर्थ का सामान्य लक्षण 'प्रतीति' है। प्रत्येक व्यक्ति शब्द को सुनकर कुछ अर्थ समझता है। उसकी यह व्यक्तिगत अनुभूति 'प्रतीति' ही उसका अर्थ होता है।

वस्तुत भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत अर्थ का लक्षण पूर्णत· उपयुक्त न होने के कारण आलोचना की अपेक्षा रखता है। वह यह कि क्या अर्थ केवल 'शब्द' का ही होता है ?' 'राम मारे शर्म के पानी–पानी हो गया' इस वाक्य

मे 'पानी–पानी हो' शब्द तो नही है यह एक वाक्य है किन्तु यहॉ अर्थ की प्रतीति केवल 'पानी' शब्द से नही हो सकती। वह 'पानी–पानी होना' से ही हो सकती है। अत· कहा जा सकता है कि –

'किसी भी भाषिक इकाई (वाक्य, वाक्याश, रूप, शब्द, मुहावरा आदि) को किसी भी इन्द्रिय (प्रमुखत कान, ऑख) से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीति होती है, वही अर्थ है।'

स्मरणीय बात यह है कि प्रत्येक भाषा मे एक ही अर्थ के लिए पृथक्–पृथक् शब्द है। शब्द के अर्थ स्वाभाविक नही, अपितु साड्केतिक एव यदृच्छामूलक है। एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओ मे विभिन्न अर्थ होता है। प्रत्येक भाषा का वक्ता और श्रोता अपनी भाषा मे सड्केतित अर्थ को ही ग्रहण करता है।

शब्द के द्वारा अर्थज्ञान की प्रक्रिया –

यह जानना आवश्यक है कि किसी शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ? 'गाय' कहने से 'गाय' तथा 'वृक्ष' कहने से वृक्ष की प्रतीति ही हमे क्यो होती है, अन्य किसी वस्तु की क्यो नहीं होती ?

ज्ञान, प्रत्यय या प्रतीति भाषा का मानसिक पक्ष है। मन मे विचार उठते है, वक्ता शब्दो के द्वारा उन्हे प्रेषित करता है, श्रोता कान से उन शब्दो को सुनता है, मन को उनके अर्थो की प्रतीति होती है। इस प्रकार भाषा का उद्गम और अर्थज्ञान (अर्थावगम) रूपी परिणति दोनो भाषा के मानसिक पक्ष है। भाषा वक्ता से लेकर श्रोता तक, आदि से अन्त तक मानसिक पक्ष मे अनुस्यूत है।

अर्थ-ज्ञान के साधन –

अर्थ का ज्ञान प्रत्यय या प्रतीति के रूप मे होता है। इस प्रतीति या ज्ञान के दो साधन है–

१. आत्मप्रत्यक्ष (स्वप्रत्यक्ष या आत्मानुभव)

२. परप्रत्यक्ष (परानुभव)

आत्म-प्रत्यक्ष –

आत्म–प्रत्यक्ष का अर्थ है– स्वय किसी वस्तु आदि को अपनी ऑखों आदि से देखना या अनुभव करना। जैसे– मनुष्य, स्त्री, गाय, अश्व, पक्षी आदि को देखकर स्वयं ज्ञान प्राप्त करना। इसी प्रकार सन्तरा, नीबू आदि का रस स्वय चखकर उनके रस का अनुभव करना यह सब आत्म–प्रत्यक्ष है। आत्म–प्रत्यक्ष स्पष्ट, अधिक प्रामाणिक और स्थायी होता है।

वस्तुत मनुष्य जिस वातावरण में जन्म लेता है तथा पलता है, उसकी प्रतीति उसे आत्मप्रत्यक्ष द्वारा अर्थात् मन से सयुक्त अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा सदैव होती रहती है। अपनी आस–पास की सभी वस्तुओ का बिम्ब

उसके मस्तिष्क मे अड्कित होता रहता है। इसी प्रकार उन वस्तुओ के लिए प्रयुक्त शब्दो को भी वह सुनता रहता है। ये शब्द भी उसके मस्तिष्क मे सस्कार रूप मे स्थिर हो जाते है। बाद मे वह वस्तुओ को देखकर उसके वाचक शब्दो को, तथा शब्दो को सुनकर उनके वाच्य अर्थो (वस्तुओ) को जानने लगता है। इसी को पारिभाषिक शब्दावली मे सड्केतग्रह कहा जाता है।

आत्मप्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं –

१. वाह्य–इन्द्रिय–जन्य

२. अन्तरिन्द्रिय–जन्य

वाह्य-इन्द्रिय-जन्य –

वाह्य इन्द्रियॉ है– ऑख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा। ऑख से देखी हुई वस्तु, नाक से सूँघी हुई गन्ध, कान से सुना हुआ शब्द, त्वचा से छुआ पदार्थ और जीभ से चखा हुआ स्वाद वाह्य–इन्द्रिय–जन्य ज्ञान या अनुभव है। इनका ज्ञान और इनकी प्रामाणिकता इन्द्रियो ने स्वय प्रत्यक्ष की है।

अन्तरिन्द्रिय-जन्य ज्ञान –

अन्तरिन्द्रिय या अन्त करण मन है। कुछ सूक्ष्म चीजो का ज्ञान वाह्य–इन्द्रियॉ नही कर पाती, उनका ज्ञान मन करता है। यथा–सुख–दुख का अनुभव, शोक और क्रोध का अनुभव, भूख–प्यास का अनुभव आदि। शोक, दु ख, हर्ष, क्षोभ आदि का अनुभव व्यक्ति स्वयं मन मे करता है। यह अन्तरिन्द्रियजन्य आत्मप्रत्ययक्ष है। अन्तरिन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष कम स्पष्ट और कुछ अंश तक अनिर्वचनीय एव अवर्णनीय होता है।

पर-प्रत्यक्ष –

पर–प्रत्यक्ष का अर्थ है–जिसे पर या दूसरे ने देखा या अनुभव किया है। अनेक क्षेत्र ऐसे भी होते है जहॉ हमारी पहुॅच नही होती है, उस क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दादि के अर्थ की प्रतीति के लिए हमें दूसरो के अनुभव या ज्ञान पर निर्भर करना पडता है, अर्थात् जब मनुष्य किसी विश्वस्त व्यक्ति के अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे पर–प्रत्यक्ष द्वारा होने वाला ज्ञान कहा जाता है। यथा–परप्रत्यक्ष के आधार पर ही हम भूगोल मे सभी देशों, नगरो, नदियो, समुद्रो, दर्शनीय स्थलों का ज्ञान प्राप्त करते है। परप्रत्यक्ष मे ही आत्मवाक्य, आत्मवचन या प्रामाणिक व्यक्तियो के कथन भी आते है। अतः वेद, शास्त्र, स्मृतियों आदि से हम पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म, स्वर्ग–नरक, ईश्वर–जीव, आत्मा–परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध –

अर्थ–विचार के प्रसङ्ग मे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषय से समबद्ध अनेक प्रश्न उठाये गये है– जैसे– शब्द और अर्थ मे कोई सम्बन्ध है या नही, यदि कोई सम्बन्ध है तो वह क्या है ? सम्बन्ध स्वाभाविक है या मनुष्यकृत ? नित्य है या अनित्य ? आदि आदि। 'गाय' कहने से 'गाय' पशु अर्थ ही क्यो लिया जाता है ? अश्व आदि अन्य पशु क्यो नही ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक सार्थक शब्द किसी अर्थ (वस्तु) विशेष का बोध कराता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है, यह सड्केतग्रह पर निर्भर है। "भाषा यादृच्छिक ध्वनि–प्रतीको की व्यवस्था है।" इसका अर्थ यह है कि भाषा के शब्द प्रतीक है तथा प्रत्येक भाषा मे कोई शब्द किसी अर्थ को सड्केतित करता है। प्रत्येक भाषा मे इस शब्द का यह अर्थ होगा, यह सड्केतित है। यह सड्केत सामान्यतया स्वेच्छाजन्य या यादृच्छिक (यदृच्छाजन्य) होता है। प्रारम्भ मे कोई व्यक्ति किसी विशेष अर्थ मे किसी शब्द का प्रयोग करता है। बाद मे वह शब्द उस समाज या उस भाषा मे लोकप्रिय हो जाता है। वही उस शब्द का सड्केतित अर्थ माना जाता है।

कुछ अपवादो को छोडकर शब्द और अर्थ का कोई स्वाभाविक एव सहज सम्बन्ध नही है। समाज ने यह सम्बन्ध मान लिया है या कहे कि समाज ने विभिन्न शब्दो को विभिन्न अर्थो मे प्रतीक के रूप मे स्वीकार कर लिया है। शब्द विशिष्ट अर्थो के प्रतीक या सड्केत है इसीलिए उन शब्दो के प्रयोग से श्रोता उन्ही अर्थो को ग्रहण करता है। यथा–समाज ने 'पानी' शब्द को प् + अ + न् + ई ध्वनि समूह को पानी द्रव्य के लिए सड्केत या प्रतीक मान रखा है, इसीलिए पानी कहने को उसी का बोध होता है, किसी और वस्तु का नही।

एक ही शब्द या ध्वनिसमूह विभिन्न भाषाओ मे विभिन्न अर्थ बताता है। यथा–

अग्रेजी का 'Know' (नो,–जानना) सस्कृत और हिन्दी मे निषेधार्थक 'नो' माना जायेगा, 'Knee' (नी, घुटना) सस्कृत के अनुसार नी (ले जाना) अर्थ होगा। अत· किसी एक ध्वनि का कोई एक अर्थ नही है।

इस प्रकार किसी शब्द या ध्वनि समूह के साथ किसी अर्थ या वस्तु का सम्बन्ध स्थापित करना या बोध कराना ही सड्केतग्रह है। सड्केत–ग्रह के कारण ही शब्द, अर्थ विशिष्ट का बोध कराता है। यह सड्केत–ग्रह लोक–व्यवहार एव अनुभव से होता है।

दार्शनिक या भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ– अन्योन्याश्रित हैं। शब्द शरीर है, अर्थ आत्मा है। दोनो को मिलाकर 'सार्थक शब्द' बनता है। अर्थ के बिना शरीर निर्जीव है और शब्द के बिना अर्थ अग्राह्य या अप्रयोज्य है। शब्द मूर्तरूप देता है और अर्थ उसमे चेतनता देता है। अत सार्थक प्रयोग के लिए दोनो का समन्वित रूप मे उपस्थित होना अनिवार्य है।

प्रसिद्ध भाषातत्त्व–विचारक श्री भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही तत्त्व या आत्मा के दो धर्म या भेद या दो अभिन्न अङ्ग माना है –

''एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ''

वाक्यपदीय, २/३१

ऐसा मानने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का प्रश्न ही नही उठता–

''तस्माच्छब्दार्थयोर्नैव सम्बन्धः परिकल्पते''।।

वाक्यपदीय, ३/३/१५

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ का वाचक–वाच्य सम्बन्ध माना है। वे अभिधा शक्ति के अन्दर ही 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव मानते है।

अस्याऽय वाचको वाच्य इति षष्ठया प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते ।।

वाक्यपदीय, ३/३/३

किन्तु भाषाविज्ञानी को इससे सन्तोष नही होता। एक ही आत्मा के दो धर्म या दो भेद होते हुए भी भाषाविज्ञानी के लिए उनमे कोई सम्बन्ध होना आवश्यक ही है। "यह आवश्यक न भी होता, यदि 'अर्थ' भी 'शब्द' के वाह्यरूप की भॉति–निश्चित आकार वाला होता। अर्थ की कुछ अवस्थाऍ है निश्चित अभिव्यक्ति के कुछ क्रम है। शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध समझे बिना सन्देहास्पद स्थिति बनी रह सकती है। द्वयर्थक या अनेकार्थक शब्दो मे यह स्थिति अधिक विचारणीय हो उठती है। एक ही अर्थ एक स्थान पर क्यो सामने आता है ? तथा शब्द के स्वरूप से उसका क्या सम्बन्ध है ? आदि प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। (डा० सत्यकाम वर्मा भाषातत्त्व और वाक्यपदीय)

अत भाषा–विज्ञान की दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना अनिवार्य है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय मे भर्तृहरि का मत हमारे लिए यहॉ पर विशेष रूप से उपादेय प्रतीत होता है, क्योकि उन्होने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार न केवल दार्शनिक दृष्टि से अपितु व्यावहारिक (भाषा–व्यवहार) की दृष्टि से भी किया है। भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ मे शब्द और अर्थ के अनेक सम्बन्धों पर विचार–विवेचन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि शब्द और अर्थ मे यदि कोई सम्बन्ध मानना अनिवार्य ही है तो वह सम्बन्ध वाच्य–वाचक सम्बन्ध ही हो सकता है। क्योकि "इस शब्द का यह अर्थ है" अथवा "यह अर्थ इस शब्द का है" आदि व्यवहार से किसी न किसी सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

शब्दशक्तियाँ –

शब्द से अर्थ का बोध होता है। शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। 'गाय का दूध पियो' मे गाय और दूध शब्द है इनमे गाय–पशु और दूध–वस्तु बोध कराया जाता है। प्रयोग या उपयोग मे अर्थ (वस्तु) ही आती है शब्द नही। शब्द अर्थ (वस्तु) का बोध कराकर निवृत्त हो जाता है। इसीलिए भाषा मे अर्थ का महत्त्व है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य–वाचक या बोध्य–बोधक सम्बन्ध कहते है। शब्द वाचक या बोधक है अर्थ वाच्य या बोध्य।

सस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध मे गहन मनन–चिन्तन किया है। इस विवेचन को वे 'शब्दशक्ति' या 'वृत्ति–निरूपण' नाम से प्रस्तुत करते है। शब्दो से होने वाला अर्थ तीन प्रकार का है– **वाच्य, लक्ष्य** और **व्यङ्ग्य**। इसी आधार पर शब्द भी तीन प्रकार का होता है – **वाचक, लक्षक** और **व्यञ्जक**। इन तीनो शब्दो मे विद्यमान शक्ति या वृत्ति को **अभिधा, लक्षणा** और **व्यञ्जना** कहते है।

शक्ति या वृत्ति	शब्द	अर्थ	उदाहरण
१. अभिधा	वाचक	वाच्य (मुख्य)	गाय, अश्व, मनुष्य
२ लक्षणा	लक्षक	लक्ष्य (गौण)	गङ्गाया घोष अर्थात् गङ्गा मे घोष (कुटी)
३ व्यञ्जना	व्यञ्जक	व्यङ्ग्य (प्रतीयमान)	गङ्गाया घोष मे शैत्य पावनत्व आदि अर्थ

अभिधा –

यह मुख्य वृत्ति या शक्ति है। अभिधा से बताया जाने वाला अर्थ मुख्य होता है। यह शब्द का लौकिक और व्यावहारिक अर्थ है। 'गाय दूध देती है', 'घोडा दौडता है' 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' मे गाय, घोडा, मनुष्य का लोक–प्रचलित अर्थ लिया जाता है। इसमे गाय आदि शब्दो को वाचक, गाय (पशु) आदि अर्थो को वाच्य और यह अर्थ बतानेवाली शक्ति को 'अभिधा' कहते हैं।

लक्षणा –

लक्षणा के तीन हेतु या कारण होते है–

१. मुख्य अर्थ मे बाधा

२. मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण

ही बता सकता है। वासुदेव–वसुदेव + अ (पुत्र अर्थ मे) वसुदेव का पुत्र, अर्थ व्याकरण से ही स्पष्ट होता है।

उपमान –

उपमान का अर्थ सादृश्य है। सदृश वस्तु बताकर किसी शब्द का अर्थ बताना। यथा– गौरिव गवय (गाय के तुल्य नील गाय होती है) इस उपमान से गवय (नील गाय) का अर्थ ज्ञात होता है।

कोष –

कोशग्रन्थो से शब्दो का अर्थ ज्ञात करने मे बहुत सहायता मिलती है। वृत्रहा, त्रिपुरारि, मध्वरि, काय आदि शब्दो का अर्थ हमे ज्ञात नही है तो कोशग्रन्थों की सहायता से इनका अर्थ क्रमश इन्द्र, शिव, विष्णु, शरीर आदि ज्ञात हो जाता है।

आप्तवाक्य –

यथार्थ वक्ता को 'आप्त' कहते है। वेद, शास्त्र, गुरू, माता, पिता, आदि आप्त मे गिने जाते है। बालक माता–पिता को आप्त मानकर ही बचपन मे सारी भाषा सीखता है। ईश्वर, जीव, पाप, पुण्य, मोक्ष आदि का ज्ञान हमे वेद आदि से ही होता है। महान्, विद्वान्, प्रसिद्ध, सिद्ध या पहुँचे हुए लोगो के वाक्य भी कभी–कभी अर्थ बोध कराते है। आस्थावान्–लोगो का ईश्वर, स्वर्ग, नरक, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे शब्दो का अर्थबोध मुख्यत धर्मग्रन्थो पर आधारित है।

व्यवहार –

व्यवहार का अभिप्राय है–लोक–व्यवहार। बालक से लेकर वृद्ध तक लोक–व्यवहार से ही सबसे अधिक अर्थ–ज्ञान अर्थात् सङ्केतग्रह करते है। माता–पिता, गुरू, साथी, मित्र आदि के व्यवहार से ही सम्बन्धियो के नाम, सम्बन्ध (भाई, चाचा, मामा आदि) का ज्ञान, पशु–पक्षियों के नाम, बाजार की सभी चीजो के नाम आदि जानते है। लोक–व्यवहार अर्थज्ञान का सर्वोत्तम साधन है।

वाक्यशेष (प्रकरण) –

वाक्यशेष का अर्थ है–प्रकरण। प्रकरण या प्रसङ्ग नानार्थक शब्दों के अर्थ–निर्णय मे सर्वोत्तम सहायक है। 'रस' और 'ध्वनि' शब्द के अनेक अर्थ है। प्रसङ्गानुसार इनके अर्थ का निर्णय होता है। यथा–

१. **'रसो वै सः'** में रस का अर्थ 'आनन्द' लिया जायेगा। परमात्मा आनन्दरूप है।

२. **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** (रसयुक्त वाक्य काव्य है) मे रस का अर्थ 'काव्य–रस' है।

३. **'सरसं भोजनम्'** (रसयुक्त भोजन) में रस का अर्थ भोज्य षड्रस है

४. **'ध्वनिरात्मा काव्यस्य'** (काव्य की आत्मा ध्वनि है) मे ध्वनि का अर्थ 'व्यञ्जना' है।

५. **'कोकिल-ध्वनि'** मे ध्वनि का अर्थ 'शब्द या कूजन' है।

विवृति (विवरण, व्याख्या) –

विवरण या व्याख्या से अनेक शब्दो का अर्थ स्पष्ट होता है। विशेष रूप से पारिभाषिक, तकनीकी या दार्शनिक आदि शब्दो को बिना व्याख्या के नही समझा जा सकता है। यथा–तन्त्र, विधान, विधि, शासन–पद्धति, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन, अद्वैत, द्वैत, त्रैत, विशिष्टाद्वैत आदि।

प्रसिद्ध पद का अर्थात् ज्ञात पद का सांन्निध्य –

प्रसिद्ध या ज्ञात पदो की समीपता से अज्ञात शब्द का अर्थ ज्ञात होता है। यथा– 'बलाहक और विद्युत् का सयोग' मे विद्युत् (बिजली) का अर्थ ज्ञात होने से बलाहक का अर्थ 'बादल' ज्ञात हुआ। 'पयोधि मे मगर' 'मगर' का अर्थ ज्ञात होने से पयोधि का अर्थ 'समुद्र' ज्ञात होता हैं। 'सुधा' के दो अर्थ है– अमृत और चूना। 'सुधा–सिक्त भवन' मे भवन के सान्निध्य से 'चूना' अर्थ लिया जाएगा– (चूने से पुता मकान), 'सुधा–पान से अमर देवगण' मे देवगण के सान्निध्य से सुधा का अर्थ 'अमृत' लिया जाएगा।

पाश्चात्य विद्वानो ने अर्थबोध के तीन साधन माने हैं –

१. व्यवहार –

किसी वस्तु का बोध कराने के लिए उसे बार–बार दिखाना या उसकी ओर इगित करना। इस तरह ब्लैकबोर्ड, पेन्सिल, कलम, चाक, पुस्तक, कापी, छात्र आदि शब्दो का बोध कराया जाता है।

२. विवरण –

किसी वस्तु का विवरण देकर उसका बोध कराना यथा– समुद्र, पहाड, जङ्गल, ताजमहल, किला आदि शब्दो का ज्ञान विवरण देकर कराया जाता है।

३. अनुवाद –

एक ही भाषा के कठिन शब्दो को या अन्य भाषा के शब्दों को अनुवाद के द्वारा समझाया जाता है। यथा– शतक्रतु = इन्द्र, विवस्वान् = सूर्य। अग्रेजी मे सेव को Apple आम को Mango कहकर समझाया जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अर्थबोध के ये तीन साधन उपर्युक्त आठ साधनों की तुलना मे बहुत अल्प प्रतीत होते है।

एकार्थक और नानार्थक शब्द –

शब्द दो प्रकार के होते है – १. एकार्थक, २. नानार्थक

एकार्थक शब्द –

एकार्थक शब्दो का एक ही मुख्य अर्थ होता है। यथा– पुस्तक, नदी, वृक्ष आदि। एकार्थक शब्द भी विभिन्न कारणो से विभिन्न अर्थो का बोध कराते है।

एकार्थक और पर्यायवाची शब्दो को सीनोनीम्स (Synonyms) कहा जाता है। Syn (सीन) = सदृश, समान + Onym (ओनीम) = नाम या अर्थ, अत समानार्थक या एकार्थक। विभिन्न विचारधाराओ के कारण एक ही वस्तु के आनेक नाम पड जाते है। प्रारम्भ मे इनमे भावात्मक अन्तर रहता है, बाद मे वह भेद विस्मृत हो जाने से पर्याय के रूप मे इनका प्रयोग होता है। यथा– राजा, नृप, भूपति, भूप, भूभृत् आदि।

पर्यायवाची शब्द दो प्रकार के होते है –

१. पूर्ण पर्याय अर्थात् (पूर्णतया एकार्थक)

२. अपूर्ण पर्याय (समानार्थक)

पूर्ण पर्याय –

पूर्णपर्याय वे शब्द है, जो पूर्णतया एकार्थक है। इनमे एक के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। यथा– राजा–नृप–भूप, धरा–वसुन्धरा, अवनि–पृथ्वी–भू–भूमि।

अपूर्ण पर्याय –

अपूर्ण पर्याय वे शब्द है, जो अर्थ की दृष्टि से समानार्थक है, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमे भेद है। प्रत्येक स्थान पर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग नही किया जा सकता है इनमें तीन प्रकार के भेद है–

१. शैली-मूलक भेद –

शैली की दृष्टि से भेद यथा – आज्ञा–इजाजत, प्रसन्नता–खुशी, दया–रहम, कृपालु–रहीम, शुद्ध–पाक, अशुद्ध–नापाक।

२. विचारमूलक भेद –

अपूर्ण पर्याय शब्दो मे विचार और भावना की दृष्टि से भेद देखा जा सकता है, यथा–ईश्वर–अल्लाह–गॉड, रानी–बेगम–क्वीन, फूल–गुल, मन्दिर–मस्जिद–चर्च, प्रार्थना–नमाज–प्रेयर, वैद्य–हकीम–डाक्टर, विद्यालय–मकतब–स्कूल।

३ प्रयोगमूलक भेद –

कुछ शब्द समानार्थक होने पर भी एक के स्थान पर दूसरा नही आ सकता है। यथा–'जलपान' के स्थान पर 'वारिपान', 'यज्ञवेदि' के स्थान पर 'यज्ञचबूतरा', 'नीर–क्षीर–विवेक' के स्थान पर 'जल–दुग्ध–विवेक' का प्रयोग नही हो सकता है।

नानार्थक शब्द –

कुछ शब्द एक से अधिक अर्थो का बोध कराते है, उन्हे नानार्थक या अनेकार्थक कहते है। एक शब्द के अनेक अर्थ कैसे हुए यह विवाद का विषय है। सामान्यतया क्रिया के अर्थ की समानता के आधार पर, गुण–साम्य, सादृश्य, ससर्ग आदि के आधार पर शब्द नानार्थक होते है। यथा–कर–हाथ–किरण–टैक्स। श्रृङ्ग–सीग–चोटी। नग–वृक्ष–पर्वत आदि।

अनेकार्थक तथा समानार्थक शब्दों की समस्या –

भर्तृहरि द्वारा मान्य वाच्यार्थ को ही सब कुछ स्वीकार कर लेने पर एक समस्या सामने आती है कि अनेकार्थक शब्दो मे कौन सा अर्थ वाच्य होगा ?

भर्तृहरि इसका सामाधान करते है–

बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु ।
यत्प्रयोक्ताऽभिसन्धत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते।।

(वाक्यपदीय, २/४०२)

अर्थात् समानार्थक और नानार्थक शब्दो का कहॉ पर क्या अर्थ लिया जाएगा या इन शब्दो मे कौना सा अर्थ वाच्य है इसके निर्णय का आधार वक्ता की प्रयोग भावना ही है। जिस अर्थ को प्रकट करने के लिए वक्ता शब्द का प्रयोग करता है। वही अर्थ वाच्य होगा तथा शेष सभी अवाच्य होगे।

अर्थात् प्रयोक्ता जहॉ जिस अर्थ मे शब्द का प्रयोग करना चाहता है, वही अर्थ वहॉ अभिधेय है। इस अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ को सामने लाने के लिए भर्तृहरि ने दो नियमों की कल्पना की है–

१. उपचार–नियम

२. प्रतिचार–नियम

उपचार-नियम –

"उपचार" वह धर्म है, जिसके कारण अन्य अर्थो की अपेक्षा अभिधेय या वाच्यार्थ ही प्रमुखता ग्रहण करके सामने आ जाता है। भर्तृहरि इसे पदार्थ की 'सत्ता' मानते है। भाषा–वैज्ञानिक इसे "औपचारिकी सत्ता" कहते है।

भर्तृहरि के अनुसार शब्द स्वच्छ स्फटिक के समान होता है। उसका सम्बन्ध किसी भी अर्थ से नही होता। वक्ता जिस भावना का प्रतिनिधि बनाकर शब्द का विनियोग करता है, शब्द मे वही अर्थ मुख्य होकर सामने आ जाता है।

प्रतिचार-नियम –

प्रतिचार–नियम मे रहने वाली "प्रातिचारिकी सत्ता" द्वारा शब्द का अवाञ्छित अर्थ दूर हट जाता है। क्योकि, वक्ता उस अर्थ मे शब्द का विनियोग ही नही करता है।

इस प्रकार अनेकार्थक या समानार्थक शब्दों से, वक्ता के विनियोग की भावना पर वाच्य अर्थ ही सामने आता है, अन्य कोई भी अर्थ नही।

एकार्थक (समानार्थक) शब्दों के अर्थविनिश्चय अर्थात् अर्थनिर्णय में सहायक तत्त्व –

आचार्य विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण" मे एकार्थक शब्दों के अर्थविनिश्चय के लिए १० साधन बताए है–

वक्तृ-बोद्धव्य-वाक्यानामन्यसंनिधि-वाच्ययोः ।
प्रस्ताव-देश-कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थ या बोधयेत् साऽर्थसंभवा ।।

(साहित्यदर्पण, २–१६,१७)

१. वक्ता	३. वाक्य–प्रयोग
२. बोद्धा (श्रोता)	४. वाच्य (वक्तव्य)
५. अन्य–सनिधि (अन्य की उपस्थिति)	६. प्रकरण
७. देश	८. काल
६. काकु (व्यङ्ग्य)	१०. चेष्टा।

वक्ता –

वक्ता के भेद से अर्थ मे भेद हो जाता है। यथा–'शाम हो गई' से भक्त 'पूजा का समय', खिलाडी 'खेल समाप्त करो', सिनेमा–प्रेमी 'सिनेमा का समय' आदि अर्थ लेते है।

बोद्धा (श्रोता) –

श्रोता कौन है, किससे बात कही जा रही है, तदनुसार अर्थ–भेद हो जाता है। पत्नी पति से–'राजा, फिर कब मिलोगे'? यहॉ राजा का अर्थ 'पति' है। अन्योक्तियो के पद्य, प्राय इसी प्रकार के होते है। बिहारी का दोहा–'नहि पराग नहि मधुर मधु०' नव विवाहिता पत्नी पर आसक्त राजा जयसिह के लिए चेतावनी है।

वाक्य प्रयोग –

वाक्य मे प्रयोग से शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है। 'अपि कुशलम्' ? (आप कुशल तो है ?) 'अपि' का अर्थ 'भी' होता है, यहॉ प्रश्नार्थक है।

'आपने खाना खा लिया है न !' यहॉ 'न' निषेधार्थक न होकर विध्यर्थक है। यहॉ 'न' वस्तुत सस्कृत का 'नु' अव्यय है।

वाच्य (वक्तव्य) –

'क्या कहा जा रहा है', 'वक्ता को क्या अभिप्रेत है' तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। 'अच्छा हुआ पापी चला गया' यहॉ 'चला गया' का अर्थ 'मर गया' है।

अन्य-संनिधि –

अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से भी अर्थ–भेद हो जाता है। शाकुन्तलम् मे 'चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी,' (चकवी अपने साथी से विदाई लो, रात आ गई) (अड्क –३) नेपथ्य से शकुन्तला को सड्केत दिया गया है कि 'रात्रि (गौतमी) आ गई है , चकवी (शकुन्तला) साथी (दुष्यन्त) से अलग हो जाओ'। यहॉ रात्रि का अर्थ गौतामी है, चकवी शकुन्तला है, चकवा दुष्यन्त है। जब नए आगन्तुक से कोई बात छिपानी होती है तो कहते है– 'अच्छा चलो' यहॉ 'अच्छा' का अर्थ है – 'बात यही समाप्त करो'।

प्रकरण –

प्रकरण या प्रसड्ग से भी अर्थभेद हो जाता है। 'सूर्योदय हो गया' का प्रकरण के अनुसार सैकडो अर्थ होगे। 'बच्चों, उठो', 'सध्या करो', 'स्नान करो', 'खेत पर जाओ' आदि। यास्क ने निरूक्त मे स्पष्ट कहा है कि 'प्रकरण' के अनुसार ही मन्त्र का अर्थ करना चाहिए।

देश और काल –

देश और काल के अनुसार शब्द के अर्थ मे भेद होता है। वाक्य 'कब और कहॉ बोला जा रहा है, तदनुसार अर्थ होगा।

काकु (व्यड्ग्य) –

काकु का अर्थ है वक्रोक्ति या ध्वनि–भेद। काकु से अर्थ मे अन्तर हो जाता है। 'आपने अच्छा पत्र भेजा' अर्थात् 'आपसे पत्र भेजने को कहा था, पर आपने पत्र नही भेजा'। 'आप बडे भद्र पुरूष है' अर्थात् बहुत दुष्ट व्यक्ति है। काकु या वाड्ग्य से उल्टा अर्थ निकलता है।

चेष्टा –

सड्केत (इशारा) या आड्गिक अभिनय से अभिप्राय व्यक्त किया जाता है। यथा–'सेठ का इतना बडा पेट', तीन इच का आदमी' यहॉ इशारे से पेट की विशालता, आदमी का नाटापन व्यक्त किया जाता है। यहॉ 'तीन इच' का अर्थ 'तीन इच' नही है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का एक–एक शब्द अनेक या असख्य अर्थो का बोधक हो जाता है। यह देखते हुए यह कहा जा सकता है, कि सस्कृत का यह सुभाषित सत्य है कि **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'** अर्थात् सभी शब्द सभी अर्थो का बोध करा सकते है।

नानार्थक (अनेकार्थक) शब्दों के अर्थ-विनिश्चय में सहायक तत्त्व –

भर्तृहरि ने नानार्थक शब्दो के अर्थ– विनिश्चय के १४ साधन बताए है–

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिड्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

(वाक्यपदीय, २–३१७, ३१८)

१. सयोग

२. विप्रयोग (वियोग)

३. साहचर्य

८. अन्य शब्द की सन्निधि (समीपता)

९. सामर्थ्य

१०. औचिती या औचित्य

४.	विरोधिता	११.	देश
५.	अर्थ (प्रयोजन)	१२.	काल
६.	प्रकरण (प्रसड्ग)	१३.	व्यक्ति (पुलिड्ग, स्त्रीलिड्ग, नपुसकलिड्ग)
७.	लिड्ग (चिह्न)	१४.	स्वर

संयोग –

सयोग का अर्थ है 'प्रसिद्ध सम्बन्ध'। सयोग द्वारा वाच्यार्थ को जानने मे सहायता मिलती है। सयोग के द्वारा नानार्थक शब्दो का अर्थ–निर्णय किया जाता है। यथा–राम शब्द के तीन अर्थ है–रामचन्द्र, परशुराम, बलराम। राम का धनुष, परशुराम का परशु (कुल्हाडी), बलराम का हल प्रसिद्ध है। केवल राम कहने से सन्देह होगा। अत 'धनुर्धर राम' (धनुषधारी राम) कहने से 'रामचन्द्र' अर्थ लिया जाएगा। 'परशुधर राम' 'परशुराम' होगे और 'हलधर राम' कहने से 'बलराम' अर्थ लिया जाएगा। इसी प्रकार– 'हरि' इस शब्द के अनेक अर्थ है– विष्णु, सिह, कपि, अनिल, यम आदि। फिर भी 'सशड्खचक्रो हरि' इस वाक्य मे शड्ख तथा चक्र का विष्णु से सयोग होने के कारण 'हरि' शब्द का वाच्यार्थ 'विष्णु' ही होगा।

विप्रयोग (वियोग) –

प्रसिद्ध वस्तु–सम्बन्ध का आभाव दिखाना ही 'वियोग' है। इससे भी अर्थनिर्णय होता है। राम का सीता से सम्बन्ध प्रसिद्ध है, अत 'सीतावियुक्त राम' (सीता से वियुक्त राम) कहने पर रामचन्द्र ही अर्थ लिया जाएगा। 'अवत्सा गौ' (बछडे से हीन गाय) कहने पर 'गो' से 'गाय' अर्थ ही लिया जाएगा। 'गो' शब्द के अनेक अर्थ है– गाय, पृथ्वी, किरण आदि। 'अशड्खचक्र हरि' कहने पर 'हरि' का 'विष्णु' अर्थ ही लिया जायेगा।

साहचर्य –

साहचर्य का अर्थ है 'साथ–साथ रहना' सदृश होना तथा स्वामी–सेवक भाव से साथ–साथ रहना आदि। जिनका साथ रहना प्रसिद्ध है वही अर्थ लिया जायेगा। 'रामलक्ष्मणौ' कहने पर प्रसिद्ध साहचर्य के कारण राम का अर्थ दशरथसुत रामचन्द्र ही लिया जायेगा। भीम और अर्जुन के कई अर्थ है– भीम–कुन्तीपुत्र, भयड्कर आदि अर्जुन–कुन्तीपुत्र, वृक्षविशेष। भीमार्जुनौ (भीम–अर्जुन) कहने पर दोनो कुन्तीपुत्र भीम और अर्जुन लिए जाएँगे। इसी प्रकार कुष्णार्जुनौ मे श्रीकृष्ण और पार्थ अर्जुन।

विरोधिता –

अर्थात् प्रसिद्ध वैर या कभी साथ–साथ न रहना। यह साहचर्य के विपरीत है। जिनका विरोध प्रसिद्ध है वही अर्थ लिया जाएगा। रामचन्द्र और रावण का विरोध प्रसिद्ध है, इसलिए 'राम–रावणौ' (राम–रावण) मे राम

से रामचन्द्र अर्थ होगा। 'कर्णार्जुनौ' (कर्ण–अर्जुन) मे कर्ण से राधापुत्र कर्ण और अर्जुन से पार्थ । कर्ण का कान अर्थ नही लिया जाएगा।

अर्थ (प्रयोजन) –

जिससे अर्थ या प्रयोजन सिद्ध हो, वह अर्थ लिया जाएगा, अर्थात् ऐसा प्रयोजन जो अन्यसाध्य न हो। यथा–'मुक्तये हरि भज' यहॉ पर मुक्ति रूपी प्रयोजन 'हरि' अर्थात् 'विष्णु' द्वारा ही साध्य हो सकता है। अत अनेकार्थक शब्द 'हरि' का वाच्यार्थ यहॉ पर 'विष्णु' ही होगा सिह आदि नही। गो का अर्थ गाय, पृथ्वी, किरण आदि है। 'दुग्धाय गा श्रय' मे गो का अर्थ 'गाय' होगा। 'कृषये गा श्रय' मे गो का अर्थ 'पृथिवी' होगा।

प्रकरण (प्रसड्ग) –

अर्थात् वक्ता–श्रोता की बुद्धि मे स्थित विषय या प्रसड्ग। प्रकरण या प्रसड्ग के द्वारा भी अर्थ–निर्णय किया जाता है। यथा–राजदरबार मे प्रयुक्त 'सर्व जानाति देव' इस वाक्य मे देव शब्द का अर्थराजा ही होगा, क्योकि यहॉ राजदरबार का प्रकरण है। यद्यपि 'देव' शब्द ईश्वर, के लिए भी प्रयुक्त होता है। सस्कृत के नाटको मे प्राय यह वाक्य आता है– 'यथा देव आज्ञापयति' यहॉ देव का अर्थ 'राजा' है। 'देवता' नही। मधु के अनेक अर्थ है– वसन्त, शहद, शराब (मदिरा) प्रसड्गानुसार अर्थ होगा– 'मधुमत्त कोकिल' यहॉ पर मधु का अर्थ 'वसन्त' होगा। उपचार चिकित्सा के प्रकरण मे 'मधु से औषधि ले लो' इस वाक्य मे 'मधु' का वाच्य 'शहद' ही होगा।

लिड्ग (चिह्न) –

लिड्ग का अर्थ चिह्न या असाधारण धर्म है। यहॉ लिड्ग का अर्थ पुलिड्ग या स्त्रीलिड्ग नही है। लिड्ग का अर्थ प्रसिद्ध चिह्न है जिससे उसे पहचाना जाता है। सस्कृत मे 'कुपितो मकरध्वज' से कोप करना रूप चिह्न के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही होगा। यद्यपि इसके समुद्रादि अर्थ भी होते हैं। हिन्दी मे 'गगन मे छाये है घनश्याम' यहॉ 'घनश्याम' शब्द 'बादल' का ही वाचक होगा, यद्यपि इसका प्रयोग कृष्ण के लिए भी होता है।

अन्य शब्द की सन्निधि (समीपता) –

समीपस्थ पदो या शब्दो की सहायता से भी अर्थनिर्णय होता है। अर्थात् अनेकार्थक शब्द के साथ किसी अन्य नियत अर्थ वाले शब्द का प्रयोग होना । यथा– सस्कृत मे 'देवस्य पुराराते.' यहॉ पर यद्यपि देव शब्द अनेकार्थक है किन्तु उसका सामीप्य 'पुराराते' इस नियत अर्थ वाले शब्द से होने के कारण यहाँ 'देव' का

अर्थ 'शिव देवता' ही होगा। हिन्दी मे 'राणा–शिवा' मे अन्य पदो की सहायता से 'राणा प्रताप और शिवाजी' अर्थ होगा। इसी प्रकार 'गॉधी–नेहरू' जैसा प्रयोग होने पर सन्निधि के कारण इन दोनो शब्दो का अर्थ क्रमश मोहनदास कर्मचन्द्र गॉधी तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरु ही होगा, यद्यपि गॉधी तथा नेहरू ये कुलनाम दूसरे लोगो के भी है। इसी प्रकार– लाल, बाल, पाल' से लाला लाजपतराय, बालगङ्गाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल' अर्थ लिया जाता है।

सामर्थ्य –

अर्थात् कारणता। जिसमे उस कार्य को करने की सामर्थ्य होगी, वह अर्थ लिया जाएगा। 'मधुना मत्त कोकिल' अर्थात् 'कोकिल मधु से मतवाला है' इस वाक्य मे कोकिल को मतवाला करने का सामर्थ्य 'मधु' अर्थात् 'वसन्त' मे ही है अत 'मधु' शब्द के अनेक अर्थो मे से 'वसन्त' ही यहॉ वाच्य है। इसी प्राकर 'हरि' के अर्थ है– विष्णु, बन्दर, सूर्य आदि। 'बिन हरि–भजन न दोष नसाही' (हरि–भजन बिना दोष नष्ट नही होते) मे हरि से 'ईश्वर' या विष्णु अर्थ होगा। उसमे ही दोष नष्ट करने की शक्ति है।

औचिती या औचित्य –

अर्थात् योग्यता। औचित्य के आधार पर भी अर्थनिर्णय होता है। द्विज का अर्थ– ब्राह्मण, दॉत, पक्षी आदि है। औचित्य के आधार पर ''द्विजा उत्पतन्ति'' अर्थात् "द्विज उड रहे है,'' यहॉ पर, उडने की योग्यता होने के कारण 'द्विज' का वाच्यार्थ पक्षी ही होगा न कि ब्राह्मण अथवा दॉत।

देश –

अर्थात् स्थानविशेष । देश या स्थान की विशेषता के आधार पर भी अर्थ–निर्णय होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति 'देवोऽत्र विराजते' इस सस्कृत–वाक्य का प्रयोग राजदरबार में करता है, तो स्थानविशेष अर्थात् राजदरबार के कारण 'देव' शब्द का वाच्यार्थ राजा होगा, किन्तु यदि किसी देवालय में इस वाक्य का प्रयोग होगा तो वहॉ 'देव' शब्द का अर्थ देवता ही होगा। 'केदार' के अर्थ हैं– क्यारी, केदारनाथ। 'केदारे गॉधिसरोवर' (केदार मे गॉधी–सरोवर) यहॉ केदार का अर्थ 'केदारनाथ' होगा। 'बदर्या वसुधारा–प्रपात' (बदरी मे वसुधारा–प्रपात) यहॉ बदर्या का अर्थ 'बदरीनाथ' होगा 'बेर' नहीं क्योंकि ये दोनो स्थान केदारनाथ और बदरीनाथ मे ही है।

काल –

अर्थात् कालविशेष। समय के आधार पर भी अर्थनिर्णय होता है। यथा–'चित्राभानुर्विभाति' अर्थात् 'चित्रभानु चमक रहा है' इस वाक्य का प्रयोग यदि दिवसकाल मे किया जाएगा, तो 'चित्रभानु' का अर्थ होगा 'सूर्य', किन्तु यदि रात्रिकाल मे इसी वाक्य का प्रयोग किया जाएगा तो 'चित्रभानु' का अर्थ होगा 'अग्नि'। 'प्रातः

हरिरूदेति' (प्रात हरि उदय होता है) मे प्रात काल के कारण 'हरि' का अर्थ 'सूर्य' लिया गया है। 'मधौ कोकिल कूजति' (मधु मे कोयल बोलती है) मे 'मधु' का बसन्त ऋतु अर्थ होगा।

व्यक्ति (पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग) –

अर्थात् पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुसकलिङ्ग का वाचक होना। लिङ्ग भेद से अर्थभेद हो जाता है। यथा–सस्कृत मे 'मित्र भाति' वाक्य मे मित्रम् नपुसकलिङ्ग होने के कारण 'सुहृद' का वाचक है, जबकि 'मित्रो भाति' मे 'मित्र ' पुलिङ्ग होने के कारण 'सूर्य'का वाचक है। इसी प्रकार हिन्दी मे 'टीका' शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग है तो अर्थ होगा– 'टीका–व्याख्या' किन्तु यदि पुलिङ्ग है तो इसका अर्थ 'टीका–तिलक' होगा। इसी प्रकार दुर्ग (किला) दुर्गा (पार्वती), काल (समय, यम) काली (दुर्गा), मुग्ध (मूर्ख) मूग्धा (सून्दरी), कृष्ण (कृष्ण, काला) कृष्णा (द्रौपदी)।

स्वर –

अर्थात् उदात्त अनुदात्त, स्वरित, कम्प, प्रचय आदि स्वरो के भेद से अर्थ–भेद हो जाता है। इस विषय मे एक अति प्राचीन आख्यायिका प्रचलित है कि वृत्र ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश के लिए एक वृहद् यज्ञ का आयोजन किया । उसमे ऋत्विज लोगो की सख्या भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान थी। होम का प्रधान मन्त्र था ''इन्द्र–शत्रुर्वर्धस्व'' जिसका अर्थ है कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक विजय प्राप्त करे। इस प्रकार इन्द्रशत्रु पद अन्तोदात्त होने पर तत्पुरूष समास होता है और आद्युदात्त होने पर बहुव्रीहि समास होता है। 'इन्द्र–शत्रु' र्वधस्व' इस मन्त्र मे तत्पुरूष समास का अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रु' पद अभिप्रेत था जिसका अर्थ था 'इद्रस्यशत्रु' अर्थात् इन्द्र का शत्रु। किन्तु ऋत्विजो की असावधानी से आद्युदात्त इन्द्रशत्रु पद का उच्चारण हो गया जिसका अर्थ था 'इन्द्र शत्रु यस्य' अर्थात् इन्द्र जिसका शत्रु (घातक) है या जिसको सताने वाला है' अर्थात् वृत्र का शत्रु या घातक इन्द्र विजय प्राप्त करे। इस प्रकार यज्ञ यजमान के लिए ठीक विपरीत सिद्ध हुआ। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज्य का कथन है कि –

शब्दार्थ–निर्णय के उपर्युक्त उपाय वस्तुत केवल दिशानिर्देश के लिए ही हैं। अत केवल इतने ही साधन है ऐसा मानना भ्रान्ति होगी क्योकि उपर्युक्त साधनो के अतिरिक्त भी अर्थनिर्णय के अन्य साधन है यथा– ष–स का भेद, न–ण का भेद, आङ्गिक अभिनय, मुखविकार या मुखमुद्रा, नेत्रविकार, कर या हस्त सङ्केत आदि।

अर्थपरिवर्तन (अर्थविकास) की दिशाएँ –

ससार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील है। भाषा भी परिवर्तनशील है। जिस प्रकार ध्वनियो मे परिवर्तन होता है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा के शब्दो व पदो के अर्थो मे भी परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ–परिवर्तन को विकास–सिद्धान्त की दृष्टि से 'अर्थविकास' भी कहा जाता है।

भाषा मे प्रयुक्त शब्दो व पदो तथा उनके अर्थो का विचार हमारे देश मे प्राचीनकाल से ही होता चला आ रहा है। यास्क, पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा सस्कृत–काव्यशास्त्रकारो ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। अभिधा, लक्षणा, तथा व्यञ्जना शब्दशक्तियो के द्वारा शब्दो के अर्थो का निश्चय और उनके परिवर्तन का पर्याप्त विवेचन प्राचीन आचार्यो ने किया है। लक्षणा और व्यञ्जना के बिना तो वस्तुत अर्थ–परिवर्तन का आधार ही नही बनता है।

अर्थपरिवर्तन किन–किन दिशाओ मे होता है, अथवा उसके कितने प्रकार होते है, इस विषय पर सबसे पहले प्रख्यात फ्रासीसी विद्वान् एव भाषा–विज्ञानवेत्ता 'ब्रील' ने विचार किया था। इन्होने तीन दिशाओ की खोज की।

१ अर्थविस्तार (Expansion of meaning)

२. अर्थसङ्कोच (Contraction of meaning)

३. अर्थादेश (Transference of meaning)

जैसा कि उपर्युक्त सज्ञाओ से प्रकट होता है कि अर्थ की ये दिशाएँ उनके क्षेत्र को लक्ष्य मे रखकर निश्चित की गयी है, अर्थात् इनसे यह ज्ञात होता है कि कभी –

१. कोई अर्थ कम पदार्थो की अपेक्षा अधिक पदार्थो (एक से अनेक) का द्योतक होने लगता है।

२. कभी इसके विपरीत अधिक पदार्थो की अपेक्षा उससे कम पदार्थो (अनेक से एक) की प्रतीति कराने लगता है।

३. कभी प्रचलित या प्रसिद्ध अर्थ के स्थान पर सर्वथा भिन्न अर्थ को कहने लगता है।

इस आधार के अतिरिक्त अर्थविकास की दिशाओ का एक अन्य आधार गुण भी हो सकता है। गुण को आधार मान कर विद्वानो ने अर्थविकास की दो अन्य दिशाओ का भी उल्लेख किया है–

४. अर्थोत्कर्ष (Elevation of meaning)

५. अर्थापकर्ष (Deterioration of meaning)

अर्थविस्तार –

अर्थविस्तार का अभिप्राय है किसी अर्थविशेष के सीमित क्षेत्र का पूर्व की अपेक्षा बढ जाना विस्तृत हो जाना। जब पहले किसी शब्द के अर्थ का क्षेत्र सीमित हो और बाद मे उसकी सीमा का विस्तार हो जाए, तो उसे अर्थविस्तार की दिशा माना जायेगा। यथा–

१ **प्रवीण –**

'प्रवीण' का अर्थ था – 'प्रकृष्टो वीणायाम्' (वीणावादन मे श्रेष्ठ या निपुण) परन्तु बाद मे किसी भी कार्य मे निपुण, दक्ष, चतुर अर्थात् आगे रहने वाले को 'प्रवीण' कहा जाने लगा। इस प्रकार 'प्रवीण' शब्द के अर्थ का विस्तार हो गया। यह कृषि कर्म मे प्रवीण है, साहित्य–दर्शन मे प्रवीण है, यह कला मे प्रवीण है, आदि।

२ **कुशल –**

कुशल शब्द का अर्थ था (कुशान् लाति इति कुशल)कुशाओ को लाने वाला कुशल कहलाता था। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है, उससे हाथ मे छेद होने या कटने का भय रहता था। अत कुश लाना चुतरता का सूचक था। अतएव तीक्ष्ण बुद्धि को 'कुशाग्रबुद्धि' कहा जाता है। यह 'कुशल' शब्द धीरे–धीरे 'कुश–लाना' अर्थ को छोडकर 'चुतरता' और 'निपुणता' का अर्थ देने लगा। इस प्रकार इसके अर्थ मे विस्तार हो गया। यथा–वह सगीत मे कुशल है, वह शास्त्रो मे कुशल है, वह खेलने मे कुशल है, आदि।

३. **तैल –**

पहले तिलो के तेल अर्थात् द्रव को ही तैल कहते थे, परन्तु अब सरसो, अलसी, नारियल आदि के तेल को भी तैल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मिट्टी के तेल को भी तैल कहा जाता है इस प्रकार 'तैल' शब्द का अर्थविस्तार हो गया अब तिल के तेल के लिए 'तिलतैलम्' कहना पडता है।

४. **गोशाला, गोष्ठ –**

गायो के रहने के स्थान को गोशाला या गोष्ठ कहते थे। उसमे बैल, भैंस, बकरी आदि भी बॉधे जाते हैं फिर भी उसका नाम गोशाला है। इस प्रकार गोशाला शब्द का अर्थविस्तार हुआ। इसी प्रकार गोष्ठ का भी अर्थविस्तार हुआ। गोष्ठ शब्द का अर्थ था जहॉ गाये रहती हो, वह स्थान बाद मे सभी पशुओ के रहने के स्थान को 'गोष्ठ' कहा जाने लगा। गोष्ठ से गोष्ठी बना है– उसमे केवल बैठना अर्थ ही रह गया है। गोष्ठी मे पशु के स्थान पर छात्र, अध्यापक, मनुष्य, विद्वान् सभी बैठते हैं। 'गोष्ठ' शब्द इतना प्रचलित हुआ कि इसमे गो (गाय) का अर्थ जाता रहा और गो–गोष्ठम् (गाय–शाला), अविगोष्ठम् (भेड–शाला) अजागोष्ठम् (बकरी–शाला) कहना पडा।

५. **गवेषणा –**

यह शब्द पहले 'गो–इच्छा का द्योतक था। फिर यह 'गाय–ढूॅढना' अर्थ मे आया। अब इसमें से गाय अर्थ हटकर केवल ढूॅढना, खोज करना, अर्थ रह गया है। अब शोधकार्य के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। अर्थविस्तार के कारण किसी भी प्रकार की खोज को 'गवेषणा' कहते हैं।

६ **महाराज –**

यह शब्द राजा या महाराजा के लिए था परन्तु इसका इतना अर्थविस्तार हुआ कि किसी भी भद्रपुरूष को महाराज कह सकते है। इसके अतिरिक्त 'महाराज' रसोइया के अर्थ मे बहुत प्रचलित है।

७. **अधर –**

पहले यह नीचे के ओष्ठ के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु अर्थविस्तार होने पर दोनो ओष्ठो के लिए प्रयुक्त होता है।

८ **श्रीगणेश –**

इसका मूल अर्थ किसी शुभ कार्य का आरम्भ जिसके प्रारम्भ मे 'श्री गणेशाय नम' कहते थे अब किसी भी अच्छे–बुरे कार्य का प्रारम्भ होने पर लोग इस वाक्य को कहते सुने जाते है।

६. **इतिश्री –**

सस्कृत –लेखक अपनी कृति के अन्त मे पुष्पिका मे लिखते थे 'इति श्री   कृत   . समाप्तम्' आदि। अब किसी भी कार्य की समाप्ति को इतिश्री कहा जाता है।

१०. **अभ्यास –**

सस्कृत मे अभ्यास शब्द का मूल अर्थ है बार–बार बाण फेकना अथवा सैनिक–अभ्यास। यास्काचार्य ने इसका प्रयोग 'आवृत्ति' के अर्थ मे किया है, परन्तु हिन्दी मे 'अभ्यास' शब्द का अर्थविस्तार होने पर इसका अर्थ केवल बाण को फेकने का अभ्यास ही नही है वरन् सभी कार्यो के अभ्यास के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणो के अतिरिक्त ऐसा भी देखा जाता है कि सभी सत्य बोलने वालों को हरिश्चन्द्र, धर्माचरण करने वालो को युधिष्ठिर, कलह करने वालो को नारद, देशद्रोहियो को जयचन्द्र, श्रेष्ठ कवियो को कालिदास आदि कह दिया जाता है, जबकि ये सभी नाम पहले विशिष्ट–विशिष्ट, एक–एक व्यक्ति के ही द्योतक थे।

इसी प्रकार सीधे–सरल व्यक्तियो को गऊ, मूर्ख व्यक्तियो को गधा, तथा कठोर स्वभाव वाले व्यक्तियो को पत्थर या कोमल स्वभाव वाले व्यक्तियो को मोम कहने मे भी गऊ आदि शब्दों के अर्थ का विस्तार हो जाता है।

इसी प्रकार मषी या स्याही (काली स्याही) का अर्थ विस्तृत होने से सभी रड्ग व प्रकार की स्याही को स्याही कहते है। इसी प्रकार बैल, पशु, गधा, उल्लू आदि शब्दो का अर्थ विस्तृत हुआ और ये मूर्ख का भी अर्थ बताने लगे।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणो के द्वारा हम शब्दो के अर्थविस्तार को भली भॉति समझ सकते है।

अर्थसड्कोच –

यह अर्थविस्तार से बिल्कुल विपरीत है। इसमे अर्थ की परिधि या क्षेत्र पूर्व की अपेक्षा सड्कुचित या सीमित हो जाता है, जिसको –अर्थसड्कोच कहते हैं। जब पहले शब्द सामान्य अर्थ को कहता है, उसमे बहुत से अर्थ समाहित होते है, किन्तु बाद मे वह शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में सड्कुचित हो जाता है। यथा–

यास्काचार्य ने निरूक्त मे वस्तुओ के नामकरण पर विचार करते हुए गो, अश्व, पृथ्वी आदि के उदाहरण देकर बताया कि इनका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ बहुत विस्तृत है, परन्तु ये किसी विशेष अर्थ मे रूढ हो गए है।

१ गो –

'गच्छतीति गौ' चलने वाले को गो (गाय) कहते हैं। मनुष्य भी चलता है परन्तु उसे गो नही कह सकते।

२. अश्व –

'अश्नुते अध्वानम् इति अश्व' सडक पर चलने वाले को अश्व कहते हैं, परन्तु सभी सडक पर चलने वालो को अश्व नही कह सकते।

३. पृथ्वी –

'प्रथनात् पृथ्वी' फैली होने के कारण पृथिवी नाम पडा। फैली हुई चादर, तम्बू, शामियाना आदि को पृथ्वी नही कह सकते।

४. मनुष्य –

'मनुष्य मननात्' मनन या चिन्तन करने वाले को मनुष्य कहते हैं, परन्तु अब मनुष्य जातिवाचक नाम हो गया, अत चिन्तक और मूर्ख सभी मनुष्य हैं।

५. मृग –

प्राचीन सस्कृत मे मृग का अर्थ था सामान्य रूप मे सभी जड्गली पशु यथा–खरगोश, हरिण, गीदड, हाथी, सिंह आदि। जड्गली पशुओ मे श्रेष्ठ होने से सिह मृगेन्द्र कहलाता था। मृगराज, मृगपति भी उसे कहते थे। हाथी 'हस्तिन् मृग' कहा जाता था। जड्गली जीवो के शिकार को 'मृगया' कहा जाता था, परन्तु कालान्तर मे मात्र हरिण के अर्थ मे ही 'मृग' शब्द सडकुचित हो गया, अर्थात् अनेकार्थक से हट कर एकार्थक हो गया।

६. **सर्प –**

'सृप् धातु से निष्पन्न 'सर्प' शब्द पहले सभी रेगने वालो के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु अब यह केवल एक ही विषैले, रेगने वाले कीडे सॉप के लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् सॉप के अर्थ मे रूढ हो गया है। रेगने वाले केचुए आदि को 'सर्प' नही कहेगे।

७ **वृक –**

वृक अर्थात् 'फाडने वाला'। कोई भी पशु या मनुष्य अपनी फाडने वाली प्रवृत्ति के कारण प्राचीन काल मे 'वृक' कहला सकता था, किन्तु बाद मे यह शब्द केवल 'भेडिया' अर्थ मे ही सड्कुचित हो गया।

८ **वृषभ –**

'वृषभ' का अर्थ था 'सृजन शक्ति वाला' या उत्पादक। वैदिक काल मे इसका प्रयोग बादल, सॉड, रुद्र आदि के लिए होता था परन्तु कालान्तर मे इसका प्रयोग केवल 'सॉड' के लिए ही सीमित हो गया।

६ **आदित्य –**

अदिति के सभी पुत्र विशेषरूप से मित्र, वरूण, अर्यमा, दक्ष आदि वैदिक साहित्य मे 'आदित्य' कहे गये है, परन्तु बाद मे सूर्य अर्थ मे ही आदित्य शब्द सड्कुचित हो गया है।

१०. **दुहितृ –**

यह शब्द सामान्यतया गाय, भैस आदि दुहने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता था, परन्तु कालान्तर मे केवल 'पुत्री' के अर्थ मे ही यह सड्कुचित हो गया है। ऐसी सम्भावना की जाती है कि गोदोहन का कर्म प्रमुख रूप से कन्याये ही प्राचीनकाल मे करती रही होगी।

११. **पर्वत –**

इस शब्द का पहले अर्थ था 'पर्व वाला अर्थात् गॉठ' 'पोरो वाला' 'पर्वाणि सन्ति यस्मिन् स' अत इसका प्रयोग नरकुल, सरकण्डा या गन्ना भी हो सकता था परन्तु पर्वत शब्द का अर्थ मात्र पहाड अर्थ मे रूढ हो गया है।

१२. **श्राद्ध –**

इसका अर्थ था– श्रद्धायुक्त कर्म। परन्तु कालान्तर में मृतक–श्राद्ध मे ही प्रचलित है।

१३. **तर्पण –**

इसका अर्थ था 'तृप्त करना' परन्तु यह भी मृतकों के लिए प्रयुक्त होता है।

१४ अनुकूल-प्रतिकूल –

इनका क्रमश 'किनारे के इधर' 'किनारे के उधर'। इसमे से कूल (किनारे) का अर्थ हट जाने पर अब केवल 'हितैषी' और 'विरोधी' अर्थ रह गया है।

१५ वेदना –

सुख और दु ख दोनो के अनुभव के लिए था अब केवल दु ख के अर्थ मे रूढ हो गया है।

१६. घृणा –

दया और घृणा दोनो अर्थो मे प्रयुक्त होता था परन्तु अब केवल घृणा के अर्थ मे रूढ हो गया है, दया के अर्थ मे नही।

इस प्रकार उपर्युक्त दृष्टान्तो के आधार पर यह ज्ञात होता है कि नामकरण का आधार तात्कालिक कोई गुण या तत्त्व होता है। बाद मे वह शब्द किसी विशेष अर्थ मे रूढ हो जाता है। उसका व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वत्र प्रयोग नही कर सकते। अतएव आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे कहा है कि 'शब्दो की व्युत्पत्ति का आधार दूसरा है और प्रयोग का आधार दूसरा'। लोक–व्यवहार के आधार पर ही प्रयोग होता है, व्युत्पत्ति के आधार पर नही। इसको ही अर्थसङ्कोच कहते है।

इसके अनेक उदाहरण है। सभी वस्तु–नाम अर्थसङ्कोच के उदाहरण हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर इनका व्यापक अर्थ है, परन्तु वस्तु–नाम होने पर वे उस अर्थ मे रूढ हो गए हैं। यथा –

१७. जगत्, संसार, संसृति –

इनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है गतिशील, ससरणशील। परन्तु ये शब्द संसार अर्थ मे रूढ हो गए हैं।

१८. वारिज, अम्बुज, सरसिज, सरोज, पङ्कज, नीरज –

इनका शाब्दिक अर्थ है जल, तालाब या कीचड मे होनेवाला। परन्तु ये शब्द 'कमल' अर्थ मे रूढ हो गए है। मछली, काई, कीडे आदि को नही कह सकते।

१९. जलद, तोयद, अम्बुद, वारिवाह –

इनका शाब्दिक अर्थ है– जल देने वाला, जल धारण करने वाला। ये बादल अर्थ में रूढ हो गए है।

२०. वारिधि, नीरधि, अम्बुधि, तोयधि–

इन शब्दो का अर्थ है 'जल धारण करने वाला' परन्तु ये सभी शब्द 'समुद्र' अर्थ मे रूढ हो गए हैं। बाल्टी, कन्डाल, हौज को वारिधि नही कह सकते।

प्रो० मिशेल ब्रेआल का यह कथन उचित है कि राष्ट्र या जाति जितनी अधिक विकसित होगी उसकी भाषा मे अर्थ–सड्कोच के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेगे। इसका अभिप्राय यह है कि सस्कृति और सभ्यता के विकास मे सामान्य शब्द विशेष अर्थो मे प्रयुक्त होने लगते है। अत अर्थ–सड्कोच हो जाता है।

समास, उपसर्ग, प्रत्यय, विशेषण, नामकरण, पारिभाषिकता आदि अर्थसड्कोच के प्रमुख कारण हैं।

अर्थादेश –

अर्थादेश का अर्थ है –एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना। आदेश का अर्थ है –एक को हटा कर दूसरे का आना। जब कोई शब्द अपने पहले से प्रचलित अर्थ को छोडकर सर्वथा नवीन अर्थ की प्रतीति कराता है तब अर्थादेश होता है, अर्थात् अर्थादेश मे शब्द का प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और नया अर्थ आ जाता है। अर्थविस्तार मे अर्थ का क्षेत्र बढ जाता है, अर्थसड्कोच मे अर्थ का क्षेत्र घट जाता है, किन्तु अर्थादेश मे अर्थ का क्षेत्र बदल जाता है। शब्द पुराने अर्थ के स्थान पर नवीन अर्थ को कहने लगता है। यथा–

१ असुर –

असुर शब्द का अर्थ ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओ मे देवता है, किन्तु कालान्तर मे यह (प्राणशक्तिसम्पन्न) देवता के स्थान पर 'राक्षस' अर्थ का द्योतक हो गया। आजकल 'असुर' से राक्षस अर्थ ही लिया जाता है, अर्थात् असुर शब्द राक्षस अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है।

२. उष्ट्र –

उष्ट्र शब्द का अर्थ भी ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओ में भैंसा है, किन्तु बाद मे इसका व्यवहार 'ऊॅट' के लिए किया जाने लगा।

३. धूर्त –

ऋग्वेद की ऋचाओ मे 'धूर्त' शब्द का अर्थ है जुआरी। 'रामायण' मे भी धूर्त शब्द जुआरी के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, किन्तु कालान्तर मे धूर्त शब्द का अर्थ 'छल–कपट का व्यवहार करने वला व्यक्ति' हो गया।

४. मौन –

मौन शब्द का पहले अर्थ था 'मुनि–सम्बन्धी आचरण'। किन्तु बाद में यह केवल 'चुप रहने की दशा' के लिए व्यवहृत होने लगा।

५. मुग्ध –

पहले यह शब्द मूर्ख अर्थ के लिये था अब 'मोहित होना' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

६ सत्-असत् –

सत्–असत् शब्दो का अर्थ भी पहले विद्यमान्–अविद्यमान् के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। किन्तु आज ये अच्छे–बुरे के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

७. साहस-साहसी –

साहस का अर्थ डाका डालना, चोरी, व्यभिचार आदि था, परन्तु अब साहस का अर्थ–'उत्साहयुक्त कार्य' और 'साहसी–उत्साही' अर्थ मे प्रयुक्त होने से अर्थोत्कर्ष हुआ है।

८. कर्पट-कपड़ा –

कर्पट फटे चीथडे के लिए था, परन्तु अब कपडा 'अच्छे वस्त्र' के लिए प्रयुक्त होता है।

६ गोष्ठ-गोष्ठी –

गोष्ठ शब्द गोशाला के लिए था, गोष्ठ से बना गोष्ठी शब्द का अर्थ 'सभ्य समाज की सभा' के लिए प्रयुक्त होता है।

१०. गवेषणा –

गाय ढूँढने के अर्थ मे प्रयुक्त होता था, परन्तु अब गवेषणा का अर्थ 'अनुसन्धान' हो गया है।

११. सभ्य –

सभ्य का अर्थ सभा मे बैठने वाले के लिए था, अब 'सुसंस्कृत' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१२. फिरङ्गी –

फिरङ्गी शब्द पुर्तगाली डाकू के लिए था, अब 'यूरोपियन' के लिए प्रयुक्त होता है।

१३. खाद्य-खाद –

खाद्य शब्द भक्ष्य (खाने योग्य वस्तु) के लिए था। अब इसका रूपान्तर खाद केवल कृषि के लिए उर्वरक है।

१४. सह् –

वेद में √सह् धातु का अर्थ 'जीतना' था। परन्तु अब 'सहन करना' अर्थ रह गया है।

१५. बौद्ध-बुद्धू –

बौद्ध धर्मावलम्बी को बौद्ध कहते थे। उसके अपभ्रश रूप 'बुद्धू' का अर्थ 'मूर्ख' हो गया।

१६ देवानां प्रियः –

'देवो का प्रिय' अशोक की उपाधि थी। बौद्धो मे द्वेष के कारण ब्राह्मणो ने 'देवाना प्रिय' का अर्थ 'मूर्ख' कर दिया।

१७ पाषण्ड –

अशोक के समय मे यह एक सम्प्रदाय था। इन्हे दान दिया जाता था। इसके रूपान्तर 'पाखण्ड' का अर्थ 'ढोग, दिखावा' रह गया है।

१८. आकाशवाणी –

देवताओ की वाणी के लिए था। अब 'All India Redio' के लिये प्रयुक्त होता है।

१६. भद्र-भद्दा –

भद्र का अर्थ 'सुशील', 'विनीत', 'उच्च', परन्तु इसके विकसित रूप भद्दा का अर्थ 'गन्दा', 'बुरा' हो गया है।

अर्थविकास की उपर्युक्त दिशाओ के उदाहरणो को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि अनेक शब्दो का अर्थ विस्तृत, सङ्कुचित या आदिष्ट होने के साथ ही साथ पहले की अपेक्षा उत्कृष्ट या निकृष्ट हो गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि अर्थ का उर्ध्वाभिमुख अथवा निम्नाभिमुख भी उसके परिवर्तन की दिशाएँ हैं जो ऊपर नीचे की ओर गति रखती है। कुछ विद्वानो ने इन्हे अर्थोत्कर्ष तथा अर्थापकर्ष नाम से स्वीकार किया है।

अर्थोत्कर्ष –

जब पहले कोई शब्द किसी बुरे (निकृष्ट या अपकृष्ट) अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु बाद मे वह अच्छे (उच्च, उत्कृष्ट) अर्थ को कहने लगता है, तब अर्थ का विकास 'अर्थोत्कर्ष' की दिशा मे हुआ माना जाता है। यथा–

१. साहस –

इस शब्द का अर्थ अर्थोत्कर्ष का बहुत अच्छा उदाहरण है। संस्कृत मे पहले साहस शब्द का अर्थ था लूट, डाका, हत्या, परस्त्रीगमन आदि परन्तु कालान्तर मे संस्कृत में ही (साहसे श्रीः प्रतिवसति–मृच्छकटिक अङ्क

४) साहस शब्द जीवट या हिम्मत के अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार साहस शब्द लूट, डाका, हत्या आदि के स्थान पर 'हिम्मत अथवा हृदय की दृढता' अर्थ को देने लगा है। इस प्रकार इसके अर्थ का उत्कर्ष हो गया है।

२ मुग्ध –

यह शब्द पहले 'मूर्ख' के अर्थ मे प्रचलित था। किन्तु आजकल प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य पर मुग्ध होता है। 'मुग्धा' नायिका अपने भोलेपन से सभी को आकर्षित करती है। इस प्रकार मुग्ध शब्द 'मोहित होना' इस अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त होने से मुग्ध शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हो गया है।

अर्थापकर्ष –

अर्थोत्कर्ष के विपरीत अर्थविकास की दिशा को अर्थापकर्ष कहते हैं। अर्थात् जब पहले कोई शब्द अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त होता है किन्तु बाद मे वह बुरे अर्थ (हीन, निकृष्ट, अपकृष्ट) अर्थ को कहने लगता है तब उसके अर्थ का अपकर्ष हो जाता है। यथा –

१. असुर –

असुर शब्द ऋग्वेद मे देववाचक था परन्तु सस्कृत मे असुर शब्द 'राक्षस' अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार इसके अर्थ का अपकर्ष हो गया।

२ अभियुक्त –

पहले सस्कृत मे अभियुक्त शब्द का अर्थ था 'प्रामाणिक पुरूष' किन्तु आजकल 'अपराधी' को अभियुक्त कहा जाता है। इस प्रकार अभियुक्त शब्द के अर्थ का अपकर्ष हो गया।

३. जुगुप्सा –

इसका 'पालन करना' 'छिपाना' अर्थ था, अब 'घृणा' अर्थ रह गया है।

४. शौच –

पहले इस पद का अर्थ 'पवित्र कार्य' के लिए था, अब 'मलत्याग' अर्थ हो गया है।

५ देवानां प्रियः –

'देवो का प्रिय' तथा 'अशोक' अर्थ था, परन्तु अब केवल 'मूर्ख' अर्थ रह गया है।

६ **घृणा –**

सस्कृत मे घृणा का 'दया' अर्थ था, अब केवल 'घृणा' रह गया है।

७ **महाराज –**

इसका अर्थ पहले बडे राजा के लिए था, अब 'रसोइया' रह गया है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण –

भाषा मे प्रयुक्त अनेक शब्दो का अर्थ एक सा नही रहता है, उसमे समय–समय पर परिवर्तन होता रहता है। अत यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि शब्दो के अर्थो मे विकास का क्या कारण है?

वस्तुत भाषा का सम्बन्ध मानवसमाज से है। मानवसमाज अपने मन मे उद्‌भूत विचारो को, भाषा द्वारा अभिव्यक्त करता है। अत भाषा का मूल–मानवमन है। यह मानव–मन, मानव–शरीर मे रहता है और शरीर के चारो ओर के वातावरण से प्रभावित होता है। इस वातावरण के परिवर्तन का ही परिणाम है कि मानव की भावनाएँ तथा विचार भी बदलते रहते है। अपने आस–पास के पदार्थो को मनुष्य अपने विचारो के अनुसार ही देखता है, उसी रूप मे वह उन्हे अभिव्यक्त भी करता है।

सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि अर्थ, चूँकि शब्द की आत्मा है, भाषा का आन्तरिक पक्ष है, अत उसके परिवर्तन या विकास का सम्बन्ध भी मानव की आत्मा, मानव के आन्तरिक पक्ष से ही है। अत अर्थविकास के कारण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक हैं। मन कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, अत भौतिक–विज्ञान की भॉति मनोविज्ञान मे इतना ही है, ऐसा ही है, आदि निर्णय लेना सम्भव नहीं है। जब मनोविज्ञान की यह स्थिति है, तब उसके आधार पर होने वाले अर्थ–विकास के कारणो की कोई निश्चित संख्या नही मानी जा सकती है। इस अध्ययन मे नये–नये कारणो का ज्ञान सदैव होता रह सकता है। अब तक विद्वानों ने जितने कारणो की चर्चा की है, उनमे भी परस्पर समानता नही है – सम्भवत इसका कारण भी मनोवैज्ञानिक ही है।

भारत मे सस्कृत के काव्य–शास्त्र–ग्रन्थो मे, अर्थ–विकास का मूलकारण लक्षणा–व्यञ्जना शब्द–शक्तियो को माना गया है। 'कुन्ता प्रविशन्ति' मे 'कुन्ता' का अर्थ 'भाले वाले पुरूष', 'कर्मणि कुशल' मे 'कुशल' का अर्थ 'चतुर' या 'पटु' 'गङ्‌गाया घोष' मे 'गङ्‌गायाम्' का अर्थ 'गङ्‌गा के तट पर' कैसे हो जाता है, यह हमारे काव्यशास्त्राचार्यो–मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने लक्षणा–व्यञ्जना के प्रकरण मे समझाया है। अर्थ विचार के क्षेत्र मे पाश्चात्य विद्वानो का कार्य अभी शैशवावस्था में ही है। यूरोप में इसका आरम्भ १९ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग मे ही हुआ है। यूरोपीय विद्वानों में 'पिशेल', 'ब्रील', 'टकर', 'आग्डेन', 'रिचर्डस् तथा वालपोल का नाम अधिक प्रसिद्ध है। फ्रासीसी विद्वान् 'ब्रील' यूरोप में इस विषय के प्रारम्भकर्ता माने जाते

है। अमरीकी विद्वान् 'टकर' ने अर्थ–विचार को एक पृथक् विज्ञान के रूप मे मानने का आग्रह किया है। 'आण्डेन' तथा रिचर्डस् आधुनिकतम विद्वानो मे गिने जाते है।

अर्थ–विकास या अर्थ–परिवर्तन के जिन कारणो का उल्लेख विद्वानो ने किया है, वे निम्नलिखित है –

१. भौगोलिक परिवेश में परिवर्तन –

पञ्चभूतो से बना मानव का शरीर अपने चारो ओर के भौगोलिक परिवेश या वातावरण से प्रभावित होता है। उसके भौगोलिक वातावरण मे परिवर्तन होने पर, उसके व्यवहार मे आने वाली वस्तुओ मे भी परिवर्तन हो जाता है। अपने मस्तिष्क पर अधिक भार डालने से बचने के लिए वह अनजाने ही, पुरानी परिचित वस्तुओ के नामो का सम्बन्ध नयी वस्तुओ से जोड लेता है। इस प्रकार उसके शब्द तो पुराने होते है, किन्तु उनका अर्थ नया (परिवर्तित) हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ऋग्वेद' में 'राष्ट्र' शब्द 'भैसा' तथा 'ऊँट' दोनो अर्थो मे मिलता है। विद्वानो ने स्पष्ट किया है कि जब आर्य शीतप्रधान भौगोलिक वातावरण मे रहते थे, तब वे उष्ट्र (मूलार्थ–भूरे रग का पदार्थ) भैसे को कहते थे किन्तु जब वे भौगोलिक दृष्टि से उष्ण प्रदेश मे पहुँचे तो उन्होने वहॉ पर एक नये पशु ऊँट को देखा, जो रग–रूप (बडा आकार) मे भैसे से मिलता था। परिणामस्वरूप आर्यो ने अपने परिचित 'उष्ट्र' शब्द का प्रयोग उसी के लिये करना प्रारम्भ कर दिया। अग्रेजी 'कार्न (corn) शब्द का सामान्य अर्थ है – अन्न (धान्य), किन्तु भौगोलिक परिवेश के बदले हुए होने के कारण, एक अग्रेज इसका प्रयोग 'गेहूॅ' के अर्थ मे, एक अमेरिकन 'मक्का' के अर्थ मे तथा एक स्कॉच (स्काटलैण्ड का वासी) इसका प्रयोग 'बाजरे' के लिए करता है, क्योकि उनके देशो का भौगोलिक–परिवेश भिन्न–भिन्न होने के कारण, उनके देश मे वही–वही प्रधान अन्न है। कहते है कि एक बार जब इग्लैण्ड से कार्न (गेहूॅ) का आर्डर मिला, तो अमरीका ने उसे 'कार्न' (मक्का) भेज दिया। इस प्रकार भाषाविज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान न होने से उन्हे कठिनाई का सामना करना पडा। शीत–प्रधान देशो मे ड्रिक' (पीना) का सामान्य अर्थ है 'मदिरा पीना' जबकि उष्णताप्रधान देशो मे 'ड्रिक' का प्रयोग प्राय पानी आदि पीने के लिये होता है।

२. सामाजिक परिवेश में परिवर्तन –

पहले की अपेक्षा आज का सामाजिक वातावरण बदला हुआ है। पहले सम्मिलित परिवार–प्रथा थी। उस सीमित समाज मे युवक–युवतियो का सम्पर्क भी सीमित ही होता था। तब बहिन–भाई शब्द में पर्याप्त पवित्रता की भावना थी। बहिन–भाई तथा पत्नी–पति के अतिरिक्त तब किसी समवयस्क युवती–युवक का सम्पर्क होने की कोई सम्भावना ही नही होती थी। अत बहिन–भाई मे अभ्रान्त रूप से पवित्र भावना रहती थी। आजकल सामाजिक परिवेश बदला हुआ है। अनेक युवक–युवतियॉ सामाजिक समारोहों, शिक्षालयों, कार्यालयो तथा बाजारो आदि मे पारस्परिक सम्पर्क मे आते हैं– पुरानी परम्परा के कारण वे भाई–बहिन शब्दो

का व्यवहार भी करते है, फिर भी आजकल 'बहिन' जी या 'भाई' साहब का अर्थ होता है कोई सामान्य परिचित युवक–युवती न कि सहोदर या सहोदरा। वे परस्पर कैसी भी भावना रख सकते है अथवा पवित्रता की भावना उनके लिए आवश्यक नही है।

सामाजिक परिवेश मे परिवर्तन का ही परिणाम है कि भारत के किसी एक भाग मे 'भाभी' द्रौपदी का प्रतीक है तो किसी दूसरे भाग मे 'सीता' का। उत्तर भारत मे 'मामा' मॉ का भाई ही होता है, किन्तु दक्षिण मे 'मामा' श्वशुर होता है।

सामाजिक परिवेश के परिवर्तन के कारण एक ही पदार्थ विभिन्न नामो से कहा जाता है – पण्डित जिसे 'पुस्तक' कहता है, मौलवी उसी को 'किताब' कहता है।

३. राजनैतिक परिवेश में परिवर्तन –

इसी परिवर्तन का परिणाम है कि आजकल 'क्रान्ति' शब्द का पहले–जैसा अर्थ नही रहा है। पहले, बिना रक्तपात के किसी राज्यसत्ता को नही बदला जा सकता था। अत 'क्रान्ति' का अर्थ था, रक्तपात द्वारा राज्यसत्ता मे परिवर्तन। गॉधी जी के प्रभाव से आजकल अहिसक क्रान्ति का युग है, अत 'क्रन्तिदल' 'हरित क्रान्ति' 'श्वेत क्रान्ति' या वैज्ञानिक या वैचारिक क्रान्ति शब्द खूब चल रहे है, जिसमें क्रान्ति शब्द का अर्थ केवल 'परिवर्तन' ही रह गया है। रक्तपात की प्रबल भावना अब उसमे नही रही है।

४. सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन –

वर्णाश्रम–प्रधान प्राचीन भारतीय सस्कृति के परिवर्तन के फलस्वरूप तत्कालीन शब्दो के अर्थो मे भी परिवर्तन हो गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द आज अपने पुरातन अर्थ को नही कहते हैं। आज ज्ञान के बिना भी व्यक्ति 'ब्राह्मण' क्षति से रक्षा न करने वाला भी 'क्षत्रिय' आदि कहलाता है। इसी भॉति चार आश्रमो की व्यवस्था के अनुकूल आचरण करने वाले व्यक्तियो को 'ब्रह्मचारी' आदि कहा जाता था। आजकल आश्रमव्यवस्था न रहने से 'बह्मचारी' केवल 'विवाह न करने वाला', 'गृहस्थी' 'विवाह कर लेने वाला' कहा जाने लगा है। वन मे न रहने पर भी 'वानप्रस्थी' हो जाना आजकल सम्भव है तथा मोह–माया का त्याग किये बिना भी केवल गेरू–रगे वस्त्र धारण करने से व्यक्ति 'सन्यासी' कहलाने लगता है। पहले 'आश्रम' रहने का स्थान होता था, अब 'विष्णु आश्रम जी' कृष्णबोधाश्रम जी (धार्मिक) व्यक्तियों के भी नाम होने लगे हैं।

५. धार्मिक परिवेश में परिवर्तन –

धार्मिक वातावरण के बदलने से भी शब्दो के अर्थों मे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ प्राचीन काल में यज्ञ करना–कराना, वेदपाठ करना, श्राद्ध करना आदि धार्मिक कार्यों को करने के कारण 'याज्ञिक'

अग्निहोत्री' वेदपाठी, द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिपाठी, यजमान आदि सज्ञा–शब्द उन–उन कर्मो को करने वालो के लिए प्रचलित थे। आजकल अग्निहोत्री, द्विवेदी आदि सज्ञाएँ कुलनाम बनकर रह गयी है। 'अग्निहोत्री' का अर्थ आजकल 'अग्निहोत्र करने वाला' नही, अपितु 'अग्निहोत्री' के वश मे उत्पन्न होने वाले' हो गया है। आजकल 'यजमान' का अर्थ है – 'दक्षिणा देने वाला', 'सकल्प' अर्थ है 'चुल्लू मे पानी लेना'। दक्षिणा आजकल किसी भी दिशा मे स्थित होकर, किसी भी रूप मे (मुद्रा, वस्त्र आदि) दी जा सकती है। जबकि पहले प्रदक्षिणा करके दक्षिण दिशा की ओर बैठकर ही याज्ञिक को यजमान द्वारा दिया हुआ दान (गाय) ही 'दक्षिणा' कहा जाता था।

आजकल प्रदर्शन की भावना का धार्मिक क्षेत्र मे बडा जोर है। अत. पहले जहॉ केवल एक व्यक्ति द्वारा ही ईश्वर का नाम लेना 'कीर्तन' कहलाता था, वहॉ आज मडली बनाकर, सामूहिक रूप से ईश्वर का नाम लेना ही 'कीर्तन' हो गया है।

बिना श्रद्धा के भी 'ब्राह्मण को भोजन कराने' मात्र से आजकल 'श्राद्ध' हो जाता है।

६. भौतिक साधनों में परिवर्तन –

आज जीवन मे नयी साधन–सामग्री को अपना लेने पर भी हम प्राचीन शब्दो का प्रयोग करते रहते है। परिणामस्वरूप, शब्द के अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ – पहले 'पत्र' शब्द से तात्पर्य था – 'वृक्ष के पत्ते पर लिखा हुआ समाचार' और आजकल तो कागज पर लिखे हुए समाचार को ही पत्र कहते है।

'पेन' का अर्थ या (पक्षी) के 'पख' से बना हुआ लिखने का साधन। बाद मे, लोहे आदि का भी लिखने का साधन 'पेन' कहलाने लगा है। इसी प्रकार 'तूलिका' का अर्थ था रूई लिपटी सींक, जिससे आलेखन आदि होता था। आजकल रूई से न बनने पर भी आलेखन के साधन को 'तूलिका' ही कहा जाता है।

७. लाक्षणिक प्रयोग –

अनुभूति की ठीक–ठीक अभिव्यक्ति के लिए लाक्षणिक प्रयोग किये जाते है। जैसे किसी की वीरता से प्रभावित होकर उसे 'सिह' कह देते हैं। इसी प्रकार भीरू को 'गीदड' मूर्ख को गधा' भोले स्वभाव के व्यक्ति को 'गाय' तथा अपकारी को 'सॉप 'बिच्छू' भी हम अकस्मात् ही कह उठते है। यहॉ सॉप, बिच्छू आदि का अर्थ बदलकर अपकारी, मूर्ख, वीर आदि हो जाता है।

८. औपचारिक प्रयोग –

औपचारिक प्रयोग के कारण भाषा अत्यन्त सजीव हो उठती है। नारियल, गन्ने या आलू की ऑख, सुराही की गर्दन, घडे का पेट, चने की नाक, आरे के दॉत या किसी छन्द का पाद (चरण) आदि मे वस्तुत. ऑख–नाक आदि का अर्थ वही नही है जो मनुष्य के ऑख–नाक आदि का होता है। यहॉ 'ऑख' का तात्पर्य

केवल ऑख जैसा चिह्न तथा नाक या गर्दन आदि का अर्थ नाक या गर्दन– से मिलता जुलता अड्ग या आकार ही है।

९. आलड्कारिक प्रयोग –

आलड्कारिक प्रयोगो मे भी शब्दो का अर्थ बदल जाता है। कालिदास के "बाले ! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्" या जयशकर प्रसाद के "मुख–कमल समीप सजे थे, दो किसलय–दल पुरइन के" आदि वाक्यो मे कालिदास ने नेत्रो की 'इन्दीवरद्वयम्' दो इन्दीवर (नीलकमल) तथा 'प्रसाद' जी ने कानो को 'दो किसलय–दल पुरइन के' कहा है। स्पष्ट ही, यहॉ उपर्युक्त सभी शब्दो के अर्थो मे परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार रूपक, वक्रोक्ति आदि अलड्कारो से भी अर्थो मे परिवर्तन हो जाता है।

१०. कहावतों तथा मुहावरों में प्रयुक्त शब्द –

भाषा मे प्रयुक्त कहावतो तथा मुहावरो मे भी शब्दो के अर्थो मे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए 'चार दिन की चॉदनी, फिर अन्धेरी रात' मे चार का अर्थ है, 'थोडा समय', चादॅनी का अर्थ है 'सुख', 'अन्धेरी रात' का अर्थ है 'दुख'। "जो तोको कॉटा बुवै, ताहि बोई तू फूल" मे कॉटा' का अर्थ है 'दुख' 'फूल' का अर्थ है 'सुख'। इसी प्रकार कहावतो मे शब्द किसी एक अर्थ मे रूढ हो जाते है, जो कि उनका मूल अर्थ नही होता है।

मुहावरो मे भी 'ऑख खोलना', 'ऑख मूँदना', 'ऑख लगना' आदि का अर्थ क्रमश होता है, जन्म लेना, मर जाना, नीद आना आदि। यहॉ भी शब्दो के अर्थो मे परिवर्तन हो गया है।

११. लक्षणा-व्यञ्जना शब्द-शक्तियॉ –

शब्दो मे रहने वाली लक्षणा–व्यञ्जना शब्द–शक्तियो के कारण भी शब्दो के अर्थो मे परिवर्तन हो जाता है। (वस्तुत उपर्युक्त लाक्षणिक प्रयोग, औपचारिक प्रयोग, आलड्कारिक प्रयोग, कहावतो तथा मुहावरों मे शब्दो का प्रयोग आदि जितने भी अर्थ परिवर्तन के कारण है, वे सब लक्षणा–शक्ति की ही देन है।) 'कर्मणि कुशल' अर्थात् 'काम मे कुशल' मे 'कुशल' शब्द का, चुतर या पटु अर्थ लक्षणा के कारण ही होता है। इसी प्रकार 'लाल पगडी' आ रही है, मे लाल पगडी का 'सिपाही' अर्थ, 'लाठियॉ चल रही हैं' मे लाठियॉ चलने का 'लडाई अर्थ आदि लक्षणा द्वारा ही होता है। मुहावरे–कहावते सब लक्षणा का ही चमत्कार है। इसी प्रकार अलड्कारो में शब्दो के अर्थ मे जो परिवर्तन होता है, वह भी लक्षणा द्वारा होता है।

इसी प्रकार 'अस्तड्गतोऽर्क' या 'सूर्यास्त हो गया' या 'संध्या हो गयी' आदि वाक्यो के, जो भिन्न–भिन्न व्यक्ति भिन्न–भिन्न अर्थ लेते है जैसे धार्मिक व्यक्ति–'उपासना का समय हो गया' ग्वाला–'गायों को लौटाने

का समय हो गया', विद्यार्थी–'पढने का समय समाप्त हो गया', चोर–'चोरी करने की तैयारी करने का समय हो गया' आदि, यह व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही ज्ञात होता है। विभिन्न व्यक्तियो की विभिन्न रुचि के अनुसार अर्थ देने के कारण ही व्यङ्ग्य या ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य माना जाता है।

१२. कवियों की निरङ्कुशता –

कभी–कभी कवि स्वच्छन्दता पूर्वक शब्दो को मनमाने अर्थ मे प्रयुक्त करते है। ऐसे स्थलो पर शब्दो का प्रयोग अशुद्ध न मानकर कवियो के अनुसार ही उनका अर्थ करना पडता है। यह सुविधा केवल सिद्ध कवियो को ही है। 'जायसी' की निम्न पङ्क्ति मे 'निरास' शब्द द्रष्टव्य है – 'बहुत धूम घूँटत मै देखे उतरु न देई निरास'। (पद्मावत, ११४/१६) यहॉ 'निरास' शब्द का अर्थ 'निराश या आशारहित' न होकर 'निरपेक्ष' है। इसी प्रकार 'सुमित्रानन्दन पन्त' ने अपनी 'बापू के प्रति'' कविता मे गॉधी जी को 'अछूत' कहा है, जिसका अर्थ है 'छूआछूत से परे'।

१३. तत्सम तथा तद्भव रूपों का साथ-साथ प्रयोग –

भाषा मे तत्सम और उनसे विकसित तद्भव शब्दो का प्रयोग साथ–साथ चलता रहता है। किन्तु 'भाषा का व्यवहार करने वाले, अनजाने ही उनके अर्थो में अन्तर कर लेते है। जैसे 'गर्भिणी' तथा 'गाभिन' दोनो शब्द समानार्थक है, किन्तु 'गर्भिणी' शब्द जहॉ मानवी स्त्री की गर्भावस्था को बतलाता है, वहॉ 'गाभिन' शब्द पशुओ की गर्भावस्था का द्योतक है।

इसी प्रकार 'भद्र' तथा भद्दा 'श्रेष्ठ' तथा 'सेठ' 'खाद्य' तथा 'खाद' आदि शब्दो के अर्थो मे भी अन्तर हो गया है। तत्सम 'पत्र' शब्द आज भी चिट्ठी–पत्री के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, जबकि उससे विकसित पत्ता, पत्ती, पत्तल, पतला, पातर तथा पत्तर आदि तद्भव शब्दो का अर्थ बदल गया है। 'शान्त' और 'सन्त' शब्दो का अर्थ भी यहॉ विचारणीय है।

१४. शब्द का प्रयोग बाहुल्य –

पुन पुन बहुलता से किया गया प्रयोग भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन कर देता है। आज 'धन्यवाद' का अर्थ 'धनवान् कहना' या 'धन्य–धन्य कहना' नही है, अपितु आजकल मात्र कृतज्ञताज्ञापन के लिए ही इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'श्रीमान्'' आदि शब्दो का प्रयोग भी आजकल केवल औपचारिकतावश ही किया जाता है, किसी को 'धनवान्' आदि कहने के लिए नही।

१५. प्रकरण-भेद –

प्रकरण–भेद के कारण भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'सैन्धव' शब्द इस विषय का बहुत प्रसिद्ध उदाहरण है। भोजन के प्रसङ्ग में इसका अर्थ 'नमक' हो जाता है, तथा 'यात्रा' के प्रसङ्ग मे 'घोडा', क्योकि दोनो ही सिन्धु प्रदेश मे उत्पन्न होने से 'सैन्धव' कहलाते हैं।

इसी प्रकार शास्त्र–भेद से भी शब्दो का अर्थ बदल जाता है। 'गुण' शब्द का अर्थ दर्शनशास्त्र मे 'सत्त्व, रज तम, काव्य–शास्त्र मे 'माधुर्य, ओज और प्रसाद' तथा आयुर्वेद मे द्रव्य–गुण लिया जाता है। इसी प्रकार 'रस' शब्द का अर्थ भी शास्त्रानुसार बदल जाता है।

१६. साहचर्य-सम्बन्ध –

साहचर्य–सम्बन्ध के कारण भी शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन होता है। 'सूरत' महाराष्ट्र मे एक स्थान का नाम है। विदेश से तम्बाकू सर्वप्रथम वही आया था, अत 'सूरत' के साहचर्य के कारण 'तम्बाकू' को भी 'सूरती' कहा जाने लगा। 'सिन्धु' नदी के साहचर्य से, पहले प्रदेश का नाम 'सिन्धु' पडा फिर वहॉ के निवासी सिन्धु (हिन्दु) कहलाये। उसी प्रदेश मे अच्छा नमक तथा अच्छा घोडा होने के कारण 'नमक' और घोडा भी 'सैन्धव' ही कहे जाने लगे, यद्यपि अन्य स्थानो पर भी ये होते है। इसी प्रकार वृक्ष के 'पत्ते' के साहचर्य से 'चिट्ठी' को आज भी पत्र ही कहते है। गन्ने का सत्त्व भी चीन देश के साहचर्य से ही 'चीनी' कहलाया। सस्कृत मे 'रेशमी वस्त्र को' चीनाशुक' भी इसी कारण कहा जाता है।

१७. दीनता, विनम्रता एवं शिष्टता –

अपने से बडे, श्रद्धेय या समर्थ व्यक्तियो के प्रति दीनता, विनम्रता एव शिष्टता–प्रदर्शन के कारण भी शब्दो के अर्थो मे परिवर्तन हो जाता है। दीनतावश भिखारी किसी भी व्यक्ति को 'राजा' कह देता है, जबकि आज के युग मे 'राजाओ' का कोई अस्तित्व ही नही रहा है। इसी प्रकार 'महानुभाव', 'महाशय' आदि शब्दो का प्रयोग भी हम शिष्टतावश ही करते हैं। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक व्यक्ति मे ये गुण हो। इसी प्रकार अपने 'घर' को 'कुटिया' या 'गरीबखाना' दूसरे के घर को 'भवन', 'महल' या 'दौलताखाना' भी नम्रतावश ही कहा जाता हे। वास्तविकता के अभाव मे यहॉ इन शब्दो के अर्थो में परिवर्तन हो जाता है।

१८. सुश्राव्यता –

इसी को अग्रेजी मे 'यूफेमिज्म' कहा जाता है। कुछ विद्वानो ने इसे 'अशोभन' के लिए शोभन शब्दो का प्रयोग कहा है। वस्तुत अशुभ के लिए शुभ, अश्लील के लिए श्लील, कटु के लिए मधुर शब्दों का प्रयोग इसी के अन्तर्गत आता है। भयङ्करता तथा हीनता की भावना को कम करना तथा अन्धविश्वास भी इसी मे सम्मिलित है।

महाकवि 'कालिदास' ने अपने ग्रन्थों मे 'चूतवृक्ष' शब्द का प्रयोग स्थान–स्थान पर किया है, उस समय तक इस शब्द के साथ अश्लीलता का कोई सम्बन्ध नहीं था, किन्तु, बाद मे इसे अश्लील माना जाने लगा और इसके स्थान पर संस्कृत में तथा हिन्दी में 'आम्रवृक्ष' आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार यौन–भावना तथा यौन–अङ्गो के लिए भी साहित्य में श्लील शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

'शौच जाना' 'हाथ धोना', 'लघुशङ्का' आदि शब्दो का प्रयोग घृणा से बचने के लिए ही किया जाता है। अमङ्गल का कथन भी बुरा समझा जाता है, अत मृत्यु के लिए 'स्वर्गवास' आदि शब्द प्रचलित हो गये है, 'दीपक बढाना' एव 'दूकान बढाना' भी इसी कारण कहा जाता है, क्योकि 'दीपक बुझाना', 'दूकान बन्द करना' अमङ्गल वाची माना जाता है। अन्धविश्वास के कारण 'चेचक' को 'माता' या 'शीतला' कहा जाता है। पति को 'अमुक का पिता' आदि भी इसीलिए कहा जाता है। 'सर्प' को 'कीडा' कहने से भी उसकी भयङ्करता कुछ कम हो जाती है। आदि–आदि।

१६. व्यङ्ग्य –

व्यङ्ग्य के कारण भी शब्दो के अर्थो मे परिवर्तन हो जाता है। सस्कृत–काव्यशास्त्र मे इसे 'विपरीतलक्षणा' कहा गया है। उदाहरणार्थ– मूर्ख को वृहस्पति, अपकारी को उपकारी, कृपण को दानवीर कर्ण, झूठे को सत्यवादी हरिश्चन्द्र कहना आदि। यहॉ 'वृहस्पति' आदि शब्द बिल्कुल ही विपरीत अर्थ को कहते है।

२०. भावुकता –

इस कारण भी शब्दो के अर्थ बदल जाते है। प्राय माता–पिता बच्चो को लाड–प्यार मे 'गधा, 'सुअर' आदि कह देते है। इसी प्रकार क्रोध मे भी 'उल्लू' जानवर आदि कह दिया जाता है। निश्चय ही, यहॉ वक्ता का अभिप्राय इन शब्दो के वास्तविक अर्थ से नही होता है।

२१. सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग –

ऐसा करने पर भी शब्दो का अर्थ बदल जाता है। कभी–कभी भाषा मे जातिवाचक शब्दो के स्थान पर व्यक्तिवाचक शब्दो का व्यवहार होने लगता है और इस प्रकार व्यक्ति से ही जाति, समूह या वर्ग का ज्ञान होने लगता है। उदाहरणार्थ– सभी प्रकार के शाक (तरकारियो) के लिये 'सब्जी' (हरे शाक) शब्द का प्रयोग। अब तो 'सब्जी' फलो के अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा है। 'स्याही' केवल 'कालिख' या लिखने के काले रग को ही कहते थे, अब लिखने के सभी रङ्ग स्याही कहलाते है। इसी प्रकार 'कौआ', 'कोयल', 'उल्लू' आदि स्त्री–पुलिङ्ग दोनो के द्योतक है। छात्र, अध्यापक या मजदूर वर्गो में सभी लिङ्गो के व्यक्ति आ जाते हैं। 'खाना' मे पेयसामग्री तथा 'जलपान' मे खाद्यपदार्थ भी सम्मिलित रहते हैं।

२२. अज्ञान, भ्रान्ति या पाण्डित्य-प्रदर्शन –

अज्ञान, भ्रान्ति या पाण्डित्य–प्रदर्शन के कारण भी अनेक शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। 'देवता' अर्थ मे 'सुर' तथा राक्षस अर्थ मे 'असुर' शब्द का प्रयोग भ्रान्तिमूलक ही है। आजकल हिन्दी में क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति ज्ञान के स्थान पर 'अभिज्ञान' तथा इसी प्रकारा के अनेक शब्दों का प्रयोग बढ रहा है,

जिसके पीछे पाण्डित्य–प्रदर्शन की प्रवृत्ति तथा उपसर्गो के प्रयोग का अज्ञान ही मूल कारण है। शब्दप्रयोग मे असावधानी भी इसका मूल कारण है। धीरे–धीरे ऐसे शब्द भाषा मे प्रचलित हो जाते है और अर्थ परिवर्तन का कारण बन जाते है।

२३. शब्द-कोष –

भाषा मे शब्दकोशो की रचना के कारण भी शब्दो के अर्थ बदलते हैं। वस्तुत किसी भी भाषा का कोई भी शब्द किसी दूसरे शब्द का पर्याय नही होता है। प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ निश्चित होता ,किन्तु शब्द–कोशो मे प्राय एक शब्द के अनेक पर्याय दिये रहते है। उदाहरणार्थ– 'सर्प पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गम ।'– (अमरकोश)। यहॉ सर्प के लिए कई नाम शब्द गिनाये गये है। सामान्य भाषाभाषी तो क्या, पण्डित व्यक्ति भी इनके सूक्ष्म अन्तर को नही जान पाता है। अत सभी शब्दो का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक सर्प के लिए होता रहता है।

इस प्रकार, प्रत्येक शब्द का मूल अर्थ ज्ञात न होने के कारण शब्दों के अर्थो मे अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है तथा उपयुक्त शब्द के स्थान पर अनुपयुक्त शब्द प्रचलित हो जाता है।

२४. व्यक्तिगत योग्यता –

प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य मे दूसरे से भिन्न होता है। अत एक ही शब्द का अर्थ भिन्न–योग्यता वाले व्यक्ति भिन्न–भिन्न ही समझते है। सूक्ष्म भावनाओ तथा विचारो के विषय मे यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, जगत्, माया, ज्ञान, विद्या, पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म आदि शब्दो का अर्थ सभी व्यक्ति एक ही नही करते है। अत इन शब्दो का अर्थ व्यक्ति–भेद, सम्प्रदाय–भेद से बदलता रहता है।

२५. शब्दार्थ में एक तत्त्व की प्रधानता –

कभी–कभी किसी शब्दार्थ के स्थान पर उसके केवल एक तत्त्व से ही उस पदार्थ का ज्ञान होने लगता है। उदाहरणार्थ– 'लाल पगडी' ही सिपाही नहीं है, किन्तु उसका अर्थ सिपाही हो गया है। इसी प्रकार 'लाल टोपी' का अर्थ 'कम्युनिष्ट व्यक्ति' तथा गॉधी टोपी' का अर्थ 'काग्रेसी व्यक्ति' हो गया है।

२६. राष्ट्र या जाति के प्रति सामान्य मनोभाव –

इस कारण भी शब्दो के अर्थो मे महान् परिवर्तन हो जाता है। ईरानियों के देवता 'अहुरमज्द' में अहुर (असुर) का अर्थ आर्यो ने द्वेष के कारण 'राक्षस' किया जबकि उसका मूल अर्थ था – 'प्राणवान्' (देवता)। इसी प्रकार ईरानियो ने 'देव' शब्द का अर्थ अपनी भाषा मे 'राक्षस' कर लिया। 'हिन्दु' का मूल अर्थ है–

सिन्धु देशवासी (ईरानी मे स को ह बोला जाता है) किन्तु द्वेषभाव के कारण मुसलमान लोग प्राय हिन्दू का अर्थ 'गुलाम' या 'काफिर' कहते है और हिन्दू लोग मुसलमान का अर्थ 'भ्रष्ट' मानते है, जबकि इसका अर्थ है– इस्लाम धर्मावलम्बी ।

२७. संक्षेपीकरण –

इस कारण भी शब्दो के अर्थ बदल जाते है। 'हस्तिन्' का अर्थ था 'हाथ वाला या सूँडवाला'। इसके साथ 'मृग' शब्द जोडकर 'हाथी' अर्थ किया जाता था। बाद मे, सक्षेपीकरण द्वारा 'हस्तिन्' का अर्थ हाथी हो गया। इसी प्रकार अग्रेजी मे भी रेल, कार आदि शब्दो का अर्थ रेल–ट्रेन तथा मोटर–कार हो गया है।

२८. अन्य भाषाओं के शब्द –

प्राय ठीक–ठीक अर्थ का ज्ञान न होने के कारण अन्य भाषाओं के शब्दो के अर्थो मे भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, फारसी का 'मुर्ग' शब्द जो यहॉ सामान्य पक्षीवाचक था हमारे यहॉ एक पक्षी–विशेष के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त भी अर्थपरिवर्तन के अनेक कारण हो सकते है, जैसे, व्याकरण मे समास होना, धातुओ से उपसर्ग लगना, उद्देश्य का विधेय होना या विधेय का उद्देश्य हो जाना सज्ञा को विशेषण या विशेषण को सज्ञा रूप मे प्रयुक्त करना, लिङ्गभेद होना आदि–आदि सभी अर्थ–परिवर्तन के कारण है। अर्थ– विकास का कारण मानव का मनोविज्ञान है और उसमे सदैव परिवर्तन होता रहा है, होता रहता है और होता रहेगा। अत अर्थ–परिवर्तन के भी नये–नये कारण सामने आते रहेगे।

अर्थ-विनिश्चय का महत्त्व –

भारत मे प्राचीन काल से ही वेदो का ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण के लिए अनिवार्य माना जाता था।

''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।''

(महाभाष्य, प्रथमाह्निक)

अर्थात् ब्राह्मण को बिना कारण छ अङ्ग वाले वेद को अध्ययन करना तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

कुछ ब्राह्मण बिना अर्थज्ञान के ही जब वेदो के पाठ मात्र से सन्तुष्ट रहने लगे तब यास्काचार्य ने उनकी निन्दा निम्न श्लोक मे की –

''यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।''

(निरूक्त, अध्याय–१, पाद– ६)

अर्थात् जिस प्रकार ईधन भी बिना अग्नि नही जल पाता, उसी प्रकार केवल वाणी द्वारा उच्चारण करने से ही वेदो का पाठ ज्ञानप्रद नही हो सकता है। इतना ही नही, ऐसे वेदपाठी ब्राह्मण को यास्क ने ठूँठ के समान कहा है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थम् इत् सकलं भद्रश्नुते नामकेति ज्ञान-विधूतपाप्मा ।।

(निरूक्त, अध्याय–१, पाद–६)

अर्थात बिना अर्थ जाने वेदपाठी केवल बोझा ढोता है। जो अर्थज्ञानपूर्वक वेदो का अध्ययन करता है, वह दोनो लोकों मे कल्याण का भागी होता है।

ऋग्वेद की एक ऋचा मे अर्थज्ञान की प्रशसा की गयी है –

"उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवॉ अफलामपुष्पाम् ।।"

(ऋ० १०/७१/५)

इस ऋचा के प्रथम अर्द्धभाग मे अर्थज्ञ व्यक्ति की प्रशसा करते हुए उसे विद्वानो की सभा मे अडिग रहने वाला तथा किसी से पराजित न होने वाला कहा गया है। ऋचा के उत्तरार्द्ध मे अर्थज्ञान से हीन व्यक्ति को मायावी गाय सदृश अर्थात् दूध न देने वाली गाय के सदृश वाणी के साथ घूमने वाला तथा पुष्प–फल रहित वाणी को सुनने वाला कहा गया है।

यहॉ पर शब्द को– गाय और वृक्ष तथा अर्थ को– दूध और पुष्प–फल बतलाया गया है। इसी की पुष्टि यास्क के इस स्पष्टीकरण से भी होती है –

''अर्थ वाचः पुष्पफलमाह''

निरूक्त, १/२०

अर्थात् ऋग्वेद की इस ऋचा मे अर्थ को वाणी का पुष्प–फल कहा गया है।

परिणामस्वरूप यास्क ने भी अपने निरूक्त मे शब्द का निर्वचन करते हुए अर्थ को ही महत्त्व दिया है –

''अर्थनित्यः परीक्षेत।''

(निरूक्त, अध्याय–२, प्रथम पाद)

अर्थात् अर्थ के निर्वचन मे सदैव अर्थ को ही विचार का विषय बनाना चाहिए।

इसी प्रकार महान् वैयाकरण 'पाणिनि' ने भी अर्थवान् को ही प्रातिपदिक (मूल शब्द या प्रकृति) माना है।

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।"

(अष्टाध्यायी, १/२/४५)

इसी प्रकार 'भर्तृहरि' ने भी अर्थ को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उनके विवेचन मे शब्द केवल साधन ही रह गया है, साध्य है तो केवल अर्थ । इनके अनुसार भाषा मे अर्थ ही प्रमुख होता उसी को व्यक्त करने के लिए शब्द का आश्रय लिया जाता है। अर्थज्ञान हो जाने के उपरान्त तो श्रोता के लिए भी शब्द का कोई महत्त्व नही रहता है। श्रोता के पास केवल अर्थ ही रहता है, शब्द नही। अत अर्थज्ञान करने के तत्काल बाद ही शब्द व्यर्थ हो जाता है।

अत उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि सङ्केतग्रह या अर्थज्ञान के लिए शब्द का होना अनिवार्य है, परन्तु केवल शब्द के होने मात्र से ही अर्थज्ञान होना सदैव सम्भव नही है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द के साथ ही शब्दबोध का होना भी आवश्यक है। जब तक शब्द वक्ता द्वारा उच्चरित होकर श्रोता द्वारा मन–सहित श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण नही कर लिया जाता तब तक सङ्केतग्रह नही हो सकता अर्थात् किसी शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान नही हो सकता है।

'अर्थ' एवं 'विनिश्चय' शब्द का अभिप्राय –

'अर्थ' शब्द का अभिप्राय –

'अर्थ' शब्द विस्तृत तथा वृहद् रूप मे अनेक अर्थो का वाचक है, यथा– 'अर्थ' शब्द का अर्थ है धन, 'पृथिवी', 'पर्याय', 'हेतु' (चतुर्थी विभक्ति–किमर्थम्, कस्मै यथा–दाणाय दानार्थम् वा) 'वाचक', 'अनुवाद' आदि अनेक अर्थो का वाचक है।

आङ्ग्लभाषा मे 'अर्थ' शब्द 'Meaning' का तथा उर्दू भाषा मे अर्थ शब्द 'मतलब' का वाचक है। परन्तु यहाँ पर अर्थ–विनिश्चय के सन्दर्भ मे 'अर्थ' शब्द, शब्द के 'पर्याय' तथा 'वाचक' 'मतलब' एव 'Meaning' के अर्थो मे ही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर 'धन' एवं 'पृथिवी' वाची शब्दो मे 'अर्थ' शब्द की व्याप्ति नही की गई है, अर्थात् पर्याय एव 'मतलब' 'Meaning' 'वाचक' अर्थो से भिन्न अर्थो मे अर्थों की व्याप्ति नहीं है।

अर्थात् यहाँ पर अर्थ शब्द से 'धन', 'पृथिवी', 'हेतु', 'लिए' आदि अर्थ अभिप्रेत नहीं है बल्कि 'अर्थ' शब्द से– पर्याय, वाचक, अनुवाद, मतलब, 'Meaning' आदि अर्थ ही अभिप्रेत है।

विनिश्चय-शब्द की व्युत्पत्ति एवं अभिप्राय –

विनिश्चय शब्द 'वि' एव 'निस्' उपसर्ग पूर्वक √चि धातु से अप् प्रत्यय के सयोग से निष्पन्न होता है। 'वि' का अर्थ विशिष्टरूप से 'निश्चय' का अर्थ–निश्चय करना, निर्धारण करना, सिद्ध करना, दृढ करना, प्रतिज्ञा करना, प्रतिज्ञा लेना, स्थिर करना, ग्रहण करना, निर्णय करना, इत्यादि। "विनिश्चीयते अनेन इति विनिश्चयः" अर्थात् जिसके द्वारा सम्यक् निश्चय या निर्णय किया जाता है।

ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों का अर्थ-विनिश्चय की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन –

अग्निम् –

सायणाचार्य ने ऋग्वेद–सहिता के प्रथम अनुवाक के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र मे **'अग्निम्'** पद का अर्थ "अग्निनामक देवम्" अर्थात् 'अग्नि नामक देवता को' निश्चित किया है।

सायणाचार्य ने अग्निम् पद का अन्वय अग्नि के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त पुरोहित यज्ञ देवम् ऋत्विज् होतार रत्नधातमम् पदो के साथ किया है। जबकि

यास्क ने अग्नि शब्द को अन्य अर्थो मे लिया है – "अग्रणीर्भवति" अर्थात् अग्नि सभी सस्कारों तथा याज्ञिक अनुष्ठानो मे अगुआ या अग्रणी होता है इसलिए इसे अग्नि कहते है। "अग्र यज्ञेषु प्रणीयते" अर्थात् यज्ञो मे सर्व प्रथम इसको स्थापित किया जाता है। "अङ्ग नयति सन्नममान" अर्थात् अग्नि झुकती हुई सभी वस्तुओ को आत्मसात कर लेती है। इस प्रकार यास्क ने 'अग्नि' पद को अनेक अर्थो मे लिया है। जबकि

स्थौलाष्ठीवि ने अग्नि पद का अर्थ उसके गुणो के आधार पर किया है – "अक्नोपनो भवति" अर्थात् जो "सुखा देती है काष्ठादि को"। "न क्नोपयति न स्नेह्यति" अर्थात् जो न तो गीला अर्थात् क्लेदित करती है और न ही स्निग्ध (चिकना) करती है। जबकि

मैक्डानल ने अग्नि पद का अर्थ 'साधारण अग्नि का द्योतक' तथा 'यज्ञाग्नि का द्योतक' किया है। मैक्डानल ने अग्नि पद को यज्ञाग्नि के मूर्तिकरण के रूप मे स्वभावत. सर्वाधिक महत्त्व दिया है। मैक्डानल के अनुसार अग्नि एक भारोपीय शब्द है (लैटिन–इग्नि–स, स्लेवोनिक ओग्नि') तथापि इस नाम के साथ इसकी उपासना सर्वथा भारतीय है। भारतीय–ईरानी काल मे सम्भवत. अथर्वन् नामक एक पुरोहित वर्ग द्वारा प्रयुक्त विकसित सस्कार के केन्द्र के रूप मे यज्ञाग्नि का महत्त्व वर्तमान था, जिसका एक शक्तिशाली, विशुद्ध, बुद्धिमान् देव और भोजन, सन्तान, बौद्धिक शक्ति, यश आदि प्रदान करने वाले के रूप मे मूर्तिकरण और स्तवन किया गया है, जो गृह के प्रति मित्र किन्तु शत्रुओ को विनष्ट करने वाला है और सम्भवत इसके विभिन्न रूप जैसे विद्युत् अथवा लकडी से उत्पन्न अग्नि होने की कल्पना है। यज्ञाग्नि एक भारोपीय सस्था भी प्रतीति होती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे दी गयी व्युत्पत्ति के अनुसार अग्नि सभी देवो मे आगे हुआ अत अग्नि नाम पडा। "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्" (तैत्तिरीय ब्राह्मण)। जबकि

अग्निम् – ऋग्वेद १/१/१

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'अग्नि' पद के विभिन्न अर्थ किए है – "सर्वाधार, ईश या ईश्वर, सर्वगत ईश, परमात्म देव, वीर पुरूष, विद्वान्, महाविद्वान्, राजन्, प्रतापवान्, प्रकाशमान्, विद्या की इच्छा करने वाला, पवित्र अन्त करण वाला विद्यार्थी, अध्यापक, उपदेशक, गृहस्थ, ब्रह्मचर्य किए हुए गृहाश्रमी, विद्युत् आदि की विद्या, दुष्टो का नाश करने वाला, शुद्ध स्वरूप, विद्युत् सदृश विद्या से व्याप्त, तेजस्वी, विद्या का अभ्यास किए हुए विद्वान् इस प्रकार इन विभिन्न अर्थो को देखने से यही ज्ञात होता है कि महर्षि दयानन्द जी ने अग्नि पद को बहुत ही व्यापक अर्थो मे ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त अग्नि का अर्थ ज्ञान स्वरूप ईश्वर, सबके प्रकाशक ईश्वर, विज्ञान स्वरूप ईश्वर आदि भी निश्चित किया है।

ईळे –

स्कन्दस्वामी तथा **वेड्कटमाधव** ने ईळे पद का अर्थ 'स्तौमि' किया है। जबकि

सायणाचार्य ने 'ईळे' पद का अर्थ 'ईडि स्तुति चोदना याच्ञासु दृष्ट प्रेरणे चापि वर्तते' –स्तुति, याचना, उकसाना, और प्रेरणा आदि अनेक अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इस पद का अर्थ "याचामि" करते हुए कहा है – "ईळिरध्येषणाकर्मा। पूर्जाकर्मा वा"। निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'ईळे' पद को वृहद अर्थो मे ग्रहण करते हुए अनेक अर्थ किया है यथा– गुणो का अध्ययन करे, प्रशसा करे, स्तुति करे तथा बारम्बार इच्छा करे आदि। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** तथा **गैल्डनर** आदि कतिपय आधुनिक विद्वान् इस पद का अर्थ "पुकारता हूँ" निश्चित करते है। जबकि

ब्लूमफील्ड ने 'ईळे' पद का अर्थ 'वरण करना' सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'ईळे' पद का अर्थ "प्रशसा करना" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग एव **ग्रिफिथ** आदि पाश्चात्य विद्वान् भारतीय भाष्यकारो के 'स्तौमि" व्याख्यान को स्वीकार करते है।

पुरोहितम् –

यास्काचार्य ने "सब यज्ञो मे आगे रखे जाने वाले" अर्थ किया है। जबकि

ईळे – ऋग्वेद १/१/१

पुरोहितम् – ऋ० १/१/१

स्कन्दास्वामी ने अपने प्रथम व्याख्यान मे पुरोहितम् को यज्ञस्य से अन्वित मानकर इसका रूढ व्याख्यान किया है– "पुरोहित शान्तिकपौष्टिकै कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित इत्युच्यते, तत्स्थानीयम् कस्य? यज्ञस्य यज्ञाधिकृतस्य 'यज्ञो वै यजमान' इति श्रुते। अपदामपहन्तारमित्यर्थ"। परन्तु वैकल्पिक व्याख्यान मे स्कन्द ने पुरोहितम् विशेषण मानकर इसका यौगिक अर्थ किया है –अथवा पुरोहित शब्द क्रिया शब्द। पूर्वस्या दिशि निहितमाहवनीयात्मना स्थापितम्"। जबकि

सायणाचार्य ने पुरोहितम् को यज्ञस्य से अन्वित मानकर व्याख्यान किया है – यथा राज्ञ पुरोहितस्तदभीष्ट सपादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षित होम सपादयति। यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्"। जबकि वैकल्पिक व्याख्यान मे पुरोहितम् को विशेषण मानकर" अथवा यज्ञस्य देवमिति सबन्ध। यज्ञस्य प्रकाशकमित्यर्थ। पुरोहितमिति पृथग्विशेषणम्" अर्थ किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन, ग्रिफिथ, मैक्डानल** आदि विद्वानो ने सायण के प्रथम भाष्य का अनुकरण करते हुए पुरोहितम् का रूढ अर्थ किया है– यथा **ग्रासमैन** तथा **मैक्डानल** ने पुरोहितम् का अर्थ "Domestic priest" अर्थात् 'गृह पुरोहित' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Chosen priest" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर का मत है कि पुरोहित शब्द "House-priest" के सङ्कुचित अर्थ मे नही आया है, अपितु पुरो + √धा के दूसरे प्रयोग से सम्बद्ध होने के कारण इसका यौगिक अर्थ "अधिकृत प्रतिनिधि" "नियोजित अधिकारी या स्वामी" किया है। जबकि

वेलणकर ने यज्ञस्य से अन्वित् मान कर पुरोहितम् पद का यौगिक अर्थ " हमारे यज्ञ के अग्र मे स्थापित" निश्चित किया है।

सायण का अनुसरण करते हुए **ग्रासमैन** पुरोहितम् को यज्ञस्य से अन्वित मानते है। जबकि **गैल्डनर, ग्रिफिथ, मैक्डानल, ओल्डेनबर्ग** आदि आधुनिक विद्वान् यज्ञस्य को पुरोहितम् की अपेक्षा ऋत्विजम् पद से अन्वित मानकर अनुवाद करते है। **गैल्डनर** अपने अनुवाद की टिप्पणी मे कहते हैं कि मध्य मे स्थित् होने के कारण यज्ञस्यपद पुरोहितम् तथा ऋत्विजम् इन दोनो से सम्बद्ध है। अनेक वैदिक प्रयोगो के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यहॉ पर पुरोहित शब्द उत्तरकालीन भाषा मे प्रचलित रूढ अर्थ मे नहीं आया है, अपितु विशेषण के रूप मे इसका यौगिक अर्थ है –" सामने आदरपूर्वक स्थापित"। **ऋग्वेद** मे "आदर पूर्वक सम्मुख (प्रतिष्ठापद पर) स्थापित करना या नियुक्त करना" अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

देवम् –

वेङ्कटमाधव यज्ञस्य के साथ देवम् का अन्वय मानते हुए इस पद का व्याख्यान **"यज्ञस्य द्युस्थानम्"** करते हैं। जबकि

देवम् – ऋग्वेद १/१/१

स्कन्दस्वामी ने पुरोहितम् के साथ यज्ञस्य का अन्वय मानते हुए देवम् का अर्थ "दातार दीप्त वा" करते है। जबकि वैकल्पिक व्याख्यान मे देवम् के साथ यज्ञस्य का अन्वय मान कर व्याख्यान किया है – "यज्ञस्येत्येतत्तु देवमित्यनेन सबध्यते। यज्ञस्य दातार दीपयितार वा। यज्ञ हि देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति, तदायत्तत्वात्। दीपयति च"। जबकि

सायणाचार्य ने यज्ञस्य पद का अन्वय पुरोहितम् पद के साथ करते हुए देवम् पद का अर्थ "दानादिगुणयुक्तम्" निश्चित किया है। जबकि वैकल्पिक व्याख्यान मे यज्ञस्य को देवम् से अन्वित मानते हुए "यज्ञस्य प्रकाशकम्" अर्थ किया है। जबकि

यास्काचार्य ने देवम् पद को यज्ञस्य से अन्वित करते हुए देवम् पद का चार प्रकार से निर्वचन किया है– "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा" इस निर्वचन के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए सायण ने इसी मन्त्र के भाष्य मे कहा है – "देवशब्दो दानदीपनद्योतनानामन्यतममर्थमाचष्टे। यज्ञस्य दाता दीपयिता द्योतयितायमग्निरित्युक्त भवति।" जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने देवम् पद का अर्थ " युद्धादिको मे कलायुक्त शस्त्रो से विजय कराने वाले" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने देवम् को ऋत्विजम् का विशेषण मानकर "यज्ञ के देवी ऋत्विज"अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने देवम् का अर्थ 'ईश्वर' किया है। परन्तु इन्होने यज्ञस्य का सम्बन्ध पुरोहितम् से माना है । जबकि

यज्ञस्य को ऋत्विजम् से सम्बद्ध मानने वाले **गैल्डनर, मैक्डानल, ओल्डेनबर्ग** आदि आधुनिक विद्वान् देवम् को ऋत्विजम् का विशेषण मानकर इसका अर्थ "divine" करते है। जबकि

ग्रिफिथ ने देवम् पद का अर्थ "God" निश्चित किया है।

वस्तुत देवम् के साथ यज्ञस्य का अन्वय मानना अधिक **समीचीन है तथा** देवम् पद **√दिव्** चमकना धातु से निष्पन्न है, अतएव देव शब्द का "प्रकाशक" अर्थ अधिक उपयुक्त है।

ऋत्विजम् –

स्कन्दास्वामी ने ऋत्विजम् का रूढार्थ करते हुए इसे होतारम् से सम्बद्ध माना है –"ऋत्विज कतमम्? होतारम्"। इसी व्याख्यान परम्परा के अनुसार **सायण** भी ऋत्विजम् को होतरम् के साथ जोड़कर व्याख्यान करते है – "होतारम् ऋत्विज। देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव।" इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए

ऋत्विजम् – ऋग्वेद १/१/१

देवताओ का आह्वान् करने के लिए तथा यजन के लिए उपयुक्त ऋचाओ का पाठ करता था। प्रसङ्ग के अनुसार, अध्वर्यु, उद्गाता आदि विशेष ऋत्विजो के साथ प्रयुक्त होने पर होतृ शब्द नि सन्देह ऋत्विग्विशेष का वाचक है। परन्तु ऋग्वेद मे सर्वत्र इस शब्द का प्रयोग ऋत्विग्विशेष के अर्थ मे नही है, और बहुत से मन्त्रो मे इसका मौलिक अर्थ "देवो का आह्वान करने वाला" ही है। परन्तु **सायण** ने इस शब्द के दो अर्थ सुझाए है– "देवो का आह्वान करने वाला" या "होम करने वाला"।

इस सम्बन्ध मे यह तथ्य उल्लेखनीय कि ऋग्वेद मे यह शब्द अधिकतर अग्नि के विशेषण के रूप मे और कही–कही अन्य देवताओ के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होता है। परन्तु मानुष ऋत्विज् के लिए होतृ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे अति विरल है।

रत्नधातमम् –

यह सामासिक पद ऋग्वेद मे केवल दो बार आया है। (ऋ० १/१/१),(५/८/३)

ऋग्वेद मे रत्न शब्द किसी बहुमूल्य पाषाण, हीरा या मोती आदि के लिए प्रयुक्त नही होता अपितु यह " प्रियधन या दान" को अभिव्यक्त करता है।

यास्काचार्य इसका व्याख्यान "रमणीय धन" करते हुए कहते हैं – "रत्नधातम रमणीयाना धनाना दातृतमम्"। इस प्रकार यास्क के अनुसार रत्न की व्युत्पत्ति √रम् से है।

सायणाचार्य ने अपने व्याख्यानो मे यास्कीय मत का अनुसरण करते हुए √रम् से इसकी व्युत्पत्ति मान कर "रमणीय धन" तथा इसी के साथ ही "मणिमुक्तादीनि" भी जोड दिया है। कहीं–कही सायण ने रत्न का व्याख्यान 'रमणीय कर्मफल' भी किया है।

निघण्टु मे 'रत्न' पद धन के नामो मे गिना जाता है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** ने √रा से रत्न की व्युत्पत्ति मानते हुए इसके दो अर्थ किए है –"दान" और धन'।

ह्विटने– √रा धातु से रत्न की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानते हैं। इसमे सन्देह नहीं कि कतिपय स्थलो मे रत्न का 'दान' अर्थ भी लग सकता है। परन्तु अधिकतर स्थलो पर "धन" अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने इस पद का अर्थ "मनोहरण पृथवी अथवा सुवर्ण आदि रत्नो के धारण करने वाला" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ओल्डेनबर्ग तथा **मैक्डानल** इस समास के रत्न शब्द का अर्थ "treasures" करते हैं। जबकि

ग्रिफिथ "Wealth" और **गैल्डनर** "rewards" अर्थ निश्चित करते हैं।

रत्नधातमम् – ऋग्वेद १/१/१

जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है यास्क इस समास मे धा का अर्थ "दातृ" मानते है। अतएव रत्नधा का अर्थ है "रमणीय धनो का दाता" और इसके साथ अतिशयवाचक तमप् प्रत्यय जोडने पर द्वितीया से रत्नधातमम् पद बना है।

वेङ्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "रमणीयाना धनाना दातृतमम्" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "रत्नमिति धननाम। दधीतिर्दानार्थ। धनानामतिशयेन दातारम्" व्याख्यान किया है।

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ, ओल्डेनबर्ग तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इस समास के व्याख्यान मे प्रायेण यास्क का मत स्वीकार करते है जो समीचीन है।

वीरवत्तमम् –

स्कन्दस्वामी ने "वीरा पुत्रा ते यस्मिन् सन्ति तद् वीरवत्, अतिशयेन वीरवद् वीरवत्तम बहुभि पुत्रै सहितमित्यर्थ" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने "अतिशयेन वीरपुरूषयुक्तम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरूषोपेतम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। परन्तु पाश्चात्य भाष्यकार

ग्रिफिथ ने "Most rich in heroes", अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने "Most abounding in heroes" अर्थात् "वीरो से अत्यन्त सम्पन्न" एव अनेक पुत्रो द्वारा उत्पादित" अर्थ किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी की भॉति **गैल्डनर** ने इसका "बहुत से पुत्रो से युक्त" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने वीरवत्तमम् पद का अर्थ – "जिसको अच्छे–अच्छे विद्वान् अथवा शूरवीर लोग चाहा करते है" निश्चित किया है।

वस्तुत ऋग्वेद मे 'वीर' शब्द का प्रयोग प्रायेण "वीर पुत्र" के अर्थ मे होता है और उसके साथ वत् तथा तम् तद्धित प्रत्यय जोडने से वीरवत्तमम् रूप बना है। जिसका अर्थ है " वीर पुत्रो से अत्याधिक सम्पन्न" जैसा कि ग्रासमैन, ओल्डेनबर्ग तथा मैक्डानल मानते हैं।

यज्ञम् अध्वरम् –

स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** अध्वरम् को बहुव्रीहि समास मानते हुए इसका व्याख्यान "हिसारहितम्" करते है और यज्ञम् का विशेषण मानते हैं।

निघण्टु मे अध्वर शब्द यज्ञ के नामो मे गिनाया गया है और **यास्क** ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है।

वीरवत्तमम् – ऋग्वेद १/१/३

यज्ञम् अध्वरम् – ऋग्वेद १/१/४

"अध्वर इति यज्ञनाम्। ध्वरतिहिसाकर्मा। तत्प्रतिषेध"। जबकि

ग्रिफिथ ने अध्वर का अनुवाद "Perfect" किया है।

मोनियर-विलियम्स ने भी इसका शाब्दिक अर्थ "not injuring" किया है। परन्तु इसके विपरीत

ग्रासमैन के अनुसार अध्वर शब्द का मूल अर्थ "मार्ग, पद्धति" रहा होगा परन्तु अर्थ–विकास के कारण यह "धार्मिक क्रियाकलाप" के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा।

इसी प्रकार **गैल्डनर** तथा **मैक्डानल** इस मन्त्र के यज्ञम् पद का अर्थ "Worship" और अध्वरम् का अर्थ "Sacrifice" करते है। अर्थात् "पूजा तथा यज्ञ" अर्थ निश्चित किया है।

सायण के अनुसार न विद्यते ध्वर अस्य इति अध्वर । सायण ने अध्वर का अर्थ "हिसारहित किया है" और इसे यज्ञ का विशेषण माना है। 'न ह्यग्निना सर्वत पालित यज्ञ राक्षसादयो हिसितु प्रभवन्ति'। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का "हिसा तथा विनाश आदि दोषों से रहित" अर्थ सुनिश्चित किया है जबकि

ओल्डेनबर्ग के अनुसार यज्ञ शब्द का अर्थ अध्वर शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक है। सम्भवत यज्ञ मे प्रार्थना पर अधिक बल दिया जाता था और अध्वर मे अनुष्ठान पर तथा अध्वर का सम्पादन अध्वर्यु नामक ऋत्विज् करता था।

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्याकारो के अर्थ–निर्धारण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि देवताओ के निमित्त किए जाने वाले समस्त धार्मिक क्रियाकलाप को अध्वर कहते है और उसमे किए जाने वाले स्तुति, प्रार्थना, होम इत्यादि प्रधान "पूजा कर्म" को यज्ञ कहते हैं।

कविक्रतुः –

स्कन्दस्वामी के अनुसार "कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचन न मेधाविनाम। क्रतुशब्द· प्रज्ञानाम कर्मनाम वा, क्रान्त गत सर्वत्राप्रतिहतं प्रज्ञान कर्म वा यस्य स कविक्रतु" इस प्रकार इन्होने क्रान्तद्रष्टा अथवा क्रान्तकर्मा अर्थ किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "क्रान्तप्रज्ञ" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

उव्वट महोदय ने कवि या क्रान्त का अर्थ "बुद्धिमान्", "मेधावी", "प्रज्ञावान्" किया है क्योकि यह भूत, वर्तमान और भविष्य के पदार्थो को अपनी, विलक्षण मति से एक साथ देखता है – "अतीतानागतविप्रकृष्टविषय युगपद् दर्शन यस्य स क्रान्तदर्शन"। "क्रतु" पद का अर्थ है प्रजा, कर्म या शक्ति। जबकि

महीधर के अनुसार– अतीतानागतदूरेवर्त्तिपदार्थाना यस्य युगपदज्ञानं स कवि.। उव्वट–महीधर ने कविक्रतुः पद का "सङ्कल्प" अर्थ भी किया है। जबकि

सायणाचार्य ने कवि का अर्थ क्रान्त किया है– "कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु मेधाविनाम। क्रतु प्रज्ञानस्य

कविक्रतु – ऋग्वेद १/१/५

कर्मणो वा नाम। तत क्रान्तप्रज्ञ क्रान्तकर्मा वा।" इस प्रकार सायण ने कविक्रतु पद का अर्थ "क्रान्तदर्शन" किया है। सायण की दृष्टि मे मेधाविता और क्रान्तदर्शनता भिन्न–भिन्न विषयक है। यह पद अग्नि का विशेषण है। इसके अतिरिक्त सायण ने क्रतव पद का अर्थ "महायज्ञ" भी किया है। इसके अतिरिक्त सायण ने क्रतव पद का अर्थ "प्रजा" भी किया है। जबकि

दयानन्द ने इसका अर्थ "सर्वज्ञ" किया है। जबकि

यास्काचार्य ने "कवि क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा" अर्थात् मेधावी, क्रान्तद्रष्टा, बुद्धिमान्, प्रकाशवान्, त्रिकालदर्शी आदि अर्थ सुनिश्चित किया है।

निघण्टु के टीकाकार **देवराजयज्वा** ने कवि शब्द को मेधावी शब्द के पर्यायो मे पठित माना है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकार

ग्रासमैन तथा **मोनियर-विलियम्स** इसका अर्थ "Haviang the insight of a wise man" करते हैं। अर्थात् अन्तर्दृष्टी, शक्ति, विचारण। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद "Sapient minded" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "With seer-mind" अर्थ निशित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इस पद का "thoughtful" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ महोदय ने कविक्रतु पद का अर्थ "शक्ति" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने कविक्रतु पद का अर्थ "of wise intelligence" एव 'सामर्थ्य' निश्चित किया है।

ग्रीक शब्द 'क्रेतोस' (शक्ति, बल) से यह तुलित हो सकता है। अवेस्ता मे प्रयुक्त 'ख्रतु' (बुद्धि) भी इसी का समानधर्मा है। यहॉ बुद्धि, प्रज्ञा अर्थ अधिक युक्तिसङ्गत है।

चित्रश्रवस्तमः –

ऋग्वेद मे चित्र शब्द प्रधानतया 'चमकता हुआ' अर्थ मे प्रयुक्त होता है, जैसा कि **ग्रासमैन, गैल्डनर, ओल्डेनबर्ग, मैक्डानल** आदि विद्वान् मानते हैं, और **स्कन्दास्वामी वेङ्कटमाधव** तथा **सायणाचार्य** आदि के द्वारा सुझाए गए विचित्र या आश्चर्यमय" अर्थ मे इसका प्रयोग अतिविरल है। अतएव यहॉ पर इस बहुव्रीहि समास का अर्थ है –"अत्यधिक चमकते हुए यश वाला" क्योकि श्रवः शब्द "यश" का वाचक है जिससे परे अतिशयवाचक तम प्रत्यय जुडा हुआ है।

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "श्रूयते इति श्रव, कीर्ति., अतिशयेन विविध कीर्तियुक्त" अर्थात् "अनेक प्रकार के यश से युक्त जनो मे श्रेष्ठ" निश्चित किया है। जबकि

चित्रश्रवस्तम – ऋग्वेद १/१/५

स्कन्दस्वामी ने इसका "पूजनीय" एव "विचित्र" दो अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द जी ने इसका "अद्भुत तथा अतिआश्चर्य रूपी श्रवण" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "अत्यन्त शुभ यशवाला" अर्थ सुनिश्चित किया है।

आ गमत् –

सायण ने आ गमत् पद का "आये" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सररस्वती ने इस पद का अर्थ "जाना जाता है" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "Root Aorist Subjunctive" अर्थ निश्चित किया है।

धिया –

स्कन्दस्वामी के अनुसार "यादृशी अस्माकं प्रज्ञा तादृश्या" अर्थ निश्चित किया गया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने 'धिया' पद का "अग्निहोत्रकर्मणा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण, उव्वट, महीधर ने इस पद का "बुद्धया" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **ओल्डेनबर्ग** ने इसका "With Prayer" अर्थ किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "With thought" अर्थ निश्चित किया है।

धी शब्द का मुख्य अर्थ "प्रज्ञा" या "विचार" ही है यद्यपि गौणरूप से कही पर इसका अर्थ प्रार्थना भी हो सकता है। अतएव स्कन्द, सायण, उव्वट तथा महीधर का व्याख्यान उचित है।

दोषावस्तः –

स्कन्दास्वामी ने दोषेति रात्रिनाम्। √वस् आच्छादने। रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयित। "रात्रि को अपने प्रकाश से आच्छादित करने वाला" अर्थ किया है। जबकि

वेङ्कटामाधव ने इस पद का "सायञ्च प्रातश्च" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "रात्रौ अहनि च" दोषाशब्दो रात्रिवाची। वस्तर् इति अहर्वाची, अर्थात् "रात्रि और दिन" अर्थ किया है।

आ गमत् – ऋग्वेद १/१/५

धिया – ऋग्वेद १/१/७

दोषावस्त – ऋग्वेद १/१/७

सायण ने अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे स्कन्द की भॉति दोषावस्त को सम्बोधन मानते हुए दोषा के साथ √वस् ''आच्छादने'' से निष्पन्न वस्तृ का समास समझते हुए – ''हे रात्रि को आच्छादित करने वाले अर्थात अन्धकार को हटाने वाले (अग्नि देव)'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट-महीधर ने दोषावस्त को सम्बोधन मानते हुए इस पद का व्याख्यान ''हे रात्रि मे रहने वाले (अग्नि देव)'' ऐसा किया है। इन दोनो व्याख्याकारो ने इस समास के उत्तरपद वस्तृ की व्युत्पत्ति √वस् ''निवासे'' से मानी है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने इस पद का ''रात्रि दिन मे निरन्तर'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन तथा **लुडविग** सायण का ही अनुसरण करते हैं परन्तु **ग्रासमैन** तथा **गैल्डनर** ने इसका अर्थ "O illuminer of darkness" अर्थात् ''रात्रि या अन्धकार का प्रकाशक'' किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "O illuminer of gloom" अर्थात् 'अन्धकार को प्रकाशित करने वाले' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

प्रो० रेनू ने इसका अर्थ ''जो रात्रि मे प्रकाशित होता है' निश्चित किया है, जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इसका "O (god) who shinest in the darkness" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर तथा **ग्रिफिथ** ने इसका "Dispeller of the night" अर्थ निश्चित किया है।

दोषा शब्द ऋग्वेद मे ''रात्रि'' के अर्थ मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। अतएव यहॉ पर ''हे रात्रि के प्रकाशक'' अर्थ अधिक समीचीन है।

सूपायनः –

सायण ने अग्नि सूक्त के ६ वे मन्त्रस्थ सूपायन पद का ''शोभनप्राप्तियुक्तो भव'', ''शोभनोपगमना सूपचारिका, सूपायनास्मै भव सूपासर्पणा सूपायना सुखेनोपगन्तुमर्हा सूपर्पणा शोभनोपसर्पणयुक्ता च भव। सु सुखेन उपायनम् उपगमन प्रापण यस्य स अथवा शोभनमुपायन यस्येति'' यह अर्थ किया है। इस पद का अन्वय अग्नि तथा न पद के साथ किया है। वैसे सूपायन का शब्दिक अर्थ है ''वह जिसके समीप सुखपूर्वक गमन किया जा सके'' और भावार्थ है – ''वह जिसके समीप पहुँचने मे कोई कठिनाई न हो। जबकि

भट्ट भास्कर ने सूपायन सूपचरण सुखेनोपचरणीय. परिचरणीयो वा भव... शोभनोपायो वा।'' यह अर्थ किया है। जबकि

सूपायन – ऋग्वेद १/१/६

स्कन्दस्वामी ने सूपायन का ''सूपायन सूपगम सुखोपसर्पो भव'' यह अर्थ किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने सूपायन पद का '' सूपचर'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द जी इस पद का अर्थ ''शोभन ज्ञान जो कि सब सुखो का साधक और उत्तम पदार्थो को प्राप्त कराने वाला है।'' निश्चित किया है।

गोपीथाय –

सायणाचार्य, यास्क, स्कन्दस्वामी, एव **वेङ्कटमाधव** आदि आचार्यो ने 'गोपीथाय' पद का अन्वय त्यम् चारूम् अध्वर प्रति गोपीथाय आदि पदो के साथ करते हुए 'गो' पद का अर्थ 'सोम' (सोमोऽत्र गौरूच्यते स्कन्द) किया है तथा 'गोपीथाय' का अर्थ 'सोमपानाय' किया है। जबकि

मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन, रॉथ और **ग्रासमैन** ने गो पद का अर्थ (Milk) 'दूग्ध' तथा गोपीथाय का अर्थ– ''क्षीरपान'' अर्थात् "for a draught of milk" निश्चित किया है। जबकि

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने 'गोपीथाय' पद का अर्थ – 'अनेक प्रकार की रक्षा के लिए' निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स, मैक्समूलर और **ग्रफिथ** प्रभृति विद्वानो के मतानुसार गोपीथ शब्द 'क्षीरपान' तथा ''रक्षा'' इन दोनो अर्थो मे प्रयुक्त होता है। इन विद्वानो के अनुसार इस ऋचा मे प्रयुक्त, गोपीथ शब्द 'क्षीरपान' का वाचक है, और इसमे 'पीथ' की व्युत्पत्ति √पा पाने धातु से है। जबकि ऋग्वेद मे प्रयुक्त 'गोपीथ' शब्द रक्षा का वाचक है, उसके उत्तरपद पीथ की व्युत्पत्ति √पा 'रक्षणे' धातु से मानी जाती है।

पाश्चात्य विद्वान् कहते है कि सोम के साथ प्रायेण दूध का मिश्रण करके देवताओ को समर्पित किया जाता था, इसलिए यहॉ पर गो शब्द उस क्षीर का वाचक है जो सोम के साथ मिश्रित किया जाता था। इस मत के पक्ष मे यह युक्ति दी जाती है कि गोपीथ समास का गो शब्द तद्धित प्रत्यय के बिना ही इसके तद्धितार्थ अर्थात् ''गाय के दूध'' का वाचक है जैसा कि ऋ० ६/४६/४– गोभि श्रीणीत मत्सरम् मे प्रयुक्त गोभि के व्याख्यान मे यास्क ने माना है। (२/५)

अतएव उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर गोपीथाय का व्याख्यान ''क्षीरपानाय'' हो सकता है तथापि **गैल्डनर** ने इसका अनुवाद 'रक्षा के लिए' किया है। यहॉ पर प्रसडगानुसार गैल्डनर का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योकि ऋग्वेद मे अनेक बार अग्नि को रक्षा के लिए पुकारा जाता है।

चारूम् –

स्कन्दस्वामी ने चारूम् का अर्थ ''शोभनम्'' किया है। जबकि

सायणाचार्य ने चारूम् का अर्थ ''अङ्गवैकल्यरहित'' अर्थात् ''सर्वाङ्गपूर्ण'' किया है। जबकि

गोपीथाय – ऋग्वेद १/१६/१

चारूम् – ऋग्वेद १/१६/१

उव्वट तथा **महीधर** ने भी स्कन्दस्वामी की भॉति "शोभन" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन, गैल्डनर** प्रभृति विद्वान् चारू का अर्थ "प्रिय" सुनिश्चित करते है और वैदिक प्रयोग से इस मत का समर्थन होता है। चारू का "शोभन" अर्थ भी चल सकता है, परन्तु "अडगवैकल्यरहित" व्याख्यान के लिए कोई आधार नही है।

महः –

सायणाचार्य ने मह पद का अन्वय हे अग्ने मह तव क्रतु आदि पदो के साथ करते हुए 'मह' पद का अर्थ– महत अर्थात् महान् निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'मह' पद का अर्थ "महिमा" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **पीटर्सन** ने इस पद का "O Mighty one" अर्थ ग्रहण किया है।

अर्कम् –

'अकर्म' पद का विभिन्न व्याख्याकारो ने भिन्न–भिन्न अर्थ निश्चित किया है।

सायणाचार्य ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर 'अर्कम्' पद का अर्थ "उदकम्" (Water) निश्चित किया है। अन्यत्र अनेक स्थलो पर अर्क का अर्थ 'स्तुति' भी किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने 'अर्कम्' पद का अर्थ–अर्कम् देवम्। कतमम् इमम्। "इन्द्रम्" निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव जी ने 'अर्कम्' पद का अर्थ – 'अर्चनीयम् इन्द्रम्' निश्चित किया है। वस्तुत अर्क की व्युत्पत्ति √अर्च् (ऋच्) से है जिसका अर्थ प्रायेण "स्तुति करना", "गाना" इत्यादि है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अर्कम् पद का अर्थ– 'सूर्यादि लोक' निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने अर्कम् पद का 'Song' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **पीटर्सन** ने मैक्समूलर के अर्थ को स्वीकार किया है। तथा अर्कम पद का अर्थ 'Music fo the Maruts' निश्चित किया है।

इस प्रकार अनेक आधुनिक विद्वान् अर्क का अर्थ "गीत" करते है।

गैल्डनर के अर्कम् पद का अर्थ "युद्ध गीत" किया है। आधुनिक विद्वानो का मत है कि प्रचण्ड वायु के चलने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वही मरूतो का गान है। अनेक मन्त्रो मे मरूतो को इन्द्र की स्तुति के गीत गाने वाला कहा गया है।

मह – ऋग्वेद १/१६/२, ३

अर्कम् – ऋग्वेद १/१६/४

सुक्षत्रासः –

सायणाचार्य ने 'सुक्षत्रास' पद का अन्वय ये मरूद्भि शुभ्रा घोरवर्पस आदि पदो के साथ करते हुए शोभनधनोपेता (Abound in good wealth) अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने सुक्षत्रास पद का अर्थ– "Abound in good might" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'सुक्षत्रास' पद का अर्थ 'अन्तरिक्ष मे निर्भय राज्य करने वाले' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ 'Mighty' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ 'Mighty rulers' निश्चित किया है। इस प्रकार **ग्रासामैन, गैल्डनर, पीटर्सन, मैक्डानल** प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् सुक्षत्र पद का अर्थ "अच्छे शासन वाला" या "अच्छा शासक" करते है। क्योकि क्षत्र शब्द ऋग्वेद मे "शासन" के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, और उसमे सुक्षत्र बहुव्रीहि समास बनता है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे क्षत्र शब्द को "बल" का वाचक माना जा सकता है। अतएव सुक्षत्रास का "सुबला" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है अन्य अनेक मन्त्रो मे स्वय सायण ने भी इस शब्द का व्याख्यान "शोभनबला" किया है।

नाकस्य –

इस शब्द के व्याख्यान के सम्बन्ध मे प्राचीन काल से विचार किया जाता रहा है। **ब्राह्मण ग्रन्थों** मे नाक को "स्वर्ग" बताया गया है। नाक शब्द को नञ् बहुव्रीहि समास मानते हुए इसका विग्रह न+ अक (दु ख) किया गया है, अर्थात् जिस स्थान पर कोई दु ख (अक) नही है वह नाक है।

निघण्टु मे आदित्य के साधारण नामो मे "नाक" की परिगणना के अनुसार **यास्क** इसे "आदित्य" नाम मानते हुए √नी धातु से भी 'नाक' की निरूक्ति करते हैं। इसी प्रकार **स्कन्दस्वामी** तथा **वेङ्कटमाधव** नाकस्य का व्याख्यान "आदित्यस्य" करते है। जबकि

सायणाचार्य 'नाकस्य' का व्याख्यान "दु ख रहितस्य सूर्यस्य" करते हुए नाक का इस प्रकार निर्वचन करते है – "क दुख तद् यस्मिन्नास्ति असौ अक इति बहुव्रीहि कृत्वा पश्चान्नञ्। न अको नाक इति नञ् बहुव्रीहि समास है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ, मैक्डानल, पीटर्सन** तथा **मैक्समूलर** प्रभृति विद्वान् नाक शब्द के प्राचीन भारतीय निर्वचन तथा "आदित्य" अर्थ को अस्वीकार करते हुए इसका व्याख्यान "Firmament", "Sky vault" या "Vault of heaven" करते हैं। इस विषय मे **मैक्समूलर** का कथन है कि नाक शब्द

सुक्षत्रास – ऋग्वेद १/१६/५

नाकस्य – ऋग्वेद १/१६/६

का अनुवाद "Firmament" द्वारा किया जाना चाहिए, क्योकि अग्रेजी भाषा मे इसके लिए "Heaven" के अतिरिक्त कोई उपयुक्त शब्द नही है, और heaven शब्द द्यु के अनुवाद के लिए अपेक्षित है।

सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य मे छ बार नाक शब्द का व्याख्यान "आदित्य" और छ बार "अन्तरिक्ष" किया है, जबकि अठारह बार उसने नाक का व्याख्यान "द्युलोक" या "स्वर्ग" किया है। उत्तरकालीन वैदिक सहिताओ से लेकर लौकिक सस्कृत तक के ग्रन्थो मे 'नाक' शब्द 'स्वर्ग' के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। ऋग्वेद मे अनेक बार नाक को दिव् (द्युलोक) का एक भाग बताया गया है। जिसका व्याख्यान सायण के अनुसार द्युलोक का उच्च प्रदेश है। ऋग्वेद मे नाक को तारो से युक्त बताया गया है। ऋग्वेद मे नाक का जो वर्णन उपलब्ध होता है उससे प्रतीत होता है कि द्युलोक के उस उच्च प्रदेश को नाक कहते है जो प्रकाशमान् है तथा तारो से सुशोभित है। हिन्दी भाषा मे नाक का अनुवाद "स्वर्ग" किया जा सकता है। समस्त प्रकाशमय आकाश "द्युलोक" है और उसका उच्च प्रदेश 'नाक' है।

पर्वतान् –

सायणाचार्य ने पर्वतान् पद का अर्थ "मेघान्" तथा "सम्बन्धिनी" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इसका व्याख्या दो प्रकार से किया है –

१. ये पर्वतान् अर्णव पार्थिव समुद्र प्रति क्षिपन्ति।

२. ये गमयन्ति मेघान् वर्षाय पृथिवीम्। जबकि

यास्क ने पर्वतान् पद का निर्वचन "पर्व पुन पृणते प्रीणातेर्वा" निश्चित किया है। जबकि

निरूक्त मे पर्वत पद मेघ वाचक शब्दो के अन्तर्गत परिगणित है। जबकि

देवराजयज्वा ने 'पृणन्ति पालयन्ति अवयविन पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि' अर्थ सुनिश्चित किया है।

पर्व का अर्थ है सन्धि, जोड। अनेक स्तरो और जोडो से युक्त होने के कारण पहाड, पर्वत है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने पर्वतान् का अर्थ "मेघों को" निश्चित किया है। जबकि

मैक्सूलर, ग्रिफिथ तथा **ग्रासमैन** ने सायण के अर्थ को ही स्वीकार किया है। जबकि

गैल्डनर और **पीटर्सन** ने पर्वतान् का अर्थ "Mountains" किया है। पीटर्सन का कथन है कि "पहाडों" से सम्भव "पहाडो जितनी ऊँची समुद्री लहरे" अभिप्रेत है। जबकि

राॅथ ने पर्वतान् पद का अर्थ "समुद्र तथा जलयुक्त ऊँचा आकाश" निश्चित किया है। जबकि

पर्वतान् – ऋग्वेद १/१६/७

मैक्डानल ने इसका अर्थ "Jointed" निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का अन्य अर्थ ''उदकयुक्त समुद्र तिर कुर्वन्ति इति शेष'' निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इसका ''तिरस्कुर्वन्ति च उ्दकवन्तम् समुद्रम्'' अर्थ सुनिशिचित किया है।

रश्मिभिः –

सायणाचार्य ने 'रश्मिभि' पद का ''सूर्य–किरणै सह'' (The rays of the sun) अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने 'रश्मिभि' पद का अर्थ "The power of their own" अर्थात् ''स्वतेजोभि'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने रश्मिभि पद का अर्थ ''सूर्य की किरणो के साथ'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने रश्मिभि पद का अर्थ 'किरणो से' एव ''रस्सी'' निश्चित किया है।

वेङ्कटमाधव ने रश्मिभि पद का ('waves of the wind' the waves of the wind' are similar to the rays of the sun) ''रश्मिसदृशै प्रत्यक्षमारूतै'' यह अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन इसका अनुवाद "With their rays" करते हैं। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "With bright beams" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन के मतानुसार भी इस मन्त्र मे तथा अन्य कई मन्त्रों में 'रश्मि' शब्द मरूतो की अपनी किरणो का वाचक है। यहॉ रश्मि शब्द को ''तेज'' अथवा ''किरण'' का वाचक समझना चाहिए।

मनामहे –

सायणाचार्य ने कस्य कतमस्य आदि पदो के साथ मनामहे पद का अन्वय करते हुए 'मनामहे' पद का अर्थ उच्चारयाम निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'मनामहे' पद का अर्थ 'जानें' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "shall invoke" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "May bethink" अर्थ निश्चित किया है।

रश्मिभि – ऋग्वेद १/१६/८

मनामहे – ऋग्वेद १/२४/१

अदितये –

सायणाचार्य ने अदिति का अर्थ 'पृथिवी' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने अदिति पद का अर्थ "अविभाजित" निश्चित किया है। जबकि

निघुण्टु मे अदिति का अर्थ 'द्यावापृथिवी' प्राप्त होता है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अदितये पद का अर्थ "पृथिवी के बीच मे" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो मे **मैक्समूलर** ने इसका "infinite" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

जे० म्यूर ने इसका " Nature" अर्थ किया है। जबकि

रॉथ ने अदितये का अर्थ "Freedom" या "Security" निश्चित किया है। जबकि

बेनफी ने इसका अर्थ "sinlessness" निश्चित किया है।

भगभक्तस्य –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "धनेन सयुक्तस्य" किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **विल्सन** ने "Through the protection of thee who art the possessor of wealth" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "The highest of affluence which Bhaga has dealt out to us." अर्थ सुनिश्चित किया है।

वातस्य –

सायणाचार्य ने वातस्य पद का अर्थ "ये गतिविशेषा" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद "Gales" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Wild fury" अर्थ निश्चित किया है।

अदितये	–	ऋग्वेद	१/२४/१
भगभक्तस्य	–	ऋ०	१/२४/५
वातस्य	–	ऋ०	१/२४/६

अपवक्ता –

सायणाचार्य ने अपवक्ता पद का अर्थ "अपवदिता निराकर्ता भवतु" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "Warned afar" अर्थ सुनिश्चित किया है। परन्तु **विल्सन** ने सायण के अर्थ को स्वीकार किया है।

निर्ऋतिम् –

सायणाचार्य ने निऋतिम् पद का अर्थ "पापदेवताम्" निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे यह निऋतिम् पद पृथिवी के नामो मे पठित है। जबकि

यास्काचार्य ने "तत्र निर्ऋतिर्निरमणात्। ऋच्छते कृच्छापत्तिरितरा" यह निर्वचन किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Decay" or "destruction" अर्थ सुनिश्चित किया है।

असुर –

सायणाचार्य के अनुसार 'असुर' पद का अर्थ "अनिष्टक्षेपणशील" है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Averter of misfortune" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Incorporeal, Spiritual, divine being" आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल एव **पीटर्सन** ने इसका अर्थ "Divine" निश्चित किया है।

विसीमहि –

सायण विसीमहि का अर्थ "विशेषेण बध्नीम प्रसादयाम इत्यर्थ." निश्चित करते हैं। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का विमोचयाम अर्थ सुनिश्चित करते हैं। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "विपूर्वस्यतेरिद रूपम्। स्यतिश्चोपसृष्टो विमोचने वर्तते। विमुञ्चाम.। विगतबन्धं कुर्म। अपनयाम इत्यर्थ" व्याख्यान किया है।

अपवक्ता	–	ऋग्वेद	१/२४/८
निर्ऋतिम्	–	ऋ०	१/२४/६
असुर	–	ऋ०	१/२४/१४
विसीमहि	–	ऋ०	१/२५/३

ग्रिफिथ महोदय सायण का ही अनुसरण करते हैं परन्तु **ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन** आदि अधिकतर आधुनिक विद्वान् विसीमहि पद का अर्थ 'हम मुक्त करे' करते है।

संदितम् –

वेड्कटमाधव तथा **स्कन्दस्वामी** ने इसका अर्थ "बॅधा हुआ" किया है, और वैदिक प्रयोगो से भी इसी अर्थ का समर्थन होता है। जबकि

सायणाचार्य ने सदितम् पद का अर्थ "सम्यक् अवखण्डित दूरगमनेन श्रान्तम्" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने सदितम् पद का अर्थ "A horse that is bound" निश्चित किया है।

विमन्यवः –

सायणाचार्य ने विमन्यव पद का व्याख्यान "क्रोधरहिता बुद्धय" किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इस पद का "विविधा इच्छा बुद्धय" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "मन्यते, छन्त्सदिति कान्तिकर्मसु पाठात्मन्यतिरत्र कान्तिकर्मा। मननानि मन्यव कामा.।" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकार

रॉथ तथा **ग्रासमैन** ने इसका अर्थ "इच्छाएँ" सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका व्याख्यान "क्रोध–रहित" (शब्द), निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "उत्साहहीन शत्रु" ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने विमन्यव शब्द का अर्थ "प्रार्थनाएँ" निश्चित किया है।

व्याकरण के विचार से आद्युदात्त विमन्यव बाहुव्रीहि समास है और इस प्रकार विशेषण है और इसका विग्रह इस प्रकार होगा – "विगत मन्यु (क्रोध)याभ्य ता· विमन्यव" अर्थात् वरूण के क्रुद्ध होने पर भी स्तोता की स्तुतियॉ क्रोधरहित है।

परा+पतन्ति –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "पराड्मुखा पुनरावृत्तिरहिता प्रसरन्ति" किया है। जबकि

सदितम्	–	ऋग्वेद	१/२५/३
विमन्यव	–	ऋ०	१/२५/४
परा+पतन्ति	–	ऋ०	१/२५/४

स्कन्दस्वामी ने विशेषण को जोडकर इसका व्याख्यान किया है – "विविध त्वा प्रति प्राप्नुवन्ति।" जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, तथा **पीटर्सन** प्रभृति आधुनिक विद्वान् परा + पतन्ति का व्याख्यान "दूर उडती है" किया है। इस प्रकार यह निश्चय ही आलङ्कारिक प्रयोग है। पद के आदि मे आने के कारण पतन्ति पर उदात्त है।

क्षत्रश्रियम् –

सायण तथा **वेङ्कटमाधव** ने इस शब्द का व्याख्यान "बलसेविनम्" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "क्षत्र बल धन वा श्रयति क्षत्रश्रीर्बलवान् धनवान् वा त क्षत्रश्रियम्" अर्थ किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार, **ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स** तथा **गैल्डनर** प्रभृति विद्वानों ने इसका व्याख्यान "having the glory of sovereignty or power" किया है।

समुद्रियः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "समुद्रेऽवस्थितो वरूण" किया है। **गैल्डनर** ने भी सायण के अर्थ को स्वीकार किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इसका अर्थ "समुद्रियाया समुद्रे भवाया समुद्रेण गच्छन्त्या इत्यर्थ ।" सुनिश्चित किया है।

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** ने भी इस मत का अनुसरण किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "समुद्रेण गच्छन्ती" अर्थ निश्चित किया है।

परस्त्यासु –

सायण ने इसका अर्थ "दैवीषु प्रजासु" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "परस्त्यमिति गृहनाम"। लोकपालत्वात् सर्वेषु गृहेषु वा" निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "गृहभूतासु नदीषु" अर्थ निश्चित किया है।

निघण्टु मे परस्त्यम् गृहनामो मे गिनाया गया है। ऋग्वेद मे अग्नि को "त्रिपस्त्यम्" कहा गया है जिसका व्याख्यान सायण ने "त्रिस्थानम्" किया है। परन्तु ऋग्वेद के भाष्य मे सायण ने पस्त्याभि. का व्याख्यान

क्षत्रश्रियम् – ऋग्वेद १/२५/५

समुद्रिय – ऋ० १/२५/७

परस्त्यासु – ऋ० १/२५/१०

''मनुष्यै–ऋत्विग्भि सह'' किया है। पस्त्यानाम् का व्याख्यान ''गृहाणाम्'' तथा ''गृहस्थानम्'' एव ''गृहिणाम्'' किया है। अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे पस्त्यानाम् पद का व्याख्यान ''सरस्वत्यादीना नदीनाम्'' किया है। जबकि पस्त्यासु का अर्थ ''गृहेषु'' निश्चित किया है।

इस प्रकार के विविध व्याख्यानो के कारण आधुनिक विद्वान् भी किसी एक व्याख्यान पर सहमत नही है। **पिशल** तथा **गैल्डनर** ने पस्त्यासु पद का अर्थ ''जल'' किया है। जबकि

ग्रासमैन, मोनियरविलियम्स तथा **पीटर्सन** प्रभृति विद्वान् इसका अर्थ ''गृह'' करते हैं। यहाँ पर ''गृह'' व्याख्या समीचीन है।

अद्भुता –

सायणाचार्य ने अद्भुता पद का अर्थ ''सर्वाण्याश्चर्याणि चिकित्वान् प्रज्ञावान्'' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य के अनुसार अद्भुत शब्द का मौलिक अर्थ ''अभूत'' अर्थात् ''अपूर्व'' है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ ''अदृश्य'', "wonderful", "inscrutable" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ ''रहस्य'' किया है। जबकि कतिपय अन्य विद्वान् ''आश्चर्य'' अर्थ करते है।

पीटर्सन ने अपनी टिप्पणी मे स्पष्ट किया है कि **डेल्ब्रिक** ने अद्भुता के स्थान पर अद्भुत पाठ सशोधन किया है।

द्रापिम् –

स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने द्रापिम् पद का अर्थ ''कवचम्'' किया है। जबकि

फिक नामक पाश्चात्य विद्वान् द्रापि को लिथुनियन भाषा के drapana शब्द का सजात्य मानते हुए इसका व्याख्यान "mantle", "clook" इत्यादि करते हैं। जबकि

ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स एव **गैल्डनर** ने इसका अर्थ "garment" किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Mail" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Breast plate" अर्थ सुनिश्चित किया है।

निर्णिजम् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ ''पुष्ट स्वशरीरम्'' किया है। जबकि

अद्भुता – ऋग्वेद १/२५/११
द्रापिम् – ऋ० १/२५/१३
निर्णिजम् – ऋ० १/२५/१३

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "रूपदीप्तम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "निर्णिगिति रूपनाम। आत्मीय रूपमिति। तेजस्वित्वात् हि आदित्यस्य रूप नोपलभ्यते" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने अपने अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो में निर्णिजम् पद का अर्थ "रूप" भी किया है तथा कुछ अन्य मन्त्रो के भाष्य मे निर् + √निज् से व्युत्पत्ति करते हुए सायण ने "शुद्धम्", 'पवित्रम्', "शोधयित्री" इत्यादि यौगिक अर्थ भी दिए है।

निघण्टु मे भी निर्णिजम् पद "रूप" के नामो मे गिनाया गया है। जबकि

महीधर ने इसका अर्थ "स्नानेन" ग्रहण किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का अर्थ "उदकस्नानेन" निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "रूपवता" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो मे **ग्रासमैन, पीटर्सन,** तथा **मोनियर-विलियम्स** आदि के अनुसार निर्णिज् शब्द "चमकते हुए वस्त्र या आभूषण" का वाचक है।

पीटर्सन तथा **गैल्डनर** आदि इस शब्द का अनुवाद "चमकता हुए वस्त्र" करते हैं। यहॉ पर यही अर्थ अधि

ाक समीचीन प्रतीत होता है।

स्पशः —

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "ज्ञापका रश्मय" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "तदीयास्त्वपरा रश्म्याख्या." अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "हिरण्यस्पर्शिनो रश्मय" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे स्पश पद का अर्थ "चारा" तथा "रश्मि" सुनिश्चित किया है तथा कही–कही "चार" अर्थ किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो मे **ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन** तथा **मैक्डानल** आदि ने स्पश् शब्द के "गुप्तचर" अर्थ को स्वीकार किया है। और लैटिन के 'au-spex' शब्द को इस का सजात्य माना है।

अभिमातयः —

स्कन्दस्वामी के अनुसार इस पद का "अभिमातिशब्दोऽत्र हिंसावचन·। असुरैश्चौरादिभि· प्रयुज्यमाना हिसा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्पश· — ऋग्वेद १/२५/१३

अभिमातय. — ऋ० १/२५/१४

सायणाचार्य ने अभिमातय पद का अर्थ "पाप्मान" निश्चित किया है, परन्तु अन्य व्याख्यानो मे सायण ने इस पद का अर्थ "शत्रु" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, पीटर्सन आदि पाश्चात्य विद्वान् अभिमातय शब्द के "शत्रु" अर्थ को स्वीकार करते है, परन्तु यह मानते है कि कही – कही यह शब्द "शत्रु के षड्यन्त्र या अत्याचार" के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र मे **ग्रासमैन** तथा **पीटर्सन** ने इसका अर्थ "शत्रु" किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "अत्याचार" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने अभिमातय पद का अर्थ "अत्याचार करने वाला" निश्चित किया है।

यशः –

स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने यश पद का अर्थ "अन्नम्" किया है। जबकि

पाश्चात्य विद्वानो मे इस पद के व्याख्यान के विषय मे मतभेद है।

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** ने यश पद का "Blessing" अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने यश पद का "Respect" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **मैक्समूलर** इसका अनुवाद 'glory' करते हैं। जबकि

सायणाचार्य ने अन्य मन्त्रो मे यश पद का अर्थ "अन्न कीर्ति वा" सुनिश्चित किया है।

धीतयः –

सायण तथा **वेङ्कटमाधव** ने इस पद का "बुद्धय" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "प्रज्ञा" कर्माणि वा स्तुत्याख्यानि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन धीतय पद का अर्थ 'Prayers' करते है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **ग्रिफिथ** इसका अर्थ "विचार" करते है, जो समीचीन है।

गव्यूतीः –

सायण न इस पद का अर्थ "गोष्ठानि" किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ "गोमार्गान्" निश्चित किया है। जबकि

यश – ऋग्वेद १/२५/१५
धीतय – ऋ० १/२५/१६
गव्यूतीः – ऋ० १/२५/१६

स्कन्दस्वामी ने ''गावो यत्र चरन्ति स भूप्रदेशो गव्यूतिरूच्यते'' अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अनुवाद ''गोचरमार्ग'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इसका अर्थ ''गोचर–भूमि'' निश्चित किया है जो उचित है।

यतो मे मधु आभृतम् –

इस पाद के भावार्थ के विषय मे मतभेद है। **सायणाचार्य** ने इस पाद का व्याख्यान इस प्राकर किया है– ''यतो यस्मात्कारणात् मे मज्जीवनार्थ मधुर हविराभृतम्। अञ्ज सवाख्यकर्मणि सपादितम्।'' जबकि

स्कन्दस्वामी का व्याख्यान भिन्न है – ''यतो मे। तादर्थ्य एषा चतुर्थी। मदर्थम्। येनोपस्तीर्याभिधार्य चाह जुहूषित, तदाज्यलक्षण मधु आभृतमृत्विग्भि । यत् आज्य गृहीत्वा मा होतुमृत्विज उपस्थिता इत्यर्थ ।'' जबकि

मधु का व्याख्यान ''स्तोत्र'' करते हुए **वेङ्कटमाधव** ने इस पाद का व्याख्यान इस प्रकार किया है – ''यतो मे मधुसदृश स्तोत्र सम्भृतम्''। जबकि

मधु का अर्थ ''मधुरपान'' करते हुए **गैल्डनर** इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं – ''क्योकि मेरे लिए मधुरपान लाया गया है।'' इसका भावार्थ समझाते हुए गैल्डनर लिखते हैं कि यहॉ पर सोमरस अभिप्रेत है। इनका कहना है कि यह यज्ञ का सोमरस नही है, बल्कि वह सोमपान है जो प्रायश्चित के लिए तथा भेषज के रूप मे पिया जाता है। जबकि

पीटर्सन ने इस पाद का अनुवाद– "Since I have brought the mead" किया है तथा **ग्रिफिथ** ने भी ऐसा ही अनुवाद किया है। सम्पूर्ण ऋचा के भावार्थ के विचार से पीटर्सन का अनुवाद अधिक उपयुक्त है। इस भावार्थ के अनुसार 'मे' पद मे कर्त्ता कारक मे पष्ठी प्रयुक्त हुई है। अत यहॉ पर इस पाद का अर्थ है – ''क्योकि मेरे द्वारा (तुम्हारे लिए) मधुर (सोमरस) लाया गया है।'' अगले पाद मे कहा गया है – ''तुम उस प्रिय सोमरस का पान होता की भॉति करते हो।''

वक्षणाः –

प्रथम मण्डल के ३२वे सूक्त–इन्द्र सूक्त के प्रथम मन्त्रस्थ वक्षणाः पद का विभिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न–भिन्न अर्थ प्रस्तुत किया है–

सायण के अनुसार वक्षणा का अर्थ ''क्रोध करना या क्रुद्ध होना है''। इसके अतिरिक्त ''प्रवहणशीला नदी'' अर्थ भी किया है। इसका अन्वय इन्द्र पद के साथ किया है। जबकि

यतो मे मधु आभृतम् – ऋग्वेद १/२५/१७

वक्षणा· – ऋ० १/३२/१

ग्रासमैन ने सायण का अनुकरण करते हुए वक्षणा पद का अर्थ "swell", ''उभार, चढाव, फुलाव, बढाव'' आदि निश्चित किया है। ग्रासमैन के अनुसार वक्ष का मूल आशय शरीर का वह भाग जिसमे वक्षस्थल, गर्भाशय या कुक्षि है। गाय के सन्दर्भ मे इसका अर्थ 'थन' होगा। वक्षस्थल और कोख पर आधृत आलङ्कारिक अर्थ नदी–प्रवाह और अन्तरिक्ष होता है। जबकि

पिशेल के अनुसार ''सीचना, गीला करना'' अतएव'' स्त्रीयोनि'' अर्थ है और आलङ्कारिक अर्थ ''अन्तरिक्ष,'' ''यज्ञवेदि'', ''सोमलता'', ''पर्वत पर नदी का प्रवाह'', ''गाय का थन'' और ''नदी का प्रवाह'' है। परन्तु पिशेल का अर्थ विद्वानो को स्वीकार्य नही हुआ।

माधवाचार्य के अनुसार वक्षणा का अर्थ ''प्राप्तिकर्मण स्यात्। प्राप्यन्ते हि ता प्राणिभि प्राप्नुवन्ति वा समुद्र निम्न वा।'' निश्चित किया गया है।

दयानन्द जी ने इस पद का अर्थ ''नदियो को छिन्न–भिन्न करके बहना'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने वक्षणा पद का अर्थ "channels" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "bellies" अर्थ ग्रहण किया है।

पर्वतानाम् –

सायण ने इस पद का अर्थ ''सम्बन्धिनी'' किया है। जबकि

यास्क ने इस पद का 'पर्व पुन पृणते पृणातेर्वा' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने ''पृणन्ति पालयन्ति अवयविन पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि'' यह अर्थ किया है। पर्व का अर्थ है सन्धि, जोड। अनेक स्तरो और जोडो से युक्त होने के कारण पहाड पर्वत है। जबकि

निरूक्त मे पर्वत पद मेघ वाचक शब्दो के अन्तर्गत परिगणित है। जबकि

दयानन्द जी ने इस पद का अर्थ ''मेघो के सकाश से'' यह निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "Jointed" अर्थ किया है।

त्वष्टा –

सायण तथा **माधव** ने त्वष्टा पद का अर्थ 'विश्वकर्मा' किया है तथा 'तेज करना' और 'निर्माण करना' ये अर्थ निश्चित किया है। त्वष्टा पद का अन्वय अस्मै तथा स्वर्य वज्र ततक्ष पदो के साथ किया है।

मैक्डानल्ड तथा **पीटसर्न** ने भी त्वष्टा पद का अर्थ तेज करना, निर्माण करना', 'चमकना' अर्थ किया है। जबकि

पर्वतानाम् – ऋग्वेद १/३२/१

त्वष्टा – ऋ० १/३२/२

यास्क ने "त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मण तथा त्विषेर्वा स्यात् दीप्तिकर्मण (चमकना, तेज करना)" ये अर्थ निश्चित किया है इसके अतिरिक्त "तूर्णमश्नुते" अर्थ भी किया है। जबकि

देवराजयज्वा ने त्वष्टा पद का अर्थ इस प्रकार निश्चित किया है– इनके अनुसार त्वष्टा एक "देवशिल्पी" है वह देवो के शस्त्र–निर्माण के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि उसके अन्य शारीरिक अडगो का वर्णन नही उपलब्ध होता है तथापि हाथो अथवा भुजाओ का जिनसे वह शस्त्र रचना करते हैं, प्राय वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८५ अनुवाक के ६वे सूक्त मे त्वष्टा को इन्द्र के वज्र का निर्माण करने का श्रेय दिया गया है, जिससे वृत्र का वध कर इन्द्र ने जलधाराओ को मुक्त किया।

वह अनेक रूपो का निष्पादक है देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप, अन्यत्र इसे गर्भ मे दम्पती का निर्माता कहा गया है– वह मनुष्यो, पशुओ के गर्भस्थ बीज को विकसित करता है।

ओल्डेनबर्ग के अनुसार "विश्वरूप असुर त्वष्टा पुत्र" कहा गया है।

अन्य अनुवर्ती ग्रन्थो मे भी त्वष्टा को समस्त रूपो की रचना करने वाला कहा गया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने त्वष्टा पद का अर्थ "सूर्य लोक" निश्चित किया है।

सोमम् (सोम) –

ऋग्वेद मे सोम से सम्बद्ध लगभग १२० सूक्त हैं। सोमलता से सम्भवत ऋग्वेदीय जनो का भी पूर्ण परिचय नही था। यदि हिलब्रान्त का यह मत मान लिया जाए कि ऋग्वेद सहिता ३/५३/१४/ मे प्रयुक्त 'नैचाशाख' शब्द सोम का विशेषण है तो यह मानना पडेगा कि सोम की टहनियॉ और पत्ते नीचे की ओर लटकते रहते थे। यह सोमलता पोरो से बताई गई है। सम्भवत इसमें कॉटे भी होते थे। सोम मुञ्जवान् पर्वत् पर मिलता था। ब्राह्मणो मे सोम की दिशा उत्तर (तैत्तिरीय ब्राह्मण) पश्चिम (ऐतरेय ब्राह्मण) तथा पूर्व (ऐतरेय ब्राह्मण) कही गई है। सोमरस का वर्ण अरूण, हरित या पिङ्गल, शोण या अरूष कहा गया है।

सोम को **अवेस्ता** मे "हओम" के नाम से वर्णित किया गया है। येज्द के पारसी जिस पौधे से हूम रस बनाते है, उसे 'हओम' से अभिन्न मानते है।

बलूची भाषा मे इसे उमान, **चीनी** मे सिम या सुम कहा गया है। **अंग्रेजी भाषा** मे एफ्रिडा बलगेरिस या साण्टिया बेल–विरोडी के नाम से इसे जाना गया है।

लास्सन, म्यूर, हाग, मैक्समूलर, कीथ, मैक्डानल ने सोम को "सरकोस्टेमा, विमिनेल, ऐस्क्लेपियस एसिडा या सरकोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा" कहा है।

रॉथ 'सरकोस्टेमा एसीडम' को ही सोम के अधिक समीप बताते हैं।

सोमम् (सोम) – ऋग्वेद १/३२/३

डा० एचीसन 'एफ्रेड्रा पेचिक्लाडा' को सोम मानते है। यह पौधा बलूचिस्तान, हरिरूद घाटी और ईरान के पार्वत्य प्रदेशो मे बहुत मिलता है।

एफ्रेडा की एक अन्य जाति हुम–इबन्दक नाम से प्रसिद्ध है, **मैक्समूलर** का कथन है कि उक्त पौधे की पिसाई करने पर पर्याप्त मात्रा मे रस निकलता है जिसे सोम कहते हैं।

वाट के अनुसार अफगानी अड्गूर ही सोम है। परन्तु **राइस** के मत मे यह सोम "गन्ना" है।

मैक्समूलर के अनुसार सोम से यवसुरा का निर्माण किया जाता था। कतिपय अन्य विद्वान् इसे भॉग या सन मानते है। **हिलब्रान्त** सोम को "चन्द्रमा" कहते है।

प० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने सोम का अर्थ "सोमलता का अधिदेव" निश्चित किया है, अर्थात् सोमलता का अधिदेव सोम है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस सोम पद का अर्थ "उत्पन्न हुआ रस" निश्चित किया है।

सायण ने सोमम् पद का अन्वय वृषायमाण इन्द्र पद के साथ किया है। सायण ने यहॉ पर सोम का अर्थ "सोमरस" निश्चित किया है। इसके अतिरिक्त सायण ने सोमम पद का अर्थ "सोमरस" एव "द्युलोक मे स्थित शत्रुओ को मारने वाला सोम देवता" निश्चित किया है। सोम शब्द को 'सोमलता', 'सोमदेवता', 'चन्द्रमा' आदि अर्थो मे ग्रहण किया जाता है।

त्रिकदुकेषु –

सायण ने इस त्रिकदुकेषु पद का अर्थ "आभिप्लव षडह यज्ञ में होने वाले ज्योति, आयु तथा गो नामक तीन याग" अर्थ निश्चित किया है। सायण ने इस पद का अन्वय (सोमम्) अपिबत् पद के साथ किया है। जबकि

क्षीरस्वामी ने इस पद का अर्थ 'कन्दति कन्दते वा, शब्द करना, विकल होना" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने त्रिकदुकेषु पद का अर्थ "जिनकी उत्पत्ति स्थिरता और विनाश ये तीन कला व्यवहार मे वर्त्ताने वाले है उन पदार्थो मे" यह निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने त्रिकदुक पद का अर्थ "तीन पानपात्र" तथा त्रिकदुकेषु पद का अर्थ "in three sacred beakers" स्वीकारा है। जबकि

पीटर्सन ने त्रिकदुक पद का अर्थ "तीन प्याले" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद को बहुत विस्तृत अर्थो में लिया है इन्होने इस पद का अर्थ "तीन सोम के पात्र (ग्रह) वसतीवरी, एक धना, पूतभृत् आदि निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर के अनुसार त्रिकदुक उस स्थान का नाम है, जहॉ इन्द्र ने सोम भरे तीन सरो को पीकर खाली कर दिया था।

त्रिकदुकेषु – ऋग्वेद १/३२/३

अहन् वृत्रं वृत्रतरं

इन पदो के अर्थो के सम्बन्ध मे व्याख्याकारो मे विवाद है यह प्रथम मण्डल के इन्द्र सूक्त के पॉचवे मन्त्र की प्रथम पङ्क्ति है।

सायण ने व्यस और वृत्रतर पद को वृत्र का विशषण माना है तथा यह अर्थ निश्चित किया है– "(लोको को ढॅकने वाले) अन्धकार के रूप मे स्थित वृत्र को छिन्नबाहु कर मारा।" जबकि

ग्रिफिथ के अनुसार वृत्रतर पद का अर्थ "वृत्रो मे अत्यन्त नीच" निश्चित किया गया है। जबकि

मैक्डानल ने व्यस को व्यक्तिवाचाक सज्ञा माना है तथा वृत्रतर का अर्थ इनकी दृष्टि मे भी वही है जो ग्रिफिथ ने निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर 'वृत्रतर व्यसम्' का अर्थ "महत्तम शत्रु" निश्चित किया है। पीटर्सन ने भी गैल्डनर के द्वारा निश्चित अर्थ को स्वीकृति दी है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का अर्थ "वृत्रविजेता" निश्चित किया है।

वस्तुत व्यसम् को वृत्र का विशषण मानना युक्ति सङ्गत है, क्योकि आगे आयी हुई उपमा 'स्कन्धासीव' की सार्थकता इसी से है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने वृत्रतर व्यसम् पद का "अत्यन्त सघन छिन्न–भिन्न जैसा" यह अर्थ निश्चित किया है।

अयोद्धेव –

सायण ने इस पद का "योद्धृरहित इव" यह अर्थ निश्चित किया है। सायण ने इस पद को वृत्र का विशेषण माना है।

दयानन्द सरस्वती जी ने अयोद्धेव पद का अर्थ "युद्ध की इच्छा न करने वाले पुरूष के सामान मेघ" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "जिसका जोडीदार कोई दूसरा योद्धा न हो" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने अयोद्धेव पद का अर्थ "निर्बल योद्धा की तरह" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने अयोद्धेव पद का अर्थ "असमर्थ योद्धा की भॉति" निश्चित किया है।

दुर्मदः –

सायण ने दुर्मद पद का "दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो" अर्थात् "दर्पयुक्त" अर्थ निश्चित किया है। सायण ने दुर्मद पद को वृत्र पद का विशेषण माना है। जबकि

अहन् वृत्र वृत्रतर व्यसम् – ऋग्वेद १/३२/५
अयोद्धेव – ऋ० १/३२/६
दुर्मद – ऋ० १/३२/६

विल्सन ने दुर्मद पद का अर्थ "मिथ्याभिमानी" (arrogant) निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने दुर्मद पद का अर्थ "पागल" (mad) निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "नशे मे धुत", 'मतवाला' आदि अर्थ निश्चित किए है।

परन्तु भारतीय व्याख्याकार **दयानन्द सरस्वती** ने दुर्मद पद का अर्थ "दुष्ट–अभिमानी" निश्चित किया है।

ऋजीषम् –

इस शब्द का प्रयोग केवल १/३२/६ ऋचा मे ही प्राप्त होता है। इन्द्र को ऋजीषी कहा गया है। ऋजीषी का अर्थ है– सोम को ऋजीष (तलछट) सहित पी जाने वाला।

सायणाचार्य ने ऋजीषम् पद का अर्थ "शत्रूणामपार्जकम्" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने अर्जयितार शत्रुधनानाम् अर्थात् शत्रु के धनो का विजेता" अथवा "यत् सोमस्य पूयमानस्य अतिरिच्यते तदृजीषमुच्यते" दो अर्थ किए है। जबकि

दुर्गाचार्य ने "रसादन्यदसारमतिरिच्यते तद् ऋजीषम्" अर्थ निश्चित किया है।

यास्क के **निरूक्त** के अनुसार छाने गये या स्वच्छ किये गये सोम के अवशिष्ट भाग को ऋजीष कहते है। **यास्काचार्य** ने "यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तत् ऋजीषम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Scatterer of foes" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "impetuous" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "drinker of Soma to the dregs" अर्थ ग्रहण किया है।

रूजानाः –

स्कन्दस्वामी ने 'ग्रीवा किल रूजाना उच्यन्ते" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "नदी सम्पिपिषे सम्यक् पिष्टवान् अर्थात् "नदियो को चूर–चूर कर देना भङ्ग करके पीसना" आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने रूजाना नद्यो भवन्ति। रूजन्ति कूलानि" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ऋजीषम्	–	ऋग्वेद	१/३२/६
रूजाना.	–	ऋ०	१/३२/६

दयानन्द सरस्वती ने रूजाना पद का अर्थ "नदियॉ पर्वत और पृथिवी के बडे–बडे टीलो को छिन्न–भिन्न करती हुई बहती है वैसे ही सेनाओ मे प्रकाशमान् सेनाध्यक्ष शत्रुओ मे चेष्टा करे।" निश्चित किया है। जबकि

ब्लमूफील्ड ने रूजाना पद का अर्थ "भग्न मुख" एव "टूटी हुई नाक वाला" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग के "बज्रप्रहार के कारण रूजा अर्थात् पीडा से अनास् अर्थात् मुखरित या नासिका विहीन' (whose mouth is being crushed) अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने रूजानस पद के दो अर्थ किए है रूज+ अनस् अर्थात् "बैलगाडी को तोडने वाला" तथा दूसरा अर्थ रूज + नास् अर्थात् "टूटी हुई नाक वाला" या "नाक को तोडने वाला"।

पीटर्सन ने भी गैल्डनर का अनुकरण करते हुए रूजाना पद अर्थ "रथभञ्जक" निश्चित किया है।

सानौ –

सायणाचार्य सानौ पद का पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे– अर्थात्" सानु के समान दृढ कन्धे" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने "सानु समुच्छ्रित भवति, समुन्नुन्नमिति वा" सानुपर्वत की चोटी को कहते है क्योकि वह ऊपर की ओर उठी होती है या ऊपर की ओर प्रेरित होती है। यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सानौ पद का अर्थ "पर्वत के शिखरो के समान बादलो पर सूर्यलोक" निश्चित किया है। जबकि

क्षीरस्वामी ने इस पद का "सनोति ददाति सुख सानु" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने सानौ पद का अर्थ "कन्धे" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने सानौ पद का "पीछे और पीठपर" आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सानौ पद का अर्थ सायण का अनुकरण करते हुए ही निश्चित किया है, विल्सन ने सानौ पद का "mountain-like shoulder" अर्थ निश्चित किया है।

अमुया –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "अमुष्यां पृथिव्याम्" अर्थात् 'इस पृथिवी पर' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का अर्थ "इस पृथिवी के साथ प्राप्त होते हैं "(वैसे सब शत्रुओं को बॉध के वश मे कीजिए)" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने अमुया पद का अर्थ "इस प्रकार से पडा हुआ–नग्न, अनावृत" आदि निश्चित किया है। जबकि

सानौ – ऋग्वेद १/३२/७

अमुया – ऋ० १/३२/८

ग्रिफिथ ने अमुया पद का "as" अर्थात् "जैसा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने अमुया पद का अर्थ "उस अवस्था मे" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने भी सायण द्वारा निश्चित अर्थ को ही स्वीकार किया है। अर्थात् "इस पृथिवी पर यह अर्थ निश्चित किया है।

शयानम् –

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के ३२ वे मण्डल के इन्द्र सूक्त के ८वे मन्त्रस्थ शयानम् पद का "पतित मृत" आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने शयानम् पद का अर्थ सोते हुए" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने शयानम् पद का अर्थ "टूटे कगारवाले नद के सदृश इस पृथिवी पर सोया हुआ" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने शयानम् पद का अर्थ "तट तोडने वाली नदी के समान सोते हुए, विश्राम करते हुए" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने शयानम् पद का अर्थ " टुकडे–टुकडे होकर गिरे हुए वृषभ की तरह वह पडा हुआ था" निश्चित किया है।

नदम् –

स्कन्दस्वामी और **सायणाचार्य** ने नदम् पद का अर्थ "सिन्धु" अर्थात् "बडी नदी "जैसे शोणभद्र (सोन) को महानद कहते हैं। यह पद भिन्न पद क्रे साथ प्रयुक्त है यह भिन्न पद का विशेषण एव अप पद के उपमान के रूप मे प्रयुक्त है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने नदम् का अर्थ– "सेतु जिसके नीचे जल बहता हो" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने नदम् पद का अर्थ "महाप्रवाहयुक्त नद को" निश्चित किया है। जबकि

पिशेल नद पद का अर्थ "नड (नरकट)" मानते हैं। नड अर्थ से दूसरा अर्थ 'पुरूष जननेन्द्रिय" भी सिद्ध करने का प्रयास किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने पिशेल के इस अर्थ विनिश्चय को स्वीकार नहीं किया है। इन्होंने "a bellowing or neighing bull or horse" अर्थ निश्चित किया है।

मनोरूहाणाः –

सायणाचार्य ने मनोरूहाणा पद को अप का विशेषण माना है। सायण ने इस पद का अर्थ "मन पर चढती

शयानम् – ऋग्वेद १/३२/८

नदम् – ऋ० १/३२/८

मनोरूहाणाः – ऋ० १/३२/८

हुई'' निश्चित किया है अथवा ''चित्त पर चढते हुए'' भी अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने मनोरूहाणा पद का अर्थ ''मननशील अन्त करण के सदृश उत्पन्न होकर चलन वाली नदी'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "that delights the minds" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने मनोरूहाणा पद का अर्थ ''उसकी शक्ति पर स्वामित्व प्राप्त करते हुए'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का अर्थ ''चहेते की भॉति उठते हुए'' निश्चित किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थ– ''ह्दय को आकर्षित करते हुए'' भी निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "taking heart" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने मनोरूहाणा पद का अर्थ ''मनु के लिए प्रवाहित होते हुए'' निश्चित किया है। जबकि इसके विपरीत –

ग्रिफिथ ने इस मनोरूहाणा पद का अर्थ ''साहस ग्रहण करते हुए'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने मनोहरूहाणा पद का अर्थ ''मनुष्य की रक्षा हेतु प्रवाहित होते हुए'' सुनिश्चित किया है।

नीचावयाः –

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३२वे सूक्त के इन्द्र सूक्त के ९वे मन्त्रस्थ नीचावया पद का सभी व्याख्याकारो ने भिन्न–भिन्न अर्थ किया है।

सायणाचार्य वयस् का अर्थ ''बाहु'' करते है, क्योकि मनुष्य उनसे अपने मुख मे भोजन डालता है, वेति खादतीति वयो बाहु । इस प्रकार नीचावया का अर्थ ''नीचौ (निकृष्टौ) वयसौ यस्या. सा अर्थात् हाथो को नीचे कर लिया है जिसने'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने नीचावया पद का अर्थ ''निकृष्ट आयु को प्राप्त हुई'' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार पीटर्सन वयस् पद का अर्थ ''शक्ति, प्राणवत्ता'' मानकर अर्थ करते हैं –''वृत्र की माता की समाप्त होती हुई प्राणशक्ति।'' जबकि

ग्रिफिथ ने "of humbled strength" अर्थ निश्चित किया है।

काष्ठानाम् –

सायणाचार्य ने काष्ठानाम् पद का अर्थ ''शुभ्र चमचमाता हुआ जलप्रवाह या जलराशि के मध्य'' निश्चित किया है। जबकि

क्षीरस्वामी के अनुसार इस पद के "a direction, a certain measure of time, preeminence, boundary" आदि अनेक अर्थ है।

नीचावया – ऋग्वेद १/३२/९

काष्ठानाम् – ऋ० १/३२/१०

दयानन्द सरस्वती ने काष्ठानाम् पद का अर्थ–"सब दिशाओ के बीच" निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने काष्ठ शब्द को अनेक पदार्थो का वाचक माना है– "काष्ठा दिशो भवन्ति, काष्ठा उपदिशो भवन्ति, आदित्योऽपि काष्ठोच्यते। आज्यतोऽपि काष्ठोच्यते। आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। आदि अनेक अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **ग्रिफिथ** के अनुसार काष्ठा का अर्थ "जलप्रवाह", "current" है। जबकि

पीटर्सन के अनुसार काष्ठा का अर्थ "नदी की धारा, लहर" आदि निश्चित किया गया है। जबकि इसके विपरीत–

पराञ्जपे के अनुसार काष्ठा का मूल अर्थ "घुडदौड का मैदान था, जिसमे काष्ठ का विजयस्तम्भ रहता था। इस पर आधृत होकर किसी मार्ग, किसी सरणि को काष्ठा कहा जाने लगा। नदी का धारा–प्रवाह के रूप मे एक सरणि या मार्ग है।" जबकि

मोनियरविलियम्स ने दौडने के लिये स्थान, घुडदौड का मैदान, वायु का बहाव, अन्तरिक्ष मे बादल आदि अनेक अर्थ गृहण किये है।

अनुवर्त्ती सस्कृत मे काष्ठा के 'दिक्' एक कालमान (२क्षण =१लव, २लव = १निमेष, १६निमेष = १काष्ठा), उत्कर्ष और स्थिति अर्थ होते हैं।

सायण ने इस मन्त्र मे इसका अन्वय अतिष्ठन्तीनाम् तथा अतिनिवेशनाना पदो के साथ किया है।

निण्यम् –

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३२वे सूक्त के १०वे मन्त्रस्थ निण्यम् पद के अर्थ के सम्बन्ध मे विभिन्न व्याख्याकारो मे मतभेद है।

सायणाचार्य के अनुसार निण्यम् पद का "नितरां नमति अर्थात् अत्यन्त झुका हुआ, मुडा हुआ" यह अर्थ होगा। इसका अन्वय वृत्रस्य शरीरम् पदो के साथ किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने 'निण्यम्' पद का 'निश्चय करके स्थिर' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्क के अनुसार निण्य का अर्थ निर्णाम है– "निण्य निर्णामम्"। जबकि निरूक्त के भाष्यकार–

दुर्ग ने निर्णाम का अर्थ "वह प्रदेश या स्थान जो निचली तरफ झुकता हो"– "निण्य निर्णाम, येनासौ नीचैर्नमति त प्रदेशम्" निश्चित किया है।

सायणाचार्य ने निण्यम् पद का अर्थ "नितरां नमति के अतिरिक्त "निर्नामधेयम् अर्थात् नामरहित" भी किया है, जो अधिक प्रामाणिक है।

निर्णाम् पद **शतपथ ब्राह्मण** मे भी प्रयुक्त हुआ है–निणामौ पक्षयोः करोति। निर्णामौ हि वयसः पक्षयोर्भवतः। तस्मिन् निर्णामे एकामिष्टकामुपदधाति, येयं वयसः पततो निर्णामेत्।"

निण्यम् – ऋग्वेद १/३२/१०

बौधायन श्रौत सूत्र मे आये निर्णाम पद का अर्थ "झुका हुआ, मुडा हुआ" प्रयुक्त है।

पाश्चात्य व्याख्याकार **ग्रासमैन** ने निण्यम् पद का "गुप्त स्थान" अर्थ कर इस सन्दर्भ का अर्थ करते हैं– "वृत्र से दूर"। जबकि

गैल्डनर निण्यम् पद का अर्थ "गुह्य भाग" मानते है। जबकि

पीटर्सन निण्यम् पद का अर्थ "वृत्र का गुह्य स्थान" निश्चित करते है। जबकि

लैनमैन के अनुसार इस पद का अर्थ "आन्तर छिपा हुआ, गुप्त है, यहाँ पर छिपा हुआ है" आदि।

मेयर हाफर ने भी लैनमैन के ही अर्थ "विनिश्चय" को स्वीकार किया है।

इस प्रकार यदि निरूक्तकार का "निर्णाम" अर्थ उचित है तो शतपथ ब्राह्मण और बौधायन श्रौत सूत्र मे निर्णाम शब्द के अर्थ यह सिद्ध करते है, कि निण्य का अर्थ झुका हुआ, मुडा हुआ, करना उचित है।

स्पष्ट है कि वृत्र का शरीर, इन्द्र के वज्र–प्रहार से झुक गया होगा, मुड गया होगा और भूमि पर औधा पड गया होगा।

दासपत्नीः –

३२वे सूक्त के ११ वे मन्त्रस्थ इस पद का सायण ने" दासो विश्वोपक्षयहेतुर्वृत्र पति स्वामी नासामपा ता दासवत्नी, अर्थात् दास का अर्थ है "असुर राक्षस, समाज के हित का विनाशक, कर्म का समापक। दासपत्नी का अर्थ हुआ "सम्पूर्ण विश्व का उपक्षय करने वाले पति की पत्नी।" जबकि

दयानन्द सरस्वती ने दासपत्नी पद का अर्थ "अति बल देने वाला मेघ"निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य के अनुसार दासपत्नी पद का अर्थ "दासो दस्यते. उपदासयति कर्माणि" निश्चित किया गया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **मेयर हाफर** ने इस पद का "असुर, राक्षस बर्बर, परिचायक" आदि अर्थ किया है। जबकि

रॉथ महोदय ने दासपत्नी पद का अर्थ "राक्षसो की सन्तान" निश्चित किया है।

वास्तव मे दास, दस्यु शब्द ऋग्वेद मे आर्यो के समस्त शत्रुओ–असुर तथा मानव के निमित्त प्रयुक्त हुए है। इस प्रकार दास–दस्यु पद से सायण आदि व्याख्याकारो का अभिमत अनार्य जातियो की ओर सङ्केत करता है। ग्रासमैन भी इसी मत से सहमत है।

कतिपय विद्वान् दास–दस्यु पद को आर्यो का अनार्य शत्रु मानते हैं।

पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार दास–दस्यु का अर्थ 'असुर' स्वीकारना ही युक्तिपूर्ण एवं मान्य है।

पणिना इव –

सायणाचार्य ने पणिना का अर्थ "पणिनामकोऽसुरो अर्थात् पणिनामक असुर" किया है। जबकि

दासपत्नी – ऋग्वेद १/३२/११

पणिना इव – ऋ० १/३२/११

दयानन्द सरस्वती ने पणिनेव पद का अर्थ–"गाय आदि पशुओ के पालने और यथायोग्य स्थानो मे रोकने वाले के समान" निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने पणि का अर्थ "वणिक्" निश्चित किया है –"पणिर्वणिग् भवति। पणि पणनात् ।" आदि अर्थ किया है। जबकि

मेयर हाफर– ने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है इनके अनुसार "विद्वेषी असुरो की जमात का नाम पणि है।" पणि के स्वामी को भी पणि कहते हैं।

आधुनिक लोग पणि का अर्थ "लोभी, कृपाण, मक्खीचूस" आदि करते है।

यातारम् –

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ३२वे सूक्त के १४वे मन्त्रस्थ यातारम् पद के अर्थ के सम्बन्ध मे विभिन्नता है।

सायणाचार्य ने यातारम् पद का अर्थ "हन्तारम्" अर्थात् "मारने वाले को" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने यातारम् पद का अर्थ "देश–देशान्तर मे पहुँचाने वाले सूर्य को" निश्चित अर्थ किया है। जबकि

पाश्चात्य विद्वान् **विल्सन** ने यातारम् पद का अर्थ "विनाशक" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का अर्थ "प्रतिशोधी" निश्चित किया है। जबकि

रॉथ और **पीटर्सन** ने यातारम् पद का अर्थ "बदला लेने वाला" निश्चित किया है। इसके विपरीत–

पराञ्जपे ने यातारम् पद का अर्थ "अनुयायी तथा अनुगामी" निश्चित किया है।

इस प्रकार यातारम् पद के अर्थो मे कही–कही पर विद्वानो के मत मे कुछ हद तक समानता होते हुए भी पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है।

श्येनः –

सायणाचार्य ने श्येन पद का अर्थ "श्येन नामको बलवान् पक्षी" किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने श्येन पद का अर्थ "बाज" किया है। जबकि

यास्क के अनुसार–"श्येन शसनीय गच्छति। श्येन श्यायतेर्गतिकर्मण ।" श्येन अत्यन्त गतिशील पक्षी है। जबकि

पराञ्जपे श्येन शब्द का सम्बन्ध श्येत, गुलाबी, श्वेत से स्थापित करते हैं। जबकि

ऋग्वेद संहिता के अनुसार–श्येन खगराज है– "श्येनो गृध्राणाम्"।

ग्रासमैन के अनुसार श्येन 'बाज" या "गृध्र" है।

यातारम् – ऋग्वेद १/३२/१४

श्येन – ऋ० १/३२/१४

प्रथमम् –

यह पद क्रिया विशेषण है। **सायणाचार्य** ने प्रथमम् पद का अन्वय स्वस्तये अग्नि ह्यामि पदो के साथ किया है।

सायणाचार्य ने प्रथमम् पद का अर्थ 'आदौ' अर्थात् 'आदि मे या प्रारम्भ मे' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने प्रथमम् पद का अर्थ 'अग्रेऽक्रिया विशेषण' 'प्रथमशब्द' निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने प्रथमम् पद का अर्थ 'प्रथममुख्यम्' निश्चित किया है।

प्रथमम् पद 'अग्निम्' पद के विशेषण के रूप मे भी स्वीकार किया गया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने प्रथमम् पद का अर्थ 'आदि साधन अर्थात् शरीर धारण के आदि साधन (अग्नि)' निश्चित किया है।

निवेशनीम् –

सायणाचार्य ने निवेशनीम् पद का अन्वय जगतोनिवेशनी रात्रीं ह्यामि पदो के साथ किया है। **सायण** ने निवेशनीम् पद का अर्थ 'उनिवेशनहेतुभूताम्' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने निवेशनीम् पद का अर्थ 'स्वापकरीम्' निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने निवेशनीम् पद का 'निवेशयित्रीम्' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने निवेशनीम् पद का अर्थ 'निन्द्रा में निवेश कराने वाली' निश्चित किया है।

कृष्णेन रजसा –

सायणाचार्य ने कृष्णने रजसा पदो का अन्वय आवर्तमान· पद के साथ किया है। सायण ने इस पद का अर्थ 'कृष्णवर्णेन लोकेन' निश्चित किया है। सायणाचार्य के अनुसार– अन्तरिक्षलोको हि सूर्यागमनात् पुरा कृष्णवर्णो भवति। जबकि

स्कन्दस्वामी ने कृष्णेन रजसा पदो का अर्थ 'तमसा रात्र्या वा व्याप्ते जगति। रजोऽत्र तमोरात्रिर्वोच्यते।' निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने कृष्णेन रजसा पदो का अर्थ 'कृष्णवर्णेन रजसा द्युलोकेन' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने कृष्णेन रजसा पदों का अर्थ 'कृष्णं कृष्यतेऽनिकृष्टो वर्ण। लोका रजास्युच्यन्ते।' निश्चित किया है। जबकि

प्रथमम्	–	ऋग्वेद	१/३५/१
निवेशनीम्	–	ऋ०	१/३५/१
कृष्णेन रजसा	–	ऋ०	१/३५/२

दयानन्द सरस्वती ने कृष्णेन रजसा पदो का 'अपनी आकर्षण शक्ति से सब सूर्यादि लोको के साथ व्यापक' यह अर्थ निश्चित किया है।

यहाँ पर दयानन्द सरस्वती जी ने अन्य व्याख्याकारो की अपेक्षा शाब्दिक अर्थ न लेकर भावात्मक अर्थ लिया है।

हिरण्ययेन –

सायणाचार्य के अनुसार वास्तविक शब्द 'हिरण्यमय' है, परन्तु मकार का लोप होने से सायण ने हिरण्येन पद को मध्यमाक्षर लोपी शब्द माना है। ऋक् सहिता मे हिरण्य पद अप्रयुक्त है। 'हिरण्यय' एव 'हिरण्यमय' ये दो शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। हिरण्य अपेक्षाकृत प्राचीन रूप प्रतीत होता है।

सायण ने हिरण्ययेन पद का अन्वय रथेन पद के साथ किया है। सायणाचार्य ने 'हिरण्येन' पद का अर्थ– 'सुवर्णनिर्मित' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने हिरण्य पद का अर्थ अपनी निर्वचन–शैली मे विस्तार पूर्वक एव सतर्क प्रस्तुतिकरण इस प्रकार किया है –

१. ह्रियत आयम्यमानमिति वा, अर्थात् हिरण्य (स्वर्ण) तार या पत्र के रूप मे लम्बा करते हुए खीचा जाता है अथवा सुनार या स्वर्णकारो के द्वारा चुरा लिया जाता है, हरण कर लिया जाता है, इसलिए स्वर्ण को हिरण्य कहते है।

२. ह्रियते जनाज्जनमिति वा, अथवा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास ले जाया जाता है अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाता रहता है या हरण किया जाता है, इसलिए इसे हिरण्य कहते हैं।

३. हित–रमण भवतीति वा, अथवा यह हिरण्य सङ्कट के समय मे औषधि के रूप मे मनुष्यो का हितकारक है तथा मनुष्यो के मन को रमाने वाला होता है, अर्थात् इसको धारण करने से शरीर सुन्दर लगने लगता है, सौन्दर्य मे वृद्धि हो जाती है।

४. हृदय–रमण भवतीति वा, अथवा यह हृदय को अच्छा लगता है मन को रमाने वाला होता है। इसलिए हिरण्य कहते हैं।

५. हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा–कर्मण – चूँकि प्रत्येक व्यक्ति की हिरण्य को इच्छा रहती है अर्थात् स्वर्ण प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा चाहा जाता है तथा प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त करने की कामना करता है इसीलिए स्वर्ण को हिरण्य कहते है।

इस प्रकार यास्काचार्य ने हिरण्य पद का बहुत विस्तृत अर्थो मे निर्वचन प्रस्तुत किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सायण एव यास्क की भॉति हिरण्ययेन पद का विस्तृत शब्दिक अर्थ न लेकर अपनी भावात्मक शैली मे वर्ण एवं गुण के आधार पर हिरण्ययेन पद का अर्थ प्रकाशस्वरूप निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने हिरण्ययेन पद का अर्थ "Golden" अर्थात् (सुनहरा) निश्चित किया है।

हिरण्ययेन – ऋग्वेद १/३५/२

प्रवता –

सायणाचार्य ने प्रवता पद का अन्वय "देव" तथा 'याति' पदो के साथ किया है। सायणाचार्य ने प्रवता पद का अर्थ 'प्रवणवता मार्गेण' निश्चित किया है। जिसका अर्थ है – प्रवणशील, निम्नाभिमुख। जबकि

स्कन्दस्वामी ने 'प्रवता' पद का अर्थ 'शीघ्रयायिना' निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव तथा **दयानन्द सरस्वती** ने सायणाचार्य द्वारा निश्चित किए गए अर्थो का अनुकरण करते हुए ही अर्थ निश्चित किया है।

वेड्कटमाधव ने प्रवता का अर्थ 'प्रवणेन मार्गेण' निश्चित किया है।

दयानन्द जी ने 'प्रवता' पद का अर्थ 'नीचे या निम्न मार्ग से' निश्चित किया है।

उद्वता –

सायणाचार्य ने उद्वता पद का अन्वय भी 'याति' पद के साथ किया है। इन्होने उद्वता पद का अर्थ "उत्कृष्ट देशयुक्तेन मार्गेण अर्थात् उद्वण, चढावदार, उर्ध्वाभिमुख मार्ग से" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने उद्वता पद का अर्थ 'उर्ध्वगामिना' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने भी सायणाचार्य का अनुकरण करते हुए उद्वता पद का अर्थ 'उर्ध्व मार्ग से' ही निश्चित किया है।

हिरण्यशम्यम् –

हिरण्यशम्यम् पद का अन्वय सायणाचार्य ने यजत सविता कृशनै अभीवृतं विश्वरूप वृहन्त रथ पदो के साथ किया है। हिरण्यशम्यम् पद वस्तुत रथम् पद का विशेषण है।

सायणाचार्य ने हिरण्यशम्यम् पद का अर्थ 'स्वर्णिम शम्या अर्थात् स्वर्णिम कील वाले' निश्चित किया है। सायण के अनुसार घोडो को जोतने के लिए उनके कन्धो पर रखी जाने वाली कील शम्या है। 'शम्या' शब्द वस्तुत कील सामान्य का वाचक है। यह रथ में अनेक स्थानो पर उसके दो अड्गों को जोड़ने के लिए प्रयुक्त होती है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने हिरण्यशम्यम् पद का – 'जिसमे सुवर्ण अथवा ज्योति शान्त करने योग्य हो' यह अर्थ निश्चित किया है।

प्रवता	–	ऋग्वेद	१/३५/३
उद्वता	–	ऋ०	१/३५/३
हिरण्यशम्यम्	–	ऋ०	१/३५/४

इस प्रकार हम कह सकते है कि यहाँ पर सायण ने हिरण्यशम्यम् पद का परम्परा प्राप्त अर्थ ग्रहण किया है, जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने परम्परागत परिपाटी से हट कर हिरण्यशम्यम् पद का स्वनिर्मित शाब्दिक अर्थ ग्रहण किया है, जिसके परिणाम स्वरूप दोनो ही व्याख्याकारो की व्याख्या तथा अर्थ–विनिश्चय–प्रणाली मे पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **विल्सन** के अनुसार हिरण्यशम्यम् पद का अर्थ 'Furnished with golden yokes' निश्चित किया गया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ 'With golden pole' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ 'With golden pins' निश्चित किया है।

चित्राभानुः –

सायणाचार्य ने चित्राभानु पद को सविता पद का विशेषण माना है। सायण ने चित्राभानु पद का अर्थ 'विविधरश्मियुक्त' अर्थात् 'विचित्र रश्मियो वाला'–'चित्रा भानव यस्य स' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने चित्राभानु. पद का अर्थ 'चित्र विचित्र दीप्ति युक्त' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन और **ग्रिफिथ** ने– 'Many rayed' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने चित्राभानु पद का अर्थ 'brightly lustrous' निश्चित किया है।

श्यावाः –

सायणाचार्य ने श्यावा पद का अर्थ 'श्यावा नामक अश्व' निश्चित किया है।

यास्काचार्य ने श्यावा पद का श्यावा एतन्नामका. सूर्याश्वा·। श्यावा· सवितु., अर्थात् 'श्यावा' सज्ञक सविता के अश्व' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने श्यावा· पद का अर्थ बिल्कुल विपरीत किया है। इनके अनुसार श्यावा का अर्थ– 'प्राप्त होने वाली किरण' निश्चित किया गया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का 'dusky steeds' अर्थ सुनिश्चित किया है।

चित्राभानु – ऋग्वेद १/३५/४

श्यावा. – ऋ० १/३५/५

उपस्थे –

सायणाचार्य ने उपस्थे पद का अन्वय सवितु देवस्य पदो के साथ किया है। इन्होने इसका अर्थ 'अङ्क मे' एव ''समीपस्थाने'' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने 'बहवो मनुष्या सर्वाणि भूतानि सवितारमुपतिष्ठन्ते' व्याख्यान किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सायणाचार्य के विपरीत उपस्थे पद का भावात्मक अर्थ लेते हुए – 'आकर्षण–शक्ति मे' तथा 'समीप मे रहते है' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने उपस्थे पद का अर्थ "In the proximity" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "adjacent" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "laps" ''समीपस्थ या समीपवर्ती'' अर्थ निश्चित किया है।

विराषाट् –

सायणाचार्य ने विराषाट् पद का अर्थ 'विरान् गन्तृन् सहते। प्रेता पुरूषा अन्तरिक्ष मार्गेण यमलोके गच्छन्तीत्यर्थ ' अर्थात् ''सर्वदमनकारी'' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने 'विराषाट्' पद का अर्थ 'विविधं दीप्ता' निश्चित किया है। यहॉ सायण तथा स्कन्द दोनो ही व्याख्याकारो के अर्थ विनिश्चय में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने विराषाट् पद का 'शूरवीर ज्ञानवान् प्राप्ति स्वभाव वाले जीवो को सहने वाली विद्युत् रूप दीप्ति' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **मैक्डानल** के अनुसार विराषाट् पद का अर्थ 'Over coming men' निश्चित किया गया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ 'The home of heroes' निश्चित किया है।

सुपर्णः –

यास्काचार्य ने सुपर्ण पद का निर्वचन सुपर्ण शोभनपतन· सूर्यस्य रश्मि । सुपर्णा इति पञ्चदशरश्मि नामानि', सुनिश्चित किया है।

सायणाचार्य ने सुपर्ण पद को सूर्य· पद का विशेषण माना है। सायण ने सुपर्ण पद का अर्थ यास्क के निर्वचन का अनुकरण करते हुए ही किया है।

उपस्थे – ऋग्वेद १/३५/५
विराषाट् – ऋ० १/३५/६
सुपर्ण – ऋ० १/३५/७

सायण ने सुपर्ण पद का अर्थ 'शोभनपतन सूर्यस्य रश्मि', 'शोभनपर्णौ यस्य स सुपर्ण' निश्चित किया है। इस प्रकार सायणाचार्य ने शब्दो के अर्थ निर्धारण मे परम्परागत शैली तथा अर्थो को आधार मान कर ही उनका अर्थ विनिश्चय एव व्याख्या प्रस्तुत की है यह बात इस शब्द के अर्थ निर्धारण को पढने पर ज्ञात होती है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने सुपर्ण पद का अर्थ 'सुपतन सुगमन' सुपर्णवान् रश्मिवान् अथवा सुर्पण इति रश्मि नाम' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सुपर्ण पद का अर्थ 'उत्तम पतन स्वभाव की किरण से युक्त सूर्य' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "The sun" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ 'bird' सुनिश्चित किया है।

गभीरवेपाः –

सायणाचार्य ने गम्भीरवेपा पद को सूर्य का विशेषण माना है। सायण ने गम्भीरवेपा. का अर्थ – गम्भीरवेपा गभीरकम्पन रश्मे प्रकम्पन चलनं केनापि द्रष्टुमशक्यमित्यर्थ अर्थात् सायण ने गभीरवेपा पद का अर्थ 'गम्भीर कम्पन वाला'–'गभीर वेपो यस्य स' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने गभीरवेपा पद का 'गभीर दुरवगाहम् वेप इति कर्म नाम गभीरकर्मा' यह अर्थ निश्चित किया है, जबकि

दयानन्द सरस्वती ने गभीरवेपा पद का भावात्मक एव व्यवहारिक अर्थ ग्रहण करते हुए – 'जिसका कम्पन गम्भीर अर्थात् सूक्ष्म होने से साधारण पुरूषो के मन मे नहीं बैठता' यह अर्थ निश्चित किया है। दयानन्द जी ने सायण, स्कन्द एव यास्क आदि की भॉति शब्दो (पदो) के यौगिक (शाब्दिक) अर्थ पर अधिक बल न देकर रूढ अर्थ पर अधिक बल दिया है साथ ही अन्य व्याख्याकारो की अल्प शब्दो मे प्रयुक्त सक्षिप्त, सारगर्भित अर्थ विनिश्चयात्मक प्रणाली को न अपनाकर वृहत् शब्दो मे विस्तृत व्याख्यात्मक अर्थ विनिश्चय की प्रणाली को अपनाया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "of deep inspiration" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन और **ग्रिफिथ** ने सायण के अर्थो को ही स्वीकार क्रिया है। विल्सन और ग्रिफिथ ने गभीरवेपा पद का "Deep-quivering" अर्थ किया है।

गभीरवेपा – ऋग्वेद १/३५/७

सुनीथः –

सायणाचार्य ने सुनीथ पद को भी सूर्य का विशेषण माना है। सायण ने सुनीथ पद का अर्थ 'सुनीथ सुनयन शोभनप्रापण' अर्थात् 'सुन्दर नेतृत्व वाला'– शौभन नीथ नेतृत्व यस्य स निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने सुनीथ पद का अर्थ 'कल्याणस्तुति'– शौभना नीथा स्तुति यस्य स निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव एव **स्कन्दस्वामी** ने सुनीथ पद का अर्थ 'प्रशस्य' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सुनीथ पद का अर्थ 'उत्तम प्रकार से पदार्थो की प्राप्ति कराने वाला' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **विल्सन** ने सुनीथ पद का अर्थ 'Well directed' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ 'The gentle leader' सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का 'of good guidance' अर्थ विनिश्चित किया है।

त्री धन्व –

सायणाचार्य ने 'त्री धन्व' पदो का अन्वय पृथिव्या अष्टौ ककुभ योजना आदि पदो के साथ किया है।

सायणाचार्य ने त्री धन्व पदो का अर्थ 'धन्व अन्तरिक्षोपलक्षितान् त्री त्रिसख्यकान् पृथिव्यादि लोकान्' अर्थात् 'तीन लोको को' निश्चित किया है। सायण योजना पद को त्री धन्व का विशेषण मानते हैं।

स्कन्दस्वामी ने त्री धन्व पदो का अर्थ 'साहचर्यादि वा त्रयो लोकास्त्रीणि धन्वान्युच्यन्ते' निश्चित किया है। जबकि

उव्वट और **महीधर** ने "धन्व इत्यन्तरिक्षनाम। त्रीन् लोकान्" अर्थ किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **मैक्डानल** ने धन्व त्री योजना यह अन्वय करते हुए 'तीन योजन विस्तृत मरुस्थल–प्रदेश' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'त्री धन्व' का अर्थ तीन भूमि अन्तरिक्ष और प्रकाश के अर्थात् ऊपर नीचे और मध्य मे ठहरने वाले प्राप्त होने योग्य' निश्चित किया है।

यातुधानान् –

सायणाचार्य ने यातुधानान् पद का अन्वय रक्षस. अपसेधन् आदि पदों के साथ किया है।

सुनीथ	–	ऋग्वेद	१/३५/७
त्री धन्व	–	ऋ०	१/३५/८
यातुधानान्	–	ऋ०	१/३५/१०

विल्सन ने इस पद का "Unobstructed progress" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Unhindered in their course" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अर्किणम् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "अर्चनोपेतम्" अर्थात् "पूजा करने योग्य" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "tuneful" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वामेन –

सायणचार्य ने इस पद का अर्थ "धनेन" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Prosperity" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "good luck" अर्थ निश्चित किया है।

द्युम्नेन –

सायणाचार्य ने द्युम्नेन पद का अन्वय विभावरि बृहता (द्युम्नेन) पदो के साथ किया है।

सायण ने द्युम्नेन पद का अर्थ 'अन्नेन' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने द्युम्नेन पद का अर्थ 'द्युम्न धोततेर्यशो वान्न वा' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने द्युम्नेन पद का अर्थ "न्यायप्रकाश से युक्त" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **ग्रिफिथ** ने 'द्युम्नेन' पद का अर्थ **"glory"** निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने द्युम्नेन पद का अर्थ 'Lustre' निश्चित किया है।

विश्वसुविदः –

सायणाचार्य ने विश्वसुविद पद का अन्वय अश्वावती गोमती पदो के साथ किया है।

सायण ने विश्वसुविद पद का अर्थ "कृत्स्नस्य धनस्य सुष्ठु लम्भयित्र्य." अर्थात् 'सभी प्रकार के सुन्दर धन देने वाली' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सायण के विपरीत विश्वसुविद. पद का अर्थ 'सब वस्तुओ को अच्छी प्रकार से जानने वाली' निश्चित किया है। जबकि

अर्किणम्	–	ऋग्वेद	१/३८/१५
वामेन	–	ऋ०	१/४८/१
द्युम्नेन	–	ऋ०	१/४८/१
विश्वसुविद	–	ऋ०	१/४८/२

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ 'Boon-givers of all wealth' निश्चित किया है।

ब्लमूफील्ड और **गैल्डनर** ने 'by haplology' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का 'excellent obtainers of every blessing' अर्थ सुनिश्चित किया है।

दध्रिरे –

सायणाचार्य ने दध्रिरे पद का अन्वय अस्या उषस आचरणेषु आदि पदों के साथ किया है।

सायण ने दध्रिरे पद का अर्थ धृता सज्जीकृता भवन्ति तेषा रथानामिति पूर्वत्रान्वय अर्थात् 'तैयार हो जाते है' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने 'दध्रिरे' पद का अर्थ 'प्रीति को धरते है वे पुरूष अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते है' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **विल्सन** ने दध्रिरे पद का 'harnessed' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने दध्रिरे पद का अर्थ 'Fixed their thought on her' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने द्रध्रिरे पद का अर्थ 'Are held in readiness' निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने 'दध्रिरे' पद का अर्थ 'Follow their path' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'दध्रिरे' पद का अर्थ 'Are restrained or regulated' निश्चित किया है।

श्रवस्यवः –

सायणाचार्य ने श्रवस्यव पद का अन्वय अस्या. उषा आचरणेषु ये दध्रिरे आदि पदो के साथ करते हुए श्रवस्यव पद का अर्थ 'धनकामा' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने श्रवस्यव पद का अर्थ– 'विद्या को सुनने वाले विद्वान् लोग' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने श्रवस्यव पद का अर्थ "glory seekers" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने श्रवस्यव पद का अर्थ "Seeking glory" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने श्रवस्यव पद का अर्थ "Racers or racing" निश्चित किया है।

जरयन्ती –

सायणाचार्य ने 'जरयन्ती' पद का अन्वय उषाः प्रभुञ्जती आ घ सूनरी योषेव वृजन आदि पदों के साथ करते हुए जरयन्ती पद का अर्थ 'जरा प्रापयन्ती। असकृदुषस्यावृत्ताया वयोहान्या प्राणिनो जीर्णा भवन्ति' निश्चित किया है। जबकि

दध्रिरे – ऋग्वेद १/४८/३

श्रवस्यव – ऋ० १/४८/३

जरयन्ती – ऋ० १/४८/५

दयानन्द सरस्वती ने जरयन्ती पद का अर्थ 'जीर्णावस्था को प्राप्त करती हुई' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए 'Conducting to decay' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ 'Rousing' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का 'Waking to activity' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने जरयन्ती पद का 'Waking and decaying combined' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का 'Waking' अर्थ सुनिश्चित किया है।

वृजनम् –

सायणाचार्य ने वृजनम् पद का अर्थ 'गमनशील जङ्गम प्राणिजात' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने वृजनम् पद का अर्थ 'मार्ग को' निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "Strength or fulness of power" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "patron" or "a group of sacrificers" or "party" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का "society", "company", "comrades" अर्थ सुनिश्चित किया है।

या समनम् –

सायणाचार्य ने समनम् पद का अन्वय या पद के साथ करते हुए समनम् पद का अर्थ 'समीचीन चेष्टावन्त पुरूषम्' निश्चित किया है। इस प्रकार या समनम् पदो का अर्थ 'या देवता समन समीचीन चेष्टावन्त पुरूष वि सृजति प्रेरयति' निश्चित किया है, जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'समनम्' पद का अर्थ 'सुन्दर सङ्ग्राम को'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "diligent" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "Traffic" अर्थ निश्चित किया है। ज़बकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Busy" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने या समनम् पद का "Meeting" or "encounter" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वृजनम् – ऋग्वेद १/४८/५

या समनम् – ऋ० १/४८/६

व्यर्थिनः –

सायणाचार्य ने व्यर्थिन पद का अन्वय या पद के साथ करते हुए व्यार्थिन पद का अर्थ 'याचकान् निश्चित किया है। इस प्रकार या पद का अध्याहार करने पर या उषा अर्थिन याचकान् वि सृजति यह अर्थ होगा। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अर्थिन पद का अर्थ 'प्रशस्त अर्थ वाले का' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Clients" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का "day's work" अर्थ सुनिश्चित किया है।

पदं न वेति ओदती –

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ ओदती 'उनत्ति सर्व नीहारेण इति ओदती उषादेवता पद स्थान न वेति न कामयते' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इन पदो का अर्थ 'ओदती–आद्रता को करती हुई उषा' 'पद न– प्राप्ति के योग्य के समान' वेति–व्याप्त होती है। यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Shedder of dews knows not delay" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Delays she knows not as she springs" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "She follows the footsteps (of the sun) as it were of eagerness" अर्थ सुनिश्चित किया है।

दिविष्टिषु –

सायणाचार्य ने दिविष्टिषु पद का अन्वय भूरि सौभग अस्मभ्यम् आवहन्ती व्युच्छन्ती आदि पदो के साथ करते हुए दिविष्टिषु पद का अर्थ 'प्रति–दिन' 'दिवसेषु' निश्चित किया है, अर्थात् "हे आकाश की पुत्री उषा! हमारे लिए प्रचुर सौभाग्य लाती हुई प्रतिदिन प्रकाशित होती हुई (अपनी) चमकीली किरणों से सर्वत्र 'प्रकाश करो" यह अर्थ होगा। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'दिविष्टिषु' पद का अर्थ 'प्रकाशित कान्तियों मे' निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर और **गैल्डनर** ने इस पद का 'Daily sacrifice' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

व्यर्थिन – ऋग्वेद १/४८/६
पद न वेति ओदती – ऋ० १/४८/६
दिविष्टिषु – ऋ० १/४८/९

ग्रासमैन ने इसका "Wishing for heaven prayer" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Solemn rite" अर्थ निश्चित किया है।

वाजम् –

सायणाचार्य ने वाज पद का अन्वय उष (वाज) हि वस्व आदि पदो के साथ करते हुए वाज पद का अर्थ 'हविर्लक्षणमन्न' निश्चित करते हुए' 'हे उषा! इस हवि रूप अन्न को जो श्रुतियो मे प्रसिद्ध है, स्वीकार करो' अर्थ किया है। इस प्रकार सायणाचार्य ने "वाजम्" पद का "अन्न बल वा" अर्थ किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'वाजम्' पद का अर्थ 'ज्ञान अथवा अन्न को' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का 'Strength' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का 'Gifts' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का 'The prize of victory' अर्थ सुनिश्चित किया है।

गैल्डनर ने वाजम् पद का "पुरस्कार" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "लूट का माल", "विजयशील" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने इस पद का "पराक्रमशील" अर्थ ग्रहण किया है।

सुकृतः –

सायणाचार्य ने सुकृत पद का अन्वय तेन सुकृत अध्वरान् उप आ वह पदो के साथ करते हुए सुकृत पद का अर्थ 'सुष्ठु कृतवतो यजमानान्' निश्चित किया है।

इस प्रकार 'उसके (हविष्यान्न के) द्वारा सुन्दर कार्य करने वाले, यज्ञ करने वाले (दानियो) को जो तुम्हारी प्रशसा करते है यज्ञो मे लाओ', यह अर्थ होगा। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सुकृत पद का अर्थ 'उत्तम कार्य करने वाला' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन और **ग्रिफिथ** ने इस पद का "Pious" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Pious patron" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "The gods" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वाजम् – ऋग्वेद १/४८/११

सुकृत – ऋ० १/४८/११

रूशन्तः –

सायणाचार्य ने रूशन्त पद का अन्वय यस्या· अर्चय रूशन्त भद्रा प्रति अदृक्षत सा उषा न रयि ददातु आदि पदो के साथ करते हुए रूशन्त पद का अर्थ – 'शत्रून् हिसन्त·' निश्चित करते है।

इस प्रकार 'यस्या उषस अर्चय प्रकाश रूशन्त शत्रून् हिसन्त भद्रा कल्याणा प्रति अदृक्षत प्रतिदृश्यन्ते सा तथाभूता उषा न अस्मभ्य रयि धन ददातु' यह अर्थ होगा। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने रूशन्त पद का अर्थ –'चोर, डाकू', 'अन्धकारादि का नाश' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने रूशन्त पद का अर्थ "Bright" निश्चित किया है। जबकि

मैक्सूलर ने इस पद का "Red" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Shining" अर्थ सुनिश्चित किया है।

विश्ववारम् –

सायणाचार्य ने विश्ववारम् पद का अन्वय सा उषा न विश्ववार सुपेशस सुग्म्य रयि ददातु आदि पदो के साथ किया है। इस पद को सायण ने रयिम् पद का विशेषण माना है। सायण ने विश्ववारम् पद का अर्थ 'विश्वस्य वारकम्' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने विश्ववारम् पद का अर्थ–'सबको आच्छादन करने योग्य' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "Desirable" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "of-all good things" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन, ग्रासमैन, ओल्डेनबर्ग ने इस पद का अर्थ "consisting of all precious things" सुनिश्चित किया है।

सुपेशसम् –

सायणाचार्य ने सुपेशसम् पद को रयिम् पद का विशेषण मानते हुए सुपेशसम् का अर्थ– 'पेश इति रूपनाम शोभनरूपोपेतम्–सुन्दर रूप वाला' "Endowed with beautiful form". सुनिश्चित किया है।

रूशन्त – ऋग्वेद १/४८/१३
विश्ववारम् – ऋ० १/४८/१३
सुपेशसम् – ऋ० १/४८/१३

दयानन्द ने भी सायणानुसार सुपेशसम् का 'शोभनरूपयुक्त' अर्थ किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का अर्थ "Agreeable" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ इसका अर्थ "Fair in form" निश्चित करते हैं। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "of lovely appearance" सुनिश्चित किया है।

सुग्म्यम् –

सायणाचार्य ने सुग्म्यम् पद को भी रयिम् पद के विशेषण के रूप मे स्वीकार करते हुए सुग्म्यम पद का अर्थ 'सुष्ठु गन्तव्यम्' अर्थात् 'अच्छी तरह जाने योग्य' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सुग्म्यम् पद का अर्थ 'सुख को' निश्चित किया है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकार–

विल्सन ने इसका अर्थ "Easily attainable" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "of good augury for life's journey" निश्चित किया है।

अवृकम् –

सायणाचार्य ने अवृकम् पद का अर्थ 'हिसकरहितम्' स्वीकार किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अवृकम् पद का अर्थ 'हिसक प्राणियो से भिन्न' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "Secure" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "free from foes" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "harm proof" सुनिश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे अवृकम् पद 'बज्र' और 'चोर' के नामो मे गणित है। अवृकम् पद का अर्थ 'शत्रु और चोर के भय से रहित' निश्चित किया गया है।

इषः –

सायणाचार्य ने इष पद का अन्वय देवि! गोमती इष. नः प्रयच्छतात् अर्थात् हे देवी बहुत दुग्ध से युक्त अन्न प्रदान करो। इस प्रकार सायण ने इष पद का अर्थ 'अन्नानि' निश्चित किया है। जबकि

सुग्म्यम् – ऋग्वेद १/४८/१३
अवृकम् – ऋ० १/४८/१५
इष – ऋ० १/४८/१५

दयानन्द सरस्वती ने इष पद का अर्थ 'इच्छाओ को' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्कार **विल्सन** तथा **ग्रिफिथ** ने भी इष पद का अर्थ "Food" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "nourishment" सुनिश्चित किया है।

जनयो न सप्तयः –

इस मन्त्राश की व्याख्या के विषय मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है। **सायणाचार्य** ने 'जनय' और 'सप्तय' को पृथक–पृथक् रूप मे ग्रहण किया है तथा इसका अर्थ जनयो न– 'जाया इव'–"स्त्रियो की भॉति" तथा सप्तय– "सर्पणशील" सुनिश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने जनय और सप्तय पद को दो अलग–अलग उपमाओ के रूप मे ग्रहण करके "जाया इव, अश्वा इव" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इन पदो की कोई व्याख्या नही दी है। **विल्सन** एव **लुड्विग** ने सायण का अनुसरण किया है। जबकि

गैल्डनर ने 'जनय न' का अर्थ "स्त्रियो के समान' और सप्तय का अर्थ "सहगामी या सहकर्मी" किया है जो सम्भवत **मैक्समूलर** का अनुसरणमात्र है।

प्रो० रेनू ने भी इसी प्रकार "स्त्रियो के समान और अश्व समूहो के समान" अर्थ किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इस अश का विस्तारपूर्वक विचार करके यह निष्कर्ष दिया है कि यहॉ पर सप्तय का अर्थ 'अश्व' सम्भव नही है, क्योकि मरूतो का कभी भी केवल अश्व के रूप मे आह्वान नही किया गया है। अत. सप्तय यहॉ पर जनय के विशेषण के रूप मे है और "संयुक्त या सहगामी" अर्थ का द्योतक है। वेद मे √सप् धातु का अर्थ – अनुसरण करना, सेवा करना, पूजा करना आदि है। अत यहॉ पर 'जनय न सप्तय' 'सहगामिनी नारियो के समान –(जैसे मार्ग मे जाती हुई अनेक सहगामिनी स्त्रियॉ अपने को अलड्कृत करती है) भाव का द्योतक है।

सुदंससः –

निघण्टु मे 'दस' को कर्म का पर्याय माना गया है। जिसका अनुसरण सायण और वेड्कटमाधव ने किया है।

सायण ने सुदसस पद का "शोभनकर्माण" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "शोभनप्रकाश करणादि कर्मसम्बन्धया कीर्त्या हेतुभूतया, अतिशयवत्कर्मनिमित्त कीर्त्यमित्यर्थ अथवा दशशब्दो दर्शनवचन" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

जनयो न सप्तय – ऋग्वेद १/८५/१

सुदसस. – ऋ० १/८५/१

सायणाचार्य ने भी "शोभनदर्शनम्" अर्थ अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे किया है, जिसका अनुसरण **विल्सन** ने किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर ने इसका अर्थ "सुकर्मवाले" निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इसका अर्थ "शक्तिशाली" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेबर्ग ने इस पद का "आश्चर्यमयशक्तिवाले" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "आश्चर्यमय" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

प्रो० रेनु ने इस पद का "सुकर्मवाले" अर्थ विनिश्चित किया है।

दसस् की निष्पत्ति √दश् या √दस् धातु (नाश करना, काटना) से की जा सकती है, इसका साम्य अवेस्ता के दह्ह (कुशलता, चातुर्य) और ग्रीक "देनेआ" (निर्णय) से स्थापित किया जा सकता है, जिससे इस शब्द का अर्थ 'कुशल', 'कुशलकर्मा' आदि सम्भव हो सकता है।

विदथेषु –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ 'यज्ञ', 'गृह' तथा "स्तोत्र" निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर का कहना है कि 'विदथ' किसी 'धार्मिक कार्य' का नाम रहा होगा जो यज्ञ के पर्याय के रूप मे परिवर्तित हो गया। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने विदथ का अर्थ इस प्रकार किया है – इनका कहना है कि 'विदथ' शब्द 'विधान' का समानार्थक है। इसी 'विधान' या 'विहित' अर्थ के कारण 'विदथ' यज्ञ का पर्याय बन गया और साथ ही 'वितरण' आदि अर्थो का वाचक भी। ओल्डेनबर्ग की यह निष्पत्ति भी अधिक सहायक नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार **प्रो० थीमे** ने भी विदथ पद की निष्पत्ति की है। जबकि

प्रो० रेनू ने इसका अर्थ 'वाद–विवाद' या 'शब्द–युद्ध' अर्थ किया है जो लाक्षणिक रूप से यज्ञ के 'वाक्‌युद्ध' से सम्बन्धित किया जा सकता है।

√विद् धातु से निष्पत्ति के कारण √विद् धातु मे निहित सभी अर्थों–'आख्यान', 'लाभ', 'मीमांसा' या 'विचारणा', 'ज्ञान' आदि का समावेश होना, अथवा किसी एक विशिष्ट अर्थ का निहित होना आवश्यक है। किन्तु विदथ सम्बन्धी सन्दर्भो मे 'पूजा करना', 'सेवा करना' अर्थ जितना प्रबल प्रतीत होता है उतने लाभ, ज्ञान, आख्यान आदि अर्थ सङ्गत प्रतीत नहीं होते, यथा–'हिनोति यद्वां विदथे सपर्यन्' (अर्थात् जब वह पूजा करता हुआ तुम्हे 'विदथ' मे प्रसन्न करता है)– इस अंश मे 'सपर्यन्' के साथ विदथ किसी ऐसे स्थल का द्योतक है जो 'पूजा' से सम्बन्धित हो। अतः विदथ को √विध् धातु से निष्पन्न करना अधिक संभाव्य है। ध् का द् मे परिवर्तन होना भी सम्भव है।

विदथेषु – ऋग्वेद १/८५/१

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का "औषधियो के विज्ञान व्यवहार मे "अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने बुद्धिमत्ता, अध्यात्मज्ञान, पौरोहित्यज्ञान, विद्वत्सभा आदि विस्तृत अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का 'यज्ञ' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने इस पद का अर्थ "विद्वतापूर्ण बात" निश्चित किया है। जबकि

मैक्सूलर का कथन है कि विदथ किसी 'धार्मिक कार्य' का नाम रहा होगा जो यज्ञ के पर्याय के रूप मे परिवर्तित हो गया। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "देवपूजा" अर्थ निश्चित किया है।

ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा **गैल्डनर** ने विदथेषु का अर्थ "विद्वत् सभा" निश्चित किया है।

विरूक्मतः –

सायण ने इसकी व्याख्या 'विशिष्टा रूक् विरूक्' तद्वन्तो विरूक्मत', "विशेषेण रोचमानानलङ्कारान्" इस प्रकार की है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इसका अर्थ 'विशिष्टदीप्तिमत् सुवर्णमयकवच' किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "किरण" या "प्रकाश" किया है और विकल्प रूप मे "अलङ्कार" अर्थ दिया है। जबकि

मैक्समूलर के मत मे यहॉ पर विरूक्मत मरूतो के 'अस्त्र' का सूचक है, जिसे वे शरीर पर धारण करते है जैसा कि ऋग्वेद मे इन्द्र को 'विरूक्म के द्वारा 'शत्रुओ का हनन' करते हुए बताया गया है और सायण ने भी वहॉ इसका अर्थ 'विरोचमानेन वज्रेण' किया है। वस्तुत यह √रूच् धातु से निष्पन्न शब्द है जिसका अर्थ 'प्रकाशित होना' है। अत इसकी निष्पत्ति– वि + √रूच् + मत् (मतुप्) रूप मे होगी जिसका अर्थ 'विशिष्ट प्रकाशयुक्त' होगा।

सुमखासः –

निघण्टु मे इसे 'यज्ञ' का पर्याय माना गया है। जिसके आधार पर **वेड्कटमाधव** और **सायण** ने 'सुयज्ञा' या 'शोभनयज्ञा' व्याख्या की है। जबकि

मैक्डानल के इस अर्थ पर आपत्ति प्रकट की है और सदिग्ध रूप से "शक्तिशाली" अर्थ किया है। यही अर्थ इनके पूर्व व्याख्याकार **मैक्समूलर** ने भी किया है, जो **ग्रासमैन** द्वारा किए गए "सुशक्तिशाली" अर्थ के समान है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "उदार" निश्चित किया है।

विरूक्मत. – ऋग्वेद १/८५/३

सुमखास – ऋ० १/८५/४

ऋग्वेद मे जहाँ भी 'मख' शब्द आया है उससे यज्ञ का कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता। अत निघण्टु द्वारा दिया गया और व्याख्याकारो के द्वारा गृहीत 'यज्ञ' अर्थ ग्राह्य नही है। मरूतो के सन्दर्भ मे यदि इसका अर्थ 'महान् योद्धा या महान् गतिवाले' करे तो उचित होगा। 'मख' का मूल अर्थ 'गतिशील', 'योद्धा', 'महान् कर्म वाला' आदि रहा होगा, किन्तु कालचक्र मे इसे √मह् धातु से निष्पन्न मानने के कारण यह 'पूजास्थल' और फिर 'यज्ञ' के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा होगा, किन्तु ऋग्वेद मे यह अर्थ कही भी उपयुक्त नही प्रतीत होता। सायण ने अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे 'मख' का अर्थ 'महनीय' किया है।

वाजे –

सायण ने वाजे पद का अर्थ 'अन्ने निमित्तभूते सति' अर्थ किया है, जो निघण्टु के आधार पर है, जहाँ इसे अन्न का पर्याय माना गया है। किन्तु अन्यत्र इसे 'सङ्ग्राम' का पर्याय माना गया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने वाजे का अर्थ 'बले सति' किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने इस पद का 'संघर्ष' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का 'दौड' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने भी अन्यत्र वैकल्पिक व्याख्यानो मे इसका अर्थ 'युद्धम्' किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'अद्रिम्' (चट्टान, मेघ) का 'सघर्ष अर्थ ही परिलक्षित होता है जो मरूतो के साथ अधिक सम्भाव्य है। अत सघर्ष अर्थ ही सङ्गत होगा।

ऋजूयताम् –

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ८६वे सूक्त के द्वितीय मन्त्रस्थ ऋजूयताम् पद का विभिन्न व्याख्याकारो ने भिन्न–भिन्न अर्थ किया है।

सायणाचार्य के अनुसार "ऋजूयतामृजुमार्जवयुक्त सम्यग्नुष्ठातार यजमानमात्मन इच्छताम्" अर्थात् 'सरल हृदय यजमानो को अपना बनाने की इच्छा करने वाले" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ऋजूयताम् पद का अर्थ–"अपने को कोमल बनाना चाहते हुए" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर के अनुसार "ऋजु अवक्र यन्ति गच्छन्ति ऋजूयन्तस्तेषाम्" अर्थात् सरल भाव से गमन करने वाले अर्थ निश्चित किया गया है। जबकि

उव्वट के अनुसार "ऋजु प्रगुण यजमान कर्तुं ये कामयन्ते ते तेषाम्" अर्थात् 'यजमान को प्रकृष्ट गुणो से समन्वित करने की कामना करने वाले' अर्थ होगा।

वाजे – ऋग्वेद १/८५/५

ऋजूयताम् – ऋ० १/८६/२

देवानाम् अनीकम् –

स्कन्दस्वामी ने देव का अर्थ "रश्मि" करते हुए "देवाना रश्मीनाम् अनीक समूहम। रश्मिसमूहरूपमित्यर्थ" सुनिश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इन पदो का "देवाना संघ" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "दीव्यन्तीति देवा रश्मयस्तेषाम् देवजनानामेव वा अनीकं समूहरूपम्" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो ने अनीक शब्द को √अन् धातु "सॉस लेना" से व्युत्पन्न माना है और इसका अर्थ "मुख" किया है। जबकि

पीटर्सन ने इन पदो का "Face" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "Presence" अर्थ ग्रहण किया है।

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां
मर्यो न योषामभ्येतिपश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि
वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्।।

इस ऋचा के तृतीय तथा चतुर्थ पादो के व्याख्यान के विषय मे प्राचीन भारतीय तथा आधुनिक विद्वानो मे अनेक मतभेद है। इन पादो के अर्थ को सन्दिग्ध मान कर **पीटर्सन** ने इनका अनुवाद नहीं किया है। इस विषय मे विभिन्न मतो का सारांश इस प्रकार है।

यत्र –

वेङ्कटमाधव ने उषा काल के लिए इस अव्यय का प्रयोग मानते हुए, इसका व्याख्यान "यस्यामुषसि" किया है।

सायणाचार्य ने "यस्यामुषसि जातायाम्" निश्चित किया है। **गैल्डनर** भी इसी भारतीय मत का अनुसार करते हैं। इसके विपरीत

बैन्फी के मतानुसार 'यत्र' यजमान के गृह के लिए प्रयुक्त किया गया है। जहॉ इस सूक्त का गान किया जा रहा है। जबकि

रॉथ के मतानुसार, 'यत्र' सूर्य के गम्य स्थान, उच्चतम स्वर्ग के लिए प्रयुक्त किया गया है जहॉ पुण्यकर्म करने वाले लोग आनन्द का अनुभव करते हैं।

देवानाम् अनीकम् – ऋग्वेद १/११५/१

यत्र – ऋ० १/११५/२

लुड्विग तथा **ग्रिफिथ** भी यत्र को स्थान के लिए प्रयुक्त मानते हुए इसका अनुवाद "जहाँ" करते हैं। परन्तु प्रसङ्ग के अनुसार यत्र कालवाचक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

नरो देवयन्तो युगानि –

इन पदो के विभिन्न व्याख्यान किए गए हैं। **सायणाचार्य** ने तीन वैकल्पिक व्याख्यान सुझाये है– "देवयन्तो– देव द्योतमान सूर्य यष्टुमिच्छन्तो नरो– यज्ञस्य नेतारो यजमाना । युगानि–युग–शब्द कालवाची . तेन च तत्र कर्तव्यानि कर्माणि लक्ष्यन्ते यथा दर्शपूर्णमासाविति। अग्निहोत्रादीनि कर्माणि वितन्वते – विस्तार यन्ति।

यद्वा देवयन्तो – देवयागार्थ धनमात्मान इच्छन्तो यजमानपुरूषा युगानि–हलावयवभूतानि कर्षणाय वितन्वते– प्रसारयन्ति। तामुषसमनुगच्छतीत्यर्थ । एवविध भद्र–कल्याण सूर्य प्रति भद्राय–कल्याणरूपाय कर्मफलाय स्तुम इति शेष ।

यद्वा देवयन्त –देवकामा यजमाना युगानि–युग्मानि भूत्वा पत्नीभि सहिता सन्तो भद्र–कल्याणम् अग्निहोत्रादिक कर्म भद्राय–तत्फलार्थ प्रति–प्रत्येक यस्यामुषसि प्रवृत्ताया वितन्वते–विस्तारयन्ति।" जबकि

वेड्कटमाधव ने दो प्रकार से व्याख्यान किया है –"अग्निहोत्रादीनि कर्माणि। प्रतिवितन्वते। भद्र च। भद्राय कुर्वन्ति यद्वा कर्षणार्थ युगानि–युञ्जन्तीति।" जबकि

स्कन्दस्वामी ने केवल एक ही व्याख्यान किया है – "यत्र नर –मनुष्या देवयन्त–देवमिव सूर्य यष्टुमिच्छन्त । युगानि वितन्वते। युगशब्द कालवचन सामर्थ्याच्चाग्निहोत्रकालेषु वर्तते वितन्वते–वितत कुर्वन्ति। भद्राय तत्फलाय। भद्रम् अग्निहोत्रलक्षण कर्म। यदा स्वेषु कालेषु मनुष्या अग्निहोत्र जुह्वति तदा सूर्य उषस पश्चादभ्येतीति समस्तार्थ" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** युगानि को "जुए" (Yokes) के अर्थ में लेते हैं। पहले **रॉथ** ने भी युगानि का यही अर्थ किया था, परन्तु कालान्तर मे रॉथ ने इस पद्याश का जो अनुवाद किया वह **पीटर्सन** के शब्दो मे इस प्रकार है– "There where pious men add life to life, each new one happier than the one before" जबकि

बैन्फी, ग्रिफिथ तथा **लुड्विग** युगानि का व्याख्यान "पीढियॉ" (Generations) करते हैं। ऋग्वेद मे युग शब्द अनेक बार "पीढी" तथा "जुआ" इन दोनो अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद मे युगा या युगानि पद जहाँ पर "पीढी" (Generations) के अर्थ मे या "काल–विशेष" को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किय गया है वहाँ पर उसके साथ मानुषा, उत्तरा, पूर्वाणि इत्यादि विशेषणो का प्रयोग मिलता है। परन्तु जहाँ पर युगा पद "जुए" (Yokes) को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, वहाँ पर इसके साथ ऐसे किसी विशेषण का प्रयोग नहीं मिलता है, और इसके साथ वि + √तन् के रूप का प्रयोग मिलता है। इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए यहाँ पर युगानि को "जुए" के अर्थ मे लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

नरो देवयन्तो युगानि – ऋग्वेद १/११५/२

हरितः –

सायणाचार्य ने हरित पद का व्याख्यान "हर्तार"। यद्वा रसहरणशीला रश्मयो भद्रादिलक्षणविशिष्टा दिव पृष्ठ नभ स्थलमातिष्ठन्ति" किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "हरिन्नामधेया" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "हरितवर्णा सूर्यस्य स्वभूता" अर्थ किया है। अधिकतर आधुनिक विद्वान् स्कन्दस्वामी के व्याख्यान को स्वीकार करते हुए हरित का अर्थ "हरित (पीत) वर्ण वाले" निश्चित करते हैं। जबकि

ग्रासमैन ने "अग्नि या सुवर्ण के समान पीत वर्ण वाले" अर्थ सुनिश्चित किया है। कहीं–कही सायण भी हरित् का अर्थ "हरित वर्ण वाला" करते है।

एतग्वाः –

निघण्टु मे एतग्वा शब्द "अश्व" के नामो मे गिनाया गया है। परन्तु इसी पाद मे अश्व शब्द के प्रयोग के कारण एतग्वा को यहाँ पर 'क्रियापर' समझते हुए **स्कन्दस्वामी** ने इसका अर्थ "अतीतेष्वहस्सु मार्गस्य गन्तारइत्यर्थ" सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "अश्वा एतग्वा इत्येतदुभयमश्वनाम तत्रैक क्रियापर योजनीयम्। अश्वास्तुरगा व्याप्नशीला वा। यद्वा एत गन्तव्य मार्ग गन्तारोऽश्वा। एत शबलवर्ण नीलवर्ण वा प्राप्नुवन्तोऽश्वा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** एतग्व का अर्थ " शीघ्रगामी" करते है, परन्तु **गैल्डनर** ने इसका कोई अनुवाद नहीं किया है। जबकि

मोनियरविलियम्स ने इसका अर्थ "of variegated colour, Shining" निश्चित किया है।

अनुमाद्यासः –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "स्तुत्याम् अनुमोदनीया" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "मदतिरर्चतिकर्मा। अनुष्टुत्या" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "अनुक्रमेण सर्वै स्तुत्या मादनीया." अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन तथा **मोनियर-विलियम्स** इसका अर्थ "स्तुत्य" करते हैं। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** इस शब्द का अर्थ "मुदित करने योग्य" करते हैं। यही व्याख्यान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

हरित – ऋग्वेद १/११५/३

एतग्वा – ऋ० १/११५/३

अनुमाद्यास – ऋ० १/११५/३

नमस्यन्तः –

सायण ने इसका व्याख्यान "अस्माभिर्नमस्यमाना सन्त" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "पूज्यन्त सूर्यम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "प्रह्वीभवन्त" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **पीटर्सन** वेङ्कटमाधव के अनुसार इसका व्याख्यान" "झुकते हुए" करते हैं। जबकि

ग्रासमैन स्कन्दस्वामी के अनुसार इसका व्याख्यान "उपासना करते हुए" करते हैं। जबकि

सायणाचार्य ने अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे इसका अर्थ "नमस्करोपलक्षितमुपस्थान कुर्वन्त." किया है।

मध्या कर्तोः –

इन दोनो पदो का अर्थ "कर्म के मध्य मे" है। जबकि

यास्काचार्य ने इन दोनो पदो का "मध्ये यत्कर्मणा क्रियमाणानाम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी के मत में "कृष्यादेः कर्मण । अपरिसमाप्तेष्वेव प्रारब्धेषु कर्मस्वित्यर्थ" अर्थ होगा। इसी प्रकार

सायणाचार्य ने "प्रारब्धापरिसमाप्तस्य कृष्यादिलक्षणस्य कर्मणो मध्या मध्ये अपरिसमाप्ते एव तस्मिन् कर्मणि" अर्थ सुनिश्चित किया है। **रॉथ** तथा **ग्रासमैन** सायण के मत को स्वीकार करते है। जबकि

गैल्डनर तथा **पीटर्सन** का मत है कि "सूर्योदय से पूर्व रात्रि अन्धकार का जाल बुनने का जो कर्म कर रही थी उस कर्म के बीच मे सूर्योदय होने पर"अर्थ होगा।

वितत सं जभार –

इन पदो का शाब्दिक अर्थ है – "फैले हुए को समेट लिया।"

वेङ्कटमाधव ने "वितत तत्कर्म, अस्त यन्त सूर्यं दृष्ट्वा, कर्मकर सहरति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी तथा **सायण** ने "सूर्य अपने फैले हुए रश्मिजाल को समेट लेता है" यह अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "सूर्य ने अन्धकार के जाल को समेट लिया है" यह अनुवाद किया है। जबकि

गैल्डनर ने "रात्रि ने अपना फैला हुआ अन्धकार–जाल समेट लिया है" यह अर्थ सुनिश्चित किया है।

नमस्यन्त.	–	ऋग्वेद	१/११५/३
मध्या कर्तोः	–	ऋ०	१/११५/४
वितत स जभार	–	ऋ०	१/११५/४

अयुक्त सधस्थात् –

वेड्कटमाधव ने इन पदो का व्याख्यान "यदा। एवायम्। अश्वान् प्रातर्गमनाय रथात्। नियोजयति तत्र" सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने यदास्तमयानन्तरमुत्तरेण मेरू गन्तु युड्क्ते। हरित –स्वानश्वान्। क्व ? उच्यते। सधस्थात। सह तिष्ठन्ति यत्राश्वा स सधस्थो रथ इहाभिप्रेत। सप्तम्यर्थे चैषा पञ्चमी सर्वेषामश्वाना सहस्थानभूते आत्मीये रथे इत्यर्थ" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "यदैत् यस्मिन्नेव काले हरितो–रसहरणशीलान्स्वरश्मीन् हरिद्वर्णानश्वान्वा सधस्थात्–सहस्थानादस्मात्पार्थिवलोकादादाय अयुक्त। अन्यत्र सयुक्तान्करोति। यद्वा युजि केवलोऽपि विपूर्वो द्रष्टव्य। यदैवासौ स्वरश्मीनश्वान्वा सधस्थात्। सह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति सधस्थो रथ तस्माद् युक्त अमुञ्चत्" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सायण के वैकल्पिक व्याख्यान का अनुसरण करते हुए **विल्सन** तथा **रॉथ** ने "जब उसने अपने घोडो को रथ से मुक्त किया" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

इसके विपरीत **गैल्डनर** तथा **पीटर्सन** सधस्थात् का व्याख्यान अश्वशाला करते हुए सूर्योदय के अभिप्राय को ध्यान मे रख कर अनुवाद करते है – "जब उसने घोडो को उनके स्थान (अश्वशाला) से जोता है।" जबकि

ग्रिफिथ ने दो प्रकार के व्याख्यानो को मिलाकर अनुवाद किया है – "जब उसने घोडो को उनके स्थान से खोला है।"

मित्रस्य वरूणस्य –

सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान "एतदुभयलक्षितस्य सर्वस्य जगत" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "मित्रवरूणग्रहणमत्र प्रदर्शनार्थं द्रष्टव्यम्। देवानां मनुष्याणामन्येषा प्राणिनाम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इन पदो का "मित्रावरूणयोरहोरात्रयो" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वेड्कटमाधव की भॉति व्याख्यान करते हुए **गैल्डनर** ने "सूर्य के दो रूप हैं, चमकता हुआ प्रत्यक्ष दिवससूर्य और प्रच्छन्न रात्रिसूर्य। इनमे से पहले का सम्बन्ध मित्र से और दूसरे का वरूण से है।" जैसा कि **ऐतरेय ब्राह्मण** मे भी कहा गया है – "अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरूण."। जबकि

गैल्डनर ने "सूर्य मित्र तथा वरूण के रूप को स्वर्ग की गोद मे देखता है।" यह अर्थ निश्चित किया है।

अयुक्त सधस्थात् – ऋग्वेद १/११५/४

मित्रस्य वरूणस्य – ऋ० १/११५/५

रूशत् –

इसका शाब्दिक अर्थ "चमकता हुआ है" जबकि **सायण, वेड्कटमाधव, गैल्डनर** आदि ने "श्वेत" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "अत्यन्त दीप्त" अर्थ सुनिश्चित किया है।

पाजस् –

स्कन्दस्वामी तथा **सायण** ने इसका व्याख्यान "बलयुक्त" किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इस पद का "तेज" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने पाजस् पद का अर्थ "रूप" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "तेज" अर्थ स्वीकार किया है।

अर्भगाय –

निघण्टु मे यह शब्द "लघु" के पर्यायो मे गिनाया गया है। जबकि

यास्क ने इसका निर्वचन "अर्भगाय अर्भकम् अवह्रत भवति" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने अर्भगाय पद का अर्थ "बालाय स्व्यवरलब्धभार्याय" किया है। जबकि

विल्सन एव **ग्रिफिथ** ने इसका "Youthful" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "Young" निश्चित किया है।

सेनाजुवा –

सायणाचार्य ने इस पद का "शत्रुसेनाया प्रेरकेण शत्रुभि दुष्प्रापेण" अर्थ सुनिश्चित किया है।

विल्सन ने भी सायण का अनुसरण करते हुए "Outstripping the rival host" अर्थ किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "Speeding like an arrow." निश्चित किया है।

आजा –

निघण्टु मे यह "युद्ध" के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

सायणाचार्य ने भी इसका अर्थ "आजौ सड्ग्रामे" किया है। जबकि

रूशत्	–	ऋग्वेद	१/११५/५
पाजस्	–	ऋ०	१/११५/५
अर्भगाय	–	ऋ०	१/११६/१
सेनाजुवा	–	ऋ०	१/११६/१
आजा	–	ऋ०	१/११६/२

पीटर्सन ने इसका अर्थ "Chariot driving Competition" किया है अर्थात् ''रण–दौड प्रतियोगिता मे'' ।

प्रधने –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''प्रकीर्णधनोपेते'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन और **गैल्डनर** ने इस पद का "Tournament arranged by Yama" अर्थ किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का "Prize of victory" अर्थ सुनिश्चित किया है।

उदमेघे –

सायण ने ''उदकैर्मिह्यते सिच्यते इति उदमेघ समुद्र'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "in a down-pour of rain" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "In a mass of water" अर्थ ग्रहण किया है।

अन्तरिक्षप्रुद्भिः –

सायण ने ''अतिस्वच्छत्वादन्तरिक्षे जलस्य उपरिष्ठादेव गन्त्रीभि'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "Floating over the ocean" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Traversing air" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "Plying in the sky" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अघाश्वाय –

सायण ने इस पद का ''अहन्तव्याश्वाय'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए इसका अर्थ "Whose horses were indestructible." सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Proper name" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने अघाश्वाय का अर्थ "To him whose horse was mischievious" निश्चित किया है।

प्रधने	–	ऋग्वेद	१/११६/२
उदमेघे	–	ऋ०	१/११६/३
अन्तरिक्षप्रुद्भिः	–	ऋ०	१/११६/३
अघाश्वाय	–	ऋ०	१/११६/६

अर्यः –

सायणाचार्य ने इस पद का ''शत्रूणा प्रेरयिता युद्धेषु प्रेरयितव्यो वा'' अर्थ किया हैं तथा अन्य स्थानो पर इस पद को अन्य अनेक अर्थो मे ग्रहण किया है – ''सबका स्वामी'', ''शत्रु का स्वामी'', धनपति, आदरणीय, समस्त देवो का सघ, ईरयिता, स्तुति का स्वामी, 'स्तोता' 'लोभ' आदि अर्थ निश्चित किया है जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अर्य पद का ''महान्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने अर्य पद का अर्थ "Scatterer (of the enemies)" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने अर्य पद का "Brave" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने अर्य का "Pious" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इस पद का "Arya" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "Rich" or "Powerful" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने अर्य का अर्थ "Patron" ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने अर्य पद का अर्थ ''महान्'' विनिश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का अर्थ ''महान् संरक्षक'' तथा ''शासक'' निश्चित किया है।

पुरंधिम् –

सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान ''प्रभुता धिय बुद्धिम्'' किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "Various knowledge" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ "Wealth" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Wisdom" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Blessing" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Fortune" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अर्य – ऋग्वेद १/११६/६

पुरधिम् – ऋ० १/११६/७

घ्रंसम् –

सायणाचार्य ने इसका "दीप्यमानम्" एव "अहर्नामैतत्" अर्थ निश्चित किया है।

यास्क ने भी घ्रसम् पद का "दिन" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर और **ग्रिफिथ** ने "The fire's fierce burning" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "Dazzling lustre" अर्थ निश्चित किया है।

ऋबीसे –

सायणाचार्य ने इसका "अपगतप्रकाशे पीडायन्त्रगृहे", "अपगततेजस्के पृथिवीद्रव्ये" अर्थ किया है। जबकि

यास्क ने इस पद का "Earth" व्याख्यान किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Dark cavern" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "A fire pit" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका "A hot fissure in the earth" व्याख्यान किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "A smouldering fire" अर्थ ग्रहण किया है।

सहस्राय –

सायणा ने इसका अर्थ "सहनशीलाय" किया है, एवं अन्यत्र वैकल्पिक अर्थ "एतत्संख्यधनलाभार्थम्" किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "Thousand-fold" निश्चित किया है।

वव्रिम् –

सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान "कृत्स्नं शरीरमावृत्यावस्थितां जरां प्रामुञ्चत प्रकर्षेणामोचयतम्।" किया है। जबकि

घ्रसम् – ऋग्वेद १/११६/८

ऋबीसे – ऋ० १/११६/८

सहस्राय – ऋ० १/११६/६

वव्रिम् – ऋ० १/११६/१०

यास्काचार्य ने इस पद का "वव्रि इति रूपनाम्। वृणोतीति सत" निर्वचन किया है। जबकि

विल्सन एव **ग्रिफिथ** ने इस पद का "Skin" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Outer Shell" अर्थ ग्रहण किया है।

राध्यम् –

सायण ने इस पद का अर्थ "आराधनीयम्" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "To be adored" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Worth the winning" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "Worthy of acquisition" अर्थ निश्चित किया है।

अभिष्टिमत् –

सायण ने "अभ्येषणयुक्तमाभिमुख्येन प्राप्तव्यं" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का "To afford help" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Favouring Succour" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वरूथम् –

सायण ने इसका अर्थ "वरणीय कामयितव्यम्" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Desired" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स ने इसका अर्थ "Protection" निश्चित किया है।

"यत् विद्वांसा निधिमिव अपऽगूळहम् उत् दर्शतात् ऊपथुः वन्दनाय" –

सायणाचार्य ने इस पाद का अर्थ "यत् जानन्तौ युवा निक्षिप्त धनमिव अरण्ये निर्जने देशे कूपमध्ये असुरैः निगूढ वन्दनमृषि अध्वगै पिपासुभिर्द्रष्टव्यात् कूपात् उदहार्ष्टम्" सुनिश्चित किया है। जबकि

राध्यम् – ऋग्वेद १/११६/११

अभिष्टिमत् – ऋ० १/११६/११

वरूथम् – ऋ० १/११६/११

यत् विद्वांसा निधिमिव अपऽगूळहम् उत् दर्शतात् ऊपथु. वन्दनाय – ऋ० १/११६/११

विल्सन ने "When becoming aware (of the circumstance) you extricated Vandana (hidden like a concealed treasured from (the well) that was visible (to travellers)" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने "As you hauled up for Vandana from the pit the hidden thing like treasure" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "What time ye, knowing well his case, delivered Vandana from the pit like a hidden treasure" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने "When you the knowing (gods) found out visibly a buried treasure as it were for Vandana अर्थ सुनिश्चित किया है।

करा –

सायणाचार्य 'करा' पद का व्याख्यान "अभिमतफलस्य कर्तारौ वा युवा" किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "Accomplishers of desires" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने करा का अर्थ "Hand" अर्थात् 'हस्त' निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पद का "Active" or "Skilful" अर्थ सुनिश्चित किया है।

यामन् –

सायणा ने अनुसार – "यान्ति गच्छन्त्यत्र इति यामा यज्ञः" परन्तु प्रस्तुत मन्त्र मे इन्होने "याति गच्छतीति याम स्तोत्रम्" अर्थ सुनिश्चित किया है।

रॉथ एव **ग्रासमैन** ने सायण का अनुसरण करते हुए "Going forth to the Gods with prayer and offering i e the sacrifice" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पिशेल ने इस पद का "Successful coming of the sacrifice" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर और **ओल्डेनबर्ग** ने इसका "way" or "March" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने "On appeal to gods or an appeal made at or through the sacrifice" अर्थ ग्रहण किया है।

करा – ऋग्वेद १/११६/१३
यामन् – ऋ० १/११६/१३

पुरूभुजा –

सायणाचार्य ने इस पद का ''बहूना पालकौ प्रभूतहस्तौ वा'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Protectors of many" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Lords of many treasures" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "They enjoy many powers" अर्थ निश्चित किया है।

वृकस्य –

सायणाचार्य ने वृकस्य पद का अर्थ ''श्वान के'' सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने वृकस्य पद का अर्थ ''सूर्य के'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने वृकस्य पद का अर्थ "Wolf" निश्चित किया है।

खेलस्य –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''खेलस्य सम्बन्धिनया विश्पलाख्याया अर्थात् खेला की पत्नी'' सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "In the race run by Khela" अर्थ किया है।

परितक्म्यायाम् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ ''रात्रि'' मे निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इस पद का ''परितक्म्या रात्रि परित एना तक्म। तक्म इति उष्ण नाम। तकते इति सत'' यह निर्वचन प्रस्तुत किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद के अनेक अर्थ किए हैं– "running about", "confusion", "tumult of battle", "melee"

अनर्वन् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''अर्व गमन विषय प्रति एनयो नास्तीति'' अर्थ किया है। जबकि

यास्क ने इस पद का ''अनर्वम् अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन्'' निर्वचन किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "Not to be overpowered" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पुरूभुजा	–	ऋग्वेद	१/११६/१३, १४
वृकस्य	–	ऋ०	१/११६/१४
खेलस्य	–	ऋ०	१/११६/१५
परितक्म्यायाम्	–	ऋ०	१/११६/१५
अनर्वन्	–	ऋ०	१/११६/१६

गैल्डनर ने इस पद का "Matchless" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Unrivalled" अर्थ ग्रहण किया है, जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "With sight uninjured" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Unable to find their way" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अर्वता –

सायणाचार्य ने "शीघ्रमवधि प्राप्नुवता" अर्थात् 'धावक" अर्थ सुनिश्चित किया है; जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "With courser" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "With (her) horse" अर्थ निश्चित किया है।

जयन्ती –

सायणाचार्य ने "जीयमाना" अर्थात् विजय प्राप्त करती हुई" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "First reacing" अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Victorious" अर्थ सुनिश्चित किया है।

हयन्ता –

सायणाचार्य ने हयन्ता पद का "स्तुतिभिराहूयमानौ युवा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "Being invited" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Hasting" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "In haste" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सचनः –

सायणाचार्य ने 'सचन·' पद का "सेवन" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Helping" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Ever-present" अर्थ किया है। जबकि

अर्वता	–	ऋग्वेद	१/११६/१७
जयन्ती	–	ऋ०	१/११६/१७
हयन्ता	–	ऋ०	१/११६/१८
सचन	–	ऋ०	१/११६/१८

ओल्डेनबर्ग ने सायण का अनुसरण करते हुए इस पद का "To accompany" अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Having the same wish" अर्थ सुनिश्चित किया है।

ऋजूयते –

सायणाचार्य ने "आर्जवमिच्छते" अर्थात् 'सरल जीवन व्यतीत करने वाले' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Lover of rectitude" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Righteous" अर्थ निश्चित किया है।

धीतिम् –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "यागलक्षणम् उक्तगुणक कर्म" किया है। तथापि इसका शाब्दिक अर्थ "विचार" है। गौण रूप मे यहाँ पर "प्रज्ञा" "विचारपूर्ण कर्म" अर्थात् "विचारमयी प्रार्थना–स्तुति" के अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

पीटर्सन इसका अनुवाद "Song" करते हैं। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Hymn" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने धीतिम् पद का अर्थ "कविता" निश्चित किया है।

तव्यसीम् –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "अतिशयेन वर्धयित्रीम्" अर्थात् "बढना" "उन्नति करना" किया है। जबकि

पीटर्सन और **ग्रिफिथ** ने इस पद का "Stronger", Mightier, "Respectively" अर्थ निश्चित किया है।

वाचो मतिम् –

इसका शाब्दिक अर्थ "वाणी की मति (मनन)" है। **सायणाचार्य** ने इसका व्याख्यान "तथोक्त लक्षणा वाचो मति स्तुतिरूप कर्म" सुनिश्चित किया है। जबकि

ऋजूयते	–	ऋग्वेद	१/११६/२३
धीतिम्	–	ऋ०	१/१४३/१
तव्यसीम्	–	ऋ०	१/१४३/१
वाचो मतिम्	–	ऋ०	१/१४३/१

वेड्कटमाधव ने इस पद का "वाच स्तुतिम्" अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अनुवाद "Lifting up heart and voice" किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "विचारी हुई वाणी" सुनिश्चित किया है।

अपां नपात् –

सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान "तासा नाप्ता। अद्भ्य ओषधय· ओषधीभ्योऽग्नि' इति अग्नेर्नप्तृत्वम। अथवा अपा न पातयिता वैद्युताग्निरूपेण प्रवर्षकत्वादिति भाव" किया है। जबकि

आधुनिक विद्वानो के मतानुसार नपात् शब्द "पौत्र, दौहित्र" आदि अर्थ मे नही आता है, अपितु "अपत्य" अर्थ मे प्रयुक्त होता है। जबकि

मैक्समूलर आदि आधुनिक विद्वानो के मतानुसार "बादलो से उत्पन्न होने वाली वैद्युत् अग्नि" अपा नपात् कहलाती है। जबकि

हिलब्रांट के मतानुसार 'चन्द्रमा' 'अपां नपात् है।

ऋत्वियः –

सायण ने इसका अर्थ "प्राप्तकाल प्राप्तदानसमय" अर्थात् "सही समय पर" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Who knows the season when to come" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "in season" अर्थ निश्चित किया है।

वसुभिः सह –

सायण ने इसका व्याख्यान "वसुभिर्निवासयोग्यैर्गवादिधनै· सहित." किया है। जबकि

रॉथ का अनुसरण करते हुए **पीटर्सन** इसका अर्थ "सामान्य देवगण" सुनिश्चित करते हैं। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ "प्रकाश, प्रकृष्ट देवगण" विनिश्चित किया है।

अपा नपात्	–	ऋग्वेद	१/१४३/१
ऋत्विय.	–	ऋ०	१/१४३/१
वसुभि सह	–	ऋ०	१/१४३/१

मज्मना –

निघण्टु मे मज्मना 'बल' के नामो मे गिनाया गया है। **सायण** ने "बलवत" तथा **वेड्कटमाधव** ने "बलेन" अर्थ सुनिश्चित किया है। परन्तु सायण भी इस पद का व्याख्यान "बलेन" करते है और **स्कन्दस्वामी** भी यही व्याख्यान करते है। जबकि

ऋग्वेद के अन्य मन्त्रो के भाष्य मे सायण ने इसका व्याख्यान "सर्वस्य शोधकेन स्वतैक्ष्ण्येन" तथा "शोधकेन बलेन" एव "शत्रूणा मज्जकेन" अर्थ सुनिश्चित किया है।

रॉथ तथा **मोनियर-विलियम्स** भी सायण की व्युत्पत्ति को स्वीकार करते है। जबकि

ग्रासमैन ने इस शब्द की व्युत्पत्ति √मह् धातु से मानते हुए यहाँ पर इसका अर्थ "महत्ता" किया है।

गैल्डनर भी इस शब्द का अर्थ "महत्ता" करते है। परन्तु ये दोनो विद्वान् कही–कही इस शब्द का "बल" अर्थ भी करते है।

मज्मना पद का "महत्ता" अर्थ अधिक उपयुक्त है।

विश्ववेदसम् –

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "विश्वधनम्" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "सर्वधनम्" अर्थ निश्चित किया है।

यास्काचार्य के अनुसार वेद इति धननाम, "वेद वरिवा" इति तन्नामसु पाठात्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Giver of all good things" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "All-Possessor" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** इसका अर्थ "सर्वज्ञ" करते हैं। **सायण** ने भी अन्य व्याख्यानो मे इसका अर्थ "सर्वज्ञ" किया है। यहाँ "सर्वज्ञ" अर्थ अधिक समीचीन है।

सेना इव सृष्टा –

वेड्कटमाधव ने इसका "सेनेव च। उद्युक्ता" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मज्मना – ऋग्वेद १/१४३/२
विश्ववेदसम् – ऋ० १/१४३/४
सेना इव सृष्टा – ऋ० १/१४३/५

सायणाचार्य ने वैरिक्षयार्थ प्रबलेन अतिसृष्टा सेनेव। सा यथा अन्यै अनिरोध्या तद्वत" अर्थात "प्रेरित की हुई सेना की भाँति" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

रॉथ तथा **ग्रासमैन** ने सेना का अर्थ "अस्त्र" (Missile) निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Dart" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Arrow" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पिशल, गैल्डनर तथा **ओल्डेनबर्ग** इस मत का निराकरण करते हुए प्राचीन भारतीय व्याख्यान के अनुसार सेना का अर्थ "Army" करते है। इस विषय पर प्राचीन भारतीय मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

भर्वति –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "भक्षयति" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "भर्वति हिनस्ति"। भर्व हिसायाम्" अर्थात् "नष्ट करता है" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इस पद का "भर्वतिरत्तिकर्मा" निर्वचन किया है।

रॉथ, ग्रिफिथ, ग्रासमैन तथा **मोनियर-विलियम्स** आदि पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ "चबाना" करते हैं। जबकि

पीटर्सन इसका अनुवाद "Breaks them in pieces" करते हैं। जबकि

गैल्डनर तथा **कीथ** ने इसका अर्थ "Devour" निश्चित किया है। परन्तु इस शब्द का "चबाना" अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

नि ऋञ्जते –

वेङ्कटमाधव इसका व्याख्यान "नितरा प्रसाधयति" करते हैं। जबकि

सायण ने इस पद का "नितरा प्रसाधयति दहतीत्यर्थ" व्याख्यान किया है। जबकि

पीटर्सन ने न्यृञ्जते का अनुवाद 'destroys' किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "विवश करता है" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "ऋञ्जति प्रसाधनकर्मा। प्रसाधनं च भूषणं वशीकरण वा। नियमेन प्रसाधयति भूषयति स्ववशे वा कुरूते इत्यर्थ।" व्याख्या की है।

भर्वति – ऋग्वेद १/१४३/५

नि ऋञ्जते – ऋ० १/१४३/५

मोनियर-विलियम्स प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी इसका अर्थ "अधीन करना" निश्चित करते है। अतएव प्रसङ्गानुसार यहाँ पर इसका अर्थ "वश मे करता है" उपयुक्त होगा।

घृतप्रतीकम् –

वेङ्कटमाधव ने यहाँ पर इसका व्याख्यान "घृतलिङ्गम्" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "घृतोपक्रम प्रयाजादिषु आज्यैर्हूयमानत्वात्। यद्वा। प्रतीकमङ्गम्। दीप्तज्वालमित्यर्थ" अर्थात् "घृतरूपीमुख वाले" अर्थ निश्चित किया है। अन्यत्र सायण ने "घृतेन सक्षुधितावयव" "घृतेन प्रज्वलिताङ्ग", "आज्याहुतिपूर्णमुखम्" अग्नि के सम्बन्ध मे "दीप्तावयवाम्" उषस् के सम्बन्ध मे व्याख्यान किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का "घृतमुख" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का "घृत प्रतीके मुखे यस्य" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **गैल्डनर** उव्वट के व्याख्यान के अनुसार अर्थ करते हैं। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, ओल्डेनबर्ग, मोनियर-विलिसम्स तथा **पीटर्सन** इसका व्याख्यान "घृत से चमकते हुए मुख वाला" करते है।

व्याकरण के अनुसार घृतप्रतीक का शब्दार्थ "घृतमुख" ही उचित है और प्रसङ्गानुसार इसके भावार्थ का विस्तृत व्याख्यान किया जा सकता है।

अक्रः –

इस शब्द के अर्थ के विषय मे अनेक मतभेद हैं।

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "रक्षोभिरनाक्रान्त" किया है। अन्य व्याख्यानों मे इन्होने "आक्रान्त" अर्थ भी किया है। जबकि

सायणाचार्य ने अक्र पद का "ज्वालासमिदादिभिराक्रान्त अन्यै. अनाक्रान्त वा" अर्थ सुनिश्चित किया है। अन्यत्र सायण ने "आक्रमिता" अर्थ भी किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इस पद का "अक्र आक्रमणात्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

दुर्गाचार्य ने इस पद का "आक्रमणात् इति निर्वचनम्। यह व्याख्या की है। जबकि

घृतप्रतीकम् – ऋग्वेद १/१४३/७
अक्र. – ऋ० १/१४३/७

रॉथ ने अक्र पद का अर्थ "अश्व" निश्चित किया है।

ओल्डेनबर्ग ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है।

गैल्डनर ने भी इसी अनुवाद का समर्थन किया है। परन्तु ऋग्वेद के जर्मन अनुवाद मे **गैल्डनर** का अनुमान है कि अक्र शब्द "हाथी" के लिए प्रयुक्त हुआ है। जबकि

लुड्विग अक्र का अर्थ "स्तम्भ" निश्चित करते है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ "सेना का चिह्न, ध्वज" निश्चित किया है। **मोनियर-विलियम्स** तथा **मैक्डानल** ने भी "ध्वज" अर्थ को स्वीकार किया है।

शग्मैः –

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "शक्तै" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "सुखकरै" अर्थ सुनिश्चित किया है।

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ, ओल्डेनबर्ग, मैक्डानल, पीटर्सन प्रभृति पाश्चात्य भाष्यकार √शक् धातु से इसकी व्युत्पत्ति मानते हुए वेड्कटमाधव द्वारा निर्दिष्ट अर्थ स्वीकार करते हैं।

निघण्टु मे शग्म "सुख" के नामो मे गिनाया गया है और सायण द्वारा निर्दिष्ट अर्थ भी सम्भव है, यदि √शम् धातु से इसकी व्युत्पत्ति मान ली जाय।

इष्टे –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "अन्वेषणीय" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "हे इष्टे सर्वैः एषणीयाग्ने", "हे यष्टव्य एषणीय वा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन इसका अर्थ "सहायक" निश्चित करते हैं।

मैक्डानल तथा **ग्रिफिथ** ने भी 'O helper' अर्थ ही सुनिश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग इसका अनुवाद 'O thou our wish' करते हैं। जबकि

पीटर्सन ने इसका अनुवाद नही दिया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अनुवाद "हे प्रिय" किया है।

शग्मै – ऋग्वेद १/१४३/८

इष्टे – ऋ० १/१४३/८

इष्टे को सभी भारतीय एव आधुनिक विद्वान् इष्टि का सम्बोधन मानते हैं। प्रसङ्ग के अनुसार **ओल्डेनबर्ग** का अनुमान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, जिसके अनुसार इसका अर्थ होगा – "हे मेरी इच्छा अर्थात् हे मेरे अभीष्ट देव।"

विष्णोः –

विष्णु शब्द के निर्वचन मे विद्वानो मे मतभेद है।

सायणाचार्य के अनुसार विष्णु शब्द का अर्थ "व्यापनशीलस्य देवस्य" एव "व्यापक" निश्चित किया गया है। √विष्लृ व्याप्तौ धातु से सायण ने विष्णु पद की व्युत्पत्ति की है। जबकि

वृहद्देवताकार का मत है कि विष्णु शब्द व्याप्ति अर्थ वाली √विश् √विष् √वेविश् (विष्लृ) धातुओ से बना है। समस्त ससार को व्याप्त एव आच्छादित कर लेने तथा प्रत्येक वस्तु मे व्याप्त (प्रविष्ट) रहने से सूर्य को ही विष्णु कहा जाता है। जबकि

दयानन्द सरस्वती के अनुसार विष्णु पद का अर्थ "सर्वत्र व्याप्त होने वाले परमात्मा या परमेश्वर' "महात्मा", "मेधावी", "अग्नि" विद्युत, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरूष, सूर्य, धन, जल, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ निश्चित किया है। जबकि

ब्राह्मण ग्रन्थों मे सूर्य, यज्ञ, सोम, अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के मध्य का काल, देवो मे श्रेष्ठ, देवो का द्वार, ररक्षक, आशाओ (दिशाओ) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरूष, यूप आदि अर्थ पाये जाते है।

ओल्डेनबर्ग के अनुसार विष्णु शब्द का अर्थ है "विशाल उद्यमी", "विस्तृत क्षेत्रो का अधिपति, "भूमि के विस्तार क्षेत्र को पार करने वाला"। जबकि

ब्लूमफील्ड के अनुसार विष्णु शब्द का अर्थ है "उच्च शिखर पर चढने वाला।" जबकि

मैक्डानल के मतानुसार इस शब्द की निरूक्ति "√विश् कर्मण्य होना, क्रियाशील होना, कर्मठ होना, सक्रिय होना आदि" से अधिक सम्भावित है और तब विष्णु का अर्थ होगा–कर्मण्य, कर्मठ, क्रियाशील, उत्साहवर्धक आदि यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने विष्णु का अर्थ "विषित" निश्चित किया है, तथा √विश् धातु से विष्णु पद का निर्वचन किया है। यास्क ने √विश् प्रवेशने तथा √विष् व्यापने धातुओं से विष्णु का निर्वचन किया है।

विष्णो – ऋग्वेद १/१५४/१

यास्क तथा **दुर्गाचार्य** के अनुसार विषणु भौतिक–सूर्य का ही आधिदैविक रूप है।

इस प्रकार विष्णु के व्यापक, सर्वत्र प्रविष्ट, सक्रिय, आदि अर्थ होते है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे सूर्य यज्ञ अन्न सोम, वीर्य, पुरूष, यूप आदि अर्थो मे विष्णु शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्यत 'विष्णु का अर्थ 'एक दिव्य शक्ति–सम्पन्न अदृष्ट सत्ता का द्योतक देवताविशेष समझा जाता है। भाष्यकारो ने कही–कही पर इसका अर्थ 'परमात्मा' भी किया है।

विममे –

सायण, उव्वट तथा **महीधर** के अनुसार इस पद का "निर्माण करना" एव "विस्तृत किया" यह अथ है जबकि

दयानन्द सरस्वती के अनुसार विममे पद का अर्थ "अनेक प्रकार से रचना करना या याचना करना' निश्चित किया गया है। जबकि

मैक्डानल ने 'विममे' पद का अर्थ 'नाप लिया' एव "अति विस्तार के साथ" निश्चित किया है।

मैक्डानल के मत मे विममे पद का सङ्केत "सूर्य के ब्रह्माण्ड परिभ्रमण की ओर है", यथा वरूण के सम्बन्ध मे– 'मानेनेव तस्थिवॉ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवी सूर्येण' (ऋ० ५/८५/५), जो (वरूण) अन्तरिक्ष मे अवस्थित होकर मानदण्ड के सदृश सूर्य द्वारा पृथिवी को नाप लेते हैं। मैक्डानल ने √माङ् धातु से विममे पद की व्युत्पत्ति की है जिसका यहॉ 'भावना' अर्थ मानते है। जबकि

पीटर्सन ने विममे पद का अर्थ "नापने वाला" किया है।

सायण ने विममे पद का अन्वय पृथिव्यानि रजासि पदो के साथ किया है एवं 'विममे' पद का अर्थ 'विशेषेण निर्ममे' निश्चित किया है।

सधरथम् –

सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान "सहस्थान" लोकत्रयाश्रय्भूतम्अन्तरिक्षम्" अर्थात् " अतिविस्तृत अन्तरिक्ष" "पुण्यशील जनो के साथ रहने योग्य भू आदि सातलोक तथा सत्यलोक" निश्चित किया है। जबकि

भट्टभास्कर ने इस पद का "सहस्थान सर्वेषामन्तरिक्षम्" अर्थ निश्चित किया है।

उव्वट ने इस पद का "सहस्थान देवानाम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का "देवाना सहवासस्थान द्युलोकरूपम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "द्याम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती जी ने सधस्थम् पद का अर्थ "एक साथ रहने का स्थान" निश्चित किया है।

विममे – ऋग्वेद १/१५४/१

सधस्थम् – ऋ० १/१५४/१

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सधस्थम् पद का अर्थ है "द्यौस्"। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "द्युलोक" किया है। "Vedic Reader" मे इसका अनुवाद "Gathering place" and Hymns from the Rigveda मे "Station" अनुवाद किया है। जबकि

गैल्डनर ने सधस्थम् पद का अर्थ "निवासस्थान करके टिप्पणी मे भावार्थ "द्युलोक" निश्चित किया है।

वस्तुत सधस्थम् पद का शाब्दिक अर्थ "(देवताओ का) सहस्थान अर्थात् द्युलोक" है।

उरूगायः –

उव्वट ने उरूगाय का व्याख्यान 'उरूगमन' किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने "उरूगमन उरूभिर्वा स्तोतव्य" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने "उरूर्गायो गमन यस्य, उरूभिर्यहात्मभिर्गीयत इति वा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

भट्टभास्कर ने "उरूभिर्महात्मभिर्गीयत इत्युरूगाय" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने उरूगाय पद का अर्थ "महागते" निश्चित किया है। जबकि

सायण ने उरूगाय पद का अन्वय वीर्याणि पद के साथ किया है। इनके अनुसार उरूगाय पद का अर्थ "बहुतो" के द्वारा गीयमान "उरूभिर्महद्भिर्गीयमान", "अतिप्रभूतम् गीयमानोवा", "बहुतो से प्रशसित", "बहुस्तुत", प्रचुरकीर्ति" तथा इसके साथ ही सायण ने इस पद का अन्य अर्थ "शत्रुओ" को रूलाने वाला" एव "बहुत से देशो मे गमन करने वाला" अर्थ भी निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने उरूगाय पद का अर्थ "बहुत वेदमन्त्रो से गाया जाने वाला या स्तुति किया जाने वाला" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ एवं मैक्डानल ने उरूगाय पद का "विस्तृत पाद वाला", "लम्बे–लम्बे डग भरने वाला" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने उरूगाय पद का "दूरड्गम" अर्थात् "दूर तक जाने वाला" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर के अनुसार उरूगाय पद का अर्थ "तीन स्थानो मे पद रख कर विस्तृत गमन करता हुआ", "विस्तृत पाद प्रक्षेपो वाला" निश्चित किया गया है।

वीर्येण –

सायण ने वीर्येण पद का अन्वय तत् पद के साथ किया है तथा तत् पद को वीर्येण पद का विशेषण माना है। सायण ने वीर्येण पद का अर्थ "वीर्येण–स्वकीयेन वीरकर्मणा" निश्चित किया है। जबकि

उरूगाय – ऋग्वेद १/१५४/१

वीर्येण – ऋ० १/१५४/२

दयानन्द सरस्वती ने वीर्येण पद का अर्थ ''पराक्रम से'' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **रॉथ** ने 'साइवेनजिगलाइडर' मे तत् पद को वीर्येण का विशेषण माना है। इनके मत मे यह तृतीयान्त पद है, जिसका अर्थ ''इस वीर–कर्म के लिए विष्णु प्रशसित होता है'' निश्चित किया है। इस मन्त्र पर टिप्पणी करते हुए रॉथ का कथन है कि प्राचीन ऋचाएँ विष्णु के एक ही वीर–कर्म से परिचित है– वह तीन पदो से ब्रह्माण्ड का क्रमण, द्युलोक का स्थिरीकरण तथा उसके तृतीय पद से निखिल प्राणि–समूह के निवास हेतु विशाल स्थान की स्थिति का धारण करना है। वह स्वय वहॉ रहता है, जहॉ उसने ऊर्ध्वतम पद को स्थापित किया था। उसके साथ उस उच्चतम लोक मे पूण्यभूत आत्माएँ निवास करती है। जबकि

ग्रासमैन ने वीर्येण पद को स्तवते पद का कर्म मान कर ''इस वीर–कर्म को करना स्वीकारता है'' अर्थ निश्चित करते है। ग्रासमैन के अनुसार वीर्य का अर्थ 'सामर्थ्य' है। जबकि

लुड्विग के अनुसार वीर्येण पद का अर्थ ''अपनी बल–शक्ति के कारण विष्णु प्रशसित होता है'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने वीर्येण पद को प्रथम मन्त्र–विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचं मे प्रयुक्त वीर्याणि पद का निर्देशक माना है। जबकि

पीटसर्न ने वीर्येण को क्रियाविशेषण तथा स्तवते को कर्तृवाच्य स्वीकारते हुए–''विष्णु प्रशसा करता है और इसका उद्घोषपूर्वक विकथन करता है'' अर्थ निश्चित किया है।

मृगो न भीमः –

वेड्कटमाधव ने इसका ''मृग· इव'' अर्थ निश्चित किया है।

सायण ने मृगो न पद का निर्वचन उपमा के रूप मे किया है जिसका अन्वय भीम· पद के साथ किया है। सायणाचार्य ने मृग का अर्थ ''सिह'' निश्चित किया है तथा भीम का अर्थ ''भयजनक'' किया है।

मृगो न–सिहादिरिव। यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिह भीमो–भीतिजनक । जबकि

यास्काचार्य के अनुसार मृगो न भीम का अर्थ ''मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो''– बिभ्यत्यस्मात् भीष्मोऽप्येत्स्मादेव।'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने मृगो न भीम पद का अर्थ ''हरिण के समान भयड्कर समस्त लोकलोकान्तरो को'' निश्चित किया है।

मृगो न भीम – ऋग्वेद १/१५४/२

पाश्चात्य व्याख्याकार **मैक्डानल** का अभिमत है कि सायण के अनुसार यद्यपि मृग का अर्थ सिह और 'भीम' है, यह विशेषण सिह एव वृषभ दोनो के लिए प्रयुक्त हुआ है तथापि गिरिष्ठा पद वृषभ के विशेषण के रूप मे तीन चार बार प्रयुक्त हुआ है, जबकि सिह के विशेषण के रूप मे कभी नही आया है। अग्रिम मन्त्र प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरूगायाय वृष्णे। मे विष्णु को 'गिरिक्षित वृषभ' कहा गया है, अतएव यह उपमा सिह की अपेक्षा वृषभ की ओर सड्केत करती है। इन्होने मृगो न भीम पद का "भयडकर व्याघ्र के समान" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ तथा **गैल्डनर** ने इसका अर्थ "वन्य पशु" किया है। जबकि

पीटर्सन का कथन है कि सामान्यत यह उपमा विष्णु के लिए प्रयोज्य नही स्वीकारी जा सकती । यहॉ द्युलोक के शिखर पर पादक्षेप करने वाले तथा स्व–वीर्य के उद्घोषक विष्णु के साथ इस उपमा का प्रयोग हुआ है। वह पर्वतो पर परिभ्रमण करने वाले सिह के समान भयानक गर्जना करता है। पीटर्सन इसमे अनुवर्ती **नृसिहावतार** का सड्केत देखते है।

वस्तुत मृग शब्द का प्राचीनतम अर्थ 'हिसक या आरण्यक पशु' है सस्कृत के मृगेन्द्र, मृगया शब्द इसकी पुष्टि करते है।

अत सायण का सिह अर्थ स्वीकार्य नही हो सकता। जिस समय इस मन्त्र की रचना हुई थी उस समय तक आर्य सिहो के प्रदेश मे नही पहुॅच पाये थे।

पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के मत मे यह हिसक पशु व्याघ्र हो सकता है। जबकि

उव्वट सिह को हीन उपमान मान कर 'मृगो न' आदि का अन्यथा व्याख्यान करते है। इन सब पदो मे इन्द्र का विशेषण मानकर उसे विष्णु का उपमान बनाया गया है। जबकि

वेलणकर ने 'भयकर जड्गली जानवर की तरह मारने की ताक मे रहने वाले' यह अन्वयार्थ प्रस्तुत किया है।

कुचरः –

वेड्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "कुत्सित्कर्मचारी" किया है। जबकि

उव्वट ने "कुत्सितचारी प्राणिवधजीवन" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने "कौ पृथिव्या मत्स्यादिरूपेण चरतीति कुचर" अर्थ किया है।

यह शब्द ऋग्वेद मे केवल दो स्थानो पर आया है। **१.** प्र तद् विष्णु २. १०/१८०/२ दूसरे स्थान पर इसका प्रयोग इन्द्र के विशेषण के रूप मे हुआ है।

कुचर – ऋग्वेद १/१५४/२

यास्काचार्य के अनुसार कुरूचर पद का अर्थ "कुचर इति चरति कर्म कुत्सितमथ चेद् देवताभिधान क्वाय न चरतीति वा"। अर्थात् यास्काचार्य ने कुचर पद के दो अर्थ प्रस्तुत किए है –

१. हिसादि कुत्सित कर्म करने वाला और

२. यह कहॉ नही विचरता अर्थात् सर्वत्र चारी, यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने कुचर पद का अन्वय मृगो न भीम पदो के साथ किया है तथा इस पद का "कुचर–कुत्सितहिसादिकर्त्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा", "कुत्सितचरण" अर्थ निश्चित किया है। इसके अतिरिक्त सायण ने 'तीनो लोको मे भ्रमण करने वाला' भी अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने कुचर पद का "कुटिलगामी अर्थात् "ऊॅचे नीचे नाना प्रकार के विषम स्थलो मे चलने वाला" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **मैक्डानल** ने कुचर का अर्थ "इच्छानुसार गमन करने वाला" निश्चित किया है, और यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

गिरिष्ठाः –

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "पर्वते वर्तमान" किया है। जबकि

उव्वट ने "पर्वतस्थान यद्वा गिरिर्मेघस्तत्रेन्द्रो वृष्ट्यर्थ तिष्ठति, अथ गिरि वेदवाक्ये तिष्ठति गिरिष्ठा अथ देवोऽपि गिरिरूच्यते तस्मिन् आत्मत्वेन तिष्ठति इति गिरिष्ठा" व्याख्यान किया है। जबकि

महीधर ने "गिरि देववाण्या गिरौ देहे वान्तर्याभिरूपेण तिष्ठतीति गिरिष्ठा, अथवा न इवार्थ गिरिष्ठा पर्वतस्थित" व्याख्यान किया है। जबकि

सायण ने "उन्नत लोको मे निवास करने वाला" तथा "सदैव मन्त्र रूपी वाणी मे स्थित" ये दो अर्थ विनिश्चय किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का "पर्वत कन्दरओ मे स्थिर होने वाले" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "mountain-roaming" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "mountain-haunting" अर्थ विनिश्चय किया है।

शूषम् –

वेड्कटमाधव ने शूषम् पद का "बलकरम्", "स्तोत्रम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "बलम्" अर्थ किया है। **उव्वट** ने भी "बलम्" अर्थ किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का "बलहेतुम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गिरिष्ठा – ऋग्वेद १/१५४/२

शूषम् – ऋ० १/१५४/३

सायणाचार्य ने शूषम् पद का अन्वय विष्णवे पद के साथ किया है। इनके अनुसार– शूषमस्मत्कृत्यादिजन्य बल महत्त्व। मन्म मनन स्तोत्र "मननीय शूष बल वा विष्णुम्", अर्थात् सायण ने शूषम् पद का अर्थ "बली" या "बलवान्", "शक्तिशाली" किया है–"शूष शत्रूणा शोषको बलवान्" "शूष बल शोषकत्वाद् बलकरं मन्म मननीय स्तोत्रम्", "सुखहेतुभूतम्"।

यास्क ने शूषम् का अर्थ "बल या सुख" निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे भी शूषम् पद बलवाचक शब्दो के रूप मे पठित है तथा सुखार्थक शब्द समूह मे भी यह शब्द उपलब्ध है। सायण ने भी निघुण्टु मे प्रयुक्त अथो का अनुकरण किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने भी शूषम् पद का अर्थ "बल" ही निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **लुड्विग** के अनुसार 'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म' इस पड्क्ति का अर्थ–

"विष्णु के निकट उसकी शक्ति के निमित्त स्तोत्र पहुँचे", अर्थात् इन्होने शूषम् पद का अर्थ 'शक्ति के लिए या निमित्त' निश्चित किया है। वस्तुत यहॉ 'शूष' मन्म का विशेषण है। स्तोत्र के उच्चारण के महत्त्व की युक्तिशालिता से वैदिक अध्येता अपरिचित नही है, अत इस प्रसड्ग मे अर्थ होगा 'भली–भॉति उच्चारण किया गया'।

मैक्डानल के अनुसार शूषम् पद का अर्थ "उत्साहप्रद", "स्फूर्तिदायक" निश्चित किया गया है। अवेस्ता मे इसके समान 'हुस्क' शब्द मिलता है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **ग्रासमैन** तथा **पीटर्सन** शूषम् का अर्थ "Loud", "श्वास वाला अर्थात् अच्छी प्रकार से उच्चरित" करते है। जबकि

रॉथ के अनुसार शूषम् पद का "घन–घन शब्द करना, बुद–बुदाना, सीटी बजाना, गायन करना, शब्द करना, टनटनाना, ठनठनाना, झनझनाना, झन–झन शब्द करना" आदि विभिन्न अर्थ निश्चित किया गया है।

इसके अतिरिक्त शूष विशेषण के रूप मे खर्राटे लेने, फुफकारने, फुनफुनाने, नाक फुलाकर फुनफुनाते हुए बोलने तथा आत्मावान्, सप्राण, जीवन्त, वीर्यवान्, तेजस्वी, ससत्त्व, सोत्साह, उत्कट, जीवटवाले, जानदार दिलेर आदि अर्थो को निश्चित किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि रूडाल्फ रॉथ महोदय ने शूषम् पद को अति विस्तृत अर्थो मे ग्रहण किया है।

वैयाकरण के अनुसार– √मन "मनन करना" धातु से व्युत्पन्न मन्मन् का मौलिक अर्थ "मनन, विचार" है और उसी से गौणरूप से "मननयुक्त स्तोत्र या प्रार्थना" अर्थ निकलता है।

वृष्णे –

सायण ने वृष्णे पद का अन्वय विष्णवे पद के साथ किया है। इन्होने वृष्णे पद का अर्थ 'कामनावर्षी' किया है। प्रस्तुत प्रसड्ग मे बली अर्थ अधिक युक्तिसड्गत प्रतीत होता है। विष्णु के वीर–कर्म–प्रशंसन के वर्णन

वृष्णे – ऋग्वेद १/१५४/३

वेड्कमाधव तथा **सायणाचार्य** ने स्वधा पद का अन्वय मदन्ति पद के साथ किया है। इन्होने इस पद का अर्थ ''स्वधयान्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्'' अर्थात स्वधा पद का सायण ने 'अन्न' अर्थ निश्चित किया है। इन्होने अन्य वैकल्पिक व्याख्यानो मे स्वधा का अर्थ ''बलेन'' भी निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने स्वधा पद का ''अपने अपने रूप को धारण करना'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **मैक्समूलर** ने स्वधया मदन्ति पद का ''अन्न से आनन्दित होते है या प्रसन्नता का अनुभव करते है'', यह अर्थ निश्चित किया है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रसड्गो मे स्वधया पद का अन्य अर्थ स्वभाव, प्रकृति' आदि निश्चित किया है। अन्यत्र ''स्वय का स्थान'' या ''स्वय का स्वभाव'' अर्थ किया है।

पीटर्सन ने स्वधया पद का विभिन्न प्रसड्गो मे ''प्रसन्नता से'', ''स्वाधीनता से'', ''हविष् से'' आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रूडाल्फ रॉथ का मत है कि भारत वैदिक स्वधा शब्द का अर्थ पूर्णतया विस्मृत कर चुका है। उनके मत मे इस शब्द का **प्रथम** अर्थ है– ''रीति–रिवाज'', ''विधि'', ''नियम'', ''स्थान'', ''व्यवस्था''।

दूसरा अर्थ - परिचित स्थान, गृह आदि।
तीसरा अर्थ - सामान्य अवस्था, कल्याण, हित, सन्तोष।

रॉथ वेद मे स्वधा की प्रयोगप्रायता को दृष्टव्य बताते हुए प्रस्तुत मन्त्र मे तथा अन्य (स्थलो या) मन्त्रस्थ स्वधा पद का – 'सामान्यतया' आनन्दपूर्वक, इच्छानुरुप, निर्विध्न, स्वाभाविक रूप मे, आदि अर्थ करते है।

मदन्ति के साथ स्वधा शब्द ऋ० १/१०८/१२, ३/४/७, ५/३१/४, ७/४७/३, १०/१४/७ मे भी आया है। रॉथ के मत मे पेय, हविष्, पितृ–हव्य, सम्बद्ध स्वधा इससे भिन्न है।

आधुनिक विद्वान् स्वधया के लिए प्रसड्गानुसार नियम, स्वभाव, परम्परा, आनन्द, स्वेच्छा, स्वशक्ति इत्यादि अर्थ सुझाते है। आधुनिक विद्वानो के मतानुसार इस स्वधया पद का मौलिक अर्थ है – ''स्व स्थान'' जिससे प्रसड्गानुसार उपर्युक्त विभिन्न अर्थ निकलते है।

ऋग्वेद मे इसका अर्थ 'हवि' के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। जो 'अन्न' का द्योतक है।

निघण्टु (१/१२) मे उदक तथा दिव्यपृथिवी एव निरूक्त (७/२५) मे अन्नार्थ मे पठित स्वधा भी प्रस्तुत स्वधा से व्यतिरिक्त है। रॉथ का यह भी मत है कि स्वधयाऽन्ये मदन्ति (१०/१४/३) मे प्रकृत स्वधा का कोई सम्बन्ध नही है। जबकि

मैक्डानल ने स्वधया पद का "bliss" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स ने "self power" अर्थ निश्चित किया। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैन्डनर** ने स्वधया पद का ''अपने स्वभावानुसार'' अर्थ निश्चित किया है।

त्रिधातु –

वेड्कमाधव ने इसका अर्थ " त्रिसन्धानम्" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इसे क्रियाविशेषण मान कर इस पद का अर्थ "त्र्याणा धातूना समाहरस्त्रिधातु" "पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टिम्" अर्थात् "पृथिवी, जल, वायु तीनो से विशिष्ट" निश्चित किया है। इसके अतिरिक्त "त्रिकाल एव त्रिगुण" का विकल्प भी प्रस्तुत करते है। "त्रि प्रकारकम्" एव "तीन धातुओ से युक्त होकर धारण किया' अर्थ भी निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने त्रिधातु पद का अर्थ "जिसमे सत्व, रजस् तमस् ये तीनो धातु विद्यमान् हो निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "three fold" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **मैक्डानल** के अनुसार त्रिधातु पद मन्त्र मे आये त्रेधा के समान क्रिया–विशेषण है तथा इस पद का अर्थ–"तीन डग भरने के कारण तीन प्रकार से" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "three elements" निश्चित किया है।

इस प्रकार **ग्रासमैन, गैल्डनर,** तथा **पीटर्सन** इसका व्याख्यान "तीन अवयवो (पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक) वाला विश्व" करते है।

उरूक्रस्य स हि बन्धुरित्था –

वेड्कटमाधव ने बन्धु पद का "स्तोत्रैर्बन्धनकृत्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण के अनुसार उरूक्रमस्यात्यधिक सर्व जगदाक्रममाणस्य तत् तदात्मना, इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धु स खलु सर्वेषा सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवता न पुनरावृत्ते। हि शब्द सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणदिप्रसिद्धिद्योतनार्थ, "अर्थात् उरू क्रमस्य स हि बन्धुरित्था –'इस प्रकार विशाल गतिशील वह विष्णु निश्चय ही सबका बन्धु है' अर्थ कर इसे निक्षिप्त वाक्य के रूप मे प्रस्तुत करते है। सायण के अनुसार 'विष्णो पदे परमे मध्व उत्स' प्रधान वाक्य है। इसमे 'तद् अश्याम्' की अनुवृत्ति करते हैं। जबकि

दयानन्द सरस्वती के अनुसार उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्था– इस प्रकार से "वही हमारा अनन्त पराक्रम युक्त भाई के समान दु ख विनाश करने से दु ख देने वाला है।" यह अर्थ निश्चित किया गया है। जबकि

त्रिधातु	–	ऋग्वेद	१/१५४/४
उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्था	–	ऋ०	१/१५४/५

रॉथ और उनके अनुगन्ता **ग्रासमैन** उपर्युक्त दोनो वाक्यो को पृथक्–पृथक् मानते है। इस प्रकार वाक्य–सयोजन करने पर रॉथ के अनुसार ''वहॉ शक्तिशाली गन्ता के मित्रो का समाज है तथा विष्णु के उच्चतम स्थान पर माधुर्य का निर्झर है'' **ग्रासमैन** ''वहॉ माधुर्य–निर्भर है'' अर्थ करते है।

इस प्रकार **रॉथ** बन्धु को ''स्वर्ग–समाज'' तथा 'नरो देवयव' की समुदाय परक अभिव्यक्ति स्वीकारते है। वक्ष्यमाण मन्त्र मे वर्णित, सुविदत्र, बर्हिषद् को विष्णु का नपात् तथा विक्रमण को पितरो का ज्ञापक मानते है। रॉथ बन्धु को ''बन्धुवर्ग'' के अर्थ मे लेते है। जबकि

लुड्विग ने सायण के व्याख्यान का अवगमन ही नही किया है। इनका विचार है कि सायण बन्धु तथा उत्स को एक मानते है। इस पर आधृत उनका अर्थ है–

''उससे सम्बद्ध वहॉ विशाल गतिशील विष्णु के उच्चतम स्थान मे मधु–निर्झर है'' लुड्विग का यह भी कथन है कि भक्त विष्णु–लोक मे निवास इस लिए करना चाहता है, कि वहॉ बन्धुभूत मधुस्रोत की स्थिति है।

सायण बन्धु तथा उत्स को भिन्न मानते है और बन्धु को विष्णु के लिए प्रयुक्त मानते हैं, न कि उत्स के लिए।

पीटर्सन इसीलिए लुड्विग के अर्थ को भ्रान्त मानते है जो सर्वथा समीचीन है पीटर्सन के अनुसार बन्धु पद देवता और भक्त के मध्य बन्धन का सड्केत करता है– निश्चय ही विष्णु की बन्धुता एवविध है कि मै भी वहॉ जय की आशा कर सकूॅ। इसके सक्षेप मे 'युवयोर्हि न सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुकृत् तस्य वित्तम्' ऋ० ७/७२/२ उद्धृत कर इसमे प्रयुक्त सख्या और बन्धु को समानार्थक मानते है। जबकि

विल्सन ने "for to such a degree is he the friend (of the pious men)" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पिशेल 'इत्था' तथा 'एत्थ' को समीकृत करते है तथा इसका अर्थ 'यहॉ' मानते है – उसके उत्तरार्द्ध का भाषान्तर है– ''विशाल गतिशील विष्णु के उच्चतम प्रदेश से नि सन्देह हमारा सम्बन्ध है, वहॉ मधु–निर्झर है।'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "close akin to wide strider" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल 'स' को पाथ का निर्देशक स्वीकारते है तथा बन्धु के सामीप्य के कारण नपुसक के स्थान पर पुलिड्ग का भी प्रयोग मानते है। मैक्डानल ने इस पाद का ''वह लोक निश्चय ही विस्तृत गति वाले विष्णु के समान'' अर्थ निश्चित किया है।

वस्तुत सायण का अर्थ सर्वाधिक युक्तिसड्गत है। प्रथमाश मे 'तत्' प्रसिद्धि परामर्शक है और उसका सम्बन्ध 'यत्र' से है। मन्त्र के उत्तराश का 'स' विष्णु को ही निर्दिष्ट करता है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर और **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य विद्वान् इसे "सम्बन्ध बन्धुत्व" के अर्थ मे मानते है। और वैदिक प्रयोग इसी मत की पुष्टि करता है।

पाथः –

वेड्कटमाधव ने पाथ का अर्थ "स्थानम्" निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने पाथ का अर्थ "पाथ अन्तरक्षिम्। उदकमपि पाथ उच्यते। अन्नमपि पाथ उच्यते।" किया है। जबकि

सायणाचार्य पाथ को "अविनश्वर ब्रह्मलोक" एव "अन्तरिक्ष" का वाचक मानते है। जबकि

दयानन्द सरस्वती एव **विल्सन** ने पाथ पद का अर्थ "मार्ग" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का 'गृह' एव "mansion" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "अधिकृत प्रदेश" (domain) अर्थ किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर एव **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य भाष्यकार वेड्कटमाधव के अर्थ "स्थानम्" को स्वीकार करते है" जो उचित है।

देवयवः –

देवयु की व्युत्पत्ति है – देव देवान् वा आत्मन इच्छति इति 'देवयु' इसी का प्रथमा बहुवचनान्त रूप देवयव होगा जिसका अर्थ हुआ–**सायण** के अनुसार "यज्ञ दानादि द्वारा विष्णु को प्राप्त करने की इच्छा वाले जन" "द्योतमान स्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्त"। किन्तु इसका सीधा अर्थ "देवकामा"(देवो की कामना वाले) है। देवयव पद नर पद का विशेषण है।

वेड्कटमाधव ने देवयव पद का अर्थ "देवकामाः" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने देवयव पद का अर्थ 'दिव्य लोगो की कामना करने वाला' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **मैक्डानल** ने देवयवो पद का अर्थ "देवो के उपासक जन" या "देवो के भक्तजन" निश्चित किया है। जबकि

पाथ – ऋग्वेद १/१५४/५

देवयव – ऋ० १/१५४/५

पीटर्सन ने देवयव पद का अर्थ "देव भीरूजन" निश्चित किया है।

भूरिश्रृङ्गाः –

वेड्कटमाधव ने इसका अर्थ "रश्मय बहुशिरस्का" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "बहुदीप्तय" और **दुर्गाचार्य** ने "बहुदीप्ता" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणचार्य के अनुसार भूरिश्रडगा पद का अर्थ "अत्यन्तोन्नत्युपेता बहुभिराश्रयणीया, अर्थात् सायण के अनुसार "अत्युन्नत अथवा सर्वाश्रयणीय किरणे अर्थ होगा।

यास्काचार्य ने इसका अर्थ "किरणे" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल के मतानुसार सम्भवत सायण का अर्थ सड्गत है। उषस् रश्मियॉ गायो के साथ तुलित हुई है तथा प्रकाश लोक विष्णु के तृतीय पाद के अनुरूप सूर्य–प्रकाशसम्बद्ध पदार्थ ही उपयुक्त है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने भूरिश्रृड्गा पद का अर्थ 'बहुत तेजो के समान उत्तम तेजो वाले' निश्चित किया है। जबकि

राॅथ ने इस पद का अर्थ "Stars" अर्थात् 'तारे' निश्चित किया है।

पीटर्सन, रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर ने सम्भवत अगणित या विविध किरण युक्त तारे भूरिश्रृड्गा पद का अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल रॉथ पर आधृत पीटर्सन के मत को भ्रान्त एव आधारहीन कहते हैं। भूरिश्रृड्गाणि यासा ता यह भूरिश्रृड्गा पद गाव पद का विशेषण है। जिसका अर्थ मैक्डानल के अनुसार 'बहुत सी अथवा विशाल सीगो वाली' निश्चित किया गया है। मैक्डानल का मत है कि यह पद सूर्य किरणो के विभिन्न स्थानो की ओर, गमन का निर्देशक है।

इस प्रसड्ग मे यह भी स्मर्तव्य है कि विष्णु का 'गो' और 'गोपो' से भी सम्बन्ध है– विष्णुर्गोपा परम पाति पाथ, (ऋ० ३/५५/१०) गोपा अदाभ्य (ऋ० १/२२/१८)।

'अतएव "विशाल सीगो वाली गाये' अर्थ अधिक युक्तिसड्गत है।

अयासः –

स्कन्दस्वामी ने अयास का अर्थ "अयना गमनशीला" निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इस पद का "गच्छन्त" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

भूरिश्रृड्गा – ऋग्वेद १/१५४/६

आयासः – ऋग्वेद १/१५४/६

यास्काचार्य ने इसकी व्याख्या "अयना" रूप मे की है। जबकि

सायण के अनुसार अयास पद का "अयना गन्तारोऽतिविस्तृता । यद्वा यासो गन्तार । अतादृशा , अत्यन्त–प्रकाशयुक्ता इत्यर्थ ।" अर्थात् सायणाचार्य ने अयास पद का गमनशील, गतिमती, अति विस्तृत तथा गतिरहित, परमप्रकाश युक्त, अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अयास पद का अर्थ 'प्राप्त हुए' निश्चित किया है। जबकि

दुर्गाचार्य ने "अयना मुहूर्तमप्यनवस्थायिन" अर्थ किया है। जबकि

पाश्चात्य व्याख्याकार **रॉथ** के अनुसार अयास पद का "द्रुतगामी, तीव्र, सक्रिय, तेज, चुस्त, चालाक, हलका, विशारद, प्रवीण, दक्ष, विज्ञ, निपुण" आदि विस्तृत अर्थो को निश्चित किया है। तथा अयास पद का अर्थ 'परिश्रम न करने वाली या न थकाने वाली' होगा अर्थात् वे रश्मियॉ जो बिना थके अर्थात् अपने आप जाती है। **रॉथ** के अनुसार यह पद गो अश्व, सिह, अर्चि और अजर के विशेषणरूप मे प्रयुक्त हुआ है। जबकि

मैक्डानल का कथन है कि सिह मरूत् तथा अश्व का विशेषण होने से अयास पद का "सक्रिय, चपल, एत्वर" होना चाहिए। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ– "wide spreading" निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने भी इसका अर्थ 'अथक' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर और **पीटर्सन** ने इसका अर्थ "अनथक" (Unwearying) किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **मैक्डानल** ने इस पद का अर्थ "nimble" अर्थात् 'चञ्चल–चपल' निश्चित किया है।

मनस्वान् –

सायणाचार्य ने मनस्वान् पद का अन्वय य प्रथम (मनस्वान्) देव आदि पदो के साथ किया है। मनस्वान् पद को सायण ने देव पद का विशेषण मानते हुए मनस्वान् पद का अर्थ "मनस्विनामग्रगण्य·" अर्थात् "मनस्वियो या बुद्धिमानो मे अग्रणी" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने मनस्वान् पद का अर्थ 'जिसमे विज्ञान विद्यमान् है' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने मनस्वान् पद का अर्थ 'बुद्धिमान्' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने मनस्वान् पद का अर्थ घोर, उग्र, भीषण आदि निश्चित किया है।

मनस्वान् – ऋ० २/१२/१

पर्यभूषत् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत्'' यद्वा ''सर्वानन्यान्देवान्पर्यभूषत् पर्यभवत् अत्य– क्रामत्' अर्थात् ''राक्षसो से अभिभूत किया'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्क तथा **वेड्कटमाधव** ने ''पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षद् अत्यक्रामदिति वा'' अर्थ किया है, अर्थात् यास्क ने इसके चार अर्थ किए है **१.** पराभूत किया, २. चारो ओर से ग्रहण किया, **३.** चारो ओर से रक्षा की, ४ अतिक्रमण किया। जबकि

सायणाचार्य ने 'परिभूषति' का व्याख्यान ''परिगृह्णाति'' और ''आभूषति'' का ''सर्वतोऽलड्करोति'' किया है। जबकि

पीटर्सन तथा **कीथ** ने ''सुशोभित किया'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने भी इस पद का ''सुशोभित किया'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "has done honour" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "became protector" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Protected" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने पर्यभूषत् पद का ''विभूषित किया'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ ''सब ओर से विभूषित करता है'' सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने "Surpassed" अर्थ किया है परन्तु इन्होने पर्यभूषत् पद का कोई एक अर्थ निश्चित नही किया है। प्रसडगानुसार यहॉ पर ''अभिभूत करना'', ''लॉघना'', ''अतिक्रमण करना'' आदि अर्थ उचित है।

तैत्तिरीय संहिता मे पर्यभूषत् पद का अर्थ ''नीचा दिखाना'' उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि करता है।

शुष्मात् –

यास्क तथा **सायण** ने शुष्मात् पद का अर्थ ''बलात्'' निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने ''शोषकात् तेजस'' अर्थ किया है। निघण्टु मे शुष्मम् पद को ''बल'' के नामो में गिनाया गया है।

दयानन्द सरस्वती ने भी इसका अर्थ ''बल से '' सुनिश्चित किया है। जबकि

पर्यभूषत्	–	ऋग्वेद	२/१२/१
शुष्मात्	–	ऋ०	२/१२/१

सायण की भॉति **ग्रासमैन** ने भी इसका ''बल'' अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका ''प्रकोप'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल इसका अर्थ "vehemence" निश्चित करते हैं। जबकि

ग्रिफिथ तथा **कीथ** ने "breath" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने भी ''श्वास पर'' ''श्वास के सामने से'' आदि अर्थ निश्चित किया है। पीटर्सन का मन्तव्य है कि श्वास का अर्थ ''शक्ति'' है अर्थात् पद्य को गद्य मे परिवर्तित कर देना।

हिन्दी मे शुष्म का ''दम'' अर्थ उपयुक्त है, जिसमे दम नही वह शक्तिहीन होता है। इस प्रकार वेड्कटमाधव द्वारा दिया गया व्याख्यान अन्य व्याख्यानो से अधिक उपयुक्त है।

व्यथमानाम् –

सायण और **वेड्कटमाधव** ने व्यथमानम् पद का ''चलती हुई'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने ''क्षुब्ध पर्वतो को शान्त किया'' अर्थ किया है। यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अहिम् –

ऋग्वेद मे इन्द्र वृत्र के युद्ध का अनेकश वर्णन उपलब्ध होता है। वृत्र जल को अवरूद्ध कर छिपा कर रखने वाला असुर है। इन्द्र वर्षा का अधिदेवता है। इन्द्र ने सोमपान कर त्वष्टा–निर्मित वज्र द्वारा इस का वध किया। धेनुओ की भॉति रॅभाती हुई जल–धाराऍ मुक्त होकर समुद्र की ओर धल पडी।

सायणाचार्य ने अहिम् पद का अर्थ ''मेघम्'' किया है। जबकि

निघण्टु मे अहि शब्द मेघनामो मे पठित है। वृत्र शब्द का परिगणन भी मेघनामो मे है किया गया है। जबकि

पीटर्सन तथा **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य विद्वान् इसका शाब्दिक अर्थ "Serpent" करते है। जबकि

ग्रिफिथ एव **गैल्डनर** ने इसका अर्थ "Dragon" निश्चित किया है। जबकि

ऋग्वेद के अन्य स्थालो की भॉति यहा पर भी 'अहि' शब्द 'वृत्र' के लिए प्रयुक्त किया है। ऋग्वेद मे अहि, दानु, शम्बर, वल, वृत्र आदि सभी 'मेघो' के पर्याय रूप मे है जो वैदिक ऋषियो की कल्पना के सहारे

व्यथमानाम् – ऋग्वेद २/१२/२

अहिम् – ऋ० २/१२/३

देवशास्त्रीय मानवीयकरण की प्रक्रिया मे ढलकर राक्षसो के नाम रूप मे परिवर्तित हो गये। अवेस्ता का 'वरथ्र' और 'अजि (दहाक)' ऋग्वेद के 'वृत्र' और 'अहि' है, जो प्राचीनतम सस्कृतियो मे आर्यो के द्वेषी रूप मे प्रतिष्ठित हुए। यहाँ 'अहि' का हनन मेघो के हनन का द्योतक वे जिसके वर्षा होकर नदियाँ प्रवाहित होती है।

अपधा –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्या "बिलान्तरपिहिता" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी एव **दुर्गाचार्य** ने "अपधानेन बिलोद्घाटनेन", "अनावृत करना" अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "तत्कर्तृकान्निरोधत्", "बल की गुफा या बाडा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अपधा का अर्थ "धारण करने वाला" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो मे **ग्रासमैन, लैनमैन** एवं **वेणलकर** ने स्कन्दस्वामी के समान "उद्घाटन द्वारा" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन, गैल्डनर तथा **ग्रिफिथ** ने सायण का अनुसरण किया है। इन भाष्यकारो ने इसका अर्थ "निरोध", "रूकावट", "बल रूपी रूकावट" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने अपधा का अर्थ "बल के सवृति–स्थान से" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "बल की गुहा की अनावृत्ति" किया है। जबकि

लुड्विग के विचार से "अपधा" शब्द का मूल भाव यान्त्रिकता से सम्बद्ध है, अत· इसका अर्थ "उद्घाटन द्वारा", "खूँटा या चाभी" होना चाहिए।

संवृक् –

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ "छेत्ता" निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इसका अर्थ "दीप्ते स्वीकरण:" निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने भी सवृक् पद का अर्थ "हे कान्ते स्वीकर्त·" ग्रहण किया है। जबकि

दुर्गाचार्य ने इसका अर्थ "सछेत्ता" सुनिश्चित किया है। जबकि

अपधा – ऋग्वेद २/१२/३

सवृक् – ऋ० २/१२/३

सायणाचार्य ने सवृक् पद का अर्थ "सहार करने वाला" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सवृक् पद का अर्थ "सब पदार्थो को पृथक्–पृथक् करने वाला" निश्चित किया है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकारो मे –

ग्रिफिथ ने इसका "विनाशक" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका "लुटेरा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर, मैक्डानल तथा **पीटर्सन** ने "विजेता" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

विल्सन ने सवृक् पद का अर्थ "अविजेय", "दुर्जेय" निश्चित किया है।

च्यवना –

सायणाचार्य ने च्यवना पद का अन्वय–येन इमा विश्वा (च्यवना) कृतानि पदो के साथ करते हुए च्यवना पद का अर्थ "नश्वराणि भुवनानि" निश्चित करके सम्पूर्ण पङ्क्ति का अर्थ "येन इन्द्रेण इमा इमानि विश्वा च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'च्यवना' पद का अर्थ 'प्राप्त हुए लोक' निश्चित किया है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इसके विपरीत अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने "च्यवना" पद का अर्थ "perishable" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "च्यवना" पद का अर्थ "tremble" सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "unstable" ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने च्यवना पद का अर्थ "उलट दिए गए, हिला दिए गए" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने च्यवना पद का अर्थ "जो जङ्गम सृष्टि का निर्माता है" निश्चित किया है।

दासं वर्णम् –

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ "असुरम्", "वारयितारम्" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने दास वर्णम् पदो का अन्वय य दास वर्ण गुहा अधर अक इस प्रकार करते हुए दास वर्णम् पद का अर्थ "शूद्रादिक यद्वा दासमुपक्षपयितारम्" अर्थात् "शूद्रादि वर्ण" एवं "नाश करने वाला" किया है। जबकि

च्यवना – ऋग्वेद २/१२/४

दास वर्णम् – ऋ० २/१२/४

दयानन्द सरस्वती ने दास वर्णम् पद का अर्थ "देने योग्य रूप को" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "servile tribe" निर्धारित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "brood of demons" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "अनार्य वर्ण, 'आदिवासी' आदि अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "विरोधी रड्ग, काली चमडी" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

रॉथ ने इस पद का "राक्षसो की सन्तान" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वृत्र आदि के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि 'दास' शब्द का प्रयोग असुर–पिशाचो के लिए भी हुआ है।

पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार दास–दस्यु का अर्थ असुर स्वीकारना ही युक्ति–पूर्ण एव मान्य है।

अधरम् –

सायणाचार्य ने अधरम् पद का अन्वय – य दास वर्ण गुहा अधरम् अक आदि पदों के साथ किया है। सायण ने अधरम् पद का अर्थ "निकृष्टमसुरम्' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने "अधरम्" पद का अर्थ "हृदय के नीचे" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "base" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "humbled" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "a predicative use meaning" "subject", "नीच बनाया", "वशवद बनाया" निश्चित किया है।

श्वघ्नीव –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "लुब्धक इव" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्क ने इसका अर्थ "श्वघ्नी कितवो भवति। स्व हन्ति" सुनिश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने इसका "जुआरी" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने श्वघ्नीव पदका अन्वय – य. (श्वघ्नीव) लक्षम् जिगीवान् अय पुष्टानि आदत् जनास स.

अधरम् – ऋग्वेद २/१२/४

श्वघ्नीव – ऋ० २/१२/४

इन्द्र (अस्ति) आदि पदो के साथ करते हुए श्वघ्नीव पद का अर्थ "व्याध इव" अर्थात् "शिकारी की भॉति" निश्चित किया है अर्थात् "यथा व्याघो जिघृक्षित मृग परिगृह्णाति तद्वत्"। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने श्वघ्नीव पद का अर्थ "श्वानो (कुत्तो) को दण्ड देने वाली के समान' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "जुआ खेलने वाला" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने इस पद का " like a gambler" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, रॉथ, पीटर्सन आदि अन्य पाश्चात्य विद्वानो ने यास्क के अर्थ को स्वीकार करते हुए इस पद का 'दॉव को जीतने वाले जुआरी की भॉति' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

औफ्रेक्ट ने इस पद का "एक लाख को जीतने वाले जुआरी के समान" अर्थ ग्रहण किया है।

लक्षम् –

वेड्कटमाधव ने इसका "लक्ष्यमाण शत्रुम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने 'लक्षम्' पद का अन्वय – य श्वघ्नीव लक्ष जिगीवान् अर्य पुष्टानि आदत् आदि पदो के साथ करते हुए लक्ष पद का अर्थ लक्ष्य अर्थात् 'शिकारी को' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने लक्षम् पद का अर्थ "लक्ष को" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "Prey" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "winning" ग्रहण किया है। जबकि

रॉथ, गैल्डनर, पीटर्सन, मैक्डानल ने इसका अर्थ "stake" (ग्लह) अर्थात् 'दॉव पर लगाया हुआ धन' किया है।

अर्यः –

वेड्कटमाधव इसका अर्थ "स्तोत्दृणाम्" निश्चित करते हैं। जबकि

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "शत्रो" निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने "आरिरमित्र ऋच्छते। ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव" निर्वचन किया है। जबकि

लक्षम् – ऋग्वेद २/१२/१
अर्य – ऋ० २/१२/१

ग्रिफिथ, मैक्डानल तथा **पीटर्सन** ने अर्य का अर्थ "Foe" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ ''नास्तिक'' (godless) ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने अर्य का अर्थ ''बडे स्वामी का'' निश्चित किया है। गैल्डनर का कहना है कि ''यहॉ पर अर्य पद निर्दयी तथा क्रूर स्वामी को अभिव्यक्त करता है और कुत्सित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। गैल्डनर का व्याख्यान यहॉ पर अधिक उचित प्रतीत होता है।

विजइव –

वेड्कटमाधव तथा **स्कन्दस्वामी** ने इसका अर्थ ''पक्षिण'' सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने विजइव पद का अन्वय – स (विज इव) अर्य पुष्टी आ मिनाती अर्थात् वह उत्तेजित होते हुए की भॉति शस्त्रु के रक्षित धन को चारो तरफ से विनष्ट करता है। इस प्रकार अन्वय करते हुए विजइव पद का अर्थ – ''उद्वेजक एव सन्'' एव ''उद्विग्न करने वाला'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ''विजइव'' पद का अर्थ 'भय से सञ्चलित होकर चेष्टा करने वाले के समान' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "inflicting (chastisement)" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने ''विजइव'' पद का "like birds" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, पीटर्सन, मोनियर विलियम्स तथा **मैक्डानल** ने "like the player's stake" अर्थात् ''दॉव का धन'' अर्थ किया है। Stake के लिए प्रयुक्त हिन्दी का ''बाजी'' शब्द बिज से साम्य रखता है। जबकि

औफ्रेष्ट ने इसका अर्थ ''प्राप्ति'' अथवा ''दॉव'' निश्चित किया है।

सुशिप्रः –

सायणाचार्य ने 'सुशिप्र' पद का अन्वय – य सुशिप्र युक्तग्राव्ण सुतसोमस्य (च) अविता (अस्ति) (हे) जनास स इन्द्र अस्ति आदि पदो के साथ करते हुए सुशिप्र पद का अर्थ 'शोभन हनु सुशीर्षको वा सन्' अर्थात् ''अच्छी ठोडी या सुन्दर सिर वाला'' निश्चित किया है। जबकि

यास्क ने उत्तम ''ठोडी (हनु) या नासिका वाला'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विजइव – ऋग्वेद २/१२/५

सुशिप्र – ऋ० २/१२/६

वेड्कटमाधव ने सुशिप्र पद का ''सुहनु'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सुशिप्र पद का अर्थ 'जिसमे सुन्दर सेवन होते है' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सुशिप्र पद का "of goodly features" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "fair faced" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने सुशिप्र पद का अर्थ "fair lipped" ''सुन्दर ओष्ठ वाला'' निश्चित किया है।

गैल्डनर तथा ग्रासमैन भी ''सुन्दर होठो वाला'' अर्थ करते हैं।

मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ ''सुन्दर कपोलो वाला या सुन्दर जबडो वाला'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "god of the shining face" अर्थ ग्रहण किया है।

रध्रस्य –

सायणाचार्य ने 'रध्रस्य' पद का अन्वय य पद के साथ किया है तथा रध्रस्य पद को इन्द्र के विशेषण के रूप मे ग्रहण करते हुए इस पद का अनेक अर्थ किया है –

१. समृद्ध जनो का प्रेरक अथवा हिसक पशुओ का प्रेरक। रध्राणा समृद्धाना प्रेरक. यद्वा हिसकाना शत्रूणा चोदक

२. राधक समृद्ध धन का प्रेरक

३. राधक यजमान का प्रेरक

४. राधक हिसक शत्रुओ का प्रेरक, जबकि

दयानन्द सरस्वती ने रध्रस्य पद का अर्थ ''हिसा करने वाले का प्रेरक'', ''रूकावटी पदार्थो को प्रेरणा देने वाला'' ''धन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देनेवाला'' आदि निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने सेण्टपीटर्सवर्गकोष मे रध्र–अर्ध (ऋध्) रध्र को निष्पन्न कर उसकी तुलना अवेस्ता के 'अरेन्द्र' पद से की है। रॉथ के अनुसार 'रध्र' पद का अर्थ ''समृद्ध' 'देवों को प्रसन्न करने वाला धार्मिक'' । रॉथ अरध्र शब्द का अर्थ 'निरलस' 'आलस्यरहित' निश्चित करते है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का ''निर्धन'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर के मत मे रध्रस्य पद का अर्थ ''दुर्बल'', ''विनीत या सौम्य'' अर्थ सुनिश्चित किया गया है। जबकि

रध्रस्य – ऋग्वेद २/१२/६

ग्रासमैन ने रध्रस्य पद का अर्थ "श्रान्त, थका हुआ" निश्चित किया है। जबकि

औफ्रेष्ट के अनुसार 'रध्र' पद का "an honest man" अर्थात् इस पद का 'ईमानदार' एव 'कृश' का निर्धन अर्थ होना चाहिए। जबकि

पिशेल का अभिमत है कि 'रध्रस्य–चोदिता'' पद का अर्थ है – 'जो कृपण को उदार बनाने के लिए विवश कर देता है'। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इसका "willing, pliant, obedient" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रध्रस्य का व्याख्यान **सायण** तथा **वेङ्कटमाधव** "समृद्धस्य" करते है। **रॉथ, पीटर्सन, मैक्डानल** आदि ने सायण एव वेङ्कटमाधव के व्याख्यान का अनुसरण किया है। **सायण** ने अन्यत्र वैकल्पिक व्याख्यानो मे रध्रस्य पद का अर्थ "हिसक शत्रु" "आराधक यजमान" "राधक स्तोता" भी किया है।

यहॉ पर मोनियर–विलियम्स द्वारा सुझाया गया "obedient" अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है। इन सभी प्रसङ्गो मे "आज्ञाकारी" का अर्थ है "देवो की आज्ञा" अर्थात् "शाश्वत नियमो के अधीन रहने वाला पुरूष"।

कीरेः –

वेङ्कटमाधव तथा **सायण** ने कीरे पद का अर्थ "स्तोतु" अर्थात् "स्तोता" किया है। जबकि

ग्रिफिथ, ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** ने इस पद का "Singer" अर्थात् "मन्त्रो का गायक" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने कीरे पद का "निर्धन" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पिशेल ने कीरे पद का अर्थ लघु, निकृष्ट, निर्धन आदि निश्चित किया है।

यहॉ पर प्रसङ्गानुसार कीरे का अर्थ "स्तोता" या "कवि" ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

क्रन्दसी –

इसका व्याख्यान **वेङ्कटमाधव** ने "सक्रदमाने" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "रोदसी, शब्द कुर्वाणे मानुषी दैवी चा द्वे सेने वा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

उव्वट तथा **महीधर** ने "द्यावापृथिव्यौ" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

कीरे – ऋग्वेद २/१२/६

क्रन्दसी – ऋ० २/१२/८

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का अर्थ 'रोने का शब्द करने वाले' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने परम्परागत अर्थ का अनुसरण करते हुए "Heaven and Earth" व्याख्यान किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "calling" निर्धारित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ " two battle arrays" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने क्रन्दसी पद का अर्थ " two armies" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मोनियर विलियम्स आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने क्रन्दसी पद का अर्थ ''युद्ध–ललकार'' किया है, परन्तु यहॉ पर इसका अर्थ ''युद्ध के लिए ललकारी हुई दो सेनाएँ'' निश्चित किया है। प्रसङ्गानुसार यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा –

सायणाचार्य ने इस पद का अन्वय य क्रन्दसी सयती विह्वयेते (य) परे अवर उभया अमित्रा आदि पदो के साथ करते हुए उपर्युक्त पदो का अर्थ– 'समान–इन्द्ररथसदृश रथम् आतस्थिवासा–आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्र नाना पृथक्–पृथक् हवेते आह्वयेते। यद्वा समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नि हवेते यज्ञार्थ यजमानै. पृथगाहूयेते तयोरन्यतर स इन्द्र. नाहमिति', अर्थात् सायणाचार्य ने समान चिद्रथमातस्थिवासा पदो के द्विधा अर्थ प्रस्तुत किए है –

१. इन्द्र रथ के सदृश रथ पर आरूढ दो वीर। अथवा

२. एक रथ पर आरूढ इन्द्र और अग्नि। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इन पदो का अर्थ समान रथ पर बैठे हुये या 'इन्द्र रथ पर आरूढ युद्धेच्छुक दो नरेश' (युयुत्सू राजानौ) निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इन पदो का अर्थ ''शत्रुजन जैसे समान रथ आदि यान को सब ओर से स्थिर अनेक प्रकार से ग्रहण करते है वह (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् है यह जानना चाहिए,'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन, गैल्डनर, ग्रिफिथ एव **मैक्डानल** ने समानं चिद्रथमातस्थिवासा पदो का अर्थ 'एक ही रथ पर आरूढ योद्धा एव सारथि' अर्थ निश्चित किया है। आधुनिक विद्वानों का यह अनुमान अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

समानं चिद्रथमातस्थिवासा – ऋग्वेद २/१२/८

प्रतिमानम् –

सायणाचार्य ने 'प्रतिमानम्' पद का अन्वय य विश्वस्य पदो के साथ करते हुए प्रतिमानम् पद का अर्थ 'प्रतिनिधि' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'प्रतिमानम्' पद का अर्थ 'परिमाण–साधक' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने प्रतिमानम् पद का अर्थ 'समर्थ', जोडा (Match) निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "who is the image of this world" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने इसका अर्थ "match" अर्थात् (समान महत्ता या बल वाला) सुनिश्चित किया है।

यहॉ पर 'प्रतिमान' का अर्थ प्रतिरूप, प्रतिमूर्ति या प्रतिनिधि ही करना अधिक उपयुक्त होगा।

शर्धते –

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ ''बल का प्रदर्शन करने वाला'' किया है। जबकि

सायणाचार्य ने शर्धते पद का अन्वय – य. शर्धते शृध्या न अनुददाति (जो उत्साही के उत्साह को अर्थात् उत्साही (व्यक्ति) के (उत्तेजनात्मक) उत्साह को क्षमा नही करता) इत्यादि पदो के साथ किया है।

सायण ने शर्धते पद का अर्थ ''उत्साह कुर्वते अनात्मज्ञाय जनाय'' (bold) अर्थात् ''उत्साही'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने शर्धते पद का अर्थ 'कुत्सित–निन्दित पाप युक्त शब्द करने अर्थात् उच्चारण करने वाले के लिए' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "who provokes" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का अर्थ "confident" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने शर्धते का अर्थ "arrogant" 'अभिमानी' 'दृप्त' 'उद्दण्ड' आदि निश्चित किया है।

अमन्यमानान् –

सायणाचार्य ने 'अमन्यमानान्' पद का अन्वय य. शश्वत महि एन. दधानान् पदो के साथ करते हुए अमन्यमानान् पद का अर्थ –

प्रतिमानम् – ऋग्वेद २/१२/६
शर्धते – ऋ० २/१२/१०
अमन्यमानान् – ऋ० २/१२/१०

१. 'अपने को न जानने वाला' अनात्मज्ञ अथवा

२. 'इन्द्र की पूजा न करने वाला' निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने अमन्यमानान् पद का अर्थ 'इन्द्र को न मानने वाले' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'अमन्यमानान्' पद का अर्थ 'अज्ञानी शठ पापियो को' निश्चित किया है। जबकि

मैकडानल ने अमन्यमानान् पद का अर्थ 'इन्द्र उन्हे मार डालेगा, ऐसा विचार न करने वाले पापियो को' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "ere they know their danger" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "offering (him) no homage" अर्थ विनिश्चित किया है।

श्रृध्याम् –

वेङ्कटमाधव ने इसका ''बलवत्ताम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने 'श्रृध्याम्' पद का अन्वय–'य शर्धते (श्रृध्या) पदो के साथ करते हुए श्रृध्या पद का अर्थ–'उत्साहनीय कर्म' निश्चित किया है।

ग्रिफिथ ने भी सायणाचार्य के ही अर्थ को स्वीकार किया है। ग्रिफिथ ने श्रृध्याम् पद का अर्थ "Boldness" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने श्रृध्याम् पद का अर्थ 'निन्दित शब्द का उच्चारण न करने वाले' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का अर्थ "success" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर एव **मैक्डानल** ने इस पद का "arrogance" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "Stubbornness" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ तथा **मोनियर-विलियम्स** ने इस पद का "boldness", "defiance" अर्थ किया है।

वस्तुत श्रृध्याम् पद का वास्तविक अर्थ ''उत्साह करने का बल'' है।

अनुददाति –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''अनुप्रयच्छति शीघ्रं तं हन्ति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

शृध्याम् – ऋग्वेद २/१२/१०

अनुददाति – ऋ० २/१२/१०

सायणाचार्य ने अनुददाति पद का अन्वय–य शर्धते श्रृध्या न (अनुददाति) पदो के साथ करते हुए अनुददाति पद का अर्थ 'न प्रयच्छति' अर्थात् 'नही देता, नही करने देता' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अनुददाति पद का अर्थ 'अनुकूलता से देता है' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो मे **गैल्डनर, ग्रिफिथ** तथा **मैकडानल** के अनुसार – अनुददाति पद का अर्थ "क्षमा करना" (चतुर्थ्यन्त पदो के योग मे) निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने अनुददाति पद का अर्थ स्वीकारना, सहमति दिखलाना, झुक जाना, क्षमा करना आदि वृहद् अर्थो मे अनुददाति पद का अर्थ ग्रहण किया है।

सप्तरश्मिः –

सायणाचार्य ने सप्तरश्मि पद का अन्वय–य सप्तरश्मि वृषभ तुविष्मान् सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत् आदि पदो के साथ किया है। सायण ने सप्तरश्मि पद का अर्थ 'सप्त सख्यक पर्जन्य रूपी रश्मियो वाला'

सप्तसख्याका पर्जन्या रश्मयो यस्य ते च सप्तरश्मय निश्चित किया है। (having seven kinds of clouds that pour rain on the earth) जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सप्तरश्मि पद का अर्थ 'सात प्रकार की किरणो से युक्त' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "hard to restrain irresistible" निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने इस पद का "seven rays are the seven forms of Indra" अर्थ किया है। जबकि

मैक्डानल के अनुसार इसका अर्थ है 'सातनाथो वाला' इनके मत मे इसका सम्भाव्य अर्थ दुर्धर्ष, दुर्घट, अप्रतिहत, अव्याहत है। जबकि

पीटर्सन ने "उन सात रज्जुओ से युक्त', जो उसे नेतृत्व प्रदान करती है, प्रकाशित करती हैं" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

तैत्तिरीय आरण्यक मे सात पर्जन्य कहे गए है – वराहु, स्वतपस, विधुत्, महत्, धूपि, श्वापि तथा गृहमेधस्। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **मोनियर विलियम्स** ने इसका अर्थ "seven-reined" किया है। गैल्डनर ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि "इस साण्ड को एक लगाम नियन्त्रण में नहीं रख सकती अर्थात् इसे नियन्त्रिण करने के लिए सात (अर्थात्) अनेक लगामो की आवश्यकता है" अर्थ निश्चित किया है।

सप्तरश्मि – ऋग्वेद २/१२/१२

वृषभः –

सायणाचार्य ने वृषभ पद का अन्वय य सप्ररश्मि वृषभ तुविष्मान् आदि पदो के साथ करते हुए वृषभ पद का अर्थ 'वर्षक' निश्चित किया है।

वेड्कटमाधव ने भी सायण के ही अर्थ को स्वीकार किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने वृषभ पद का अर्थ 'मेघ की शक्ति को रोकने वाला' निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन, ग्रिफिथ एव **मैकदोनेल** ने वृषभ का अर्थ 'बैल' निश्चित किया है।

वृषभ पद देवताओ के लिए विशेषत इन्द्र के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यह महती शक्ति, उर्वरता, अमोघवीर्यता का निर्देशक है।

इस प्रकार वृषभ के दो मुख्य अर्थ है– **१.** सॉड **२.** वर्षा करने वाला मेघ

तुविष्मान् –

सायणाचार्य ने तुविष्मान् पद का अन्वय य सप्तरश्मि वृषभ तुविष्मान् पदो के साथ करते हुए 'तुविष्मान्' पद का अर्थ 'बुद्धिमान्' निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने तुविष्मान् पद का अर्थ "बलवान्", "शक्तिशाली" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने तुविष्मान् पद का अर्थ 'बहुत बल से खीचने की शक्ति से युक्त सूर्यलोक' निश्चित किया है। इस प्रकार दयानन्द जी ने सायणाचार्य से बिल्कुल विपरीत अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने तुविष्मान् पद का अर्थ अन्य भारतीय भाष्यकारो के अर्थो का समावेश करते हुए "शक्तिशाली, बलवान्, समर्थ" आदि निश्चित किया है।

रौहिणम् –

वेड्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने रौहिणम् पद का अन्वय य वज्रबाहु द्याम् आरोहन्तम् . . पदों के साथ करते हुए रौहिणम् पद का 'असुरम्' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने रौहिणम् पद का अर्थ 'चढने के शील वाले मेघ को' निश्चित किया है।

निघण्टु 'रौहिणम्' पद को मेघनामो मे परिगणित करता है। जबकि

वृषभ	–	ऋग्वेद	२/१२/१२
तुविष्मान्	–	ऋ०	२/१२/१२
रौहिणम्	–	ऋ०	२/१२/१२

हिलब्रान्त ने इसे रौहिणी नक्षत्र का अभिधान माना है। जबकि

मैक्डानल ने रौहिणम् पद का अर्थ 'रोहिणी का पुत्र' निश्चित किया है।

इस प्रकार 'रौहिणम्' पद के तीन अर्थ हुए– **१.** रोहिण नामक असुर, २ आकाश मे चढने वाला मेघ ३ रोहिणी नक्षत्र

वेङ्कटमाधव ने निचित पद का "दृढशरीर" अर्थ निश्चित किया है।

निचितः –

सायणाचार्य ने 'निचित' पद का अन्वय य वज्रबाहु निचित सोमपा पदो के साथ करते हुए निचित का अर्थ–'सर्वै' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने निचित पद का अर्थ 'निरन्तर अनेक पदार्थो से एकत्र किया गया' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "the firm" (of frame) सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल और **ग्रिफिथ** ने इसका अर्थ "known" निश्चित किया है।

शंसन्तम् –

सायणाचार्य ने शसन्तम् पद का अन्वय य ऊती शसन्तम् आदि पदो के साथ करते हुए इसका अर्थ–'शस्त्रपाठ करते हुए' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने शसन्तम् पद का अर्थ 'प्रशसा करते हुए' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'शसन्तम्' पद का अर्थ 'गायक, स्तोता' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने शसन्तम् पद का अर्थ 'देवताओ की प्रशसा करने वाला' निश्चित किया है।

शस्त्रपाठ मे मन्त्रो का गान नही किया जाता है। मन्त्रो का इसमे बिना ठहरे या विराम दिए हुए पाठ करना होता है। इन मन्त्रो मे देवताओ के गुण का कथन रहता है।

शशमानम् –

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ "स्तुतिभि अर्चयन्तम्" निश्चित किया है।

निचित – ऋग्वेद २/१२/१२

शसन्तम् – ऋ० २/१२/१४

शशमानम् – ऋ० २/१२/१४

सायणाचार्य ने 'शशमानम्' पद का अन्वय–य ऊती शसन्त य शशमानम् (अवति) आदि पदो के साथ करते हुए शशमानम् पद का अर्थ स्तोत्र कुर्वाणम् अर्थात् 'स्तोत्रगान करने वाला' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने शशमानम् पद का अर्थ सायण से बिल्कुल विपरीत 'अधर्म का उल्लघन करते हुए को' निश्चित किया है। जबकि

यास्क ने शशमानम् पद का अर्थ 'प्रशसा करते हुए' 'अर्चना करते हुए' निश्चित किया है। जबकि

मैकडानल ने इसका अर्थ 'यज्ञ निष्पादक' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'देवताओ की सेवा मे रत रहना, श्रद्धालु हो प्रार्थना करना' आदि अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ ''कार्यशील'', ''परिश्रमी'', ''देव पूजा मे प्रयत्नशील'' निश्चित किया है। मैकडानल तथा गैल्डनर ने इसी अर्थ का अनुसरण किया है।

राधः –

वेङ्कटमाधव ने इसका ''अन्न हविश्च'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने 'राध ' पद का अन्वय यस्य इद राध पदो के साथ करते हुए राध पद का अर्थ 'पुरोडाशादि अन्न' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द ने 'राधः' पद का अर्थ 'धन' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'राध ' पद का अर्थ 'उपहार' ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन तथा **ग्रिफिथ** ने इसका यौगिक अर्थ ''दान'' (gift) निश्चित किया है।

दुध्रः –

सायण एव **वेङ्कटमाधव** इसका व्याख्यान ''दुर्धर'' करते है। अन्यत्र सायण ने इसका ''दुर्धर्ष'' अर्थ भी किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स, ह्विटने, ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ "Violent, impetuous, fierce" करते है। जबकि

वैदिक प्रयोगो से दुध्र शब्द के ''भयङ्कर'', ''घोर'' अर्थ को समर्थन मिलता है।

राध – ऋग्वेद २/१२/१४

दुध्र – ऋ० २/१२/१५

वाजम् –

वेड्कटमाधव ने इसका ''अन्नम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने 'वाजम्' पद का अन्वय (हे) इन्द्र, य दुध्र (सन्) पचते वाजम् आ ददर्षि स (त्वम्) सत्य किल असि, आदि पदो के साथ करते हुए 'वाजम्' पद का अर्थ 'अन्न बल वा' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने वाजम् पद का अर्थ ''सबके वेग को'', ''ज्ञान अथवा अन्न को'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे वाजम् पद बलनामो मे पठित है। जबकि

मैक्डानल ने वाजम् का अर्थ 'लूट का माल' निश्चित किया है।

सेण्टपीटर्सवर्गकोष मे – तीव्रता, दौड, दौड का विजयधन, लाभ, निधि, घुडदौड का घोडा आदि अर्थ दिए गए है। यद्यपि इन समग्र अर्थो के मूल का अन्वेषण अशक्य है, तथापि बल, कलह, सघर्ष, दौड़ आदि अर्थ सम्भव है। इस प्रकार दौड या समर मे विजित पदार्थ आदि अधिक व्यापक अर्थो की प्राप्ति हो सकती है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "strength" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "rich gifts" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का ''पुरस्कार'' अर्थ सुनिश्चित किया है।

प्रसड्गानुसार वाज शब्द ''बल'' एव ''सड्ग्राम'' आदि अर्थो में भी प्रयुक्त होता है।

आदर्दर्षि –

सायणाचार्य ने अदर्दर्षि पद का अन्वय (हे) इन्द्र, य· दुध्र (सन्) पचते वाजम् आ दर्दर्षि आदि पदो के साथ किया है तथा आदर्दर्षि पद का अर्थ 'प्रचुर रूप मे प्राप्त कराते हो' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने आदर्दर्षि पद का अर्थ 'सब ओर से निरन्तर विस्तीर्ण करते हो' निश्चित किया है। जबकि

मैकडानल ने आदर्दर्षि पद का अर्थ 'छीन कर देते हो' अर्थ निश्चित किया है।

वाजम् – ऋग्वेद २/१२/१५

आदर्दर्षि – ऋ० २/१२/१५

उमश्रवस्तमम् –

सायण ने इसका व्याख्यान "उपमीयतेऽनयेत्युपमा। सर्वेषामन्नानामुपमान श्रवोऽन्न यस्य स तथोक्त अतिशयेनोपमश्रवा' अर्थात् "सर्वश्रेष्ठ कीर्ति वाले" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "abounding beyond measure in (every kind of) food" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "the fomousest of all" अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "the most illustrious having the highest renown" अर्थ विनिश्चित किया है।

असूर्य –

सायणाचार्य ने इसका "असुरो को नष्ट करने वाले" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "immortal" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "divine" अर्थ सुनिश्चित किया है।

परिरपः –

सायण ने इसका "परितो रप पापरूप रक्ष। यद्वा परिवदतो निन्दकान् अर्थात् निन्दको को" अर्थ किया है। जबकि

विल्सन तथा **ग्रिफिथ** ने इस पद का "Revilers" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका "whisperers of evil words" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "quibbles", "evasions" अर्थ सुनिश्चित किया है।

द्वयाविनः –

सायणाचार्य ने इसका "वञ्चका", "दो पक्षी बोलने वाले" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "dissemblers" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "double tongued creatures" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "double dealers" अर्थ निश्चित किया है।

उमश्रवस्तमम्	–	ऋग्वेद	२/२३/१
असूर्य	–	ऋ०	२/२३/२
परिरप	–	ऋ०	२/२३/३
द्वयाविन	–	ऋ०	२/२३/५

ध्वरसः –

सायण ने इसका 'हिसिका'' अर्थ सुनिश्चित किया है। इसके अतिरिक्त "destruction", "destroying armies" अर्थ भी सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने इसका "beguilers" अर्थ सुनिश्चित किया है।

ह्वरः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''कौटिल्य'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "deceit" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "snare" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "traps" and "wiles" अर्थ सुनिश्चित किया है।

हरस्वती –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''वेगवती'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन और **ग्रिफिथ** ने "precipitate" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "in wrath" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सानुकः –

सायणचार्य ने इस पद का ''अभिमानी'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने 'सानुक सुच्छ्रित । सानु समुच्छ्रितम् इति यास्क' निर्वचन किया है। जबकि

विल्सन तथा **ग्रिफिथ** ने "Arrogant" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

रॉथ एव **पीटर्सन** ने इसका "greedy" अर्थ निश्चित किया है।

अधिवक्तारम् –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''हमारी ओर से बोलने वाले'' सुनिश्चित किया है। जबकि

ध्वरस	–	ऋग्वेद	२/२३/५
ह्वर	–	ऋ०	२/२३/६
हरस्वती	–	ऋ०	२/२३/६
सानुक	–	ऋ०	२/२३/७
अधिवक्तारम्	–	ऋ०	२/२३/८

विल्सन ने इसका "Speaker of encourageous words" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "comforter" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "befriend" अर्थ सुनिश्चित किया है।

दुरेवाः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "दुष्टगमना दुर्बुद्धय शत्रव" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ "of evil manner or way" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "of evil will or inclination or ardour" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "evil-minded" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "malevolent" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "unrighteous" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वीळुहर्षिणः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "दृढहर्षस्य कामुकस्य नास्तिकस्य" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "exulting" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "widely passionate" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "Stubborn excite" अर्थ सुनिश्चित किया है।

शासाम् –

सायणाचार्य ने इस शब्द का "शासितृणामुग्र इति वा योजनीयम्", "स्तुति–गायक को" अर्थ किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "worshipper" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "mid-lords" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

दुरेवा – ऋग्वेद २/२३/८

वीळुहर्षिण – ऋ० २/२३/११

शासाम् – ऋ० २/२३/१२

ग्रासमैन ने इसका "revilers" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "among those that command" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इसका "by commands" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "by his ability to punish" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अति यदर्यो अर्हात् –

सायणाचार्य ने इसका "जिससे श्रेष्ठ आर्य अधिक रूप से पूजा कर सके" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "wherewith the pious man may worship exceedingly" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "that which the foe deserves not" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "such as would be worth beyond the reach of our opponents" अर्थ सुनिश्चित किया है।

निरामिणः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "नितरा रमणशीला." अर्थात् "आनन्द पूर्वक घूमते हुए" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "delighting" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "who sits at ease" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "Stopping" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वि व्रयः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "विशेषेण वर्जनम्" अर्थात् "विशेष रूप से वर्जनीय" किया है। जबकि

विल्सन तथा **ग्रिफिथ** ने "abandonment" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

अति यदर्यो अर्हात् – ऋग्वेद २/२३/१५
निरामिण – ऋ० २/२३/१६
वि व्रय· – ऋ० २/२३/१६

ओल्डेनबर्ग ने इसका "excessive power" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "weakness" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "oppressive power" अर्थ विनिश्चित किया है।

आ देवानामोहते वि व्रयः हृदि –

सायणाचार्य ने इस पाद का व्याख्यान–"देवताओ को पृथक् करने का विचार हृदय मे लाते है" किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इसका "(who) in their hearts little mind the tyrannical power of the gods" अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पाद का "they offirm the weakness of the gods and deny (the weakness) in their own hearts" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन और **ग्रिफिथ** ने इस पाद का "who cherish in their hearts the abandonment of the Gods" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने–the oppressive power of the Gods triumphs directly and in diverse ways in their heart" अर्थ निश्चित किया है।

वृहस्पते न परः साम्नो विदुः –

सायणाचार्य ने इस पाद का अर्थ "हे वृहस्पति! (तुम्हारे) सामन् (शस्त्र) की (महिमा की सीमा) नही जानते" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "who do not know the extent of thy powers (against evil spirits)" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पाद का "no further rest shall they obtain" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पाद का "they know of nothing higher than the Saman (which is thy) weapon" अर्थ ग्रहण किया है।

आ देवानामोहते वि व्रय हृदि – ऋग्वेद २/२३/१६
वृहस्पते न पर साम्नो विदु – ऋ० २/२३/१६

ऋणचित् –

सायणाचार्य ने इसका ''स्तोतृकाममृणमिव चिनोतीति ऋणचित्'' अर्थ विनिश्चय किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "one who acknowledges the debt" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "guilt-scourger" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "collector of debct" अर्थ निश्चित किया है।

श्रिये –

सायणाचार्य ने इसका ''आश्रयार्थम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "for glory" अर्थ ग्रहण किया है।

विदथे –

वेङ्कटमाधव ने इसका ''गृहम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने विदथे पद का अर्थ "यज्ञनाम" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने विदथे पद का अन्वय–''सुवीरा विदथे वृहद् वदेम' पदो के साथ करते हुए विदथे पद का अर्थ ''स्तोत्रम्'', ''यज्ञे गृहे वा'' निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे विदथे पद यज्ञनाम है और पदनाम भी है। यज्ञनाम होने से इस पद को देवपूजा, सङ्गतिकरण, और दान तथा पदनाम होने से गाति, नाम और प्राप्ति अर्थ भी अभिप्रेत है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने विदथे पद का अर्थ अन्य प्रकार से करते हुए विदथे का अर्थ 'औषधियों के विज्ञान व्यवहार मे' निश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने विदथे पद का अर्थ बुद्धिमत्ता, अध्यात्मज्ञान, पौरोहित्यज्ञान, विद्वत्सभा आदि विस्तृत अर्थ लिया है। जबकि

विल्सन ने सायण ने अर्थ के अनुसार ही विदथे पद का अर्थ 'यज्ञ' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने विदथे पद का "wisdom", "Spiritual or priestly knowledge", "counsels of the wise" आदि अर्थ किया है। जबकि

ऋणचित् – ऋग्वेद २/२३/१७

श्रिये – ऋ० २/२३/१८

विदथे – ऋ० २/२३/१९

ओल्डेनबर्ग ने इस पद का " to ordain", बॉटना, प्रबन्ध करना, विधान करना आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ व **पीटर्सन** ने विदथे पद का अर्थ "विद्वत् सभा" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "divine worship" अर्थात् "दिव्य पूजा" (देव पूजा) अर्थ किया है। परन्तु एक अन्य अर्थ ''धार्मिक सभा'' (syond) भी किया है। जबकि

रॉथ तथा **ग्रासमैन** ने विदथे पद का अर्थ "to find" निश्चित किया है। जबकि

रेग्नाड ने विदथे पद का अर्थ "to sacrifice" निश्चित किया है।

'विदथ' पद ''यज्ञ'' तथा ''धार्मिक उत्सव की सभा'' के अर्थ मे प्रायेण प्रयुक्त होता है। यहॉ पर इसका द्वितीय अर्थ अधिक उपयुक्त है।

वृहद् वदेम विदथे सुवीराः –

सायणाचार्य ने उपर्युक्त पदो का अर्थ ''विदथे–यज्ञे गृहे वा, सुवीरा· शोभनपुत्रा सन्त वृहद्–प्रौढ त्वदीयं स्तोत्र वदेम– उच्चारयाम'' अर्थात् ''सुन्दर पुत्रो से युक्त (हम) यज्ञ मे अत्यधिक स्तुतियॉ उच्चरित करे'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने वृहद् वदेम विदथे सुवीराः पदो का अर्थ "सदा अच्छे पथ्य और औषधियो के व्यवहार सेवन से बल और पराक्रम को बढावे'' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारों मे –

ओल्डेनबर्ग ने उपर्युक्त पदो का अर्थ "सशक्त लोगो से युक्त हम विधान–निर्माणादि में अपनी कुल आवाज उठा सके" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने "बुद्धिमत्ता के स्वामी होकर महान् शब्द उच्चरित कर सके" यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने वृहद् वदेम विदथे सुवीरा पदो का अर्थ ''सभा मे योद्धाओ से संयुक्त होकर जोर से आवाज कर सके'' अर्थ निश्चित किया है।

विदथ पद ''यज्ञ'' तथा 'धार्मिक उत्सव की सभा'' के अर्थ मे प्रायेण प्रयुक्त होता है।

अर्वति क्षमेत –

सायणाचार्य ने अर्वति क्षमेत पद का अन्वय न· वीर अर्वति अभि क्षमेत पदों के साथ किया है। सायण ने अर्वति क्षमेत पद का अर्थ ''अर्वति–शत्रौ। भ्रातृव्यो वा अर्वा क्षमेत अभिभवतु'' निश्चित किया है। जबकि

वृहद् वदेम विदथे सुवीरा – ऋग्वेद २/२३/१६

अर्वति क्षमेत – ऋ० २/३३/१

दयानन्द सरस्वती ने अर्वति क्षमेत पद का अर्थ भिन्न रूप मे किया है –अर्वति का अर्थ ''घोडे पर चढ के'' तथा क्षमेत का अर्थ ''सब ओर से सहन करे'' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए "our valiant (descendents) may overcome (these) foes" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "gracious to our fleet courses be the Hero" निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने अर्वति क्षमेत का "let our brave son be mighty with the charger" अर्थ ग्रहण किया है।

अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत –

सायणाचार्य ने इस पाद का ''अस्माक वीर्यवान् पुत्रपौत्रादिः शत्रौ अभिभवतु'' अर्थात् ''हमारे बहादुर पुत्र–पौत्रादि शत्रु को पराजित करे'' अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए– "our valiant (descendents) may overcome (these) foes" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "gracious to our fleet courses be the Hero" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने इसका "let our brave son be mighty with the charger" अर्थ ग्रहण किया है।

ऋदूदरः –

सायणाचार्य ने ऋदूदर पद का अन्वय–ऋदूदर सुहव बभ्रु सुशिप्र न अस्यै मनायै मा रीरधत् आदि पदो के साथ किया है। सायण ने ऋदूदर पद का अर्थ **यास्क** के निरूक्त के आधार पर ''मृदूदर'' अर्थात् ''उदार–सरल ह्दय वाला'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "gracious" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने ऋदूदर पद का अर्थ "compassionate" निश्चित किया है।

सुहवः –

सायणाचार्य ने सुहव पद का अन्वय–ऋदूदर सुहव. बभ्रु. सुशिप्र न अस्यै–आदि पदो के साथ करते हुए सुहव पद का अर्थ ''शोभनाह्वान'' निश्चित किया है। जबकि

अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत – ऋग्वेद २/३३/१

ऋदूदर – ऋ० २/३३/५

सुहव – ऋ० २/३३/५

दयानन्द सरस्वती ने सुहव पद का अर्थ 'सुन्दर दानशील' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने सुहव पद का अर्थ "swift hearing" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "easy to invoke" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "reverently invoked" अर्थ सुनिश्चित किया है।

नमोभिः –

सायणाचार्य ने नमोभि पद का अन्वय–कल्मलीकिन नमोभि नमस्य पदो के साथ करते हुए नमोभि पद का अर्थ नमस्कारै "adore the consumer (of sin) with prostrations" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने नमोभि पद का अर्थ "सत्कारो से" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "I will adore the radiant one with obeisances" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "we serve the brilliant God with adorations" सुनिश्चित किया है।

नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "कलुष को नष्ट करने वाले (रूद्र) को स्तुतियो द्वारा नमस्कार करो।" सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "I will adore the radiant one with obeisances" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "We serve the brilliant God with adorations" ग्रहण किया है।

त्वेषम् –

सायणाचार्य ने त्वेषम् पद का अन्वय–(वय) रूद्रस्य त्वेष नाम गृणीमसि आदि पदो के साथ निश्चित किया है। सायणाचार्य ने त्वेषम् पद का अर्थ "दीप्तम्" निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने त्वेषम् पद का अर्थ "Illustrious" अर्थात् "प्रसिद्ध", "विख्यात", "नामी" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने त्वेषम् पद का अर्थ 'प्रकाशमान्' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने त्वेषम् पद का अर्थ "terrible" (भयानक) निश्चित किया है।

नमोभि	–	ऋग्वेद	२/३३/८
नमस्या कल्मलीकिन नमोभि.	–	ऋ०	२/३३/८
त्वेषम्	–	ऋ०	२/३३/८

इदं दयसे विश्वमभ्वम् –

सायणाचार्य ने विश्मभ्वम् पद का अन्वय इद विश्वम् अभ्व दयसे आदि पदो के साथ करते हुए दयसे– ''रक्षति'' एव विश्वमभ्वम् पद का अर्थ ''विश्व–सर्वम् अभ्वम्–अतिविस्तृत जगत्'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ''विश्वमभ्वम्' पद का अर्थ 'महान् समस्त जगत् की' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "thou cuttest here each fiend to pieces" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "thou wieldest all this force" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "thou preservest all this vast universe" सुनिश्चित किया है।

निवपन्तु –

सायणाचार्य ने 'निवपन्तु' पद का अन्वय ते सेना अस्मद् अन्य निवपन्तु पदो के साथ करते हुए निवपन्तु पद का अर्थ निघ्नन्तु अर्थात् 'नष्ट करे' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सायण से भिन्न अर्थ करते हुए निवपन्तु पद का ''विस्तारे'' (विस्तार करे) अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने निवपन्तु पद का अर्थ "(शत्रु पर) टूट पड़े" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

तैलङ्ग ने निवपन्तु पद का अर्थ सायण का अनुसरण करते हुए ''नष्ट करें'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने निवपन्तु पद का अर्थ ''नीचे ढहा दे'' निश्चित किया है।

चनः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ ''अन्नम्'' (abundant food) निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "gladly" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने चन पद का अर्थ "with favour" निश्चित किया है।

अस्मेराः –

सायणाचार्य ने इसका ''दर्परहित'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

इद दयसे विश्वमभ्वम् – ऋग्वेद २/३३/१०

निवपन्तु – ऋ० २/३३/११

चन – ऋ० २/३५/१

अस्मेरा – ऋ० २/३५/४

विल्सन ने इसका "Modest" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "carefully" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "not-smiling" अर्थ निश्चित किया है।

रेवत् –

स्कन्दस्वामी तथा **वेङ्कटमाधव** ने रेवत् पद का ''धनवत्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इसका ''धनयुक्तमन्नम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "Abundance" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Splendid beauty" अर्थ ग्रहण ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने रेवत् पद का "bountifully" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग और **गैल्डनर** ने ''प्रकाशित होना'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

रॉथ महोदय ने इसका ''धन'' अर्थ निश्चित किया है।

घृतनिर्निक् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''क्षरणशीलोदकनिर्नेजन यद्वा निर्निगिति रूपनाम दीप्तरूप'' अथवा ''घृत से आवृत'' अर्थ किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "Cleansed with clarified butter" अर्थ विनिश्चय किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "oil enveloped" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने घृतनिर्निक् पद का "having a garment of ghee" अर्थ विनिश्चित किया है।

तिस्रो देवीः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''इळा, सरस्वती और भारती'' सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "three goddesses are the personifications of prayer and worship" अर्थ किया है। जबकि

मैक्डानल ने "three goddesses are the waters in the three worlds" अर्थ सुनिश्चित किया है।

रेवत् – ऋग्वेद २/३५/४

घृतनिर्निक् – ऋ० २/३५/४

तिस्रो देवी. – ऋ० २/३५/५

अव्यथ्याय –

सायणाचार्य ने इसका ''कभी व्यथित न होने वाले के लिए'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "Uninjurable" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "immovable" अर्थ निर्धारित किया है।

''अप्सुकृता इव प्रसर्स्रे'' –

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ ''नवजात'' की भॉति जल मे तैरता है'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "within the waters hath he pressed as hollows" अर्थ किया है। जबकि

विल्सन ने सायण का अनुसरण करते हुए– "as if formed in the waters they spread abroad" अर्थ विनिश्चय किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "for he has stretched forth as it were to the breasts" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अप्रमृष्यम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''कभी नष्ट न होने वाले, कभी न हारने वाले'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "inconceivable" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "indestructible' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "not to be forgotten" अर्थ विनिश्चित किया है।

जिह्मानाम् –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''कुटिलगतीनामपा मध्ये'' सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Tortuously moving" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

अव्यथ्याय	–	ऋग्वेद	२/३५/५
अप्सु कृता इव प्रसर्स्रे	–	ऋ०	२/३५/६
अप्रमृष्यम्	–	ऋ०	२/३५/६
जिह्मानाम्	–	ऋ०	२/३५/६

ग्रिफिथ ने इसका "curled" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने जिह्मानाम् पद का "prone" अर्थ निश्चित किया है।

यह्वीः –

सायणाचार्य ने इस पद का ''महान्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने इस पद का "swift" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "young" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अवमाय –

सायणाचार्य ने अवमाय पद का अर्थ ''आद्याय'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने अवमाय पद का अर्थ सायण का अनुसरण करते हुए "first" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल और **ग्रिफिथ** ने इसका अर्थ "nearest" निश्चित किया है।

अत्कैः –

सायणाचार्य ने इसका ''अतनशीलै सततगन्तृभि'' अर्थात् ''निरन्तर गति से'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का अर्थ "Movement" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "wandering" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का ''अत्कै'' पद का अर्थ "garment" निश्चित किया है।

सुक्षितिम् –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ ''शोभननिवासम्'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **मैक्डानल** ने इसका "good dwelling" अर्थ ग्रहण किया है।

यह्वी – ऋग्वेद २/३५/६, १४

अवमाय – ऋ० २/३५/१२

अत्कै – ऋ० २/३५/१४

सुक्षितिम् – ऋ० २/३५/१५

तदपाः –

सायणाचार्य ने इसका "तत्प्रसवकर्मा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "Who neglects not his duty" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "for that exclusive mission of his" अर्थ ग्रहण किया है।

वह्निः –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "लाने वाले" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Priest" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "driving in a chariot" अर्थ ग्रहण किया है।

श्रुष्टये –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "जगत सुखाय" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "that all may mark him" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "that all might obey" निश्चित किया है।

निमृगाः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "नितरा शोधयित्र्यो गङ्गादिरूपेण जगत्पावयन्तीत्यर्थ" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का अर्थ "Purifying" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "bent down" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "Submissive और "Suvservient" सुनिश्चित किया है।

तदपा	–	ऋग्वेद	२/३८/१
`वह्नि	–	ऋ०	२/३८/१
श्रुष्टय	–	ऋ०	२/३८/२
निमृगा	–	ऋ०	२/३८/२

परिज्मन् –

सायणाचार्य तथा **ग्रिफिथ** ने इस पद का अर्थ "अन्तरिक्ष मे" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "in the course" सुनिश्चित किया है।

विततम् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "आलोकम्" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इस पद का "all-beings" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "what was spread out" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "extended web of darkness" अर्थ निश्चित किया है।

शक्म् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "कर्तु शक्यम्" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Work" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Labour" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "Power" अर्थ सुनिश्चित किया है।

संहायः –

सायणाचार्य ने इसका "शय्या विहाय" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "from rest" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "other lying quiet (at day time)" अर्थ विनिश्चित किया है।

अरमतिः –

सायणाचार्य ने इस पद का "अनुपरति" अर्थात् 'कभी न रूकने वाले' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "Unwearied" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

परिज्मन्	–	ऋग्वेद	२/३८/२
विततम्	–	ऋ०	२/३८/४
शक्म	–	ऋ०	२/३८/४
सहाय	–	ऋ०	२/३८/४
अरमति	–	ऋ०	२/३८/४

ग्रिफिथ ने इस पद का "holy-minded" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने इसका "not resting" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "genus of prayer" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Punctual" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इस पद का "servant as well as 'service' " अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "the fierce red glow of the sky deified" अर्थ सुनिश्चित किया है।

विश्वमायुः –

यास्क एव **सायणाचार्य** ने इस पद का ''सर्वमन्न चाधितिष्ठति'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "persons of all ages" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "through entire" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "a whole life time" अर्थ निश्चित किया है।

माता –

सायणाचार्य और **ग्रिफिथ** ने इस पद का ''उषा'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "night" अर्थात् रात्रि'' अर्थ ग्रहण किया है।

केतम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''प्रज्ञापकमग्ने'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "summons" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "desire" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अन्वस्य केतमिषितं सवित्रा –

सायण ने इसका अर्थ ''सवित्रा प्रेषितमस्य प्रज्ञापकमग्ने'' निश्चित किया है। जबकि

विश्वमायु – ऋग्वेद २/३८/५
माता – ऋ० २/३८/५
केतम् – ऋ० २/३८/५
अन्वस्य केतमिषित सवित्रा – ऋ० २/३८/५

विल्सन ने सायणाचार्य का अनुसरण करते हुए "which is the manifestation of him imparted by Savitra" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Savitra hath sped to meet his summons" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "it being sent by Savitra in accordance with his desire" अर्थ सुनिश्चित किया है।

विकृतम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''अर्धकृतम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "work which has assumed diverse forms" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "evil doing" अर्थ निश्चित किया है।

याद्राध्यम् –

सायण ने इस पद का ''याता गच्छता राध्य संराधनीयम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "with atmost speed" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "this much having been vouchsafed" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "in so for as attainable" अर्थ निश्चित किया है।

अप्यम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''अपा सम्बन्धिनम्'' एव ''आप्तु योग्यम्'' अर्थात् ''जलचर'', ''जलवाले'' अर्थ किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "cool" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस का "equatic creature" एव "watery" अर्थ ग्रहण किया है।

अनिशितम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''अतीक्ष्णम्'', ''सुखकरम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "agreeable" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विकृतम् – ऋग्वेद २/३८/६
याद्राध्यम् – ऋ० २/३८/८
अप्यम् – ऋ० २/३८/७, ८
अनिशितम् – ऋ० २/३८/८

ग्रिफिथ ने इस पद का "in restless haste" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने अनिशितम् पद का "restlessly" अर्थ सुनिश्चित किया है।

''याद्राध्यं वरूणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराण:''

सायण ने इस पाद का अर्थ ''वरूण याता गच्छता राध्य सराधनीयम् आप्तु योग्यमतीक्ष्ण सुकर स्थान निमेषे सवितुरस्तमये सति विश्रमार्थ प्राणिभ्य प्रयच्छति। वरूणस्य रात्रेर्निर्वाहकत्वात् भृश गच्छन्'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पाद का "The ever-going Varuna grants a cool, accessible and agreeable place (of rest) to all moving (creatures)" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पाद का "with utmost speed in restless haste at sunset varuna seeks his watery habitation" अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने "Varuna has gone to his watery residence this much having been vouchsafed to him by Savitar, restlessly agitating while his eyes are closed (for a hap)" अर्थ निश्चित किया है।

आपये –

सायण ने इसका अर्थ ''बन्धवे'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "patrons" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "friends" अर्थ ग्रहण किया है।

''शं यत्स्तोतृभ्य आपये भवात्युरूशंसाय सवितर्जरित्रे'' –

सायण ने इस पाद का अर्थ '' स्तोताओ के वश के लिए जो धन है, सुखकर हो। हे सवितृ उसे बहुप्रशसा करने वाले तथा स्तुति गाने वाले (मुझको प्रदान करो)।'' सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने "and may the happiness which belongs to the race of those who eulogise thee devolve upon me repeating deligently thy praise" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "that it be well with friends and those who praise thee and Savitra] with loud-lauding singer" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

याद्राध्य वरूणो योनिमप्यमनिशित निमिषि जर्भुराण – ऋग्वेद २/३८/८

आपये – ऋ० २/३८/११

श यत्स्तोतृभ्य आपये भवात्युरूशसाय सवितर्जरित्रे – ऋ० २/३८/११

पीटर्सन ने "as would bring back to the chanting priests to the patron and to the singer, eloquent in speech" अर्थ सुनिश्चित किया है।

प्रसवम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''तस्येन्द्रस्यानुज्ञाम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने प्रसवम् पद का "acceleration" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

सर्गतक्तः –

सायणाचार्य ने इस पद का ''सर्गे गमने प्रवृत्त'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "appointed for our going" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "urged to motion" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "rushing with its original urge" अर्थ ग्रहण किया है।

घोषान् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''उद्घोषयन्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका "proclaim loudly" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "listen" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "words" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "reecho" अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने "listen" अर्थ सुनिश्चित किया है।

मर्याय –

सायणाचार्य ने इस पद का ''मनुष्याय'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **पीटर्सन** ने मर्याय पद का "Lover" अर्थ ग्रहण किया है।

प्रसवम् – ऋग्वेद ३/३३/२

सर्गतक्त – ऋ० ३/३३/४

घोषान् – ऋ० ३/३३/८

मर्याय – ऋ० ३/३३/१०

गव्यन् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''उदकानि तरितुमिच्छन्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "cow seeking" अर्थ निर्धारित किया है।

इषयन्ती –

सायणाचार्य ने इस पद का ''कुल्यादि द्वारा अन्न कुर्वाणा'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "dispersing food" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "hastening" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "enlivening अर्थ ग्रहण किया है।

शूनम् –

सायण ने इस पद का ''प्रोत्साहन'' एव ''समृद्धि'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "waste" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "privation" अर्थ सुनिश्चित किया है।

यातयति –

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ ''निर्गमयति'' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी एव **सायणाचार्य** ने ''यातयति'' पद का अन्वय मित्र ब्रुवाणः जनान् यातयति पदों के साथ करते हुए यातयति पद का अर्थ 'कृष्यादिकर्मसु प्रयत्न कारयति' अर्थात् कृषि आदि कार्यो मे नियोजित करता है, प्रेरित करता है, 'अपने–अपने कार्यो मे नियोजित करता है' अथवा 'मारता है' आदि निश्चित किया है। जबकि

भट्ट भास्कर ने इस पद का ''चेष्टयति'' अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने का ''यातयति'' पद का अर्थ 'पुरूषार्थ को कराता है' निश्चित किया है। जबकि

गव्यन् – ऋग्वेद ३/३३/११

इषयन्ती – ऋ० ३/३३/१२

शूनम् – ऋ० ३/३३/१३

यातयति – ऋ० ३/५६/१

दुर्गाचार्य ने इस पद का ''कृष्यादिषु प्रवर्तयति'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

रॉथ ने 'यातयति' पद का अर्थ 'व्यवस्थित करता है' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **कीथ** ने यातयति पद का अर्थ 'प्रेरित करता है' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने यातयति पद का अर्थ निश्चित करने से पूर्व 'यतते' या 'यतति' को 'यातयति' का समानार्थक बताते हुए इसके अनेकार्थ–'अनुरूप होना', 'समानलन्मा होना', 'अनुहारी होना', 'प्रतिस्पर्धा करना', 'प्रतियोगी होना' 'बढ जाने की इच्छा' तथा लौकिक सस्कृत में –

'सक्रिय होना', 'प्रतियोगी बनना', 'उदाहरण रखना', 'आदर्श रखना', 'उद्योग करना', 'प्रयत्न करना' इत्यादि की उद्‌भावना की है। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे यातयति का अर्थ इन्होने अनुवाद मे 'नेतृत्व करता है' तथा पाद टिप्पणी मे 'एकत्र करता है' किया निश्चित है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** ने इस पद का "goins" अर्थ निश्चित किया है तथापि यहॉ पर इसका अर्थ है–''कर्मो मे प्रेरित करता है''।

ब्रुवाणः –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान ''स्तूयामान शब्द कुर्वन्'' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का ''शब्द स्तनयित्नु लक्षण कुर्वन्'' अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ब्रुवाण पद का अन्वय–मित्र ब्रुवाण जनान् यातयति पदो के साथ करते हुए ब्रुवाण पद का अर्थ 'स्तूयमान शब्द कुर्वाणो वा' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इस पद का ''शब्द कुर्वन्'' अर्थ किया है। जबकि

दुर्गाचार्य ने इस पद का ''स्तनयित्नु शब्द कुर्वन्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ब्रुवाण पद का अर्थ ''उपदेश से प्रेरणा करता हुआ'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने मित्र पद को षष्ठी के अर्थ मे ग्रहण कर ''ब्रुवाण'' पद को कर्तृपद मानते हुए इस पद का अर्थ "यह मित्र का शब्द है जो हम लोगो का नेतृत्व करता है" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ ''अपने आप को मित्र कहता हुआ'' निश्चित किया है। जबकि

ब्रुवाण – ऋग्वेद ३/५६/१

रॉथ महोदय ने √ब्रूञ् धातु के दो अर्थो–

१. 'कहना'

२. 'अपने आप से कहना'

इन दोनो अर्थो का निर्देश करते हुए ब्रुवाण पद का द्वितीय अर्थ 'अपने आप से कहना' ग्रहण किया है, तथा तुलनार्थ 'कथ सोऽनुशिष्टो ब्रवीत' एव 'कथ नु नो बलिष्ठो ब्रवीत' को प्रस्तुत किया है। ऐसी दशा मे रॉथ द्वारा निर्दिष्टार्थ होगा–'अपने आप से कहता हुआ मित्र' अथवा इसके विपरीत 'मित्र इति ब्रुवाण जनान्यातयति' – ''अन्वय स्वीकारते हुए'' अपने को मित्र (सुहृद) कहता हुआ लोगो का नेतृत्व करता है" अर्थ निश्चित किया है।

एक अन्य विकल्प के अनुसार ब्रुवाण मित्र के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है, कर्मरूप मे 'जनान्' पद ग्राह्य, और अर्थ होगा–जनान् ब्रुवाण मित्र (तान्) यातयति–'लोगो को पुकारता हुआ मित्र (उन्हे) कार्य मे प्रवृत्त या प्रेरित करता है'। जबकि

मैक्डानल आदि अनेक आधुनिक विद्वान् गैल्डनर के व्याख्यान से असहमत है। मैक्डानल ने इस पद का "by calling, that is, arousing them" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का ''मित्रता पूर्वक बोलता हुआ'' अर्थ ग्रहण किया है।

वस्तुत यहॉ पर ब्रुवाण का ''स्तूयमान'' व्याख्यान अधिक समीचीन है।

कृष्टीः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''मनुष्यान्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने 'कृष्टी' पद का अन्वय–मित्र. कृष्टी अनिमिषा अभिचष्टे आदि पदो के साथ करते हुए 'कृष्टी' पद का अर्थ–'कर्मवतो मनुष्यान्' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'कृष्टी' पद का अर्थ 'खीचने या जोतने वाली मनुष्य रूप प्रजाओ को' निश्चित किया है। जबकि

यास्क ने 'कृष्टी' पद का अर्थ 'कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा' निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे कृष्टय पद मनुष्यनामो मे गिनाया गया है। जबकि

कृष्टी – ऋग्वेद ३/५६/१

पीटर्सन ने कृष्टी पद का अर्थ 'आर्य जातियॉ' निश्चित किया है। जबकि

ब्लूमफील्ड ने कृष्टी पद का अर्थ 'मनुष्य जातियॉ' निश्चित किया है। जबकि

ह्विटनी ने 'कृष्टी' पद का अर्थ 'जोताई या खेती' ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने कृष्टी पद का अर्थ 'लोग' ग्रहण किया है। जबकि

पराञ्जपे के अनुसार √चृष् 'कर्मनिष्ठ होना' तथा √कृष् जोतना धातु समरूप है तथा इससे निष्पन्न 'चर्षणि ' तथा 'कृष्टि ' शब्दो का अर्थ 'कृषि सम्बन्धी व्यवस्था' तथा 'जन या लोग' आदि है जो अर्थभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध है।

कृष्टी पद ऋग्वेद मे मुख्यतया ''लोग, जनता, जाति'' अर्थो मे प्रयुक्त होता है। यहॉ पर ''लोग'' (मनुष्यान्) अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है।

अनिमिषा –

सायणाचार्य ने 'अनिमिषा' पद का अन्वय मित्र कृष्टी अनिमिषा अभिचष्टे आदि पदो के साथ करते हुए अनिमिषा पद का अर्थ 'अनिमेषेण,' तथा 'अनुग्रहपूर्णदृष्ट्या' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'अनिमिषा' पद का अर्थ 'दिन और रात्रि मे होने वाली क्रियाओ से' निश्चित किया है। जबकि

मैकडानल एव **पीटर्सन** ने अनिमिषा पद का अर्थ 'अनमुदी ऑखो से' निश्चित किया है।

निर्निमेष दृष्टि से प्रजाओ को देखना मित्र की विशेषता है।

प्रयस्वान् –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान–''स । मर्त्य । प्रकर्षेण अन्नवान्। अस्तु।'' किया है। जबकि

भट्टभास्कर, स्कन्दस्वामी तथा **दुर्गाचार्य** ने ''प्रकर्षेण भवतु'' अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''प्रभवतु'' अर्थ निश्चित किया है। सभी भारतीय भाष्यकार प्रयस्वान् का अर्थ ''अन्नवान्'' करते है और रॉथ, विल्सन, ग्रिफिथ आदि विद्वान् कुछ परिवर्तन के साथ इस व्याख्यान को स्वीकार करते है।

मैक्डानल ने अपने 'वैदिक रीडर' मे इसका अर्थ "offering oblations" तथा "Macdonell's Hymns from the Rigveda" मे "who brings food" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

अनिमिषा – ऋग्वेद ३/५६/१

प्रयस्वान् – ऋ० ३/५६/२

कीथ ने इसका अर्थ "rich in food be that mortal O Mitra who" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने इस पद का "प्रिय अन्न लाने वाला" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इसका अर्थ "be pre-eminent" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने इसका अर्थ "उपहारवान्" ग्रहण किया है।

शिक्षति –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "हवि प्रयच्छति यज्ञे" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने तथा **दुर्गाचार्य** ने इस पद का "ददाति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

भट्टभास्कर ने "शक्तो भवितुमिच्छति। यद्वा 'शिक्ष विद्योपादाने'। शिक्षति पुन पुनरभ्यस्तीति" व्याख्यान किया है। जबकि

सायणाचार्य ने शिक्षति पद का "हविर्लक्षणमन्न ददाति। शिक्षतिर्दानकर्मा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने शिक्षति पद का अर्थ 'विद्या ग्रहण करता है" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने शिक्षति पद का अर्थ "Pays homage" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "नमस्करोति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **पीटर्सन** ने इस पद का "Serves" अर्थ विनिश्चित किया है।

व्रतेन –

वेङ्कटमाधव ने व्रतेन पद का "सत्यादिना व्रतेन युक्त" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने 'व्रतेन' पद का अन्वय आदित्य पद के साथ करते हुए व्रतेन पद का अर्थ 'यज्ञ' स्वीकार किया है। व्रतेन के आगे युक्त पद का अध्याहार करके "यज्ञेन युक्त. या व्रतेन युक्त·" को य पद का विशेषण माना है। अन्यत्र इन्होने 'कर्म' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

निघण्टु मे 'व्रत' शब्द 'कर्म' पर्यायो मे पठित है। जबकि

यास्क ने व्रतेन पद के अनेक निर्वचन किए है–व्रतमिति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म वारयतीति सत । अन्नमपि व्रतमुच्यते। यदावृणोति शरीरम् अर्थात् यास्काचार्य ने व्रतेन पद का अर्थ 'कर्म या निवृत्ति कर्म तथा 'अन्न' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

शिक्षति	–	ऋग्वेद	३/५६/२
व्रतेन	–	ऋ०	३/५६/२

भट्टभास्कर ने "तव प्रीतेन कर्मणा यागादिना" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने व्रतेन पद का अर्थ 'सत्यादिकम्' निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने व्रतेन पद का 'अनुष्ठेय कर्म' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने व्रतेन पद का अर्थ–'क्षमा अथवा न्यायप्रकाश करने वाले कर्म से' निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने व्रतेन पद के अनेक अर्थ किए है–इच्छा, आदेश, विधि, नियमित आज्ञा, सेवा, आज्ञापालन, अनुसेवन, भूसम्पदा, आदेश, नियमित अनुक्रम, कर्म, रूढिकर्म, धार्मिक कर्तव्य, पूजा, अनुग्रह, कर्म निरत होना, धार्मिक कार्य करना, नियम, प्रतिज्ञा, सामान्य प्रतिज्ञा, निश्चित उद्देश्य आदि। जबकि

ग्रासमैन के अनुसार 'व्रत' शब्द ऋग्वेद मे नियम, धर्म, आदेश, शासन, कर्म इत्यादि अर्थो में प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत मन्त्र मे इस शब्द का प्रयोग "नियम" के अर्थ मे हुआ है। जबकि

मैक्समूलर ने व्रतेन पद का अर्थ 'रक्षा से' या "वर्तना से" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने व्रतेन पद का अर्थ 'पवित्र कर्म' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने व्रतेन पद का "उचित रूप से" अर्थ निश्चित किया है।

इस मन्त्र की टिप्पणी मे पीटर्सन महोदय मैक्समूलर की टिप्पणी का अश भी उद्धृत करते है, जिसके अनुसार व्रत शब्द–

१. मूलत "घेरे हुए, सुरक्षित, पृथक् किये गये

२. फिर "निषिद्ध, निर्धारित, 'निश्चित' का वाचक होते हुए "धर्मन् के समान नियम" का वाचक हुआ

३. देवो द्वारा सेव्य "यज्ञ" का वाचक और

४. "शासन, शक्ति या कार्य का वाचक है। जबकि

ग्रिफिथ ने व्रतेन पद का अर्थ "पवित्र विधान" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने "व्रतेन" पद का अर्थ "सेवा से" या "नियमपूर्वक' तथा "अध्यादेशानुसार" निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने व्रतेन पद के अनेक अर्थ ग्रहण किए है– नियम, अधिनियम, कर्म, पवित्रकर्म एव यज्ञ आदि। जबकि

वेलणकर ने व्रतेन पद का अर्थ "नियम पालन" निश्चित किया है।

इळया –

सायणाचार्य ने 'इडया' पद का अन्वय–हे मित्र अनमीवास इडया मदन्त पृथिव्या आदि पदो के साथ करते हुए 'इडया' पद का अर्थ "अन्न" निश्चित किया है। **पीटर्सन** भी 'अन्न' अर्थ स्वीकार करते है।

सायण ने 'इळा' पद का 'अन्न' के अतिरिक्त 'भूमि' तथा 'वाक' अर्थ भी ग्रहण किया है। जबकि

इडा शब्द का प्रयोग बुद्धि, कर्म, प्रजा, अन्न हविष्य, देवता विशेष आदि अनेक अर्थो मे हुआ है।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे 'इळा' को 'इडा' या 'इरा' भी कहा गया है। जबकि

निघण्टु मे इडा पद पृथिवी, अन्न, गौ शब्द के पर्यायो मे पठित है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इळया पद का अर्थ 'उत्तम प्रकार से शिक्षित वाणी अथवा पृथिवी के राज्य से' ये दो अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **वेलणकर** ने इळया पद का अर्थ 'पवित्रान्न' निश्चित किया है।

किन्तु यहॉ इळा का तात्पर्य इडाकर्म मे इडा देवता के लिए अर्पित किये जाने वाले अभिधारणयुक्त हविष्य से है। पुरोडाश के अवशिष्ट भाग को 'इडा' कहते है।

मितज्ञवः –

वेड्कटमाधव ने इसका "क्षिप्तजानुभि, मितजानुकै., सञ्कुचितजानुका, ज्ञायमानजानुकाः प्रकाशसद्भावाद् गच्छन्त" आदि अनेक अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने मितज्ञव पद का अन्वय पृथिव्या वरिमन्विस्तीर्णे (प्रदेशे) मितज्ञवो आदि पदो के साथ करते हुए मितज्ञव. पद का अर्थ मितजानुका, सञ्कुचित जानुभि', प्रह्वैर्जानुभि. आदि निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने मितज्ञव पद का अर्थ 'नपी हुई जड्घाओ वाले' निश्चित किया है। जबकि

राथ ने मितज्ञव पद का अर्थ 'दृढतया स्थिर, दृढघुटनों वाले' तथा 'दृढ पैरों वाले' निश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स तथा **मैक्डानल** ने भी रॉथ के अनुरूप ही मितज्ञव पद का अर्थ 'दृढ घुटनो वाले' निश्चित किया है। जबकि

इळया – ऋग्वेद ३/५६/३

मितज्ञव· – ऋ० ३/५६/३

ग्रासमैन ने इस पद का "गडे हुऐ या स्तम्भवत् सीधे घुटनो वाले", (गमन कार्य मे) अनवरत लगा रहने वाला" अर्थ किया है। जबकि

मार्टिनहॉग तथा **लुड्विग** ने मितज्ञव पद का अर्थ "पारिभाषिक स्थिति विशेष" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ 'भ्रमण करने वाले' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "(प्रार्थना के आसन मे) ऊपर उठे हुए घुटनो वाला" अर्थ निश्चित किया है।

सुशेवः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "सुसुख" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने भी "सुसुख" अर्थ किया है। निघण्टु मे सुशेव पद "सुख" के नामो मे गिनाया गया है। जबकि

सायणाचार्य ने सुशेव पद का अन्वय अय नमस्य सुशेव पदो के साथ करते हुए सुशेव पद का अर्थ 'शोभनसुख' निश्चित किया है, अर्थात् शोभनसुख सुखेन सेव्य इत्यर्थ । जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सुशेव पद का अर्थ "उत्तम सुख का दाता" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने सुशेव पद का अर्थ 'कृपालु' एव 'अनुकूल' निश्चित किया है। जबकि

रॉथ तथा **पीटर्सन** ने सुशेव पद का "अतिदयालु", "प्रिय, अतिप्रिय, और मित्र" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वाकरनागेल ने सुशेव पद का 'अतिप्रिय मित्र' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** ने सुशेव पद का अर्थ "अतिप्रिय, अतिकृपालु" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "मित्रतापूर्ण" अर्थ निश्चित किया है।

यद्यपि सुशेव का शाब्दिक अर्थ "सुसुख" या "शोभनसुख" हो सकता है, तथापि इसका भावार्थ "अच्छा सुख देने वाला" है जैसा कि **महीधर** तथा **उव्वट** ने अनेक बार "शोभनं सुखयिता" व्याख्यान किया है।

'शेव' को 'शिव' के समीप मानकर इसका 'मङ्गलकारी' अर्थ किया जा सकता है।

वेधाः –

वेङ्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "सर्वस्य विधाता" निश्चित किया है। जबकि

सुशेव – ऋग्वेद ३/५६/४

वेधा – ऋ० ३/५६/४

सायण ने इस पद का ''सर्वस्य जगतो विधाता'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे वेधा पद मेधावी के नामो मे गिनाया गया है। जबकि

ग्रासमैन इसका ''अनुग्रह करने वाला'' अर्थ निश्चित करते है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का ''स्वामी'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "ruler" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने "disposer" अर्थ सुनिश्चित किया है। 'वैदिक रीडर' मे मैक्डानल ने इसका व्याख्यान "as a wise moral ruler" किया है।

यहॉ पर ग्रासमैन द्वारा सुझाया गया अर्थ अधिक समीचीन है।

ऋग्वेद मे उशना, अग्नि, सोम, इन्द्र, वृहस्पति, विष्णु, रूद्र, अश्विनौ तथा मरूतो के साथ भी वेधस् का प्रयोग मिलता है।

चर्षणीधृत् –

निघण्टु मे यह पद ''मनुष्य'' के नामो मे गिनाया गया है।

यहॉ पर लगभग सभी भाष्यकार चर्षणि का अर्थ ''मनुष्य'' करते है। जबकि

आधुनिक विद्वान् इसका "folk, people" आदि अर्थ ग्रहण करते है।

सानसि –

वेड्कटमाधव ने इसका अर्थ ''भजनीयम्'' निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''सर्वै· संभजनीयम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे 'सानसि' को 'पुराणनाम' कहा गया है। जबकि

महीधर ने इस पद का ''सनातनम्। फलदानशील वा'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का ''पुरातन पुराणम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

भट्टभास्कार ने इसका ''सननीय सर्वेषा, देय वा सर्वेभ्य:'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

चर्षणीधृत् – ऋग्वेद ३/५६/६

सानसि – ऋ० ३/५६/६

दयानन्द सरस्वती ने सानसि पद का अर्थ "प्राचीन" निश्चित किया है। जबकि

रॉथ का अनुसरण करते हुए **पीटर्सन** ने इस पद का अर्थ "प्रदाता, पुनर्दाता, जयशील" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "लाभ पहुँचाता है" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर आदि भाष्यकारो ने इसका "जीतने वाला या लाने वाला" अर्थ सुनिश्चित किया है।

द्युम्नम् –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "द्युम्न द्योतते, एव यश" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट, महीधर ने इसका "यशोऽन्न वा" व्याख्यान किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "धनम्" अर्थ निश्चित किया है।

निघण्टु मे द्युम्नम् पद "धन" के नामो मे गणित है परन्तु **यास्काचार्य** ने इसका व्याख्यान "द्युम्न द्योतते यशोऽन्न वा" किया है। जबकि

सायण का अनुसरण करते हुए **मैक्डानल** ने अपने 'वैदिक रीडर' मे इसका अर्थ "wealth" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **ग्रिफिथ** ने इसका अर्थ "splendour" निश्चित किया है।

यहॉ पर द्युम्नम् का यौगिक अर्थ "द्युति" अर्थात् "शोभा" ही उचित है, जैसा की अर्वाचीन भाष्यकार मानते है।

अभिबभूव –

सायण इसका अर्थ "अभिभवति" निश्चित करते है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "encompasses" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "surpasses" किया है जो यहॉ पर अधिक समीचीन है।

सप्रथाः –

वेड्कटमाधव ने इसका अर्थ "सर्वत पृथुतम निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का "सर्वत पृथु" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

द्युम्नम् – ऋग्वेद ३/५६/६

अभिबभूव – ऋ० ३/५६/७

सप्रथा – ऋ० ३/५६/७

महीधर ने इस पद का ''प्रथन प्रथो विस्तारस्तेन सहित'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''प्रथ प्रसिद्धि कीर्ति तत्सहित'' तथा अन्यत्र ''सर्वत पृथु'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **गैल्डनर** ने सायण का अनुसरण करते हुए सप्रथा· पद का ''सुप्रसिद्ध'' (renowned) अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका अर्थ "Universal" निर्धारित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** ने इस पद का "effective far and wide" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वैदिक प्रयोगो से स्पष्ट है कि सप्रथा पद का 'सुप्रसिद्ध' अर्थ उपयुक्त नही है। वास्तव मे इसका अर्थ ''विस्तार–युक्त'' अर्थात् ''अतिविशाल'' है, जैसा कि अनेक भारतीय भाष्यकारो ने माना है।

श्रवोभिः –

वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ ''कीर्तिभि'' निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इसका 'वृष्टिद्वारोत्पादितैरन्नै'' अर्थ सुनिश्चित किया है। सायण ने प्राय 'अन्न' किन्तु एकाध स्थलो पर 'सोम' और 'कीर्ति' अर्थ भी किया है। जबकि

निघण्टु मे यह श्रव पद ''अन्न'' के नामो मे तथा ''धन'' के नामो मे गणित है, तदनुसार इसका अर्थ ''अन्न'' और प्रशसा (कीर्ति) या धन'' दिया गया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **लुड्विग** ने इस पद का 'प्रवाहमय या कीर्ति' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने इसका अर्थ ''अपनी उडान मे'' (in his flight) किया है, इसके अतिरिक्त प्रवाह, स्रोत, मार्ग, तीव्रगति, विस्तार, अन्न, सोम तथा यश आदि अनेक अर्थ किये है। रॉथ का मत है कि सोम के अभिषव काल मे शब्द सुनाई पडता है इसलिए उसे 'श्रव' कहा जाता है साथ ही यह पोषक पदार्थ है, अत अन्नवाची भी है। जबकि

गैल्डनर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एव **मैक्डानल** आदि अनेक भाष्यकारो ने इसका अर्थ ''कीर्तियो के द्वारा'' निश्चित किया है। यही मत अधिक समीचीन है।

येमिरे –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''आत्मानं नियच्छन्ति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''हवींष्युद्यच्छन्ति'' अर्थात् 'हविष्य प्रदान करते हैं' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

श्रवोभि· – ऋग्वेद ३/५६/७

येमिरे – ऋ० ३/५६/८

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का "यमादि साधन–साधते" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने येमिरे पद का अर्थ "जाते है"निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **मैक्डानल** ने इस पद का अर्थ "आत्मसमर्पण" (submit) निश्चित किया है।

अभिष्टिशवसे –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "शत्रूणामभ्येषणशीलबलाय" सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इसका "शत्रूणामभिगन्तृबलयुक्ताय" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

लुड्विग, रॉथ, ग्रासमैन, तथा **पीटर्सन** आदि ने इसका अर्थ "सहायता"ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "strong to help" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर-विलियम्स** ने इस पद का "rendering powerful assistance" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने पूर्वपद अभिष्टि को "उत्कृष्ट" (superior) अर्थ करते हुए सम्पूर्ण पद का "उत्कृष्ट बल वाला" एव "जिसकी शक्ति अभिभूत करने वाली है" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने भी अभिष्टि पद का "उत्कृष्ट" अर्थ स्वीकार किया है।

पञ्चजनाः –

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार "देव, मनुष्य, गन्धर्व तथा अप्सराएँ, सर्प और पितृगण" ये पञ्चजना. कहलाते है। जबकि

महीधर ने पञ्चजना पद का अर्थ "यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरू नामक पॉच आर्य जातियॉ है। जबकि

औपमन्यव के अनुसार चारो वर्ण–"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद जाति ये पॉचो पञ्चजना कहलाते हैं। जबकि

सायणाचार्य ने औपमन्यव तथा शाकटायन का अनुसारण करते हुए "निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णा." अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

अभिष्टिशवसे – ऋग्वेद ३/५६/८

पञ्चजना – ऋ० ३/५६/८

यास्काचार्य ने पञ्चजना पद का अर्थ ''गन्धर्व, पितृगण, देव, असुर एव राक्षस'' सुनिश्चित किया है।

दयानन्द सरस्वती ने पञ्चजना पद का अर्थ "पाचो ज्ञानेन्द्रियॉ और जीव" निश्चित किया है।

रॉथ के मतानुसार पञ्चजना से ''ससार की सभी मानव जातियॉ'' अभिप्रेत है। इस मत के अनुसार पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर दिशाओ की मनुष्य जातियो के मध्य मे आर्य–जाति मानकर सब मनुष्यो के लिए 'पञ्चजना' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र ''विश्व'' अर्थात् ''सब'' के अर्थ को आभिव्यक्त करने के लिए पञ्च का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार रॉथ ने "आर्यजन तथा उनके चारो ओर के लोग' अर्थ भी किया है। जबकि

मैक्डानल ने पञ्चजना पद का अर्थ "सभी लोग" निश्चित किया है।

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने रॉथ के मत को स्वीकार किया है। अन्तत मैक्डानल ने भी इसी मत को समीचीन माना है तथा 'वैदिक रीडर' मे पञ्चजना पद का "the five peoples, here = all mankind"अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इस पद का "पॉच आर्य राष्ट्र" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

म्योर ने पञ्चजना· पद का अर्थ "सभी राष्ट्र" निश्चित किया है।

अधिकतर आधुनिक विद्वान् 'पञ्चजना' पद का "five peoples", "five tribes" आदि शाब्दिक अनुवाद करते है।

इष्टव्रताः –

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान ''अभिलषितकर्मसाधनानि'' किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''इष्टानि कल्याणानि व्रतानि याभि सिद्धयन्ति ता'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने इस पद का ''इच्छा या पालन करने वाले'' अर्थात् ''मित्र देव की इच्छा के अनुसार प्राप्त होने वाले'' अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने इष्टव्रता. पद का अर्थ "हार्दिक इच्छा पूर्ण किया" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका व्याख्यान ''उनकी (उपासको की) इच्छा के अनुसार'' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अनुवाद ''जिन का व्रत (अर्थात् व्रतभोजन) अभीष्ट है'' निश्चित किया है।

इष्टव्रता – ऋग्वेद ३/५६/६

तथापि ये इस ऋचा के अर्थ को सन्दिग्ध मानते है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद "Food fulfilling sacred Law" और भावार्थ "the food which enables men to offer the appointed sacrifices" किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "agreeing with is as, food regulated by the ordinances which Mitra desires, i e to be eaten according to fixed rules" यह व्याख्यान किया है।

वाजेन वाजिनि –

वेड्कटमाधव ने वाजेन का अर्थ "हविषा सह" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इन पदो का "अन्नेनान्नवति" तथा "हविर्लक्षणेनान्नेन सह" अर्थ किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इन पदो का अर्थ "of strength, strife, contest, race, whether friendly or warlike, wealthy by wealth or booty" निश्चित किया है। जबकि

रॉथ ने इन पदो का अर्थ "swiftness, race, prize of race, gain-treasure, race-horse and so on" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इन पदो का "rich in blessing" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "strong with strength" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इन पदो का अर्थ "पुरस्कार से पुरस्कारवती" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ "पुष्टि या समृद्धि से सम्पन्न" ग्रहण किया है।

वर्तमान प्रसड्ग मे ग्रासमैन द्वारा सुझाया गया अर्थ अधिक समीचीन है।

प्रचेताः –

वेड्कटमाधव ने इसका "सुमति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "प्रकृष्ट ज्ञानवती" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन, मोनियर-विलियम्स आदि पाश्चात्य भाष्यकारों ने इसका "बुद्धिमती" (wise) अर्थ किया है।

सायण और पाश्चात्य भाष्यकारो का भावार्थ समान होते हुए भी सायण का व्याख्यान अधिक उपयुक्त है।

वाजेन वाजिनि – ऋग्वेद ३/६१/१

प्रचेता – ऋ० ३/६१/१

पुरंधिः –

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "बहून्धारयित्री" निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने पुरधि का अर्थ "बहुधारयिता धारया" तथा अन्यत्र "पुर शरीर रूपादिगुणसमन्वित धारयतीति पुरधि" निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने "पुर बहु दधाति पुरधिर्धारा तया" तथा "पुर शरीर सर्वगुणसम्पन्न दधाति पुरधि" अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इसका "पुरूबहुधी स्तोत्रलक्षण कर्म यस्या सा। बहुस्तोत्रवती। "बहूना धारयित्री" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इस पद का "पुरधिर्बहुधी.", "पुरधि शोभमाना वा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने भी यास्क का अनुसरण करते हुए इस पद का अर्थ "बहुत बुद्धियो वाली" निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **मैक्डानल** के अनुसार विशेषण पुरधि का अर्थ "प्रचुर (मात्र मे) प्रदान करने वाला (वाली) अर्थात् दानशील, उदार" और भाववाचक शब्द पुरधि का अर्थ "उदारता, दानशीलता" है। परन्तु प्रस्तुत प्रसड्ग मे पुरधि पद विशेषण है, इसलिए यहाँ पर इसका अर्थ "प्रचुर (मात्रा मे) प्रदान करने वाली" है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "(इच्छा) पूरी करने वाली" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "full of wisdom" अर्थ निश्चित किया है।

सूनृताः –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "मनुष्याणां वयसा च वाचः" तथा "प्रेरित करती हुई" अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "प्रियसत्यरूपा–वाच उच्चारयन्ती" एव "प्रियहित वाच" अर्थात् "सुन्दर वाणी" अर्थ सुनिश्चित किया है। सायण ने 'सुन्तता.' पद का विकल्प से 'उषस' एव 'सुन्दर' तथा "प्रिय या हितकर" अर्थ भी किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का "अच्छी प्रकार प्रियादियुक्त वाणियों को" अर्थ निश्चित किया है।

पुरधि.	–	ऋग्वेद	३/६१/१
सूनृता	–	ऋ०	१/४८/२, ३/६१/२

जबकि

निघण्टु मे सूनृता शब्द उषस् के नामो मे गणित है। जबकि

स्कन्दस्वामी तथा **सायण** ने भी सूनृता. पद का अर्थ विकल्प से "उषस" किया है। जबकि

वैदिक प्रयोगो के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सूनृता शब्द ऋग्वेद मे सूनर की भॉति मूलत "सुन्दर" अर्थ मे और गौण रूप से "प्रिय या हितकर" अर्थ मे विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। जबकि

विल्सन ने इस पद का अर्थ "kind words" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का का "Sacrificial fee" अर्थात् "उपहार" (gifts) अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "sound of joy" अर्थ निश्चित किया है।

कतिपय आधुनिक विद्वान् सूनृता पद का अर्थ "प्रसन्नता" एवं "प्रसन्न वाणी" इत्यादि भी करते है और इसकी व्युत्पत्ति के विषय मे विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं।

परन्तु लगभग सभी प्राचीन भारतीय भाष्यकार सूनृता का प्रधान अर्थ प्रायेण "वाच" करते है और प्रसङ्गानुसार "वाच" के रूपो के साथ कतिपय विशेषणो का प्रयोग करते है। अधिकतर व्याख्यानो मे ये भाष्यकार सूनृता का अर्थ "प्रियसत्यरूपा वाच" करते है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "Sacrificial fee" or "an auspicious hymn of praise" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैत्रायणी संहिता मे सूनृता को "अन्न" बताया गया है

प्रयोग प्रचलन के कारण अनेक स्थलो पर प्रसङ्गानुसार ऋग्वेद मे सूनृता विशेषण का प्रयोग हुआ है और ऐसे स्थलो पर प्रसङ्गानुसार ही सूनृता का अर्थ "सुन्दर तथा प्रिय उषा" या "सुन्दर तथा प्रिय वाणी" (अर्थात्–स्तुति) या "सुन्दर तथा प्रिय विभूति" किया जाता है। वर्तमान प्रसङ्ग मे सूनृताः का अर्थ "सुन्दर तथा प्रिय वाणियॉ या सुन्दर तथा प्रिय विभूतियॉ" किया जा सकता है। यहॉ पर सूनृता. का द्वितीय अर्थ "सुन्दर तथा प्रिय विभूतियॉ" अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

अमृतस्य केतुः –

वेङ्कटमाधव ने इन पदो का व्याख्यान "सुप्तानामुत्थापनात् अमृतस्य प्रज्ञापयित्री" सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "अमृतस्य मरणधर्मरहितस्य सूर्पस्य केतुः प्रज्ञापयित्री"अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

अमृतस्य केतु. – ऋग्वेद ३/६१/३

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इन पदो का अर्थ "the banner of immortality" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इन पदो का "the sign of immortality" अर्थ सुनिश्चित किया है।

यहॉ पर अमृतस्य पद सामूहिक रूप से सभी देवो के लिए प्रयुक्त किया गया है। अतएव इसका अर्थ है– "अमर देवगण का " और केतु का अर्थ है– "सूचक, ज्ञापक, पताका"।

अर्थम् –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "कार्यमुद्दिश्यजगद्रक्षणात्मकम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "अर्यते गम्यतेऽस्मिन्नित्यर्थो मार्ग । समानमेकं मार्गमुदयात्प्राचीनकाललक्षणम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, गैल्डनर, पीटर्सन, मैक्डानल आदि आधुनिक विद्वान् 'अर्थ' शब्द का व्याख्यान "goal" करते है, और वैदिक प्रयोग से इसी व्याख्यान की पुष्टि होती है।

स्यूमऽइव –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "सुखं मनुष्याणाम्", "सुखान्यभिलषितानि" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "वस्त्रमिव विस्तृतं तम" अर्थ निश्चित किया है।

प्राचीन भाष्यकारो तथा पाश्चात्य भाष्यकारो ने इस पद के विभिन्न व्याख्यान किए है। कुछ विद्वानो ने इसका "सुख" तथा अन्यत्र "अनुस्यूत" और कही कुछ भिन्न अर्थ करते है।

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "सुख" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

जो आधुनिक विद्वान् 'स्यूमन्' को 'सुख' का नाम नही मानते है वे इसकी व्युत्पत्ति √सिव् (सीना) धातु से मानते है।

यास्काचार्य ने इस पद का "स्यूकमिति सुखनाम तदिच्छन्तौ सततगमिनौ वा" निर्वचन किया है। जबकि

रॉथ महोदय ने इस पद का "बन्धन" (Band), "चर्मपट्टी" (thong) तथा "लगाम" (reins) आदि अर्थ ग्रहण किया है। वर्तमान प्रसड्ग मे इसका अर्थ "चर्मपट्टी" करते हुए अनुवाद किया है– "गृह पत्नी (स्वसरस्य पत्नी) उस चर्मपट्टी को हटाते हुए (जो द्वार को बन्द करती है) क्रियाशील होती है।" जबकि

अर्थम् – ऋग्वेद ३/६१/३

स्यूमऽइव – ऋ० ३/६१/४

ग्रासमैन ने भी रॉथ का अनुसरण करते हुए 'स्यूमन्' के लिए निम्नलिखित अर्थ निश्चित किए है–

१. "बन्धन, चर्मपट्टी, मेखला" (giradle)

२ "रूपकालङ्कार द्वारा –श्रृखला, सातत्य"

वर्तमान प्रसङ्ग मे ग्रासमैन ने इसका अर्थ "मेखला" करते हुए अनुवाद किया है – "अपनी मेखला को शिथिल करती हुई"। जबकि

लुड्विग तथा **ग्रिफिथ** ने 'स्यूमन्' का अर्थ "लगाम" निश्चित करते हुए इस प्रकार अनुवाद किया है– "लगाम को नीचे की ओर झटकती हुई"। जबकि

पीटर्सन ने अपने अनुवाद "Lo, the rich Dawn casts, as it were, her garment from her" मे अशत सायण का अनुसरण किया है। जबकि

गैल्डनर ने 'स्यूमन्' का अर्थ "सीवन" करते हुए इसका अनुवाद–"सीवन को दूर हटाती हुई" किया है। परन्तु टिप्पणी मे गैल्डनर स्वीकार करते है कि 'स्यूमन्' का अर्थ कुछ ऐसा भी हो सकता है जैसे "रस्सी या लगाम" और उस अवस्था मे ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है "जैसे गृहपत्नी (पशुओ को गोचरभूमि मे हॉकने के लिए उनकी) रस्सी को खोलती है।" जबकि

ओल्डेनबर्ग ने भी 'स्यूमन्' का "सीवन" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ऐतरेय ब्राह्मण मे भी 'स्यूमेव मध्ये शीर्ष्णो विज्ञायते' प्रयोग मिलता है जिसका व्याख्यान सायण इस प्रकार करते है– "स्यूम स्यूतम्। यथा वस्त्रयो सधि सूच्या स्यूत सयोजितो भवति। एव शिरसि दक्षिणोत्तरकपालयो सधौ स्यूतेव काचिद्रेखा दृश्यते"।

पूर्वोक्त वैदिक प्रयोगों से तथा विवेचन से स्पष्ट है कि √सिव् धातु से व्युत्पन्न 'स्यूमन्' का शाब्दिक अर्थ "स्यूत या सीवन" है और रूपकालङ्कार में प्रयुक्त किये गये शब्द का अर्थ प्रसङ्गानुसार किया जाना चाहिए। वर्तमान प्रसङ्ग मे 'स्यूमन्' का प्रयोग रूपकालङ्कार में किया गया है। ऋषि का भाव यह है कि उषा के आगमन से पूर्व विश्व पर अन्धकार–रूपी वस्त्र अर्थात् आवरण ऐसे छाया हुआ है जैसे उसके साथ सी दिया गया हो। उषा के आगमन से अन्धकार ऐसे हट रहा है मानो वह सीवन को तोड कर उसे हटा रही हो।

स्वसरस्य पत्नी –

वेङ्कटमाधव ने इसका "अह्न पत्नी" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "सुष्ठु अस्यति क्षिपति तम इति स्वसर. सूर्यो वासरो वा तस्य पत्नी" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्वसरस्य पत्नी – ऋग्वेद ३/६१/४

निघण्टु मे स्वसराणि पद "दिन" तथा "गृह" के नामो मे गिनाया गया है। जबकि

यास्काचार्य ने इसका "स्वसराण्यहानि भवन्ति। स्वय सारीण्यपि वा। स्वरादित्यो भवति। स एनानि सारयति।" निर्वचन किया है। जबकि

सायण ने निघण्टु के अनुसार इस पद व्याख्यान– "मार्ग", "गृह", "शरीर", "गोष्ठ", "घोसला" तथा "निवास स्थान" निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने भी इसका व्याख्यान "गोष्ठ", "स्वावस्थान", "स्वनिलय" आदि निघण्टु के अनुसार किया है। जबकि

इन व्याख्यानो के विपरीत स्वय सायण ने मात्र तीन–चार बार इसका अर्थ "दिन" या "आदित्य" किया है।

वैदिक प्रयोगो से स्पष्ट है कि यह शब्द प्रधानतया "अपने (स्व) गमन–स्थान अर्थात् आश्रय" का वाचक है और प्रसड्गानुसार इस अर्थ मे कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। यहॉ पर "अपने आश्रय" का अर्थ "विश्व" लेते हुए–

पीटर्सन ने इन पदो का अर्थ "Queen of the world" किया है जो कि प्रसड्ग के अनुकूल है। जबकि

ग्रासमैन ने इन पदो का "Possessor of the cowstall" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Lady of the dwelling" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इन पदो का "Lady of early impulse" अर्थ ग्रहण किया है।

स्वर् जनन्ती –

वेड्कटमाधव ने इसका "तमसा तिरोहितं सर्वमेव जनयन्ती" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इन पदो का "स्वकीय तेज जनयन्ती" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने अनुसार स्वर् शब्द "सूर्य" तथा "द्युलोक" दोनो के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहॉ पर यह "सूर्य" के लिए प्रयुक्त हुआ है। जबकि

पीटर्सन ने "this bountiful and wonderful Goddess brings heaven to life again" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदों का "bringing forth light" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्वर् जनन्ती – ऋग्वेद ३/६१/४

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** यहॉ पर 'स्वर्' का अर्थ ''सूर्य'' करते है और प्रसड्गानुसार यही अर्थ यहॉ पर समीचीन है।

सुवृक्तिम् –

वेड्कटमाधव ने इसका अर्थ ''स्तुतिम्'' निश्चित किया है। जबकि

सायण ने ''शोभना स्तुतिम्'' एव ''शोभनावर्जक त्वद्विषय स्तोत्रम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने ''सुप्रवृत्ताभि स्तुतिभि'' अर्थ सुवृक्तिभि पद का किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इन पद का ''परमात्मस्तुतियो को''अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पराञ्जपे ने ''आदर या सम्मान सूचक चिह्न'' अर्थ किया है। अधिकतर आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ ''स्तुति या स्तुतिगान'' करते है। जबकि

कतिपय स्थलो पर यास्क का अनुसरण करते हुए सायण सुवृक्ति का व्याख्यान ''सुप्रवृत्ता स्तुति'' करते है परन्तु अधिकतर स्थलो पर "सुष्ठु आवार्जक", "शोभनावर्जक", "सुष्ठु दोषवर्जित" इत्यादि विशेषणात्मक वाक्यो द्वारा व्याख्यान करते है। अन्यत्र सायण ने सुवृक्ति का व्याख्यान ''सुसमाप्ति'' किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "With propitiatory" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "goodly preparation" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "a song of praise" अर्थात् ''प्रशसात्मक गीत'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इस पद का "Etymologically, however, सुवृक्ति means the cleaning and trimming of the grass on which, as on a small altar, the oblation is offered" अर्थ सुनिश्चित किया है।

कुशा आदि को ''काटना–छॉटना'' अर्थ में √वृज् धातु से सुवृक्ति की व्युत्पत्ति मानना समीचीन है। अच्छी प्रकार ''काट–छॉट के द्वारा अर्थात् उपयुक्त शब्दो के चयन द्वारा जो ''शोभन स्तुति तैयार की जाती है उसे सुवृक्ति कहते है।

मधुधा –

वेड्कटमाधव ने इस पद का मधुनो धारकम्। तेज इत्युषसमाह'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''मधुराणि स्तुतिलक्षणानि वाक्यानि दधातीति। मधु सोम· तं धारयतीति वा। यद्वा आदित्यधात्री। अव्युत्पन्नावयवम् अखण्डमिद पदम् उषो नाम'' व्याख्यान किया है। जबकि

सुवृक्तिम् – ऋग्वेद ३/६१/५

मधुधा – ऋ० ३/६१/५

रॉथ, गैल्डनर तथा **मोनियर-विलियम्स** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इसका "माधुर्य प्रदान करने वाली" अर्थ निश्चित किया है। इसी व्याख्यान को स्वीकार करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जबकि

श्री विश्वबन्धुकृत "वैदिक-पदानुक्रमकोष" मे इसका "दीप्तमती" अर्थ सुझाया गया है। यहॉ पर "माधुर्य" का भाव "प्रिय वस्तुएँ" हो सकता है। जबकि

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** ने मधुधा पद का "प्रिय वस्तुएँ अर्थ ग्रहण किया है।

रोचना –

वेड्कटमाधव ने इसका "लोकान्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "रोचनशीला यद्वा रोचना लोकान्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "चमकती हुई" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, पीटर्सन, ने इस पद का "चमकते हुए प्रदेश" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "her splendour" अर्थ ग्रहण किया है।

यहॉ पर सायण तथा गैल्डनर ने अनुसार व्याख्यान करना अधिक समीचीन है।

ऋतावरी –

वेड्कटमाधव ने इसका "वाग्भिर्युक्ता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "सत्यवती" एवं अन्यत्र "ऋतवती" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकारो ने इसका अर्थ "शाश्वत नियमो का पालन करने वाली" निश्चित किया है।

दिवः अर्कैः –

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "दिव सकाशात्", "प्रात प्रबुद्धाना स्तोतृणा स्तुतिभिर्युक्ता" किया है।

सायणाचार्य ने इसका "द्युलोकात्"। "तेजोभि" अर्थ दिव और अर्कै पदो का किया है। जबकि

गैल्डनर ने दिव पद का अर्थ "द्युलोक की (पुत्री)" और अर्कै पद का अर्थ "स्तुति गानो के द्वारा" निश्चित किया है। जबकि

रोचना – ऋग्वेद ३/६१/५

ऋतावरी – ऋ० ३/६१/६

दिव अर्कै. – ऋ० ३/६१/६

पीटर्सन ने दिव अर्कै पदो का "by the songs of the sky" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इन पदो का "द्युलोक के तेजो के द्वारा" अर्थ ग्रहण किया है जो समीचीन है।

ऋतस्य बुध्ने –

इन पदो का शाब्दिक अर्थ "शाश्वतनियम के मूल मे" है, परन्तु भावार्थ सन्दिग्ध है।

वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने इसका व्याख्यान "अह्न मूले" किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इन पदो का "in the depth of the heaven" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इन पदो का "on holy ground" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "on law's firm base" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने इन पदों का "on the ground of the holy rite" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "नियम के मूल मे" अर्थ निर्धारित किया है और टिप्पणी मे कहते है कि 'ऋतस्य बुध्न' वास्तव मे वही है जो 'सदनम् ऋतस्य' कहलाता है।

इषण्यन् –

वेङ्कटमाधव ने इसका "इच्छन्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "प्रेरण कुर्वन्" तथा विकल्प से "सर्वतो गच्छन्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ तथा **ग्रासमैन** ने इसका "प्रेरित करता हुआ" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर तथा **गैल्डनर** इस पद का "इच्छा करता हुआ" अर्थ ग्रहण करते है।

माया –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "प्रज्ञा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "माया प्रभारूपा सती" अर्थ सुनिश्चित किया है। सायण ने अनुसार यहॉ पर "उषा" अर्थ अभिप्रेत है। जबकि

ऋतस्य बुध्ने – ऋग्वेद ३/६१/७

इषण्यन् – ऋ० ३/६१/७

माया – ऋ० ३/६१/७

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने यहॉ पर "सूर्य" अर्थ किया है। यह मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

निघण्टु ने माया "प्रज्ञा" के नामो मे गणित है। वेद मे माया शब्द "प्रज्ञा", "अलौकिक शक्ति" आदि अर्थो मे प्रयुक्त होता है। यहॉ पर माया का प्रयोग "अलौकिक शक्ति" के अर्थ मे हुआ है और इससे "सूर्य" अर्थ अभिप्रेत है।

चन्द्रा इव –

वेड्कटमाधव ने इन पदो का "यथा रात्रौ वरूणश्चन्द्र पुरूत्रा बहुषु देशेषु चकार। तद्वदुषस्यागताया मित्रस्य माया सूर्यम्। अनेकेषु देशेषु। विदधे इति" व्याख्यान किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इन पदो का "सुवर्णानीव" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इन पदो का "चमकती हुई" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इन पदो का "सुवर्ण की भॉति" अर्थ विनिश्चित किया है।

यहॉ पर "चमकती हुई" पद को उषा का विशेषण मानना अधिक समीचीन है।

आनुषक् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "अनुषक्त", "निर्बाध रूप से" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका "Manifested" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "suddenly shown forth" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स ने इस पद का "in continuous order", "uninterruptedly", "one after the other" अर्थ निश्चित किया है।

भृगवाणम् –

सायण ने इसका "भृगु की भॉति आचरण करने वाला" अर्थात् "चमकने वाला" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "The resplendent" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "moving like Bhrgu" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स ने इस पद का "to shine" अर्थ ग्रहण किया है।

चन्द्रा इव – ऋग्वेद ३/६१/७

आनुषक् – ऋ० ४/७/२

भृगवाणम् – ऋ० ४/७/४

वीतम् –

सायण ने इसका अर्थ ''कान्तम्'' अर्थात् "सबके द्वारा अभिलषित" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इसका अर्थ "Loved" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "concealed" अर्थ ग्रहण किया है।

सुवेदम् –

सायणाचार्य ने इस पद का ''सुविज्ञान सुधन वा'' अर्थात् "सुन्दर ज्ञान अथवा धनवाले" अर्थ किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "endowed with knowledge" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "quickly found" अर्थ स्वीकार किया है।

ससस्य –

सायण ने इसका अर्थ ''स्वप्नस्य'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "food" निर्धारित किया है।

वे: –

सायण ने इसका ''वेत्सि कामयसे वा। यद्वा वेरिति यज्ञ–विशेषणम्। वेर्यजमानस्याभीष्टफलजनकस्य।'', ''वेत्ति जानाति'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "bird", "flies" अर्थ ग्रहण किया है।

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वान् –

सायणाचार्य ने इन पदो का ''सब कुछ जानने वाले तुम यज्ञ सम्बन्धी दौत्यकर्मो को जानते हो'' अर्थ किया है। जबकि

वीतम् – ऋग्वेद ४/७/६

सुवेदम् – ऋ० ४/७/६

ससस्य – ऋ० ४/७/७

वे – ऋ० ४/७/७, ८

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वान् – ऋ० ४/७/८

विल्सन ने "(Thou) who art all knowing understandest the functions of a messenger (of the gods at the sacrifices)" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "Bird of each rite skilled envoy's duties" अर्थ निश्चित किया है।

उराणः –

सायणाचार्य ने इस पद का "अल्पमपि हवि उरू बहु कुर्वाण" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्क ने भी "उराण उरू कुर्वाण इति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "willing" अर्थ ग्रहण किया है।

अप्रवीता –

सायण ने इस पद का अर्थ "अनुपगता यजमाना अर्थात् "उपस्थित यजमान" निश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स ने इस पद का "to pregnate" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "unimpregnate" अर्थ ग्रहण किया है।

प्रसक्षत् –

सायणाचार्य ने 'प्रसक्षत्' पद का अन्वय–हे जातवेद तव क्रत्वा प्रसक्षत् चिकित्वान् आदि पदो के साथ करते हुए प्रसक्षत् पद का अर्थ "प्रसहमान त्वदीय तेज अर्थात् जीतने वाले तेज को' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने प्रसक्षत् पद का अर्थ "प्रसङ्ग को करे" निश्चित किया है।

क्रत्वा –

सायणाचार्य ने क्रत्वा पद का अर्थ "इन्धनादिहेतुना कर्मणा" एव "शक्ति से' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने क्रत्वा पद का अर्थ "बुद्धि या कर्म से" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने क्रत्वा पद का अर्थ "By the act" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने क्रत्वा पद का अर्थ"through the mental power" निश्चित किया है।

उराण – ऋग्वेद ४/७/८

अप्रवीता – ऋ० ४/७/६

प्रसक्षत् – ऋ० ४/१२/१

क्रत्वा – ऋ० ४/१२/१

स्वधावान् –

सायणाचार्य ने स्वधावान् पद का अन्वय यविष्ठ स्वधावान् अग्नि आदि पदो के साथ करते हुए स्वधावान् पद का अर्थ "अन्नवान् तेजस्वी" एव "आत्मशक्ति वाला" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द जी ने स्वधावान् पद का अर्थ "बहुत अन्नादि से युक्त" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **विल्सन** ने स्वधावान् पद का अर्थ "Abounding in sustenance" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने स्वधावान् पद का अर्थ "self reliant God" निश्चित किया है।

वायुनवत् –

यास्काचार्य ने 'वयुन' पद की व्याख्या "वयुन वेते, कान्तिर्वा, प्रज्ञा वा" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने वायुनवत् पद का अर्थ"प्रकाश', 'प्रज्ञान', 'मार्ग', 'ज्ञान' आदि निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव, माधवाचार्य तथा **स्कन्दस्वामी** ने भी यही अर्थ किया है जो सायण ने किया है। चूँकि ये सभी भाष्यकार सायण से पूर्ववर्ती है, अत सायण ने इनके व्याख्यान को स्वीकार किया है। जबकि

रॉथ महोदय ने इसका "पवित्रता, स्वच्छता, विशिष्टता" आदि अर्थ किया है, जिसका अनुसरण **गैल्डनर** ने भी अनेक स्थलो पर किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका "वस्त्र या आच्छादन" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पिशेल ने इसका अर्थ "गतिमान" (मार्ग) किया है। किन्तु यह अर्थ किसी भी सन्दर्भ मे सड्गत नही हो सकता। यहाँ 'वयुन' "शरीर रूपी आच्छादन" को ही स्पष्ट करता है, जिससे प्राण आच्छादित है या जिसमे ढका हुआ है।

अत वयुनम् पद का सही अर्थ "आच्छादित करने वाला", "ढकने वाला" या "अवगुण्ठित करने वाला", "वस्त्र" आदि होगा।

अभ्वम् –

सायण ने इस पद का 'शत्रु', 'वेग', 'मेघ', 'महत्कर्म', 'महत् प्राणिजात्' आदि अनेक अर्थ किये है। जबकि

निघण्टु मे अभ्वम् को 'महत्' और 'उदक' का पर्याय माना गया है। पाश्चात्य भाष्यकारो मे–

स्वधावान् – ऋग्वेद ४/१२/३

वायुनवत् – ऋ० ४/५१/१

अभ्वम् – ऋ० ४/५१/६

रॉथ ने इस पद का ''भयावह'', ''पैशाचिक'', ''महान्'' आदि अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका ''कुत्सित'' और ''भयानक दिखलाई पडने वाला'' अर्थ किया है। ग्रासमैन ने रॉथ के भी सभी अर्थों को ग्रहण किया है। जबकि

बेरगेन्य ने इस पद का ''गूढता'', ''सामान्य पाप'', ''पैशाचिक शक्ति'' और ''सामान्य शक्ति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग और **गैल्डनर** ने रॉथ के अर्थों का अनुसरण किया है।

अभ्व शब्द पर विचार करते हुए **वेङ्कट सुब्बैया** का कथन है कि यह 'यक्ष' शब्द का समानार्थक है और इसके 'सृष्टि', 'पैशाचिक', 'जीव', 'दुष्ट प्राणी', 'सिद्धान्त', 'गुण' आदि अनेक अर्थ है। इन्होंने इसके अर्थ की स्थापना का प्रशसनीय प्रयास किया है, किन्तु फिर भी इसका निश्चित अर्थ करना कठिन है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे यह रात्रि के घोर अन्धकार का द्योतक है जिसे ''काले राक्षस'' के रूप मे कहा गया है।

दामानम् –

वेङ्कमाधव ने इस पद का ''खण्डयितारम् अन्धकारम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''हविषा दातारम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का ''दातारम् उत्पत्तिस्थितिलयानां स्वकीय रश्मिजालम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का ''ददाति प्रकाशमिति दामा रश्मिसमूह तम्'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ तथा **गैल्डनर** ने इसका ''दान'' अर्थ निश्चित किया है।

सायण ने भी दामन् पद का ''दान'' अर्थ किया है। यहॉ पर ''दान'' अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

दीनैः दक्षैः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''दीनत्वे। बुद्धया'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''दीनै दुर्बलै. पुत्रादिभि ऋत्विग्भिर्वा तथा दक्षै प्रवृद्धैर्वा तै.'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने दक्ष शब्द का अर्थ ''बुद्धि'' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "will-power" अर्थ ग्रहण किया है। यहॉ पर ग्रासमैन का अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

दामानम् – ऋग्वेद ४/५४/२

दीनै दक्षै – ऋ० ४/५४/३

विवास –

वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने विवास का व्याख्यान "परिचर" किया है। जबकि

निघण्टु मे यह पद "परिचरणकर्माण" तिङन्तो मे गिनाया गया है।

रॉथ, मैक्डानल, ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स आदि पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ "Seek to win" अर्थ करते है। जबकि

गैल्डनर ने इसका अर्थ "प्रार्थना करो" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "call" अर्थ निश्चित किया है।

यदि इस क्रिया के सभी वैदिक प्रयोगो पर विचार किया जाय, तो गैल्डनर का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

जीरदानुः –

वेङ्कटमाधव तथा **सायण** ने "क्षिप्रदान" अर्थात् शीघ्र देने वाला" अर्थ निश्चित किया है।

निघण्टु मे जीरा "क्षिप्र" के नामो मे गिनाया गया है।

ग्रासमैन, ह्विटने, मोनियर-विलियम्स आदि पाश्चात्य विद्वान् जीर के "क्षिप्र" अर्थ को स्वीकार करते है। जीर की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, परन्तु इसका "क्षिप्र" अर्थ निश्चित किया है।

गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने भी इसका अर्थ "शीघ्र दान देने वाला" किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** इस पद का "शीघ्र वर्षा करने वाला" व्याख्यान करते है।

ऋग्वेद मे यह पद इन्द्र, पर्जन्य, वृष्टि, पर्वत, मेघ, मरूतो इत्यादि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है अतएव ग्रासमैन का व्याख्यान अधिक समीचीन है।

नभः –

वेङ्कटमाधव ने नभ पद का अर्थ "आकाशम्" निश्चित किया है। जबकि

विवास	–	ऋग्वेद	५/८३/१
जीरदानु	–	ऋ०	५/८३/१
नभ	–	ऋ०	५/८३/३

सायण तथा **मुद्गल** ने इस पद का "अन्तरिक्षम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर इसका अर्थ "गर्जता हुआ मेघ" निश्चित करते है। जबकि

मैक्डानल तथा **ग्रिफिथ** ने इसका "Sky" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे नभ को "उदक" के नामो मे गिनाया गया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस मत का अनुसरण किया है।

प्रसङ्ग को ध्यान मे रखते हुए सायण तथा मुद्गल का व्याख्यान अधिक समीचीन है, क्योकि वेदादि मे सर्वत्र अन्तरिक्ष वर्षणकार्यो से सम्बद्ध माना गया है।

अभिक्षिपन् –

वेड्कटमाधव इसका व्याख्यान "अधिक्षिपन्" करते है। जबकि

सायण ने इस पद का "अभिप्रेरयन्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मुद्गल ने इस पद का "प्रेरयन्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल तथा **ग्रिफिथ** आदि ने "lashing" अथवा "whipping" अर्थ सुनिश्चित किया है।

प्रसङ्गानुसार वेड्कटमाधव आदि प्राचीन भाष्यकारो का व्याख्यान अधिक समीचीन है।

पिन्वते स्वः –

वेड्कटमाधव ने इन पदो का "सर्व च स्वरस क्षरति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण तथा **मुद्गलाचार्य** ने इसका " स्व अन्तरिक्ष पिन्वते क्षरति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "heaven overflows" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "the realm of light is streaming" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "the sky pours" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने भी स्व का अर्थ "द्युलोक" निश्चित किया है। जबकि

अभिक्षिपन् – ऋग्वेद ५/८३/३

पिन्वते स्व – ऋ० ५/८३/४

गैल्डनर ने इसका अर्थ ''सूर्य'' किया है और टिप्पणी मे भारतीय सिद्धान्त का निर्देश किया है, जिसके अनुसार सूर्य ग्रीष्म मे आकृष्ट किए हुए जल को वर्षा ऋतु मे छोडता है। परन्तु यहॉ पर गैल्डनर का व्याख्यान उचित प्रतीत होता है। यहॉ पर 'स्व' का शाब्दिक अर्थ ''द्युलोक'' ही है और ऋषि आलङ्कारिक भाषा मे कहते है ''द्युलोक फूलता है'', इसका भाव यह है कि वर्षा के दृश्यो मे (मेघ, गर्जन, वर्षण, विद्युत् आदि) के द्वारा द्युलोक भी फूला हुआ अर्थात् समृद्ध दिखाई देता है।

इरा –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''अन्नम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण तथा **मुद्गलाचार्य** ने इस पद का ''भूमि'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ, पीटर्सन, मैक्डानल, मोनियर-विलियम्स आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इसे इडा तथा इळा का समानार्थक मानते हुए इसका अर्थ ''अन्न'' ग्रहण किया है।

जर्भुरीति –

वेङ्कटमाधव ने इसका ''पुष्टं भवति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणचार्य ने इसका ''भ्रियते पूर्यते गच्छतीति वा'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मुद्गलाचार्य ने इस पद का ''गच्छति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, मैक्डानल, गैल्डनर, पीटर्सन, ह्विटने, मोनियर-विलियम्स ने इस पद का ''इधर–उधर छलॉगे लगाता है'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "fly in terror" ग्रहण किया है।

सभी वैदिक प्रयोगो के प्रसङ्ग पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि 'जर्भुर्' मे ''गति'' का अर्थ प्रधान है। परन्तु यह सन्दिग्ध है कि यह ''गति'' के अर्थ के कौन से सूक्ष्म भेद के अन्तर्गत आता है। यहॉ पर 'जर्भुरीति' का अर्थ ''इधर–उधर बार–बार कूदता है'' समीचीन प्रतीत होता है।

विषिताः –

सायणाचार्य ने इस पद का ''विशेषेण सित बद्धं यद्वा विमुक्तबन्धनमेव'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पद का "tight fastened" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

इरा – ऋग्वेद ५/८३/४

जर्भुरीति – ऋ० ५/८३/५

विषिता· – ऋ० ५/८३/८

ग्रिफिथ, मैक्डानल तथा **पीटर्सन** ने इसका "unfastened" अर्थ सुनिश्चित किया है।

कुल्याः –

सायण तथा **मुद्गलाचार्य** ने इस पद का "नद्य" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे कुल्या पद "नदी" के नामो मे गिनाया गया है। जबकि

उव्वट तथा **महीधर** ने भी इसका अर्थ "नदी" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर इसका अर्थ "नाले" (brooks) करते है। जबकि

ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** ने इस पद का "streams" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने अन्यत्र इस पद का "कृत्रिमसरित" अर्थ किया है। इसके अनुसार अनेक पाश्चात्य भाष्यकारो ने कुल्या का अर्थ "नहरे" किया है।

परन्तु ऋग्वेद के अनुसार कुल्या पद नदीवाचक नही है। घृतस्य कुल्या, मेदस कुल्या इत्यादि वैदिक प्रयोगो से कुल्या शब्द के "धारा" अर्थ को समर्थन मिलता है।

घृतेन –

वेङ्कटमाधव तथा **सायण** ने इस पद का "उदकेन" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे घृतम् पद "उदक" के नामो मे गिनाया गया है, अत तदनुसार यास्क ने भी "उदक" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "उत्पादन शक्ति" (fertility) अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "figuratively of rain because it produces fatness or abundance" अर्थ ग्रहण किया है।

यहॉ पर घृत शब्द नि सन्देह "वर्षाजल" के लिए प्रयुक्त किया गया है।

मनीषाम् –

स्कन्दस्वामी तथा **वेङ्कटमाधव** ने इस पद का "प्रज्ञाम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण तथा **मुद्गलाचार्य** ने "स्तुतिम्", "बुद्धि", "इच्छा" आदि अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने इसका "मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

कुल्या – ऋग्वेद ५/८३/८

घृतेन – ऋ० ५/८३/८

मनीषाम् – ऋ० ५/८३/१०

ग्रासमैन ने इस पद का "प्रज्ञा", "आध्यात्मिक ज्ञान" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "कृतज्ञता" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

जे० म्यूर, पीटर्सन तथा **रॉथ** ने इस पद का "desire" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "a hymn of praise" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने मनीषाम् पद का "Praise" अर्थ ग्रहण किया है।

ऋग्वेद मे उपलब्ध अधिकतर प्रयोगो के विवेचन से मनीषा के दो अर्थ मुख्यतया सामने आते हैं – "मनन–शक्ति" (प्रज्ञा) तथा "मननयुक्त वाणी" अर्थात् (स्तुति) वर्तमान प्रसङ्ग मे मनीषा का अर्थ मुख्यतया "मननयुक्त वाणी" अर्थात् "स्तुति" अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

पथः वि चिनुहि –

वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने इस पथ पद का "मार्गान्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इसे पञ्चमी एकवचन का रूप मानते हुए इसका "व्याख्यान मार्गात्। यो य चोदादि पथोऽपनेतव्य त तमपनयेत्यर्थ" किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ "शोधितान्कुरू। यै पथिभिर्गता धनं लभेमहि तादृशान्पथ पृथक्कुर्वित्यर्थ" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** ने 'विचिनुहि' का "Open up" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "Clear" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "तलाश करो" अर्थ ग्रहण किया है।

यहॉ पर विचिनुहि का अर्थ है "विशेषतया चुनो" अर्थात् हमारे गमन के लिए तुम विशेषतया ऐसे मार्ग चुनो (हमे ऐसे मार्गो पर चलाओ) जिनसे हम समृद्धि की प्राप्ति कर सके।"

पथ पद के अर्थ विनिश्चिय के सम्बन्ध से **रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ** तथा **पीटर्सन** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने सायणाचार्य तथा वेङ्कटमाधव के मत का अनुसरण किया है।

मृधः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "शत्रून" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का "सङ्ग्रामकारिण" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पथ वि चिनुहि – ऋग्वेद ६/५३/४

मृध – ऋ० ६/५३/४

किकिरा –

सायण ने इस पद का "कीर्णानि प्रशिथिलानि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "किकिरशब्द खर्परस्य वा वाचको जर्जरीभूतस्य पावकतो वा। श्लक्ष्णाना वा विशरणवता य शब्द तदनुकरणम्। खर्पराणि जर्जराणि विशरणवन्ति वा कुर्वित्यर्थ" व्याख्या किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इसका "किकिरेति शब्दानुकरणम्। अपि वा विकीर्णानि कुरू" अर्थ निश्चित किया है।

वेङ्कट तथा स्कन्द की भॉति **रॉथ** महोदय भी इसे शब्दानुकृति मानते है। यह पद हृदया का विशेषण है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, मोनियर विलियम्स तथा **पीटर्सन** ने √कृ धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ "चीर कर टुकडे–टुकडे करना" निश्चित किया है। यह अर्थ प्रसङ्ग के अनुसार अनुमान पर आधारित है। इस शब्द का अन्यत्र प्रयोग नही मिलता है और यह सन्दिग्धार्थ है।

ब्रह्मचोदनीम् –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "अन्नस्यचोदयित्रीम्" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने "ब्रह्मणा प्रतिस्वाशानाम् अन्नानां चोदनीम्। अथवा अभिलषितसम्पादनेन स्वस्तुतिलक्षणस्य ब्रह्मणश्चोदयित्रीम्" अर्थ किया है। जबकि

उव्वट तथा **महीधर** ने इसका "ब्रह्मणान् यज्ञ प्रति प्रेरयितारौ" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "ब्रह्मण अन्नस्य प्रेरयित्रीम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन तथा **मोनियर-विलियम्स** ने इस पद का "ब्रह्मन् (पुलिङ्ग या नपुसकलिङ्ग) को प्रेरित करने वाली को" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ, गैल्डनर तथा **पीटर्सन** ने इसका "पवित्र वाणी या प्रार्थना को प्रेरित करने वाली को" अर्थ विनिश्चित किया है। यहॉ पर प्रसङ्गानुसार यही व्याख्यान अधिक समीचीन है।

अष्ट्रा –

स्कन्दस्वामी ने इस पद का व्याख्यान "अशू व्याप्तौ। व्यापिनी। काऽसौ ? आरा वा प्रकृतत्वात्।

रज्जुर्वा कक्ष्यालक्षणा अभीशुलक्षणा वा" तथा अन्य मन्त्रो मे "तोत्रस्याराम्" किया है। जबकि

किकिरा – ऋग्वेद ६/५३/७, ८

ब्रह्मचोदनीम् – ऋ० ६/५३/८

अष्ट्रा – ऋ० ६/५३/६

सायण ने इस पद का "आरा", "प्रतोदम्", "आराम्" आदि अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ, ग्रासमैन, मोनियर-विलियम्स तथा **पीटर्सन** आदि ने इस पद का अर्थ "goad" किया है।

श्री विश्वबन्धुकृत "वैदिक पदानुक्रमकोष" मे इस की व्युत्पत्ति √अज् "हॉकना" धातु से मानी गई है। पशुओ को हॉकने की छडी को 'अष्ट्रा' कहते है और वेदो मे इसे पशुसमृद्धि का प्रतीक माना गया है।

गोओपशा –

सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान "समीप मे जो शयन करती है अर्थात् सीग" "ईषदुपशेते इत्यपोपश शृड्ग तद्वृषभ इव। यद्वा। परस्पर समीपे वर्तमान क्षित्यन्तरिक्षाख्य लोकद्वयम् ओपशम्"।

"मेघमोपशम् उपेत्य शयान चक्राण कुर्वन्। यद्वा आत्मनि समवेतो वीर्यविशेष ओपश । तमन्तरिक्षे कुर्वन्"

"आ समन्तादुपशेत इत्योपश सर्वस्य धारकम्" "येनोपशेरते स ओपश" किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का 'या गा उपगम्य प्राप्य शेते सा गोओपशा" व्याख्यान किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इसका व्याख्यान "स्थूणा" किया है। जबकि

रॉथ और **ग्रासमैन** ने ओपश पद का अर्थ "सिर पर बॉधने का एक प्रकार का आभूषण, केश–पाश, केश–वेश" सुनिश्चित किया है। जबकि

मोनियर-विलियम्स ने "cushion, pillow, top-knot, plume, support, pillar" आदि अर्थ निश्चित किया है।

गोओपशा समास के पूर्वपद 'गो' को **रॉथ, ग्रासमैन** आदि पाश्चात्य विद्वानो ने "गोचर्म से सनद्ध" अर्थ किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "a goad furnished with thongs of cowhide" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "with horny point" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका "with horn-point" अर्थ सुनिश्चित किया है। परन्तु यह अर्थ समीचीन नहीं है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि यहॉ पर ऋषि पूर्वपद 'गो' को श्लिष्टार्थ मे प्रयुक्त करता है और गो शब्द "गोचर्म" के अतिरिक्त "रश्मि" का भी वाचक है, क्योकि "रश्मि" के अर्थ में गो का वैदिक प्रयोग प्रसिद्ध तथा सर्वमान्य है। तदनुसार बहुव्रीहि समास गोओपशा का अर्थ "रश्मि–युक्त" होगा। ऋग्वेद में 'गोओपश' पद का अर्थ "गाय के पीछे या समीप चलने वाला" प्रतीत होता है।

गोओपशा – ऋग्वेद ६/५३/९

चक्रम् –

सायणाचार्य ने चक्रम पद का अन्वय–पूष्ण चक्र न रिष्यति पदो के साथ करते हुए 'चक्रम' पद का अर्थ 'आयुध' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने चक्रम् पद का अर्थ 'कला–यन्त्रादि' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ एव **मैक्डानाल्ड** ने चक्रम् पद का अर्थ–"wheel of the chariot" निश्चित किया है। जबकि

कोशः –

सायणाचार्य ने कोश पद का अन्वय – पूष्ण चक्र न रिष्यति, कोश न अवपद्यते आदि पदो के साथ करते हुए कोश पद का अर्थ 'तरकस' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने कोश पद का अर्थ 'धन–समूह' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने कोश पद का अर्थ "Box" and "interior part of the chariot" निश्चित किया है।

पविः –

सायणाचार्य ने पवि पद का अन्वय अस्य पवि नो व्यथते पदो के साथ करते हुए 'पवि' पद का अर्थ "Edge of the weapon" अर्थात् "शस्त्र की धार या आयुध की धार" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने पवि पद का अर्थ "शस्त्रास्त्रविद्या' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **मैक्डानल** ने पवि पद का अर्थ "Felly" निश्चित किया है।

मृष्यते –

सायणाचार्य ने 'मृष्यते' पद का अन्वय–त पूषा अपि न मृष्यते आदि पदो के साथ करते हुए मृष्यते पद का अर्थ–'हिनस्ति अर्थात् 'मारता है' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने मृष्यते पद का अर्थ 'सहता है' निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, पीटर्सन एव **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने मृष्यते पद का अर्थ "विस्मरति" अर्थात् "भूलता है" निश्चित किया है।

चक्रम् – ऋग्वेद ६/५४/३

कोश – ऋ० ६/५४/३

पवि – ऋ० ६/५४/३

मृष्यते – ऋ० ६/५४/४

इर्यम् –

सायणाचार्य ने इर्यम् पद का अन्वय– श्रृणवन्तम् इर्यम् अनष्टवेदस आदि पदो के साथ करते हुए इर्यम् पद का अर्थ "Remover of poverty" अर्थात् 'दरिद्रता को दूर करने वाले' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इर्यम् पद का अर्थ 'प्रेरणा देने योग्य' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इर्यम् पद का अर्थ "Strong" अर्थात् "शक्तिशाली" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन एव **मैक्डानल** ने इर्यम् पद का अर्थ "Watchful" अर्थात् 'सावधान' निश्चित किया है, जबकि

वेलणकर ने इर्यम् पद का अर्थ "सावधान या क्रियाशील" निश्चित किया है।

धातु पाठ मे √ईर् धातु का 'जाने के' अर्थ मे गणन होता है किन्तु यहॉ पर 'इर्यम्' पद प्रेरणा–देना अर्थ मे प्रयुक्त है। सायण ने इर्यम् पद का अनेक अर्थ ग्रहण किया है – शत्रूणा प्रेरकम्, स्वामी, अन्न से उत्पन्न, "दारिद्रय का प्रेरक" आदि।

स्वावेशः –

सायणाचार्य ने यहॉ पर इस का व्याख्यान "शोभननिवेश" एव "सुनिवास" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने 'आवेश' का शाब्दिक अर्थ "प्रवेश लेते हुए" तथा 'स्वावेश' का अर्थ "जिस मे प्रवेश शोभन या भाग्यप्रद हो वह" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ तथा **मोनियर विलियम्स** ने इस पद का अर्थ "easy of access" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** का व्याख्यान अधिक समीचीन है, यद्यपि सायण के व्याख्यान का भावार्थ भिन्न नही है।

ईमहे –

वेङ्कटमाधव, स्कन्दस्वामी तथा **सायणाचार्य** ने इसका व्याख्यान "याचामहे" निश्चित किया है। क्योकि **निघण्टु** मे ईमहे "याच्ञाकर्माण" धातु रूपो मे गिनाया गया है। जबकि

ग्रिफिथ, गैल्डनर तथा **पीटर्सन** ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। जबकि

इर्यम् – ऋग्वेद ६/५४/८
स्वावेश – ऋ० ७/५४/१
ईमहे – ऋ० ७/५४/१

मैक्डानल ने इस पद का "approach" अर्थ किया है। मैक्डानल ने इसे √ई "जाना" धातु का रूप मानते हुए यह अर्थ निश्चित किया है।

इस धातु के वैदिक प्रयोगो के विवेचन से स्पष्ट होता है कि "जाना" तथा "याचना करना" इन दोनो अर्थो मे इस का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर यह "याचना करना" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गयस्फानः –

वेड्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "गृहाणा वर्धयिता" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "अस्मदीयस्य धनस्य प्रवर्धक" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे 'अपत्य', 'धन' एव 'गृह' के नामो मे गय पद की परिगणना की गई है। तदनुसार

स्कन्दस्वामी ने गयस्फान का अर्थ "अपत्यस्य धनस्य गृहस्य वा वर्धयिता" निश्चित किया है। जबकि

सायण ने अन्यत्र "गृहस्य धनस्य वा वर्धयिता' तथा **वेड्कटमाधव** ने "धनस्य वर्धयिता"अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का "गृहाभिवर्धक" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इसका "गृहस्य पुत्रपशुभूहिरण्यादिभिर्वर्धयिता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **विल्सन** ने सायण का अनुसरण किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मोनियर विलियम्स आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "गृह सम्पत्ति का प्रवर्धक" करते है, और प्रसड्गानुसार यही अर्थ समीचीन है।

रण्वया –

सायण ने इस पद का "रमणीयया" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इस पद का "रमणीयेन" (उपसदनेन) अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "सुखदायक" अर्थ ग्रहण किया है।

गातुमत्या –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "गतिमता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गयस्फान – ऋग्वेद ७/५४/२

रण्वया – ऋ० ७/५४/३

गातुमत्या – ऋ० ७/५४/३

सायणाचार्य ने इसका ''धनवत्या'' अर्थ किया है। ऋग्वेद मे इस शब्द का यही एक प्रयोग मिलता है। जबकि

निघण्टु मे गातु पद ''पृथिवी'' के नामो मे गणित है। तदनुसार कही–कही पर इसका अर्थ ''विस्तृत स्थान, गृह'' आदि भी किया जाता है। जबकि

रॉथ ने इस पद का "roomy, convenient" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इस पद का "spacious, commodious" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

कीथ ने इस पद का "Proceeding well" अर्थ विनिश्चित किया है, जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का ''शोभन गमन वाली'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का ''अभ्युदयकारी'' अर्थ ग्रहण किया है।

ऋग्वेद मे गातु पद ''गमन, मार्ग, अभ्युदय'' आदि अर्थो मे प्रयुक्त होता है। अतएव प्रसड्गानुसार **वेड्कटमाधव, ग्रासमैन** तथा **कीथ** का अर्थ यहॉ पर समीचीन है, जिसका भावार्थ यह है कि ''तेरे साथ हमारी ससद् (सहावस्थान) निरन्तर चलती रहे''। यदि 'ससद्' पद 'गृह' के अर्थ मे लिया जाय तब **रॉथ** तथा **मोनियर विलियम्स** द्वारा सुझाये गये अर्थ भी समीचीन है।

संसदा –

वेड्कटमाधव ने इस पद का ''उपसदनेन'', ''गृह'', ''सहावस्थान'' आदि अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने ससदा पद का ''स्थानेन'', ''गृह'', ''सभजन'', ''यज्ञ या सभा'', ''स्थान'', ''जनसहति'', ''होत्रका'' आदि व्याख्यान किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का ''सभा'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** ने भी ससद् का अर्थ "assembly, meeting" किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का अर्थ ''सगति'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन तथा **कीथ** ने इसका "Friendship" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Fellowship" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

वेड्कटमाधव द्वारा सुझाया गया ''सहावस्थान'' अर्थ यहॉ पर समीचीन प्रतीत होता है, परन्तु ''गृह'' अर्थ भी लग सकता है।

संसदा – ऋग्वेद ७/५४/३

क्षेमे, योगे –

सायणाचार्य आदि भारतीय भाष्यकारो ने क्षेमे का अर्थ "प्राप्त का रक्षण" किया है। योग का अर्थ "अप्राप्त की प्राप्ति" किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **लुड्विग** ने इन पदो का अनुवाद "विश्राम मे (क्षेमे) तथा कर्म मे (योगे)" किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इसी अर्थ का अनुसरण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का अर्थ "शन्ति मे (क्षेमे) तथा युद्धयात्रा मे (योगे)" निश्चित किया है। जबकि

कीथ ने इन पदो का "in peace, in action" अर्थ ग्रहण किया है।

वरम् –

सायण ने इसका व्याख्यान "वर वरणीय नो अस्मदीय धनम्" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ "अभीष्ट वस्तु" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "happiness" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "अच्छी प्रकार" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

कीथ ने इस पद का "wishes" अर्थ ग्रहण किया है। यहॉ पर ग्रासमैन का अर्थ अधिक समीचीन है।

अनिराम् –

सायणाचार्य ने अनिराम् पद का अन्वय–अस्मद् अनिराम् अमीवा माध्वी दिवा नक्त न· त्रासीथाम् आदि पदों के साथ करते हुए अनिराम् पद का अर्थ–'इरान्नम् तदभाववद्दारिद्रयम्" किया है, और महीधर ने भी सायण के अर्थ से मिलता जुलता अर्थ किया है। जबकि

उव्वट ने "इरेत्यन्ननाम, न भवति अन्नयाभि रातिभि वृष्टि निदाघाशनिभिरिति गृह्यते" व्याख्यान किया है। जबकि

महीधर ने "नास्ति इराअन्न याभिस्ता, इरेत्यन्ननाम् अतिवृष्टाया" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अनिराम् पद का अर्थ "दरिद्रता" निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने अनिराम् पद का अर्थ 'जल का अभाव' किया है। जबकि पाश्चात्य भाष्यकार

क्षेमे, योगे – ऋग्वेद ७/५४/३
वरम् – ऋ० ७/५४/३
अनिराम् – ऋ० ७/७१/२

मैक्डानल ने 'अनिराम्' पद का अर्थ "श्रान्ति, क्लान्ति, थकान तथा निष्क्रियता" आदि अनेक अर्थ ग्रहण किया है।

आप्यम् –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "ज्ञातेयम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "बन्धुभावम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **पीटर्सन** इसका अर्थ "मित्रता" ग्रहण करते है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "friendly aid" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "allianc" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने 'आप्यम्' पद का "friends" अर्थ निश्चित किया है।

यद्यपि यास्क और कही–कही सायण आप्यम् को कृदन्त रूप (√आप् + यत्) मानते है तथापि अधिकतर सायण, स्कन्द और ग्रासमैन इत्यादि आधुनिक विद्वान् इसे "आपि" बन्धु का तद्धित रूप मानते है। अतएव इसका "बान्धव" या "बन्धुत्व" अर्थ समीचीन है।

गव्यन्तः –

वेङ्कटमाधव, सायण आदि भारतीय भाष्यकार इसका शब्दिक अर्थ "गा आत्मन इच्छन्त" करते है। जबकि

ग्रासमैन, मैक्डानल आदि आधुनिक भाष्यकार इसका अर्थ "युद्ध के इच्छुक" करते है, और व्याख्यान मे कहते है कि इसका अभिप्राय युद्धविजय मे प्राप्त पशुओ की इच्छा है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "fain for spoil" ग्रहण किया है।

पृथुपर्शवः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "आत्तपृथ्वश्वपर्शव" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणायार्च ने "पृथुर्विस्तीर्ण पर्शु पार्श्वास्थि येषा ते तथोक्ता। विस्तीर्णाश्वपर्शुहस्ताः सन्त। पर्श्वा हि बर्हिराच्छिद्यते। तथा च तैत्तिरीयकम्– 'अश्वपर्श्वा बर्हिरच्छैति इति' व्याख्यान किया है।

आप्यम्	–	ऋग्वेद	७/८३/१
गव्यन्त	–	ऋ०	७/८३/१
पृथुपर्शव·	–	ऋ०	७/८३/१

इस प्रकार सायण ने इस पद का अर्थ ''विशाल पसलियो वाले'' निश्चित किया है। इस समास का अर्थ मुख्यतया पर्शु पद के अर्थ पर आश्रित है।

यास्क ने 'पर्शु' पद का अर्थ ''पसली (पार्श्वास्थि) किया है। अनेक आधुनिक विद्वान् भी 'पर्शु' का ''पसली'' अर्थ स्वीकार करते है। जबकि

गैल्डनर ने ''फूली हुई छाती से युक्त'' अर्थ किया है। परन्तु वेङ्कटमाधव तथा सायण ने इस समास के उत्तरपद 'पर्शु' का अर्थ 'अश्वपर्शु' किया है। जिसके द्वारा यज्ञोपयोगी कुशाओ को काटा जाता था। 'अश्वपर्शु' का अर्थ है– ''घोडे की पसली की हड्डी''। जबकि

वेङ्कटमाधव तथा **सायण** का अशत अनुसरण करते हुए **विल्सन, रॉथ, ग्रासमैन** तथा **मोनियर विलियम्स** ने पर्शु का अर्थ ''दराती'' (sickle) मान कर इस समास का अर्थ "armed with large sickles" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस समास का अर्थ "with broad axes" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस समास का अर्थ "armed with broad axes" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस समास का "with broad sabres" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

लुड्विग का मत है कि ऋग्वेद के काल मे शस्त्र के रूप मे परशु का प्रयोग नही होता था इसलिए "with broad axes" व्याख्यान उसके मतानुसार असम्भव है। लुड्विग के मतानुसार इस समास का पूर्वपद पृथु ''पार्थियन'' लोगो के नाम का और 'पर्शव' पद ''पर्शियन'' लोगो के नाम का वाचक है, परन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार है, क्योकि स्वर–नियम के अनुसार वह बहुव्रीहि–समास है और द्वन्द्व–समास नही हो सकता। वैदिक वाङ्मय मे पर्शु शब्द के प्रयोग को ध्यान मे रखते हुए पृथुपर्शव का शाब्दिक अर्थ '' विशाल पसलियो वाला'' जिसका भावार्थ है ''विशालकाय योद्धा''।

वृत्रा, दासा, आर्याणि –

वेङ्कटमाधव ने 'वृत्रा' पद का ''उपद्रवान्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''आवरकाणि शत्रुजातानि'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन, मैक्डानल और **ग्रिफिथ** आदि पाश्चात्य भाष्यकार भी 'वृत्रा' का अर्थ ''शत्रु'' करते है। यद्यपि वृत्र का यौगिक अर्थ ''अवरोधक'' है, तथापि नपुंसकलिङ्ग वृत्र शब्द के बहुवचन रूप का प्रयोग प्रायेण ''शुत्र'' के अर्थ मे होता है और यहॉ पर भी ऐसा ही प्रयोग है। ''दासा'' तथा ''आर्याणि'' ये दोनो पद 'वृत्रा' के विशेषण है।

वृत्रा, दासा, आर्याणि – ऋग्वेद ७/८३/१

ग्रिफिथ ने इन पदो का अर्थ "Dasa and Aryan enemies" निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने 'दासा' का व्याख्यान ''दासान् उपक्षपयितृन्'' और 'आर्या' का अर्थ ''आर्यैरपि कृतान्'' किया है। जबकि

सायण ने ''दासा दासानि उपक्षपयितृणि। आर्याणि च कर्मानुष्ठानपराणि च शत्रुजातानि'' अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल आदि ने दासा तथा आर्य पदो को जाति–वाचक मानते हुए व्याख्यान किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "our barbarian and our Aryan foes" अर्थ निश्चित किया है।

'दास' शब्द जाति–विशेष के लिए प्रयुक्त नही हुआ है, अपितु ''निकृष्ट'' का वाचक है। उसी प्रकार ऋग्वेद मे 'आर्य' शब्द भी जाति–विशेष का वाचक नही है और विशेषण के रूप मे यह मुख्यतया ''उत्कृष्ट'' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

भुवना स्वर्दृशः –

वेङ्कटमाधव ने ''भूतानि स्वर्दृश च देवा। हिसा–सम्भवाद् भयम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''भुवना भुवनानि भूतजातानि स्वर्दृश शरीरपातादूर्ध्व स्वर्गस्य द्रष्टारो वीराश्च'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने स्वर्दृश पद का अर्थ ''स्वर्ग को देखता हुआ या सूर्यसदृश'' अर्थ निश्चित किया है। इन्होने स्वर्दृश· पद को इन्द्रात् का विशेषण माना है। जबकि

मैक्डानल ने "where creatures fear the god who sees the heavenly light" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "they that live thereon i e on the earth" यह अर्थ 'स्वर्दृश' पद के लिये निश्चित किया है।

ग्रिफिथ ने "that behold the light" यह 'स्वर्दृश' पद का अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने ''वे सब प्राणी जो सूर्य–प्रकाश को देखते हैं'' अर्थ किया है। इन्होने 'स्वर्दृश' को 'भुवना' का विशेषण माना है।

वेङ्कटमाधव के व्याख्यान के अनुसार इसे देवो के लिए प्रयुक्त मानना अधिक समीचीन होगा, क्योकि ऋग्वेद मे स्वर्दृश् प्रायेण देवो के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।

भुवना स्वर्दृश. – ऋग्वेद ७/८३/२

ध्वसिरा: –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "ध्वसनशीला" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "सैनिकैर्ध्वस्ता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, गैल्डनर, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "धूलि–धूसरित" किया है। जबकि

श्री विश्वबन्धुकृत वैदिक पदानुक्रमकोष मे ध्वसिर का अर्थ "विध्वसमय" सुझाया गया है।

प्रसड्गानुसार ग्रासमैन, गैल्डनर आदि का अर्थ उचित प्रतीत होता है। सेनाओ की हलचल से जो धूलि उठी है उस से पृथिवी के छोर धूसरित दीख पडते है अर्थात् जहॉ तक दृष्टि पहॅुचती है धूलि ही धूलि दिखाई दे रही है।

जनानाम् अरातय: –

सायणाचार्य ने "जनानाम् अस्मदीयाना भटानाम् अरातय शत्रव अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने इन पदो का अर्थ "लोगो की ईर्ष्याएँ" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "the enemies of the people" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इन पदो का "my foes among the peoples" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इन पदो का 'the onset of the warriors" अर्थ ग्रहण किया है। वस्तुत यहॉ पर जनानाम् अरातय का अर्थ "लोगों की दुर्भावनाएँ" है।

वधनाभि: –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "वधै" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "वधकरै आयुधै" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, गैल्डनर, मैक्डानल तथा **मोनियर विलियम्स** ने भी सायणाचार्य का अनुसरण करते हुए वधना का अर्थ "मारक आयुध" निश्चित किया है और प्रसड्गानुसार यही अर्थ समीचीन है।

ध्वसिरा	–	ऋग्वेद	७/८३/३
जनानाम् अरातय	–	ऋ०	७/८३/३
वधनाभि	–	ऋ०	७/८३/४

अप्रति –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "अप्रतिगतशत्रुकम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "अप्रतिगतम् अप्राप्तम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। अन्यत्र "अप्रति प्रतिद्वन्द्विनो यथा न भवन्ति" अर्थ भी किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल, मोनियर-विलियम्स तथा **पीटर्सन** आदि ने इसका अर्थ "निर्विरोध" (irresitibly) निश्चित किया है, और यही अर्थ यहॉ पर समीचीन है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "with your resistless weapons" अर्थ ग्रहण किया है, जो कि उचित प्रतीत नही होता है।

भेदम् –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "भेत्तार कुलस्य चायमानम्" अन्यत्र "चायमान", "भेदकम् एषा रक्षोवर्गम्" अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "एतत्सञ्ज्ञक सुदास शत्रुम्" अन्यत्र इन्होने "भिनत्ति मर्यादा इति भेदो नास्तिक । तस्य। यद्वा। भेदो नाम सुदास शत्रु कश्चित् तस्य", "भेदनामक शत्रुम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर, ग्रिफिथ, मैक्डानल तथा **पीटर्सन** आदि पाश्चात्य भाष्यकार सायण का अनुसरण करते हुए 'भेद' नामक व्यक्ति को सुदास् का शत्रु मानते है। जबकि

रॉथ ने इस पद का 'भेद–नामक एक पृथक् जाति' इसका अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का यौगिक अर्थ "विनाशक या विनाशकारी शत्रु" निश्चित किया है। जब तक भेद की ऐतिहासिक सत्ता को सिद्ध करने के लिए पुष्ट प्रमाण न हो, तब तक इस यौगिक अर्थ को ही मान्यता दी जानी चाहिए।

अघानि –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "आहन्तृणि प्रहरणानि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "आहन्तृणि आयुधानि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

अप्रति – ऋग्वेद ७/८३/४

भेदम् – ऋ० ७/८३/४

अघानि – ऋ० ७/८३/५

ग्रासमैन, गैल्डनर आदि ने इसका अर्थ "दुष्कृत्य" ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "wickedness" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "wiles" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "malignities" अर्थ निश्चित किया है।

'अघ' शब्द के कुछ वैदिक प्रयोग विशेषण "पापयुक्त" के अर्थ मे और कुछ प्रयोग सज्ञा के रूप मे मिलते है। सज्ञा के रूप मे 'अघ' का अर्थ "पापकर्म" है। अनेक अन्य स्थलो पर वेड्कटमाधव तथा सायण ने सज्ञावाचक 'अघ' पद का "पाप" अर्थ किया है, परन्तु कही–कही "दुख" अर्थ भी किया है। यहाँ पर प्रसड्गानुसार इसका "पापकर्म" अर्थ समीचीन है।

उभयस्य –

वेड्कटमाधव तथा **सायण** ने इस पद का "दिव्यस्य च पार्थिवस्य च" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **ग्रिफिथ** भी वेड्कटमाधव के मत का अनुसरण करते है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "दोनो प्रकार का" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** इसका अर्थ "दोनो पक्षो का (मित्र तथा शत्रु का)" निश्चित करते है। यहाँ पर गैल्डनर का व्याख्यान ही अधिक समीचीन है।

पार्ये दिवि –

वेड्कटमाधव ने इन पदो का "दिवसे अन्तिमे सग्रामस्य अह्नि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इन पदो का "पार्ये तरणीये दिवि दिवसे युद्धदिने" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, गैल्डनर तथा **मैक्डानल** ने इन पदो का अर्थ "on the decisive day" किया है। जबकि

पीटर्सन ने इन पदो का "on that great day" अर्थ ग्रहण किया है।

'दिव' शब्द "दिन" का वाचक है और 'पार्य' का शाब्दिक अर्थ "पारयितव्य, पारणीय अर्थात् पार करने योग्य" जिसका भावार्थ है "ऐसा कठिन दिन जिसे किसी प्रकार पार कर लिया जाय"।

वनुषाम् –

वेड्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "हिसता शत्रूणाम्" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "हिसकाना मध्ये" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

उभयस्य – ऋग्वेद ७/८३/५

पार्ये दिवि – ऋ० ७/८३/५

वनुषाम् – ऋ० ७/८३/५

ग्रासमैन तथा **मैक्डानल** ने 'वनुषाम्' का अर्थ ''शत्रुओ की'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का ''आक्रमणकारियो की'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का ''घृणा करने वालो की'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इसका ''प्रतिस्पर्धा करने वालो की'' अर्थ सुनिश्चित किया है। मैक्डानल ने भी गैल्डनर का अनुसरण किया है। यहॉ पर यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है।

अद्मसदाम् नृणाम् –

वेङ्कटमाधव ने इन पदो का ''नृणा हविषि सीदताम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''अद्मनि अन्ने हविषि सीदन्ति इति अद्मसद ऋत्विज । हविर्भियुक्ताना नृणा यज्ञस्य नेतृणामृत्विजाम्'' अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, मैक्डानल तथा **मोनियर-विलियम्स** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो के 'अद्मसद' पद का अर्थ "sitting at the feast" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इन पदो का ''(याज्ञिक) भोज मे आसीन'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इन पदो का ''अद्मसादिनी अन्नसानिनी वा'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने अन्यत्र ''सूदस्त्री'' और ''स्वस्थाने सीदन्त'' **सायण** ने ''पाचिका योषित्। यद्वा। अद्मसद् जननी'' एव अद्म अदनी यमन्नतदर्थ सीदन्त पुरुषा'' अर्थ किया है। इन दोनो विद्वानो ने ''हविषि सीदन्'' अर्थ भी किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इन पदो का ''औदरिका आत्मभरय'' अर्थ ग्रहण किया है।

प्रसङ्गानुसार सायण तथा वेङ्कटमाधव का व्याख्यान ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

उपस्तुतिः –

सायणाचार्य ने 'उपस्तुति' पद का अर्थ ''स्तोत्रम् अर्थात् प्रार्थना'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "boast" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "intercession" अर्थ सुनिश्चित किया है।

अद्मसदाम् नृणाम् – ऋग्वेद ७/८३/७

उपस्तुति. – ऋ० ७/८३/७

शिवत्यञ्चः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "श्वेतिमानम् अञ्चन्त" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "श्विति श्वैत्य नैर्मल्यमञ्चन्तो गच्छन्त" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ, गैल्डनर, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इस पद का "clad in white" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "festively decorated" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इस पद का "whitish" अर्थ निश्चित किया है।

श्वितीचे रूद्र के विशेषण के रूप मे "दीप्यमान" अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इन सब प्रयोगो को ध्यान मे रखते हुए इसका अर्थ "श्वेतवर्णयुक्त या दीप्यमान" समीचीन प्रतीत होता है।

धीवन्तः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "कर्मवन्त" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "कर्मभिर्युक्ता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** ने इसका अर्थ "pious" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "skilled in song" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "filled with thought" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इस पद का "intelligent or devout" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "प्रतिभासम्पन्न" अर्थ ग्रहण किया है।

'धीवत्' का शाब्दिक अर्थ "प्रज्ञा–सम्पन्न" है, और धी का गौण अर्थ "विचार" करने पर धीवत् का गौण अर्थ "विचार–सम्पन्न" भी हो सकता है। इसका मुख्यार्थ "प्रज्ञा–सम्पन्न" ही है।

ऋतावृधः –

वेङ्कटमाधव तथा **सायणाचार्य** ने 'ऋतावृध' पद का अर्थ "यज्ञस्य वर्धयित्र्या" निश्चित किया है। जबकि

शिवत्यञ्च – ऋग्वेद ७/८३/८
धीवन्त – ऋ० ७/८३/८
ऋतावृध – ऋ० ७/८३/१०

पीटर्सन ने इस पद का "holy" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "the god who strengthens अर्थ सुनिश्चित किया है।

श्लोकम् –

सायणाचार्य ने 'श्लोकम्' पद का अर्थ 'स्तोत्र या कीर्ति' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "the word" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "Song of praise" अर्थ निश्चित किया है।

धीरा –

सायणाचार्य ने धीरा पद का अन्वय–अस्य (वरूणस्य) जनूषि महिना तु धीरा आदि पदो के साथ करते हुए 'धीरा' पद का अर्थ 'धैर्यवन्ति' अर्थात् "Stables", 'स्थिर' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **पीटर्सन** ने भी यही अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने धीरा पद का अर्थ ''पुरूष'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **ग्रिफिथ** ने 'धीरा' पद का अर्थ ''बुद्धिमान्'' निश्चित किया है।

विल्सन ने इस पद का "Permanent" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "to hold" अर्थ स्वीकार किया है।

ग्रासमैन ने √धी धातु से **गैल्डनर** ने √धर् धातु से धीरा पद को निष्पन्न माना है।

तु –

सायणाचार्य ने ''तु'' पद का अर्थ ''क्षिप्रम्'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने तु पद का अर्थ ''निश्चय करके'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने तु पद का अर्थ ''सचमुच'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने तु पद का अर्थ ''स्पष्टत'' निश्चित किया है।

वस्तुत 'तु' पद एक बल सूचक निपात है। इसका अन्वय 'महिना' पद के साथ होना चाहिए।

श्लोकम् – ऋग्वेद ७/८३/१०

धीरा – ऋ० ७/८६/१

तु – ऋ० ७/८६/१

जनूंषि –

सायणाचार्य ने 'जनूषि' पद का अर्थ "Births" अर्थात् 'जन्मानि' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'जनूषि' पद का अर्थ "जानते है," निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **लैनमैन** ने जनूषि पद का अर्थ 'जीव' (creatures) निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने जनूषि पद का अर्थ "Creation" अर्थात् 'सृष्टि' निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इसका अर्थ "created beings especially gods and men" अर्थात् उत्पन्न जीव विशेषत देव तथा मानव" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने जनूषि पद का अर्थ "generation" ग्रहण किया है।

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि –

सायण तथा **तैलङ्ग** ने इस पाद का अर्थ "इसके जन्म महिमा के कारण स्थिर है" निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन तथा **मैक्समूलर** ने इस पाद का अर्थ "इसके कार्य महत्ता के कारण स्थिर है, निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग, मैक्डानल तथा **ग्रिफिथ** ने इस पाद का "लोग इसकी महिमा से बुद्धिमान् है" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

लैनमैन, पीटर्सन तथा **पराञ्जपे** ने इस पाद का "लोग इसकी महिमा से स्थिर है" अर्थ निश्चित किया है।

तस्तम्भ –

सायणाचार्य ने "तस्तम्भ" पद का अन्वय–य उर्वी रोदसी चित् वि तस्तम्भ आदि पदो के साथ करते हुए तस्तम्भ पद का अर्थ "स्थिर कर दिया" एव "धारण किया है" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने तस्तम्भ पद का अर्थ "थामे हुए है" निश्चित किया है। जबकि

जनूषि – ऋग्वेद ७/८६/१

धीरा त्वस्य महिना जनूषि – ऋ० ७/८६/१

तस्तम्भ – ऋ० ७/८६/१

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "स्थिर किया, धारण किया" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने "तस्तम्भ" पद का अर्थ "पृथक्–पृथक् किया" निश्चित किया है।

वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी –

सायण ने इस पाद का अर्थ "जिसने विस्तृत द्युलोक तथा पृथिवी लोक को स्तब्ध कर दिया" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पाद का "जिसने दो विस्तृत लोको को पृथक्–पृथक् स्थिर कर दिया" ये अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने इस पाद का "जिसने द्युलोक तथा पृथिवी लोक को, यद्यपि वे विस्तीर्ण है, स्थिर कर दिया" अर्थ किया है। जबकि

तैलङ्ग तथा **चौबे** ने इस पाद का "जिसने विस्तृत आकाश तथा पृथिवी को धारण किया" ये अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इस पाद का "जिसने दो विस्तृत लोको को पृथक्–पृथक् को धारण प्रेरित किया" अर्थ निश्चित किया है।

ऋष्वम् –

सायणाचार्य ने ऋष्वम् पद का अर्थ "दर्शनीयम्" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ऋष्वम् पद का अर्थ "नरक को" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने ऋष्वम् पद का अर्थ "सुन्दर" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल, ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा **पराञ्जपे** ने निघण्टु के अर्थ का अनुगमन किया है। निघण्टु मे ऋष्वम् पद "महत्" नामो से पठित है।

प्रनुनुदे –

सायणाचार्य ने प्रनुनुदे पद का अर्थ 'प्रेरित किया है' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने प्रनुनुदे पद का अर्थ 'रचता है' निश्चित किया है। जबकि

वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी – ऋग्वेद ७/८३/१
ऋष्वम् – ऋ० ७/८६/१
प्रनुनुदे – ऋ० ७/८६/१

मैक्समूलर ने प्रनुनुदे पद का अर्थ ''ऊपर चढा दिया'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने प्रनुनुदे पद का अर्थ ''धक्का देकर दूर कर दिया'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन तथा **पराञ्जपे** ने इस पद का अर्थ ''चञ्चल कर दिया'' निश्चित किया है।

द्विता –

सायणाचार्य ने ''द्विता'' पद का अर्थ ''द्वैधम्'' अर्थात् 'दो प्रकार से' निश्चित किया है। जबकि

मैकदानल ने 'द्विता' पद का अन्वय नुनुदे के साथ करते हुए 'द्विता' पद का अर्थ 'दोहरे' या ''दोनो को साथ–साथ ग्रहण करते है'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने 'द्विता' पद का अर्थ "apart" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने ''द्विता'' पद का अर्थ "Forsooth", "verily" निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन एव **बर्गेन** ने ''द्विता'' पद का अर्थ "it is an emphatic particle" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने ''द्विता'' पद के अनेक अर्थ निश्चित किए है "By itself", "all alone", on both sides i e 'westwards by day and eastwards at night'

नाकम् –

सायणाचार्य ने नाकम् पद का अर्थ 'आदित्यम्' अर्थात् 'सूर्य को' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने नाकम् पद के दो अर्थ निश्चित किये है– 'सूर्य' तथा ''आकाश''। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने नाकम् पद का अर्थ 'स्वर्ग' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने नाकम् पद का अर्थ 'आकाश'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने नाकम् पद का अर्थ ''अन्तरिक्ष'' निश्चित किया है।

प्रनाकम् ऋष्वं नुनुदे बृहन्तं द्वितानक्षत्रम् –

सायणाचार्य ने इस पाद का ''विशाल आदित्य तथा दर्शनीय नक्षत्र को दो प्रकार से प्रेरित किया'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

द्विता – ऋग्वेद ७/८६/१

नाकम् – ऋ० ७/८६/१

प्रनाकम् ऋष्व नुनुदे बृहन्त द्वितानक्षत्रम् – ऋ० ७/८६/१

पीटर्सन ने इस पाद का "ऊँचे तथा विस्तृत आकाश को उसके समस्त तारो के साथ लुढकाया" यह अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

लैनमैन ने इस पाद का "लम्बे चौडे आकाश तथा (एक साथ ही) तारो को सदैव के लिये चञ्चल कर दिया" अर्थ सुनिश्चित किया है।

'उत' –

सायणाचार्य ने उत पद का अन्वय–उत स्वया तन्वा तत् सवदे आदि पदो के साथ करते हुए 'उत' पद का अर्थ 'किम्' अर्थात् 'क्या' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'उत' पद का अर्थ 'अथवा' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने 'उत' पद का अर्थ "when" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'उत' पद का अर्थ "and" निश्चित किया है।

अन्तः वरूणे भुवानि –

सायणाचार्य ने उपर्युक्त पदो का अन्वय नु वरूणे अन्त भुवानि पदो के साथ करते हुए इन पदो का अर्थ वरूणस्य चित्ते सङ्लग्नो भवानीत्यर्थ अर्थात् "वरूण के हृदय मे सङ्लग्न होऊँगा" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अन्त वरूणे भुवानि पदो का अर्थ 'उस (उपास्य देवता) वरूण के स्वरूप मे प्रवेश करूँगा' ग्रहण किया है। जबकि

मैक्समूलर तथा **बर्गेन** ने इसका अर्थ "वरूण से मिलूँगा या वरूण के समीप होऊँगा" मानते है। जबकि

पीटर्सन इन पदो का 'वरूण के सामने होऊँगा' अर्थ निश्चित करते है। जबकि

लुड्विग, ग्रासमैन, मैकडानल तथा **गैल्डनर** के मत मे अन्त वरूणे भुवानि पदो का "वरूण से सयुक्त होऊँगा" या "वरूण से मैत्रीभाव से युक्त होऊँगा" यह अर्थ होना चाहिए।

दिदृक्षु –

सायणाचार्य ने दिदृक्षु पद का अन्वय– हे वरूण ! दिदृक्षु तद् एन पृच्छे आदि पदों के साथ करते हुए इसका अर्थ "देखने का इच्छुक" या "देखने की इच्छा वाला" निश्चित किया है। जबकि

उत	–	ऋग्वेद	७/८६/२
अन्त वरूणे भुवानि	–	ऋ०	७/८६/२
दिदृक्षु	–	ऋ०	७/८६/३

दयानन्द सरस्वती ने दिदृक्षु पद का अर्थ ''दर्शन का अभिलाषी'' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने दिदृक्षु पद का अर्थ 'देखने की इच्छा' निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने दिदृक्षु पद का अर्थ ''दर्शको के बीच'' ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने दिदृक्षु पद का अर्थ 'देखने की इच्छा से समीप आता हूँ'' निश्चित किया है। जबकि

लैनमैन ने इस पद का ''देखने की उत्सुकता मे'' अर्थ निश्चित किया है।

दूळभ –

सायणाचार्य ने दूळभ पद का अन्वय – हे दूळभ स्वधाव (वरूण) तत् मे प्र वोच आदि पदो के साथ करते हुए दूळभ पद का अर्थ–''दुर्दमान्यैर्वाधितुमशक्य'' अर्थात् ''दुर्दमनीय'', ''कभी न सताये जाने वाले'' ग्रहण किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'दूळभ' पद का अर्थ 'सर्वोपरि अजेय परमात्मन्' निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे इसका अर्थ ''क्षतिग्रस्त न किये जाने योग्य'' ग्रहण करते है। जबकि

तैलङ्ग तथा **चौबे** ''दूळभ'' पद का अर्थ ''कभी न सताये जाने वाले'' निश्चित करते है। जबकि

मैक्डानल ने 'दूळभ' पद का अर्थ ''जिसे कठिनाई से प्रवञ्चित किया जा सके'' निश्चित किया है।

इस प्रकार दूळभ का अर्थ होगा ''अप्रतारित, अप्रवञ्चित, कठिनाई से प्रतारणा या प्रवञ्चना के योग्य''।

स्वधावः –

सायणाचार्य ने स्वधाव पद को सम्बोधन पद मानते हुए इसका अर्थ ''तेजस्विन्'' अर्थात् ''हे तेजस्वी!'' स्वीकार किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने स्वधाव पद का अर्थ ''ऐश्वर्यसम्पन्न'' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने स्वधाव पद का अर्थ 'सर्वशक्ति युक्त', "Sovereing god" ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ 'स्वाधीन' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने स्वधाव पद का अर्थ "lord" अर्थात् स्वामिन् निश्चित किया है। जबकि

दूळभ – ऋग्वेद ७/८६/४
स्वधाव – ऋ० ७/८६/४

पराञ्जपे ने स्वधाव पद का "अपना स्वभाव", "ढड्ग", "रीति रिवाज सम्बन्धी कार्य", "शक्तिमत्ता" आदि अर्थो को ग्रहण करते हुए इन गुणो से युक्त व्यक्ति को स्वधावान् कहते है, यह निश्चित किया है।

तुरः –

सायणाचार्य ने तुर पद का अन्वय– अनेना तुर नमसा त्वा अव इयाम् आदि पदो के साथ करते हुए तुर पद का अर्थ–"त्वरमाण शीघ्र" अर्थात् "शीघ्र" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने तुर पद का अर्थ 'शीघ्र ही' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **पीटर्सन** ने तुर पद का अर्थ 'उत्सुकता के साथ' निश्चित किया है। जबकि

पराञ्जपे ने तुर पद का अर्थ "ईर्ष्यालु" या 'उत्सुक' निश्चित किया है।

अवइयाम् –

सायणचार्य ने अवइयाम् पद का अर्थ उपगच्छेयम् अर्थात् "पास पहुँचूँ' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का 'प्राप्त होऊँ' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "प्रसन्न करूँ" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने इसका अर्थ 'आऊँ' या "आ जाऊँ" निश्चित किया है।

द्रुग्धानि –

सायणाचार्य ने 'द्रुग्धानि' पद का अन्वय – पित्र्या न द्रुग्धानि अवसृज आदि पदो के साथ करते हुए इस पद का अर्थ 'द्रोहानबन्धन हेतुभूतान्" अर्थात् 'द्रोहो को' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'द्रुग्धानि' पद का अर्थ "प्रकृति से' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल तथा **विल्सन** ने 'द्रुग्धानि' पद का अर्थ "ill deeds" अर्थात् "कुकृत्य" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने 'द्रुग्धानि' पद का अर्थ "sins" अर्थात् 'पाप' निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'द्रुग्धानि' पद का अर्थ "unrighteous acts" अर्थात् "अनुचित कार्य" ग्रहण किया है। जबकि

तुर – ऋग्वेद ७/८६/४
अवइयाम् – ऋ० ७/८६/४
द्रुग्धानि – ऋ० ७/८६/५

पराञ्जपे ने इस पद का अर्थ अनौचित्य'' निश्चित किया है।

पशुतृपम् –

सायणाचार्य ने पशुतृपम् पद का अन्वय – हे राजन् पशुतृप तायु न, आदि पदो के साथ करते हुए 'पशुतृपम्' पद का अर्थ ''पशुओ की चोरी का प्रायश्चित करके अनन्त घासादि के द्वारा पशुओ को तृप्त करने वाले चोर की भॉति'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'पशुतृपम्' पद का अर्थ ''पशुओ के समान हमारी विषय वासना रूप वृत्ति'' ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "who steals cattle" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ के अनुसार "who feeds the cattle" अर्थ ग्रहण किया गया है। जबकि

मैक्डानल तथा **पराञ्जपे** ने इसका 'पशु चुराने वाले चोर की भॉति' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्समूलर ने इस पद का अर्थ "who has feasted on stolen cattle" निश्चित किया है।

दक्षः –

सायणाचार्य ने दक्ष पद का अन्वय – हे वरूण स स्वो दक्ष न सा ध्रुति सुरा मन्यु. विभीदक अचित्ति आदि पदो के साथ करते हुए दक्ष पद का अर्थ 'बलम्' निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इसे √दश् शीघ्रता करना, चलना या हिसा करने से निष्पन्न माना है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने दक्ष पद का अर्थ 'कर्म किया जाता है' निश्चित किया है। जबकि

निघण्टु मे दक्ष शब्द 'बल' नामो मे पठित है। निरूक्तकार **यास्क** ने 'दक्षिण' शब्द को दक्ष् उत्साहार्थक अर्थ मे √दाश् दानार्थक से निष्पन्न माना है। जबकि

पराञ्जपे ने दक्ष पद का 'इच्छा शक्ति से सम्बद्ध कार्य, रूचि, बलयुक्त कार्य, मर्जी आदि अनेक अर्थो को ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने भी दक्ष पद के अन्य अनेक अर्थो को ग्रहण किया है–"Insight" (अन्तर्दृष्टि), "understanding" (समझ), "intention" (इरादा) आदि। जबकि

पशुतृपम् – ऋग्वेद ७/८६/५
दक्ष – ऋ० ७/८६/६

ओल्डेनबर्ग ने दक्ष पद का अर्थ 'मस्तिष्क' ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने दक्ष पद का अर्थ 'प्रयास' निश्चित किया है। इसके अतिरिक्त शक्ति, इच्छा–शक्ति, एव 'चरित्र' आदि अर्थ किया है।

पीटर्सन ने दक्ष पद का अर्थ 'शक्ति', "Volitional act" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने दक्ष पद का "intent" अर्थात् 'सङ्ल्प' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने दक्ष पद का "own-will" अर्थ निश्चित किया है।

ध्रुतिः –

सायणाचार्य ने ध्रुति पद का अर्थ स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगति कारणम् अर्थात् 'जन्म के समय से ही निर्मित दैवगति, दैव क्लृप्ति' एव "Fate" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ध्रुति पद का अर्थ 'मन्द कर्मो मे दृढ प्रवृत्ति' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने ध्रुति पद का अर्थ "condition" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने ध्रुति पद का अर्थ "temptation" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का अर्थ "accident" & "chance" किया है अर्थात् ''आकस्मिक घटना'' और 'सयोग' अर्थ सुनिश्चित किया है।

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, रॉथ, मैक्डानल एव **पराञ्जपे** आदि ने ध्रुति पद का अर्थ "seduction" अर्थात् 'लालच करना', 'प्रलोभन करना', 'नष्ट करना' निश्चित किया है।

प्रस्तुत शब्द दक्ष शब्द के साथ विरोध दिखाने के लिए प्रयुक्त है। अतएव 'दक्ष', 'चालाकी', 'कुशल' आदि के विपरीत इसका अर्थ प्रलोभन, लालच, धोखा, धोखेबाजी, प्रवञ्जना आदि है।

उपारे –

सायणाचार्य ने उपारे पद का अन्वय – कनीयस उपारे ज्यायान् अस्ति आदि पदो के साथ करते हुए उपारे पद का अर्थ 'उपागते समीपे' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने उपारे पद का अर्थ 'मन्दप्रवाद की ओर प्रवाहित करता है।' निश्चित किया है।

ध्रुति – ऋग्वेद ७/८६/६

उपारे – ऋ० ७/८६/६

विल्सन ने उपारे पद का अर्थ "in the proximity" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "near to lead astray" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसको उप उपसर्ग √र् धातु से निष्पन्न करके इसका अर्थ "to commit guilt or unrighteousness" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "पाप–कार्य मे ले जाने के लिए" निश्चित किया है।

अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे –

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ 'छोटे या हीन की पापवृत्ति के समीप नियन्तारूप मे ईश्वर स्थित होता है।" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने प्रस्तुत पङ्क्ति का अर्थ "इस तुच्छ जीव के हृदय मे अन्तर्यामी पुरूष भी है जो शुभकर्मी को शुभकर्मो की ओर उत्साह देता और मन्दकर्मी को मन्दप्रवाद की ओर प्रवाहित करता है" निश्चित किया है।

मैक्समूलर ने प्रस्तुत पङ्क्ति का अर्थ "वृद्ध मनुष्य युवक को घातक तथा आक्रान्त एव पथभ्रष्ट करने वाला होता है।" किया है।

मैक्डानल ने प्रस्तुत पङ्क्ति का अर्थ 'सशक्ततर निर्बल की सङ्क्रान्ति मे उसे प्रणोदित या सन्मार्ग करती है।" अथवा "छोटे को पाप कार्य मे ले जाने के लिये बडे (भी कारण) होते है" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पङ्क्ति का "युवक की भूल वृद्ध को परेशान करती है" यह अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पङ्क्ति का "The old is near to lead astray the younger" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

विल्सन ने इस पङ्क्ति का "There is senior in the proximity of the junior" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "There is a mightier one to actuate the lapses of a feebler one". अर्थ निश्चित किया है। जबकि

लैनमैन ने इसका "निर्बल अपराधी सबल से अभिभूत होता है" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे – ऋग्वेद ७/८६/६

प्रयोता – ऋ० ७/८६/६

जे० म्योर ने ''शक्तिशाली निर्बल को आचारभ्रष्ट कर्त्तव्यच्युत या गुमराह कर देता है।'' यह अर्थ निश्चित किया है।

प्रयोता –

सायणाचार्य ने प्रयोता पद का अन्वय–स्वप्न चन इत अनृतस्य प्रयोता आदि पदो के साथ करते हुए–प्रयोता पद का अर्थ 'प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति' अर्थात् 'प्रकृष्ट रूप से सड्युक्त करने वाला', 'मिश्रण करने वाला सयोजक' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने प्रयोता पद का अर्थ 'ले जाने वाला'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ और **पीटर्सन** ने प्रयोता पद का अर्थ "removeth", "banish" and "respectively" निश्चित किया है।

मीळ्हुषे –

सायणाचार्य ने मीळ्हुषे पद का अन्वय मीळ्हुषे भूर्णये देवाय अनागा अह दास न अर करणि आदि पदो के साथ करते हुए मीळ्हुषे पद का अर्थ ''सक्ले कामाना वर्षित्रे अर्थात् कामनासेचक, कामनाओ को पूर्ण करने वाला'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने मीळ्हुषे पद का अर्थ ''कर्मो का फलप्रदाता'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने ''मीळ्हुषे'' पद का अर्थ "showerer of benefits" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने मीळ्हुषे पद का अर्थ "bounteous" ग्रहण किया है।

भूर्णये –

सायणाचार्य ने भूर्णये पद का अर्थ 'जगतो भर्त्रे' अर्थात् जगत् के पालक "lord of the world" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने भूर्णये पद अर्थ "inclined to anger" ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने भूर्णये पद का अर्थ "impetuous" अर्थात् ''गरिमामण्डित'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल, लुड्विग तथा **पराञ्जपे** ने भूर्णये पद का अर्थ ''क्रुद्ध'' निश्चित किया है।

मीळ्हुषे – ऋग्वेद ७/८६/७

भूर्णये – ऋ० ७/८६/७

जुनाति –

सायणाचार्य ने जुनाति पद का अर्थ "प्रेरयतु' अर्थात् प्रेरित करता है" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने जुनाति पद का अर्थ "सहायता करता है" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल, लैनमैन तथा **पराञ्जपे** ने जुनाति पद का अर्थ "शीघ्रता करता है" निश्चित किया है।

पर्जन्यजिन्विताम् –

सायणाचार्य ने इस पद का अन्वय–सवत्सर शशयाना मण्डूका व्रतचारिण ब्राह्मणा (इव) पर्जन्यजिन्विता वाच प्र अवादिषु आदि पदो के साथ करते हुए इस पद का अर्थ "पर्जन्येन प्रीता यथा वाचा पर्जन्य प्रीतो भवति तादृशी वाचम् अर्थात् बादल को प्रिय लगने वाले" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने पर्जन्यजिन्विताम् पद का अर्थ 'तृप्ति कारक परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाली' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ 'पर्जन्य द्वारा जागृत" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने पर्जन्यजिन्विताम् पद का अर्थ 'पर्जन्य' के लिए अनुकूल' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने पर्जन्यजिन्विताम् पद का अर्थ–"पर्जन्य प्रेरित" ग्रहण किया है।

अख्खलीकृत्य –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "अनुकरणात्मक अस्पष्ट शब्द करके" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "croaking" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "cries of pleasure" अर्थ निश्चित किया है।

पर्व –

सायणाचार्य ने 'पर्व' पद का अन्वय–तद् एषा सर्व पर्व समृधाइव आदि पदो के साथ करते हुए 'पर्व' पद का अर्थ "शरीर" निश्चित किया है। जबकि

जुनाति – ऋ० ७/८६/७

पर्जन्यजिन्विताम् – ऋग्वेद ७/१०३/१

अख्खलीकृत्य – ऋ० ७/१०३/३

पर्व – ऋ० ७/१०३/५

दयानन्द सरस्वती ने 'पर्व' शब्द का अर्थ "अविकल अड्गो वाले" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने पर्व पद का अर्थ "पाठ" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग के अनुसार पर्वन् "यहॉ शरीर के गॉठ" रूप मे प्रयुक्त है। जब बरसात होती है तभी मण्डूको की समस्त ग्रन्थियॉ पूर्ण होकर समृद्ध शरीर का रूप धारण करती है।

पर्व पद के यहॉ दो अर्थ हो सकते है। प्रथम मे यह यज्ञ के एक सत्र के रूप मे है। दूसरे अर्थ मे पर्वन् को वैदिक मन्त्रपाठ मे एक खण्ड के रूप मे ले सकते है। जैसा कि ऋग्वेद के विभिन्न विभाजन मे 'वर्ग' आदि का रूप है। **गैल्डनर** और **मैक्डानल** ने इसे इसी 'खण्ड' रूप मे ग्रहण किया है।

परन्तु यहॉ पर ये सभी विचार असड्गत प्रतीत होते है। यहॉ 'समृधा' और 'पर्व' से यज्ञ के सत्र या विशेष अश का ग्रहण करना ही सड्गत होगा जैसा कि वेलणकर ने किया है।

"सर्व तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु" –

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ "तुम लोगो का सम्पूर्ण शरीर अविकलावयव की भॉति हो जाता है, जब शोभन वाणी वाले तुम लोग वृष्टि के जल मे ऊपर तैरते हुए शब्द करते हो" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इन पदो का "when loud crying you converse (leaping) upon the waters, than the entire body is as it were developed" अर्थ किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "your every limb seems to be growing larger as ye converse with eloguence on the waters" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इन पदो का "all that of them is in unison like a lesson that eloquent ye repeat upon the waters." अर्थ विनिश्चित किया है।

सरः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "सरोवर" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "vessel" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने "it is a hyperbolic expression for a large vessel filled with Soma" व्याख्यान किया है।

सर्व तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु – ऋग्वेद ७/१०३/५

सर – ऋ० ७/१०३/७

"आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्" –

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ "सभी प्रकट हो जाते है, कोई भी छिपा नही रहता" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इन पदो का "But now some of them appear" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "come forth and show themselves, and none are hidden" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इन पदो का "they appear, none of them are hidden" अर्थ ग्रहण किया है।

"देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते" –

सायणाचार्य ने इस पाद का अर्थ "ये नेता देवनिर्मित विधानो का पालन अर्थात् रक्षा करते है, बारह महीने वाले बसन्तादि ऋतु की हिसा नही करते अर्थात् उल्लंघन नही करते" निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने इस पाद का "These leaders of rites observe the institutes of the gods and disregard not the (appropriate) season of the twelve months" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पाद का "they keep the twelve month's god-appointed order and never do the men neglect the season" अर्थ किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पाद का "they have guarded the divine order of the twelve month, these men infringe not the season" अर्थ निश्चित किया है।

सहस्रसावे –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "सहस्रसख्याका ओषधय सूयन्त उत्पद्यन्त इति वर्षर्तु सहस्रसाव" अर्थात् "हजारो प्रकार की ओषधियो को उत्पन्न करने वाली (वर्षाऋतु) निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "सहस्र सख्यक सेवन वाले यज्ञ मे" सुनिश्चित किया है। जबकि

विल्सन और **ग्रिफिथ** ने इस पद का "in the fertilizing season of rain" अर्थ सुनिश्चित किया है।

आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्	–	ऋ०	७/१०३/८
देवहिति जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतु नरो न प्र मिनन्त्येते	–	ऋग्वेद	७/१०३/९
सहस्रसावे	–	ऋ०	७/१०३/१०

अर्भकः –

सायण ने इस पद का ''शिशु'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **ग्रिफिथ** ने इस पद का "Small" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "child" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने सायण की भॉति इस पद का ''शिशु'' अर्थ ग्रहण किया है।

यहॉ पर अर्भक पद का ''शिशु'' अर्थ समीचीन प्रतीत होता है, यद्यपि अर्भ अर्थात् ''छोटा'' के साथ ह्रस्वत्व वाचक 'क' प्रत्यय जोडने से बने अर्भक का शाब्दिक अर्थ ''छोटा सा'' है।

सतोमहान्तः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''सर्वस्मात् विद्यमानात् पृथिव्यादे ये महान्तस्ते सतोमहान्त'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''सर्वस्मात् विद्यमानात् पृथिव्यामपि ये महान्तस्ते सतोमहान्त उच्यन्ते'' अर्थात् ''अपने अस्तित्व से ही महान् हो'' अर्थ किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **मोनियर विलियम्स** ने इस पद का अर्थ "equally great" किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "strong" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "great" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सतोमहान्त पद का केवल यही एक प्रयोग ऋग्वेद मे उपलब्ध होता है। वस्तुत सतोमहान्त पद का अर्थ ''अपने अस्तित्व से ही महान् है'' अर्थात् इन मे किसी अन्य कारण से छोटे–बडे का अन्तर नही है।

सुमेधाः –

सायणाचार्य ने इस पद का ''शोभनप्रज्ञः'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल और **ग्रिफिथ** ने इस पद का अर्थ "wisely" निश्चित किया है।

अर्भक	–	ऋग्वेद	८/३०/१
सतोमहान्त	–	ऋ०	८/३०/१
सुमेधाः	–	ऋ०	८/४८/१

स्वाध्यः –

सायणाचार्य ने 'स्वाध्य' पद का अन्वय–सुमेधा स्वादो वरिवोवित्तरस्य स्वाध्य वयस अभिक्ष, आदि पदो के साथ करते हुए स्वाध्य पद का "शोभनकर्मा", "स्वाध्ययन", "सुकर्मा", "सुष्टु अध्यात", "शोभनाध्याय" आदि अनेक अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने 'स्वाध्य' पद का अर्थ "सुन्दर चिन्तन वाला" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'स्वाध्य' पद को 'स्वाधी' के पष्ठी एकवचन का रूप स्वीकार कर "वयस" का विशेषण मानते हुए "सुविचारक", "धार्मिक विचारक" एव "प्रेरक" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ महोदय ने भी मैक्डानल के अर्थ को स्वीकार किया है।

वरिवोवित्तररस्य –

सायण और **वेङ्कटमाधव** ने इस पद का अर्थ "अतिशय रूप से पूजनीय" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "best banisher of case", चिन्ता" और "परवाह" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "best to find out treasure" अर्थ निश्चित किया है।

श्रौष्टीव –

वेङ्कटमाधव, सायण एवं **ग्रिफिथ** ने इस पद का अर्थ "क्षिप्रगामी अश्व" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "obedient mare" अर्थ निश्चित किया है।

अरातिः –

सायण ने इस पद का अर्थ "शत्रु" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डालन ने इस पद का "enemy", "hostility" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद "foeman's malice" अर्थ सुनिश्चित किया है। अन्य पाश्चात्य भाष्यकारो ने इस पद का अर्थ "शत्रु" ही किया है।

स्वाध्य – ऋग्वेद ८/४८/१

वरिवोक्तिररस्य – ऋ० ८/४८/१

श्रौष्टीव – ऋ० ८/४८/२

अराति. – ऋ० ८/४८/३

धूर्तिः –

वेड्कटमाधव एव **सायणाचार्य** ने इस पद का ''हिसक'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "deception" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "malice" अर्थ विनिश्चित किया है।

उरूष्यवः –

यास्क ने अपने निरूक्त मे इस पद का ''उरूष्यती रक्षाकर्मा'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव एव **सायणाचार्य** ने इस पद का अर्थ ''रक्षाकामा अर्थात् रक्षा की कामना करने वाले'' सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "that give freedom" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल न इस पद का "freedom giving" अर्थ ग्रहण किया है।

रेवानिव –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ ''धनवानिह'' अर्थात् ''धनवान् की भॉति'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "I regard myself as rich" अर्थ सुनिश्चित किया है।

विहायाः –

सायणाचार्य ने 'विहाया' पद का अन्वय–त्या अनिरा अपअस्थु अमीवा निर् अत्रसन् तमिषीची अभैषु सोम अस्मान् विहाया. अरूहत् आदि पदो के साथ करते हुए विहाया पद को सोम का विशेषण मानकर इसका अर्थ ''महान्'' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने ''विहाया'' पद का अर्थ ''बल पुर्वक'' निश्चित किया **है**।

आततन्थ –

सायणाचार्य ने 'आततन्थ' पद का अन्वय–हे सोम ! पितृभि सविदान त्व द्यावा पृथिवी अनु आततन्थ आदि पदो के साथ करते हुए ''आततन्थ'' पद का अर्थ ''द्युलोक और पृथिवी लोक को क्रमश विस्तृत करते हो'' निश्चित किया है। जबकि

धूर्ति. – ऋग्वेद ८/४८/३

उरूष्यव – ऋ० ८/४८/५

रेवानिव – ऋ० ८/४८/६

विहाया – ऋ० ८/४८/११

आततन्थ – ऋ० ८/४८/१३

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने ''आततन्थ'' पद का ''अपने को विस्तृत करते हो'', ''प्रसिद्व हो जाते हो'' आदि दो अर्थ ग्रहण किया है।

स्वर्वित् –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ ''स्वर्गलम्भक'' निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इस पद का ''सर्ववित्'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ एव **मैक्डानल** ने इस पद का अर्थ "a finder of light" सुनिश्चित किया है।

दिवस्परि –

सायणाचार्य ने 'दिवस्परि' पद का अन्वय–नृचक्षस सोमस्य धारा पवते। (स) ऋतेन दिव देवान् हवते इत्यादि पदो के साथ करते हुए इस पद का का अर्थ ''द्युलोकस्योपरि वर्तमानान्, "Above the sky" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'दिवस्परि' पद का अर्थ ''सब ओर से'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने दिवस्परि पद का अर्थ "from the heaven" निश्चित किया है।

श्रवसे –

सायणाचार्य ने श्रवसे पद का अन्वय–मदिन्तम सुमड्गल ऊर्ज वसान श्रवसे इन्द्रस्य कुक्षा आ पवते आदि पदो के साथ करते हुए ''श्रवसे'' पद का अर्थ ''तस्यान्नाय यष्टुर्वा अन्नसिद्धयर्थम् "For the digestion of food" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'श्रवसे' पद का अर्थ ''सर्वोपरि बल के लिए'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने ''श्रवसे'' पद का अर्थ "For fame" निश्चित किया है।

मही: प्रवत: –

वेड्कटमाधव ने इन पदो का अर्थ ''दूरगता पृथिवी'' निश्चित किया है। जबकि

उद्गीथ ने इन पदो का ''प्रवत प्रगता धर्मादिसर्वपुरूषार्थसम्बन्धात् प्रकृष्टगा मनुष्यजातीरित्यर्थ'' सुनिश्चित किया है। जबकि

स्वर्वित् – ऋग्वेद ८/४८/१५

दिवस्परि – ऋ० ६/८०/१

श्रवसे – ऋ० ६/८०/३

मही प्रवत. – ऋ० १०/१४/१

सायणाचार्य ने ''प्रवत प्रकृष्टकर्मवतो भूलोकवर्तिभोगसाधन पुण्यमनुष्ठितवत पुरूषान् मही तत्तन्भोगोचित–भूप्रदेशविशेषान्'' अर्थ किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इन पदो का ''प्रवत उद्वत निवत इति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दुर्गाचार्य ने ''प्रवत., उद्वत, निवत च् भूतसघान्। प्रवत मनुष्या, उद्वत–देवा, निवत तिर्यञ्च, तथा गत्युपपत्ते । तमेतमेव मही महती भूतजाती परेयिवासम्'' अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन ने प्रवत् पद का अर्थ ''पर्वत एव उच्चता'' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने मही प्रवत पद का अर्थ "great water courses" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इन पदो का "great heights" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "lofty heights" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इन पदो का "mighty steeps" and "mighty ridges" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

लुईरेनू ने इन पदो का "great distances" अर्थ ग्रहण किया है।

गैल्डनर ने अपने व्याख्यान के समर्थन मे अथर्ववेद के मन्त्रस्थ प्रवता पद के व्याख्यान का निर्देश करते हुए कहा है–''विश्व के अन्त के जल अभिप्रेत है''। जबकि

मैक्डानल 'प्रवत.' पद की टिप्पणी करते हुए– "the steep paths leading to the highest heaven where Yama dwells" यह अर्थ निश्चित करते है। जबकि

सायण ने 'प्रवत·' का व्याख्यान ''प्रवणवन्त पन्था पन्थान मार्गम्'' किया है। जबकि

सायणाचार्य ने अथर्ववेद मे प्रवत मही पद का व्याख्यान ''प्रवत प्रकृष्टा मही महती आपदस्तरन्ति अतिक्रामन्ति'' किया है। जबकि

ह्विटनी ने प्रवत पद का व्याख्यान–"the slopes (of heaven) किया है।

अथर्ववेद (१८/४/७) मे प्रवत· मही पद जलो के विशेषण प्रयुक्त होते है, और प्रसड्गानुसार इन का अर्थ–''नीचे की ओर बहते हुए (प्रवत) विशाल (मही) जल (अप.)'' अर्थात् ''नदियॉ'' प्रतीत होता है, क्योकि अथर्ववेद (३/१३/४) मे जलो को मही कहा गया है और ऋग्वेद मे अनेक बार जलो तथा नदियो के लिए मही विशेषण का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे नदियों तथा जलो के साथ अनेक बार प्रवत् के विभिन्न रूपों का प्रयोग मिलता है। । ऋग्वेद के अनेक प्रयोगो से प्रवत् का शाब्दिक अर्थ ''ढलान'' (Slope) या ऐसा ''निम्नगामी मार्ग'' प्रतीत होता है जिस पर कोई भी वस्तु प्रयास के बिना ही अपने–आप

शीघ्रतापूर्वक आगे बढती जाती है। गौण रूप मे प्रवत् शब्द "ढलान के मार्ग से शीघ्रतापूर्वक आगे बढता हुआ" अर्थ मे विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होता है और अनेक बार जलो के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है।

कतिपय स्थलो मे विशेष्य के बिना केवल विशेषण प्रवत् का प्रयोग "ढलान के मार्ग से शीघ्रतापूर्वक आगे बढते हुए जलों" के अर्थ मे हुआ है।

संगमनं जनानाम् –

उद्गीथ ने इन पदो का अर्थ "स्वर्ग प्रति सम्यग्गमयितार जनानाम्" निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इन पदो का "यस्मिन् मृता सगच्छन्ते तम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इन पदो का "जनाना पापिना गन्तव्यस्थानरूपम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इन पदो का अर्थ "the gatherer of men" निश्चित किया है और वैदिक प्रयोगो से इसी अर्थ का समर्थन होता है।

गव्यूतिः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "मार्ग" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उद्गीथ ने इस पद का "शुभाशुभकर्मजनितसुगतिदुर्गति" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इसका व्याख्यान "मार्ग" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, पीटर्सन और **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "Pasture" ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "मार्ग" अर्थ निश्चित किया है।

वैदिक प्रयोग की दृष्टि से गव्यूति का शाब्दिक अर्थ "गोचर–भूमि" ही समीचीन है, परन्तु यहाँ पर इसका आलङ्कारिक प्रयोग है, जिसका भावार्थ है–"आनन्दपूर्वक रमण करने का स्थान"।

पथ्याः अनु स्वाः –

उद्गीथ ने इन पदो का अर्थ "पथ्या सकीर्णमुखा. आहुति स्तुतीश्च स्वा स्वभूता. अनु आहुतिसस्कारानन्तर सस्कृता सन्त इत्यर्थ" किया है। जबकि

सगमन जनानाम् – ऋग्वेद १०/१४/१
गव्यूति· – ऋ० १०/१४/२
पथ्या अनु स्वा – ऋ० १०/१४/२

वेड्कटमाधव ने इन पदो का ''सर्वेस्वा पथ्या भूमी अनुगच्छन्ति, प्रातिस्विकै कर्मफलै यासु निवसन्ति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इन पदो का ''सर्वे स्वा स्वीया स्वस्वकर्मानुरोधनी पथ्या हितकरा भूमी गच्छन्ति'' अर्थात् ''अपने–अपने मार्गो के अनुसार'' अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इन पदो का अर्थ "according to their paths" किया है, और वैदिक प्रयोग के अनुसार पथ्या का ''मार्ग'' अर्थ समीचीन है।

ऋक्वभिः वावृधानः –

उद्गीथ ने ''ऋक्वानो देवविशेषा । वावृधान वर्धमान आस्ते यमप्रसादात्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने अर्चनीयै एतन्नमकै पितृभि सह वावृधान'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, पीटर्सन, ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने ऋक्विभि का व्याख्यान ''ऋक्वनामक देवविशेषो के साथ'' किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **लुईरेनू** इसका अर्थ "with singers" निश्चित करते है।

ऋक्वन् शब्द का वैदिक प्रयोग देखने से स्पष्ट होता है कि यह शब्द प्रायेण मरूतों के विशेषण के रूप मे ''स्तुति करता हुआ'' अर्थ मे प्रयुक्त होता है और यहॉ पर भी यह पद ''स्तुति करते हुए (मरूतो) के साथ'' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

प्रस्तरम् –

उद्गीथ ने इस पद का ''अस्मदीयवेदिस्तरणदर्भासनम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''विस्तीर्ण यज्ञविशेषम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **लुईरेनू** इसका अर्थ "litter" ग्रहण करते है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "bunch of grass" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "bed of grass" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "place" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ऋक्वभि वावृधान – ऋग्वेद १०/१४/३

प्रस्तरम् – ऋ० १०/१४/४

मैक्डानल ने इस पद का "strewn grass" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने इसका व्याख्यान "पत्थर का आसन" किया है। 'प्रस्तर' शब्द के वैदिक प्रयोग को ध्यान मे रखते हुए इसका "दर्भासन" अर्थ समीचीन है।

कविशस्ताः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "कविभि शस्ता" निश्चित किया है। जबकि

उद्गीथाचार्य ने इस पद का "मेधाविभि ऋत्विग्भि प्रयुक्ता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "विद्भि ऋत्विग्भि प्रयुक्ता" अर्थ किया है। सायणाचार्य ने अथर्ववेद मे इस पद का "कविभि क्रान्तप्रज्ञैर्महर्षिभि स्तुता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "recited by the seers" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **पीटर्सन** ने इस पद का "recited by the wise" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "recited by the sages" अर्थ निर्धारित किया है। यहॉ पर कवि पद "क्रान्तदर्शी ऋषि" के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

यज्ञियैः –

उद्गीथाचार्य ने इस पद का "यज्ञार्हैं यज्ञसम्पादिभिर्वा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "यज्ञार्हैं" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "यज्ञयोग्यै" तथा अर्थर्ववेद मे सायण ने "यज्ञार्हैं" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **मैक्डानल** इस पद का अर्थ "adorable" ग्रहण करते है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इस पद का "holy" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **लुईरेनू** ने इस पद का "worthy of sacrifice" अर्थ सुनिश्चित किया है।

यज्ञियै· पद का शाब्दिक अर्थ "यज्ञ के योग्य" और भावार्थ "पूज्य" है।

स्वधया –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "सुधया" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

कविशस्ता·	–	ऋग्वेद	१०/१४/४
यज्ञियै·	–	ऋ०	१०/१४/५
स्वधया	–	ऋ०	१०/१४/७

पीटर्सन ने 'व्यक्तम्' पद का अर्थ "furnished" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "distinguished" अर्थ निर्धारित किया है।

वर्तमान प्रसङ्ग मे अथर्ववेद का सायण भाष्य अधिक समीचीन है, और 'व्यक्तम्' का अर्थ है–"स्पष्ट अर्थात् निर्मल किया हुआ"।

सधमादम् –

वेङ्कटमाधव ने 'सधमादम्' पद का अर्थ "सहमादम्" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "सहर्षम्" सुनिश्चित किया है। सायण ने अथर्ववेद मे "सह मादन तृप्तिर्यस्मिन्कर्मणि तत्सधमाद सह तृप्तिर्हर्षो वा यथा भवति तथा" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन, लुईरेनू तथा **मैक्डानल** आदि पाश्चात्य व्याख्याकारो ने "at the same feast" व्याख्यान किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "in the same drinking revelry" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **मैक्डानल** ने सधमादम् पद का अर्थ "in company" विनिश्चित किया है।

असुतृपौ –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "प्राणिनाम् असुभि तृप्तौ" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "परकीयान्प्राणान्स्वीकृत्य तैस्तृप्यन्तौ" अर्थ निश्चित किया है। अथर्ववेद मे सायण ने "प्राणिनामसुभि प्राणैस्तृप्यन्तौ प्राणापहारकौ" अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **लुईरेनू** ने इस पद का अर्थ "thieves of life" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "life-stealing" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इस पद का "insatiate" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "दूसरे के जीवन से तृप्त होने वाले अर्थात् उसे अपने अधीन करने वाले" अर्थ सुनिश्चित किया है। वस्तुत 'असुतृपौ' पद का अर्थ "प्राण–लोलुप" है।

सधमादम् – ऋग्वेद १०/१४/१०
असुतृपौ – ऋ० १०/१४/१२

उदुम्बलौ –

वेड्कटमाधव ने इस पद का ''विस्तीर्णबलौ'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''उरूबलौ'' तथा अथर्ववेद मे ''विस्तीर्णबलौ'' अर्थ किया है। जबकि

रॉथ तथा **ह्विटनी** ने अथर्ववेद मे उदुम्बलौ पद का अर्थ "copper coloured" सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "dark" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "dark-hued" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **मैक्डानल** ने उदुम्बलौ पद के अर्थ को सन्दिध समझते हुए इसका कोई अनुवाद नही किया है।

ग्रासमैन भी इसके अर्थ को सन्दिग्ध समझते है, परन्तु उदुम्बर से सम्बद्ध होने का अनुमान करते हुए उसके फल के वर्ण–सादृश्य से "light-brown" अर्थ ग्रहण किया है।

मैक्डानल ने इस पद का "brown" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सम्भव है कि यहॉ पर यमस्य दूतौ अर्थात् यम के दो कुत्तो के वर्ण का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में यम का एक कुत्ता ''श्याम'' और दूसरा ''शबल'' बताया गया है। शाड्खायन ब्राह्मण के अनुसार ''दिन'' शबल और ''रात्रि'' श्याम है। इसी प्रकार काठकसहिता ''दिन'' और ''रात्रि'' को यम के कुत्ते मानती है। और सम्पूर्ण वैदिक परम्परा को ध्यान मे रखते हुए यही व्याख्यान समीचीन है। परन्तु **ब्लूमफील्ड** सूर्य और चन्द्रमा को यम के कुत्ते मानते है।

प्रतिष्ठत –

वेड्कटमाधव ने इसका ''प्रतिष्ठत च हविर्धानात्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने '' यम यूयमुपतिष्ठध्व च'' तथा अथर्ववेद मे ''प्रतिष्ठा समाप्ति यमायैव कुरूत'' अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर तथा **मैक्डानल** 'प्रतिष्ठत' पद का अर्थ ''आगे बढो'' निर्धारित करते है। जबकि

ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इस पद का "draw near" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

लुईरेनू ने इस पद का "take your seat ahead" अर्थ विनिश्चित किया है। जबकि

उदुम्बलौ – ऋग्वेद १०/१४/१२

प्रतिष्ठत – ऋ० १०/१४/१४

ह्विटनी ने अथर्ववेद मे इस पद का "stand forth" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का भावार्थ "हवि समर्पित करने के लिए आगे बढो", "हवि आगे लाओ" निश्चित किया है।

सम्भवत इन पदो का भावार्थ यह प्रतीत होता है– "यम की परिचर्या करने के लिए आगे बढो"।

स नः देवेषु आ यमत् –

वेङ्कटमाधव ने "स अस्माक देवाना मध्ये आ यच्छति दीर्घमन्न प्र–जीवनाय" अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "देवेषु मध्ये स यम प्र जीवसे प्रकृष्टजीवनार्थ नोऽस्माक दीर्घमायु आ यमत् प्रयच्छतु" अर्थ किया है। जबकि

ग्रासमैन, पीटर्सन, मैक्डानल तथा **लुईरेनू** आदि पाश्चात्य भाष्यकार न को आ यमत् का कर्म मानते हुए व्याख्यान करते है –

पीटर्सन ने "may he bring us to the gods, to live a long life in heaven" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने "may he guide us to the gods that we may live a long life" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

लुईरेनू ने "that he deign guide us among gods that we may live a long life" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल के मतानुसार भावार्थ यह है–"may he keep us (the survivors) to the worship of the gods (and not lead us to the Fathers), so that we may enjoy long life on earth " जबकि

गैल्डनर न को चतुर्थी बहुवचन का रूप मानते हुए तृतीय पाद का अर्थ–"he should interceds with the gods for us" और टिप्पणी मे इसका भावार्थ समझाते हुए कहते है–"The life of men is, of course in the hands of gods, and not of Yama "

यहॉ पर न को आ यमत् का कर्म मानकर इसका अर्थ "समीप लाए" या "पहुॅचाए" करना समीचीन होगा, और मैक्डानल द्वारा सुझाया गया भावार्थ उचित है।

असुम् –

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "अस्मत्प्राणम्" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "the life of spirits" निश्चित किया है। जबकि

स न देवेषु आ यमत् – ऋग्वेद १०/१४/१४

असुम् – ऋ० १०/१५/१

मैक्डानल ने इस पद का "life eternal" अर्थ निर्धारित किया है।

अवृकाः –

वेड्कटमाधव ने इस पद का अर्थ–"जो अमित्रतापूर्ण नही" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ " हिसा न करने वाले" सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "friendly" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "gentle" अर्थ ग्रहण किया है।

ऋतज्ञाः –

वेड्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "सत्य को जानने वाले" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "यज्ञ को जानने वाले" सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "knowing right" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "righteousness" अर्थ निश्चित किया है।

वर्वृतानाः –

सायणाचार्य ने 'वर्वृताना' पद का अन्वय–वृहत प्रवातेजा प्रावेपा इरिणे वर्वृताना मा मादयन्ति आदि पदो के साथ करते हुए 'वर्वृताना' पद का अर्थ "प्रवर्तमान" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'वर्वृताना' पद का अर्थ "उत्पन्न अथवा निर्धन अवस्था को प्राप्त कराने वाले" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'वर्वृताना' पद का अर्थ "to roll" अर्थात् "लुढकना" ग्रहण किया है।

प्रवातेजाः –

सायणाचार्य ने 'प्रवातेजा' पद का अन्वय वृहत प्रवातेजा प्रावेपा. इरिणे वर्वृताना. आदि पदो के साथ करते

अवृका.	–	ऋग्वेद	१०/१५/१
ऋतज्ञा	–	ऋ०	१०/१५/१
वर्वृताना.	–	ऋ०	१०/३४/१
प्रवातेजा	–	ऋ०	१०/३४/१

हुए प्रवातेजा पद का अर्थ ''प्रवणदेश अर्थात् नीची– भूमि से उत्पन्न'' ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ ''अधिक या तीव्र वायु जहॉ बहती है ऐसे स्थान मे उत्पन्न'' निश्चित किया है। जबकि

उद्गीथाचार्य ने ''प्रावातेजा पद का अर्थ ''प्रवरवाते काले–वर्षासु प्रवणे वा प्रदेशे जाता'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'प्रवातेजा' पद का अर्थ ''बीच (मध्य) प्रदेश मे उत्पन्न हुए'' ग्रहण किया है। जबकि

वेलणकर ने 'प्रवातेजा·' पद का अर्थ ''झझावात मे पैदा हुए'' निश्चित किया है। जबकि

लुईरेनू ने इस पद का अर्थ ''खुली हवा मे उत्पन्न'' निश्चित किया है।

इरिणे –

सायणाचार्य ने 'इरिणे' पद का अर्थ ''आस्फारे'', ''अत्यधिक कम्पनशील'', ''जुए का पट्टा'' या ''द्यूत फलक पर'' निश्चित किया है। जबकि

यास्क ने इरिणे पद का अर्थ ''इरिण निर्ऋणम्, ऋणाते, अपार्णे भवति। अपरता अस्मादोषधय इति'' निश्चित किया है। जबकि

उद्गीथाचार्य ने 'इरिणे' पद का अर्थ 'अप्सरे' ग्रहण किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'इरिणे' पद का अर्थ ''सूखे कूप मे'' निश्चित किया है।

वैदिक साहित्य मे 'इरिण' का अर्थ है ''पृथिवी की प्राकृतिक दरार। खोदी हुई भूमि जिस पर जुए के पॉसे फेके जाते है।''

अनुवर्ती काल मे इरिण का प्रयोग चौपड (अक्षफलक, आस्फार) के लिए हुआ। इरिण का अर्थ ऊसर, बजर भूमि भी होता है।

न मिमेथ –

सायणाचार्य ने 'न मिमेथ पद का अन्वय–एषा मा न मिमेथ न जिहीळे आदि पदो के साथ करते हुए 'न मिमेथ' पद का अर्थ 'न चुक्रोध' अर्थात् ''क्रुद्ध नही हुई'' निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने इसका अर्थ ''मेथतिराक्रोशकर्मा'' निश्चित किया है।

इरिणे	–	ऋग्वेद	१०/३४/१
न मिमेथे	–	ऋ०	१०/३४/२

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने न मिमेथ पद का अर्थ "does not scold" अर्थात् ''फटकारा नही'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी ने इस पद का ''हिसा–करना'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने 'मिमेथ' पद का ''आक्रोशत'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "vex" अर्थ सुनिश्चित किया है।

न जिहीळे –

सायणाचार्य ने 'न जिहीळे' पद का अर्थ न च लज्जितवती अर्थात् 'स्वय भी लज्जित नही हुई' निश्चित किया है। जबकि इसके अतिरिक्त ''क्रोध'' तथा ''अनादर'' अर्थ भी किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने ''न जिहीळे'' पद का अर्थ "does not angry" अर्थात् ''क्रोधित नही हुई'' निश्चित किया है।

शिवा –

सायणाचार्य ने शिवा पद का अन्वय–एषा मा न मिमेथ न जिहीळे मह्य उत्सखिभ्य शिवा आसीत् आदि पदो के साथ करते हुए शिवा का अर्थ–''सुखकारी' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने शिवा पद का अर्थ ''कल्याणकारिणी'' निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने शिवा पद का "kind" अर्थात् ''दयालु'' ग्रहण किया है।

द्वेष्टि –

सायणाचार्य ने 'द्वेष्टि' पद का अन्वय श्वश्रू द्वेष्टि जाया अपरूणद्धि नाथित मर्डितारम् न विन्दते जरत आदि पदो के साथ करते हुए 'द्वेष्टि' पद का अर्थ ''निन्दा करती है'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'द्वेष्टि' पद का अर्थ ''द्वेष करती है'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'द्वेष्टि' पद का अर्थ "hates" अर्थात् ''घृणा करती हैं'' निश्चित किया है।

न जिहीळे	–	ऋग्वेद	१०/३४/२
शिवा	–	ऋ०	१०/३४/२
द्वेष्टि	–	ऋ०	१०/३४/३

अपरूणद्धि –

सायणाचार्य ने 'अपरूणद्धि' पद का अर्थ "घर मे रोकती है – जुआ घर मे नही जाने देती है" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'अपरूणद्धि' पद का अर्थ "विरक्त हो जाती है" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'अपरूणद्धि' पद का अर्थ "wife driver away me", "पत्नी मुझे भगा देती है" ग्रहण किया है। जबकि

लुईरेनू ने 'अपरूणद्धि' पद का अर्थ "धक्का मार कर भगा देती है" निश्चित किया है।

नाथितः –

सायणाचार्य ने 'नाथित' पद का अर्थ "याचमान कितवो धनम्" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'नाथित' पद का अर्थ "मॉगता हुआ" निश्चित किया है। जबकि

पाश्चात्य भाष्यकार **मैक्डानल** ने "नाथित" पद का "the man in distress" अर्थात् "क्लेश युक्त" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "आपत्तिग्रस्त" अर्थ ग्रहण किया है।

मर्डितारम् –

सायणाचार्य ने 'मर्डितारम्' पद का अर्थ "धनदानेन सुखयितारम्" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'मर्डितारम्' पद का अर्थ "धन देने वाला" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'मर्डितारम्' पद का अर्थ "दया" ग्रहण किया है।

जरतः वस्न्यस्य अश्वस्य इव –

सायणाचार्य ने इन पदो का अर्थ "वृद्ध मूल्यवान घोडे को जैसे भोग मिलता है उस प्रकार भोग नही पा रहा हूँ" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इन पदो का "बूढे मूल्याई घोडे के समान" यह अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

अपरूणद्धि	–	ऋ०	१०/३४/३
नाथित	–	ऋग्वेद	१०/३४/३
मर्डितारम्	–	ऋ०	१०/३४/३
जरत वस्न्यस्य अश्वस्य इव	–	ऋ०	१०/३४/३

मैक्डानल ने इन पदो का अर्थ "वृद्ध बिकाऊ घोडे की तुलना मे भी जुआरी का कोई मूल्य नही है।" "I find no more use in a gambler than in a aged horse that is for sale" मैकडानल इसका अर्थ उपमावाचक के रूप मे नही प्रत्युत् तुलना वाचक मानते हुए प्रतीत होते है।

एभिः न दविषाणि –

सायणाचार्य ने प्रस्तुत पदो का अर्थ "इन पॉसो से नही खेलूँगा" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने उपर्युक्त पदो का अर्थ "इन पॉसो के द्वारा दु खी नही होता हूँ" निश्चित किया है। जवकि पाश्चात्य भाष्यकार–

मैक्डानल के अनुसार "इन साथियो के साथ नही खेलूँगा" ये अर्थ ग्रहण किया गया है। जबकि

ग्रासमैन तथा डेलब्रुक ने इन पदो का अर्थ "मै उनके साथ नही जाऊँगा" निश्चित किया है।

आदीध्ये –

सायणाचार्य ने 'आदीध्ये' पद का अन्वय–यत् (अह) आदीध्ये एभि न दविषाणि तत् परायद्भ्य आदि पदो के साथ करते हुए "आदीध्ये" पद का अर्थ 'ध्यायामि" निश्चित किया है। जबकि

स्कन्दस्वामी एव **माधवाचार्य** ने 'आदीध्ये' पद का अर्थ "यदाक्षैर्जितो हारितसर्वस्व कुत्स्यमानश्च स्वैरम् अहम् आदीध्ये– सङ्कल्पयामि" निश्चित किया है। जबकि

आचार्य दुर्ग ने 'आदीध्ये' पद का अर्थ "कृतनिवृत्ति देवनाद् अशक्नवन् आत्मान धारयितु ब्रवीति यद् आदीध्ये भृशम् अभिध्यायामि निश्चयेन" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'आदीध्ये' पद का अर्थ 'ध्यान करता हूँ' ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने आदीध्ये पद का "I think to myself" अर्थात् "अपने आप विचार किया" यह अर्थ ग्रहण किया है।

अवहीये –

सायणाचार्य ने "अवहीये' पद का अन्वय एभि· न दविषाणि तत् परायद्भ्य· सखिभ्य· अवहीये न्युप्ता बभ्रव च वाच अक्रत एषा निष्कृत आदि पदो के साथ करते हुए 'अवहीये' पद का अर्थ 'अवहितो भवामि' –पीछे हो जाता हूँ' निश्चित किया है। जबकि

एभि न दविषाणि – ऋग्वेद १०/३४/५

आदीध्ये – ऋ० १०/३४/५

अवहीये – ऋ० १०/३४/५

दयानन्द सरस्वती ने 'अवहीये' पद का अर्थ ''ध्यान देता हूँ'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने अवहीये पद को कर्मवाच्य का रूप माना है तथा इसका अर्थ "I shall be left behind by" अर्थात् ''मै पीछे छोड दिया जाता हूँ'' निश्चित किया है।

एमि-इत् –

सायणाचार्य ने एमि–इत् पद का अर्थ ''गच्छाम्येव''–''चल ही पडता हूँ'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'एमीत्' पद का अर्थ ''चला जाता हूँ'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने 'एमीत्' पद का अर्थ "I go at once" अर्थात् 'मै तुरन्त चल पडता हूँ' निश्चित किया है।

'जेष्यामि' इति पृच्छमानः (कितवः) –

सायण ने इन पदों का अर्थ ''को वास्ति धनिकस्त जेष्यामिति पृच्छन्'' अर्थात् ''वह कौन धनिक है जिसे मै आज जीतूँगा इस प्रकार ललकार भरे स्वर मे पूछता हुआ'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इन पदो का अर्थ ''मै जीतूँगा ऐसा समझकर पूछता हुआ'' निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इन पदो का ''आज जीतूँगा इस प्रकार अपने आप से पूछता हुआ'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

लुड्विग ने इन पदो का ''जीतूँगा या नही जीतूँगा ऐसा पूछता हुआ'' यह अर्थ ग्रहण किया है।

तन्वा शूशुजानः (कितवः) –

दयानन्द एव **सायणाचार्य** ने इन पदो का अर्थ ''शरीरेण दीप्यमान'' अर्थात् 'शरीर से चमकता हुआ अर्थात्–''सजसवर कर आया हुआ जुआरी'' निश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने तन्वा शूशुजान पद का ''शरीर से फूलते हुए अर्थात् गर्व से छाती (वक्ष) फुलाता हुआ'' यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद से भय अथवा आत्मविश्वास के अर्थ की सम्भावना करते हुए– ''trembling with his body'' ''भय से शरीर को कँपाता हुआ'' तथा दूसरा ''आज मैं जीतूँगा इस प्रकार सोचता हुआ'' तथा ''शरीर में विश्वास (आत्मविश्वास) प्रकट करता हुआ'' यह अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

एमि–इत् – ऋग्वेद १०/३४/५

'जेष्यामि' इति पृच्छमान (कितव)– ऋ० १०/३४/६

तन्वा शूशुजान (कितव) – ऋ० १०/३४/६

लुड्विग ने इन पदो का "जीतूँगा या नही जीतूँगा तो यह सोचकर भय के कारण कॉपता हुआ" यह अर्थ ग्रहण किया है।

कुमारदेष्णाः –

सायणाचार्य ने 'कुमारदेष्णा" पद का अन्वय अक्षास इत् अङ्कुशिन नितोदिन. निकृत्वान तपना तापयिष्णव (सन्ति) कुमारदेष्णा जयत पुनर्हणो मध्वा आदि पदो के साथ करते हुए "कुमारदेष्णा" पद का अर्थ धनदानेन धन्यता लम्भयन्त कुमाराणा दातारो भवन्ति अर्थात् "धन दान के द्वारा धनी बनाते हुए और पुत्रादि देने वाले' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने "कुमारदेष्णा" पद का अर्थ "कुमारो के दाता" ग्रहण किया है। जबकि

मैकडानल ने "कुमारदेष्णा" पद का अर्थ "giving gifts and then taking them back like children" अर्थात्–"छोटे बच्चो की भॉति उपहार देकर तुरन्त वापस लेने वाले" अर्थात् "बच्चो के समान उपहार देनेवाले" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने 'कुमारदेष्णा' पद का अर्थ "तुच्छ उपहार देने वाले" निश्चित किया है।

जयतः पुनर्हणः (सन्ति) –

सायणाचार्य ने 'जयत' पद को 'पुनर्हणा' पद के साथ सम्बद्ध करके इसका अर्थ "जीतते हुए कितव (जुआरी) को पुन. पीट देने वाले", "पुनर्हन्तारो भवन्ति" अर्थ किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इन पदों का "जीतने वाले जुआरी को जादुईशक्ति से पुन पीट देने वाले' यह अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने जयत. पुनर्हणा (सन्ति) पद का "strikings back to the victors" अर्थात् "जीतते हुए को पीछे खीचने वाले" यह अर्थ ग्रहण किया है।

इस प्रकार 'जयतः पुर्नहण' पदो का "जीतने वाले जुआरी पर पुन प्रहार करने वाले या पुन पराजय देकर पीट देने वाले" यह अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

वृषलः –

सायणाचार्य ने 'वृषल' पद का अन्वय–सः वृषल अग्ने पपाद आदि पदों के साथ करते हुए वृषल पद का अर्थ 'वृषल का कार्य करने वाला" निश्चित किया है। जबकि

कुमारदेष्णा	–	ऋग्वेद	१०/३४/७
जयत· पुनर्हण.	–	ऋ०	१०/३४/७
वृषल·	–	ऋ०	१०/३४/११

दयानन्द सरस्वती ने वृषल पद का 'पातकी मूढ' यह अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने वृषल पद का अर्थ "bagger" भिखारी निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने वृषल पद का ''जाति से वहिष्कृत' अर्थ ग्रहण किया है।

कृषिं बहुमन्यमानः –

सायणाचार्य ने बहुमन्यमान पद का अन्वय बहुमन्यमान वित्तेरमस्व, तत्र गाव (सन्ति) तत्र अस्ति आदि पदो के साथ करते हुए बहुमन्यमान पद का अर्थ–''मद्वचने विश्वास कुर्वन् अर्थात् मेरे वचन पर विश्वास कर'' निश्चित किया है। जबकि

आचार्य दुर्ग ने इन पदो का अर्थ ''वित्तबहुमन्यमाना अर्थात् इस कृषि से ही प्राप्त धन को बहुत समझकर'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने बहुमन्यमान पद का अर्थ ''बहुत स्वीकार करते हुए' निश्चित किया है। जबकि

मैकडानल ने बहुमन्यमान पद का अर्थ 'कृषि से मिले धन को ही बहुत समझकर' ग्रहण किया है।

लुईरेनू ने भी मैक्डानल के अर्थ का अनुकरण किया है।

ग्रिफिथ ने बहुमन्यमान पद का अर्थ 'इस धन को ही बहुत मानकर' निश्चित किया है।

घोरेण –

सायणाचार्य ने ''घोरेण' पद का अन्वय मित्र कृणुध्वम् खलु न मृळत न धृष्णु घोरेण मा अभिचरत व मन्यु अराति' आदि पदो के साथ करते हुए 'घोरेण' पद का अर्थ 'असह्य' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'घोरेण' पद का अर्थ ''सन्ताप देने वाले क्रोध से'' ग्रहण किया है। जबकि

मैकडानल ने ''घोरेणे' पद का अर्थ 'जादुई शक्ति' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने 'घोरेण' पद का अर्थ 'भयानक' निश्चित किया है।

सखायः –

सायण ने इस पद का ''समान ज्ञान वाले'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का ''बहुत से मित्र'' अर्थ सुनिश्चित किया है।

कृषि बहुमन्यमान	–	ऋग्वेद	१०/३४/१३
घोरेण	–	ऋ०	१०/३४/१४
सखाय	–	ऋ०	१०/७१/२, ७, ८

लक्ष्मीः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "अर्थ–देवी" एव "अर्थज्ञान" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "sign" ग्रहण किया है।

सप्तरेभाः –

सायण ने इस पद का अर्थ "शब्दायमाना पक्षिण. पक्षिरूपाणि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दासि" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "seven singers" अर्थ निश्चित किया है।

सख्ये –

सायण ने इस पद का अर्थ "विद्वानो की सभा मे" सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्क ने इसका अर्थ "भाषण की मित्रता अथवा देवो की मित्रता" निश्चित किया है।

स्थिरपीतम् –

सायण ने इस पद का "मधु यस्य हृदये स्थिर भवति यद्वा स्थिरप्राप्तिम्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "leggard" अर्थ ग्रहण किया है।

हिन्वन्ति –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "अनुगच्छन्ति अथवा बहि कुर्वन्ति" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "urge" निश्चित किया है।

मनोजवेषु –

सायण ने इस पद का अर्थ "प्रज्ञा अर्थात् आन्तरिक ज्ञान मे" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "in the quickness of their spirit" अर्थ निश्चित किया है।

लक्ष्मी	–	ऋग्वेद	१०/७१/२
सप्तरेभा	–	ऋ०	१०/७१/३
सख्ये	–	ऋ०	१०/७१/५
स्थिरपीतम्	–	ऋ०	१०/७१/५
हिन्वन्ति	–	ऋ०	१०/७१/५
मनोजवेषु	–	ऋ०	१०/७१/७

तष्टेषु –

सायण ने इस पद का अर्थ ''निश्चितेषु परिकल्पितेषु अर्थात् निर्मित'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "fashioned" अर्थ निर्धारित किया है।

अर्वाक् –

सायण ने इस पद का अर्थ ''इस लोक मे'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "back" अर्थ निश्चित किया है।

परः –

सायण ने इस पद का अर्थ ''उस लोक मे'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "forward" ग्रहण किया है।

सिरीः –

सायण ने इस पद का अर्थ ''बनुकर स्त्रियॉ'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "spinsters" अर्थ निश्चित किया है।

तन्त्रम् –

सायण ने इसका ''कृषिलक्षणम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "thread" अर्थात् ''धागे को'' यह अर्थ ग्रहण किया है।

यशसा –

सायण ने इस पद का ''यशस्वी सोम के कारण'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "in thriumph" अर्थ सुनिश्चित किया है।

तष्टेषु – ऋग्वेद १०/७१/७
अर्वाक् – ऋ० १०/७१/६
पर – ऋ० १०/७१/६
सिरी· – ऋ० १०/७१/६
तन्त्रम् – ऋ० १०/७१/६
यशसा – ऋ० १०/७१/१०

हितः –

सायण ने इस पद का अर्थ ''पात्रेषु निहित· सोम'' सुनिश्चित किया है। जबकि **ग्रिफिथ** ने इस पद का "Prepared" अर्थ निश्चित किया है।

मात्राम् –

सायण ने इस पद का अर्थ "Body" अर्थात् ''यज्ञशरीर'' निश्चित किया है। जबकि **ग्रिफिथ** ने इस पद का अर्थ "rules" निश्चित किया है।

सलिले –

सायण ने इस पद का अर्थ ''जल मे'' निश्चित किया है। जबकि **पीटर्सन** ने इस पद का "an unsteady (mass)" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सुसंरब्धाः –

सायण ने इस पद का अर्थ – ''सुष्ठु लब्धात्मान'' निश्चित किया है। जबकि **ग्रिफिथ** ने इस पद का "close-clasping" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि **पीटर्सन** ने इस पद का का "well supported" अर्थ निश्चित किया है।

अनवब्रवः –

सायणाचार्य ने 'अनवब्रव' पद का अर्थ 'अनिन्दित वचन' निश्चित किया है। जबकि **यास्काचार्य** ने इस पद का ''अनवब्रवोऽनवक्षिप्तवचन'' निर्वचन किया है। जबकि **ग्रिफिथ** ने इस पद का अर्थ "unyielding" निश्चित किया है।

हित	–	ऋग्वेद	१०/७१/१०
मात्राम्	–	ऋ०	१०/७१/११
सलिले	–	ऋ०	१०/७२/६
सुसरब्धा.	–	ऋ०	१०/७२/६
अनवब्रव	–	ऋ०	१०/८४/५

अमृतत्वस्य –

उव्वट ने इस पद का अर्थ ''मोक्षस्य'' निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने अमृतत्वस्य पद का ''अमरणधर्मस्य'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने ऋग्वेद मे ''देवत्वस्य'' तथा अथर्ववेद मे ''देवत्वस्यापि ईवर स्वामी। देवानामपि ईश्वर इति'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल तथा **ग्रिफिथ** आदि पाश्चात्य भाष्यकारो ने इस पद का शाब्दिक अर्थ "immortality" किया है, और इसका भावार्थ ''देवगण'' स्वीकार करते है।

''यद् अन्नेन अतिरोहति'' –

वेङ्कमाधव ने ''यज्ञ किञ्चिदिह भूतजातम् अन्नेन अतिवर्धत इति देवानामन्न हवि'' अर्थ किया है। जबकि

उव्वट ने ''यद् अन्नेन अमृतेन अतिरोहति अतिरोध करोति। सर्वस्येश्वर इति'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने ''यद्–यस्मात् अन्नेन–प्राणिना भोग्येन अन्नेन फलेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमाना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मात् पुरूष एव। प्राणिना कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारात् नेद तस्य वस्तुत्वमित्यर्थ । यद्वा किञ्च यज्जीवजातम् अन्नेन अतिरोहति–उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशान ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्त तस्यान्नेनैव स्थिते ''इत प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति इति श्रुते'' व्याख्यान किया है।

सायणाचार्य ने इन पदों का ''यत्–यस्मात् कारणात् अन्नेन–प्राणिना भाग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति –स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमाना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मात् प्राणिना कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारात् नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थ'' व्याख्यान किया है। जबकि

विल्सन, वेबर, ओल्डेनबर्ग तथा **मुइर** आदि विद्वानो ने पुरूष को अतिरोहति क्रिया का कर्ता मान कर इस पद का अर्थ "since through food he expands" किया है। जबकि

कोलब्रुक तथा **पीटर्सन** ने यद् को अतिरोहति का कर्ता मानकर उसका पुरूष से अभेद दर्शाते हुए अनुवाद किया है।

अमृतत्वस्य – ऋग्वेद १०/९०/२

यद् अन्नेन अतिरोहति – ऋ० १०/९०/२

कोलब्रुक ने "he is that which grows by nourishment" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "he was all that grows by food" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, ग्रिफिथ, तथा **वेलणकर** ने यद् को तृतीय पाद के अमृतत्वस्य का सर्वनाम तथा अतिरोहति का कर्ता मानते हुए और अन्नेन का अर्थ ''यज्ञसम्बन्धी हवि के द्वारा'' करते हुए अनुवाद करते है। यथा–

ग्रिफिथ ने "The Lord of immortality which waxes greater still by food" अर्थ निश्चित किया है।

मैक्डानल भी यद् को अमृतत्वस्य का सर्वनाम मानते है, परन्तु इसे अतिरोहति का कर्म तथा पुरूष को कर्ता समझाते हुए निम्नलिखित अनुवाद करते है– "And he is the lord of immortality which he grows beyond through food " जबकि

गैल्डनल ने "And he is the lord of immortality (and also of that), which grows still greater through food " व्याख्यान किया है।

प्रसङ्ग तथा व्याक्य–रचना को ध्यान मे रखते हुए यही अन्तिम व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

''उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति'' –

सायणाचार्य ने इस पाद का अर्थ ''और वह अमरत्व का स्वामी है तथा जो अन्न से समद्ध होता है।'' निश्चित किया है। जबकि

विल्सन ने "he is also the lord of immortality, for he mounts beyound (his own condition) for the food (of living beings)" अर्थ किया है। जबकि

कोलब्रुक ने "he is that which grows by nourishment and he is the distributer of immortality" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

जे. म्यूर ने "he is also the lord of immortality since by food he expands" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

लुड्विग ने "since he stretches for above what exists by food" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने "ruling over immortality, he was all that grows by food" अर्थ ग्रहण किया है।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति – ऋग्वेद १०/९०/२

विष्वङ्

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''नानाञ्चन'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का ''देवतिर्यगादिरूपेण विविध सन्'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविध सन्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

अथर्ववेद मे सायण ने इस पद का ''सर्वतोञ्चन विश्वव्यापन'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **पीटर्सन** ने इसका "all sides" अर्थ किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका अर्थ "in all directions" सुनिश्चित किया है।

इस विशेषण का शाब्दिक अर्थ ''सब ओर जाता हुआ'' है और यहॉ पर इसका भावार्थ ''सर्वव्यापी'' है। जैसा कि सायण ने माना है।

विराट् –

वेङ्कटमाधव ने ''विराट् नाम पुरूष अजायत ब्रह्मभूत'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने ''विराट् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत जात । विविध राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्'' अर्थ किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''अग्रे सृष्ट्यादौ विराट् विविध राजन्ति वस्तूनि यस्मिन्निति स विराट् नाम पुरूष समभवत्'' अर्थ किया है। जबकि

शतपथ ब्राह्मण मे इस विराट् पद को स्त्रीलिङ्ग का रूप मानते हुए विराट् छन्द से इसकी अभिन्नता बताया है – ''एषा वै सा विराडेतस्या एवैतद्विराजो यज्ञं पुरूष जनयति'' शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र विराट् को ''वृष्टि'', ''अग्नि'', ''पृथिवी'', ''वाणी'' तथा ''अन्न'' कहा गया है। जबकि

ऐतरेय ब्राह्मण तथा **तैत्तिरीय ब्राह्मण** आदि मे भी विराट् को ''अन्न'' कहा गया है। वैदिक वाङ्मय मे सज्ञा वाचक विराज् शब्द प्रायेण स्त्रीलिङ्ग मे प्रयुक्त होता है। जबकि

ग्रासमैन ने इसका अर्थ ''आदि पुरूष से उत्पन्न आदि सत्त्व'' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने विराट् को ''सृष्टि की उत्पत्ति का नारी तत्त्व'' (female principle of creation) माना है। जबकि

ग्रिफिथ ने भी इसी प्रकार का मत अभिव्यक्त किया है– "Or Viraj may be the female counterpart of purusa as Aditi of Daksa"

विष्वङ् – ऋग्वेद १०/९०/४

विराट् – ऋ० १०/९०/५

मैक्डानल ने विराट् पद का अर्थ "as intermediate between the primeval Purusa and the evolved Purusa" निश्चित किया है।

यदि विराज् पद का यौगिक अर्थ (वि + √राज्) लिया जाय तो इस के स्त्रीलिङ्ग प्रयोग को ध्यान मे रखते हुए इसका अर्थ होगा "विशेषतया शासन (अर्थात् विश्व की सब वस्तुओ पर नियन्त्रण) करने वाली (शाक्ति)"

पाश्चात्य विद्वानो ने प्रायेण शाब्दिक अनुवाद किया है। हमारा मत यह है कि यह पुरूष "सवत्सर रूपी प्रजापति" है।

पुरः –

महीधर ने 'पुर·' पद का अर्थ "ससर्ज" निश्चित किया है। जबकि

वेङ्कटमाधव ने पुर पद का अर्थ "पुरस्तात्" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने पुर. पद का अर्थ "शरीर" निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का "शरीराणि" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल एव **पीटर्सन** ने इस पद का "before" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "eastward" अर्थ सुनिश्चित किया है।

बर्हिषि –

"बर्हिस्" अर्थात् "यज्ञ मे प्रयुक्त कुशा या दुर्वा पर", सप्तमी एक वचन।

महीधर तथा **सायणाचार्य** इसका व्याख्यान "मानसे यज्ञे" करते है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का अर्थ "on the altar" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "on the grass" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "on the strew" अर्थ सुनिश्चित किया है।

प्रसङ्गानुसार इसका भावार्थ "मानसिक यज्ञ की वेदि के पास बिछाई गई कुशाओ पर" है।

साध्याः –

महीधर तथा **सायण** ने "सृष्टिसाधन योग्या प्रजापतिप्रभृतय" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पुर· – ऋग्वेद १०/९०/५

बर्हिषि – ऋ० १०/९०/७

साध्या – ऋ० १०/९०/७

ग्रासमैन ने इसका व्याख्यान "a class of gods" किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "a class of celestial beings, probably ancient divine sacrificers" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "an old class of divine beings (here probably in apposition to देवा" अर्थ किया है।

यहाँ वैदिक प्रयोगो से यह स्पष्ट होता है कि देवताओ से पहले होने वाले (पूर्वे देवा) विशेष देवगण साध्या कहलाते थे।

सर्वहुतः –

सर्वहुत् का पञ्चमी एक वचन–सर्वहुत ।

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "सर्वहुत् अश्वमेधिकोऽश्व । तस्मात् यज्ञात् अश्वभूतात्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने "सर्व हूयते यस्मिन् स सर्वहुत्। तस्मात् पुरूषमेधाख्यात् यज्ञात्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने "सर्वात्मक· पुरूषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽय सर्वहुत्। तादृशात्तस्मात् पूर्वोक्तान्मानसाद् यज्ञात्" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, मोनियर विलियम्स, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** आदि विद्वानो ने इसका अर्थ "completely offered" निश्चित किया है। जबकि

ह्विटनी ने इसका अर्थ "all sacrificing" निश्चित किया है।

यद्यपि व्याकरण के सामान्य नियम के अनुसार ह्विटनी का अनुवाद उचित है, तथापि प्रसङगानुसार सायण का व्याख्यान अधिक समीचीन है।

संभृतम् –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "कृतम्" अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का "सम्पादितम् पुरूषेणेति शेष" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सर्वहुतः – ऋग्वेद १०/६०/८, ६

सभृतम् – ऋ० १०/६०/८

सायण ने इस पद का ''सम्पादितम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "was collected" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **ग्रिफिथ** ने इस पद का "was gathered up" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "was produced" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "was won" अर्थ निश्चित किया है।

प्रसङ्गानुसार ''प्राप्त किया गया'' यह अर्थ अधिक समीचीन है।

पृषदाज्यम् –

महीधर तथा **सायण** ने इस पद का ''दधिमिश्रमाज्यम्–दध्याज्यादिभोग्यजात सम्पादितमित्यर्थ'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "dripping melted butter" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "sacrificial fat" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "dripping fat" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "butter" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का ""clotted butter" अर्थ निश्चित किया है।

उत्तरकालीन वैदिक साहित्य मे पृषदाज्यम् के प्रयोग के अनुसार महीधर तथा सायण का व्याख्यान समीचीन है। परन्तु यहॉ पर इस पद का प्रयोग रूपकालङ्कार मे हुआ है, और उस आलङ्कारिक प्रयोग का अर्थ स्पष्ट नही है। पृषत् का शाब्दिक अर्थ ''बूॅदे गिराता हुआ'' और आज्य का अर्थ ''पिघलता हुआ घृत'' है। इसका अर्थ ''वर्षा का जल'' हो सकता है।

व्यदधुः –

महीधर ने ''प्रजापते प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरूष व्यदधु कालेनोदपादयन्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने ''प्रजापते प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरूष विराडरूप व्यदधु सङ्कल्पेनोत्पादितवन्त'' अर्थ किया है। जबकि

पृषदाज्यम् – ऋग्वेद १०/९०/८

व्यदधु· – ऋ० १०/९०/११

वेड्कटमाधव ने इस पद का ''यथा पुरूष विदधु साध्या देवा'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** ने प्रथम पाद का अर्थ "when they divided Purusa" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने व्यदधु के व्याख्यान मे सायण के अर्थ ''उत्पादितवन्त'' को स्वीकार किया है। जबकि **गैल्डनर** ने प्रथम पाद का अनुवाद– "As they put asunder the purusa" किया है।

प्रसड्ग से स्पष्ट है कि व्यदधु क्रिया का कर्ता देवा है और व्यदधु का अर्थ है – ''जब देवो ने मानसिक यज्ञ मे अपने सड्कल्प से पुरूष के विभिन्न अड्गो का विभाजन किया अर्थात् निर्धारण किया कि विश्व की कौन सी वस्तु उसके कौन से अड्ग के रूप मे होगी।''

''कतिधा वि अकल्पयन्'' –

महीधर तथा **सायण** ने ''कतिधा–कतिभि प्रकारैर्व्यकल्पयन् विविध कल्पितवन्त'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पाद का अर्थ "into how many parts did they shape him ?" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "how many portions did they make ?" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "into how many parts did they dispose him?" अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "into how many parts did they divide him?" अर्थ ग्रहण किया है। परन्तु प्रसड्गानुसार महीधर तथा सायण का व्याख्यान अधिक समीचीन है।

प्रथमानि –

महीधर तथा **सायण** ने इस पद का ''मुख्यानि'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने इस पद का ''पूर्वयुगीयानि'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** ने इसका अनुवाद "first" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "earliest" अर्थ निश्चित किया है।

वैदिक प्रयोग के आधार पर यहॉ पर प्रथम पद का ''प्रमुख'' अर्थ अधिक समीचीन है।

''कतिधा वि अकल्पयन्'' – ऋग्वेद १०/९०/११

प्रथमानि – ऋ० १०/९०/१६

ते महिमानः –

उव्वट ने इस पद का ''ते ह महाभाग्ययुक्ता'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर तथा **सायण** ने इसका ''तदुपासका महात्मान'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका "The Mighty Ones" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "these great ones" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर, मैक्डानल तथा **लुईरेनू** ने इसका "these powers" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "probably the powers residing in the sacrifice " अर्थ निश्चित किया है।

यहाँ पर 'महिमान' पद का ''महात्म्ययुक्ता'' अर्थ प्रसङ्गानुसार समीचीन प्रतीत होता है और यह शब्द उन देवो का विशेषण है जिन्होने यज्ञ किया।

जगुरिः –

सायणाचार्य ने जगुरि पद का अन्वय पराचै जगुरि अध्वा दूरे हि आदि पदो के साथ करते हुए जगुरि पद का अर्थ ''उद्गूर्ण महता प्रयत्नेनापि गन्तु न शक्यत इत्यर्थ'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने भी सायणाचार्य के अर्थ को ही ग्रहण करते हुए जगुरि पद का अर्थ ''प्रयत्न से भी न जाने योग्य'' ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने जगुरि· पद का अर्थ "losing itself or causing one to be lost or ingulfed" निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने जगुरि· पद का अर्थ "wearying & exhausting" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने जगुरि पद का अर्थ "engulfing" निश्चित किया है।

अस्मेहितिः –

सायणाचार्य ने अस्मेहिति पद का अन्वय– का अस्मेहिति का परितक्म्या आसीत्? इत्यादि पदो के साथ करते हुए अस्मेहिति पद का अर्थ कोऽस्मास्वर्थहिति। कोऽस्मामु त्वदपेक्षितार्थो निहित। यद्वा अस्मासु कोऽर्थो गत· दधातेर्हिनोतेर्वा क्तिनी रूपम् अर्थात् ''हममे तुम्हारा अभिप्रेत अर्थ निहित है "What (your desired) is placed in us" निश्चित किया है। जबकि

ते महिमान·	–	ऋग्वेद	१०/९०/१६
जगुरि	–	ऋ०	१०/१०८/१
अस्मेहिति	–	ऋ०	१०/१०८/१

दयानन्द सरस्वती ने "अस्मेहिति" पद का अर्थ "इसमे हमारे स्वार्थ की बात निहित है" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने "अस्मेहिति" पद का अर्थ "What charges hast thou for us" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "अस्मेहिति" पद का अर्थ "What is the message (placed) for us" निश्चित किया है।

परितक्म्या –

सायणाचार्य ने परितक्म्या पद का अन्वय का अस्मेहिति का परितक्म्या आसीत् ? आदि पदो के साथ करते हुए परितक्म्या पद का अर्थ "रात्रि", "going around" अर्थात् "तकतिर्गत्यर्थ। परितकन परितो गमन भ्रमण वा" निश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने "परितक्म्या" पद का अर्थ परितक्म्या रात्रि। परित एना तक्म। तक्म इति उष्णनाम। तकते इति सत। परितक्म्या means 'रात्रि' it is derive from परि + तक्म् (तक 'to go') + य। तक्म् means heat The sun is hot and it goes around the night hence, the latter is called

दयानन्द सरस्वती ने भी यास्क के अर्थ को स्वीकार करते हुए परितक्म्या पद का अर्थ "रात्रि" ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने परितक्म्या पद का अर्थ 'running about', 'confusion', 'tumult of battle', 'melee' आदि अनेक अर्थ ग्रहण किया है।

रसायाः –

सायणाचार्य ने रसाया पद का अर्थ "शब्दायमानाय अन्तरिक्षनद्या योजनशतविस्तीर्णाया" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने इस पद का अर्थ "अन्तरिक्षस्थ जलधारा" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "refer here to a mythical stream that flows around the atmosphere and the earth" अर्थ निश्चित किया है।

Some suggest it to be a river of Punjab, probably an affluent of Indus

अतिष्कदः –

सायणाचार्य ने अतिष्कद पद का अन्वय– अतिष्कद भियसा तत् न आवत् आदि पदो के साथ करते हुए अतिष्कदः पद का अर्थ "अतिष्कन्दनादतिक्रमणाज्जातेन भियसा भयेन" अर्थात् "कूद कर पार कर जाने के भय

परितक्म्या	–	ऋग्वेद	१०/१०८/१
रसाया	–	ऋ०	१०/१०८/१
अतिष्कद.	–	ऋ०	१०/१०८/२

से (through the fear of overleaping) यह अर्थ निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने अतिष्कद पद का अर्थ "सूर्य इसे सोखकर शुष्क न कर दे इस भय से" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन और **ओल्डेनबर्ग** ने "अतिष्कद" पद का अर्थ "as I stood afraid of the leap" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने अतिष्कद पद का अर्थ "from the fear of crossing" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन और **गैल्डनर** ने सायण के अर्थ को अपनाया है।

तत् –

सायणाचार्य ने तत् पद का अन्वय अतिष्कद भियसा तत् न आवत् आदि पदो के साथ करते हुए 'तत्' पद का अर्थ "नदीजलम्' किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सायणाचार्य के अर्थ को ग्रहण करते हुए तत् पद का अर्थ "वह नदी जल" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने "as an adverb of time supplying रसा understood as the subject" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने तत् का अर्थ 'that' to be the subject and according to him, it is a parenthetical conjunction किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "this" अर्थ निश्चित किया है।

दृशीका –

सायणाचार्य ने दृशीका पद का अन्वय – हे सरमे, कीदृङ् इन्द्र का दृशीका, यस्य दूती आदि पदो के साथ करते हुए दृशीका पद का अर्थ 'दृष्टि' तथा "दृष्टिरूपा सेना" निश्चित किया है। जबकि

'Look' Sayana takes it to secondarily mean 'army' Thus according to him का दृशीका means 'how much-armied'

दयानन्द सरस्वती ने दृशीका पद का अर्थ "शक्ति" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने दृशीका पद का "what is his aspect" अर्थ ग्रहण किया है।

तत् – ऋग्वेद १०/१०८/२

दृशीका – ऋ० १०/१०८/३

एन –

सायणाचार्य ने 'एन' सर्वनाम पद का अन्वय – आ च गच्छात् एन मित्र दधाम आदि पदो के साथ करते हुए 'एन' सर्वनाम पद का अर्थ 'उसको' किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'एन' पद का अर्थ 'इसे' निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने 'एन' पद का अर्थ 'अनेन' निश्चित किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने 'एन' पद का अर्थ "through him" किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने 'एन' पद का अर्थ "him" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन और **पीटर्सन** ने 'एन' पद का अर्थ "then" किया है।

असेन्या –

सायणाचार्य ने असेन्या पद का अन्वय– हे पणय व वाचासि असेन्या आदि पदो के साथ करते हुए असेन्या पद का अर्थ "असेन्यानि। सेनार्हाणि न भवति अर्थात् "सेना के योग्य नही होता है" या 'शस्त्र के आघात से सुरक्षित' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने सायण के अर्थ को ग्रहण करते हुए असेन्या पद का अर्थ "सेनार्ह नही है" किया है। जबकि

ओल्डेनबर्ग ने 'असेन्या' पद का अर्थ "Proof against darts" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने 'असेन्या' पद का "ready with weapons" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने 'असेन्या' पद का अर्थ "unsoldierly or not inimical" सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने 'असेन्या' पद का अर्थ "weak for wounding" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'असेन्या' पद का अर्थ "immune from (the blows of) weapons" निश्चित किया है।

अधृष्टः –

सायणाचार्य ने अधृष्ट. पद का अर्थ "असमर्थ" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने अधृष्ट· पद का अर्थ "invincible", "unmastered" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने "अधृष्ट." पद का अर्थ "unmolested" निश्चित किया है।

एन	–	ऋग्वेद	१०/१०८/३
असेन्या	–	ऋ०	१०/१०८/६
अधृष्ट	–	ऋ०	१०/१०८/६

अद्रिबुध्नः –

सायणाचार्य ने 'अद्रिबुध्न' पद का अर्थ 'पर्वतो से ढका या बॅधा हुआ' अर्थात् "bound with the rock" निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने 'अद्रिबुध्न'' पद का अर्थ ''मेघो से बॅधा हुआ'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने 'अद्रिबुध्न' पद का अर्थ "paved with the rock" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने 'अद्रिबुध्न' पद का अर्थ "founded on the rock" निश्चित किया है।

मिनतीः –

सायणाचार्य ने 'मिनती' पद का अर्थ मिनत्यो द्वारस्य पिधायक पर्वत हिसत्यो विदारयन्त्य अर्थात् ''पर्वतो या चट्टानो को तोडती हुई'' निश्चित किया है। जबकि

दयानन्द सरस्वती ने ''मिनती'' पद का ''मेघ सम्बन्धी द्वारापिधान को तोडती हुई' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने मिनती पद का अर्थ "changing place" निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **पीटर्सन** ने मिनती पद का अर्थ "escaping" किया है। जबकि

ग्रिफिथ एव **ओल्डेनबर्ग** ने मिनती पद का अर्थ "lowing" निश्चित किया है।

विश्वम् –

वेड्कटमाधव ने इसका ''सर्वलोकम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''सर्व जगत्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इसका ''सर्वम्'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "the world" अर्थ ग्रहण किया है।

यहॉ पर ''सर्वलोकम्'' व्याख्यान करना अधिक समीचीन है।

गर्भम् –

वेड्कटमाधव ने गर्भम् पद का ''गर्भभूतम् इम देवम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूत प्रजापतिम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

अद्रिबुध्न.	–	ऋग्वेद	१०/१०८/७
मिनती	–	ऋ०	१०/१०८/११
विश्वम्	–	ऋ०	१०/१२१/७
गर्भम्	–	ऋ०	१०/१२१/७

उव्वट तथा **महीधर** ने इस पद का ''हिरण्यगर्भलक्षणम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **ग्रिफिथ** ने इसका शाब्दिक अर्थ "germ" निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "fetus" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "seed" अर्थ निश्चित किया है।

यहाँ पर 'गर्भम्' का अर्थ है ''सृष्टि की उत्पत्ति का बीच'' अर्थात् वह तत्त्व जिस से सृष्टि का विकास हुआ।

रजसः –

वेङ्कटमाधव ने 'रजस' पद का अर्थ ''तेजस'' निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का अर्थ ''उदकस्य'' निश्चित किया है। जबकि

महीधर तथा **उव्वट** ने रजस पद का अर्थ ''जलस्य वृष्टिरूपस्य'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "regions" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "mid sky" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "air-space" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने 'रजस' पद का अर्थ "air" अर्थ निश्चित किया है।

वस्तुत. रजस् पद का सामान्य अर्थ ''अन्तरिक्ष'' है, परन्तु यहाँ पर रजस् शब्द ''स्थान या लोक'' का वाचक है।

दक्षम् –

वेङ्कटमाधव ने दक्षम् पद का ''आदित्यम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णु प्रजापतिम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

उव्वट ने इस पद का ''प्रजापतिम्'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

महीधर ने इस पद का ''कुशल प्रजापतिम्'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का अर्थ "ability, strength" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

रजस· – ऋ० १०/१२१/५

दक्षम् – ऋ० १०/१२१/८

ग्रिफिथ ने इस पद का "productive force" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "strength" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने ''एक सृष्टिकर्ता'' और विकल्प से ''कार्यशक्ति'' अर्थ निश्चित किया है।

दक्ष पद के अन्य वैदिक प्रयोगो को ध्यान मे रखते हुए, इसका अर्थ ''बुद्धि या चेतनातत्त्व'' अधिक समीचीन होगा। ''शक्ति'' या ''कार्यशक्ति'' आदि ''बुद्धि या चेतनातत्त्व'' के प्रपञ्चमात्र प्रतीत होता है।

आहनसम् –

वेङ्कटमाधव ने इसका ''सोम आहना भवति ग्रावभिराहन्यते इति, यद्वा शत्रून् आहन्ति इति'' अर्थ किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''आहनसम् आहन्तव्यमभिषोतव्य सोम यद्वा शत्रूणामाहन्तार दिवि वर्तमान देवतात्मान सोमम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

यास्काचार्य ने आहनस पद का का व्याख्यान ''आहननवन्तो वञ्चनवन्त '' किया है तथा निरूक्त मे यास्क ने यम द्वारा यमी के लिए प्रयुक्त आहनस् के सम्बोधनपद आहन का व्याख्यान इस प्रकार किया है– ''आहंसीव भाषमाणा इति असभ्यभाषणदाहना इव भवति। एतस्मादाहन स्यात्''। जबकि

राथ तथा **ग्रासमैन** ने इस पद का "swelling" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "stormy" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "high-swelling" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "stream" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

लुईरेनू ने इस पद का "exuberant" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इसका "to be beaten or pressed out (as soma)" अर्थ ग्रहण किया। जबकि

वेलणकर ने इस पद का ''पराक्रमी'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ह्विटनी ने इसका "heady" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

राजवाडे ने निरूक्त के व्याख्यान मे इस पद का "pleasant" अर्थ निश्चित किया है।

वैदिक प्रयोगों को ध्यान मे रखते हुए 'आहनस्' पद का ''उल्लासपूर्ण'' अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

आहनसम् – ऋग्वेद १०/१२५/२

सुप्राव्ये –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "सुष्ठु प्रक्षति इति सुप्रावी" अर्थ निश्चित क़िया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "शोभन हविर्देवाना प्रापयित्रे तर्पयित्रे" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रासमैन तथा **मोनियर विलियम्स** ने इस पद का अर्थ "very attentive, very zealous" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "zealous" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "pious" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ह्विटनी ने भी इस पद का "very zealous" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर तथा **लुईरेनू** ने इस पद का "अच्छी प्रकार आह्वान करने वाला" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

वेलणकर ने इस पद का "देवो के लिए अत्यधिक अनुकूल" अर्थ निश्चित किया है।

सुप्रावी पद के व्याख्यान के विषय मे यह तथ्य निश्चित है कि इसकी व्युत्पत्ति सु + प्र + अवी (√अव्+ई) से है। अत प्र + √अव् + ई से बने 'प्रावी' पद का ऋग्वेद मे केवल एक ही प्रयोग मिलता है, जहॉ पर यह अग्नि का विशेषण है। प्रावी पद का **वेड्कटमाधव** ने "प्रकर्षेण रक्षक " अर्थ किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "प्रकर्षेण गन्ता" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "mindful, helpful" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "प्रोत्साहित करता हुआ" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

यहॉ वैदिक प्रयोगो तथा प्रसड्गानुसार वेड्कटमाधव का अर्थ उचित प्रतीत होता है।

भूरिस्थात्राम् –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "बहुस्थानाम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इसका "बहुभावेन प्रपञ्चात्मना अवतिष्ठमानाम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, गैल्डनर, ह्विटनी, लुईरेनू तथा **मोनियर विलियम्स** ने इस पद का "having many stations" अर्थ निश्चित किया है जो समीचनी है।

सुप्राव्ये – ऋग्वेद १०/१२५/२

भूरिस्थात्राम् – ऋ० १०/१२५/३

ब्रह्मद्विषे –

वेड्कटमाधव ने इस पद का "ब्राह्मणाना द्वेष्टारम्" एव "कर्मद्विष्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का "ब्राह्मणाना द्वेष्टारम्" एव "मन्त्राणा द्वेष्टा" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "प्रार्थना–द्वेषी, नास्तिक, धर्मद्वेषी" आदि अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "the hater of devotion" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "the man who hates God" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "the enemy of sacred speech" अर्थ निश्चित किया है।

ऋग्वेद मे ब्रह्मन् पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि ब्रहमद्विष् का अर्थ "ब्रह्म अर्थात् प्रार्थना या वेद–मन्त्र से द्वेष करने वाला" है।

जनाय समदम् –

वेड्कटमाधव ने इसका "जनाय कलहम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "समान माद्यन्ति अस्मिन् इति समद् सड्ग्राम । स्तोतृजनार्थ शत्रुभि सड्ग्राममहमेव कृणोमि करोमि" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर, पीटर्सन तथा **लुईरेनू** ने इन पदो का "strife among people" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ह्विटनी ने इन पदो का "strife for the people" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इन पदो का "battle for the people" अर्थ सुनिश्चित किया है।

इसका भावार्थ यह है कि वाणी ही लोगो मे कलह का मूल कारण है। 'जन' शब्द "जनता एव लोगो" के अर्थ में आया है।

अहं सुवे पितरम् अस्य मूर्धन् –

वेङ्कटमाधव ने सुवे पद का "प्रेरयामि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "सुवे प्रसुवे", "जनयामि" तथा "प्रेरयामि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ब्रह्मद्विषे	–	ऋग्वेद	१०/१२५/६
जनाय समदम्	–	ऋ०	१०/१२५/६
अह सुवे पितरम् अस्य मूर्धन्	–	ऋ०	१०/१२५/७

ग्रासमैन, गैल्डनर, ग्रिफिथ तथा **लुईरेनू** ने सुवे का अर्थ "I bring forth" निश्चित किया है। जबकि

ह्विटनी ने "I quicken" अर्थ निश्चित किया है तथा विकल्प से "give birth to" अर्थ भी किया है। जबकि

पीटर्सन ने इन पदो का "I set my father over all the world" अर्थ सुनिश्चित किया है।

सुवे पद √सू का लट् लकार उत्तम पुरूष एक वचन आत्मनेपद का रूप है। "जन्म–देना" तथा "प्रेरित करना" अर्थ मे √सू का प्रयोग मिलता है। यहॉ पर वेड्कट तथा सायण के वैकल्पिक व्याख्यान के समान "प्रेरित करना" अर्थ अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योकि पुत्री पिता को उत्पन्न कैसे कर सकती है, तथापि यदि इस वाक्य मे विरोधाभास अलङ्कार मानना अभिप्रेत हो तो "जन्म–देना" अर्थ लिया जा सकता है।

पाश्चात्य भाष्यकार पितरम् का शाब्दिक अर्थ "father" करते है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "अध्यक्ष परमे व्योमन्" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

वेड्कटमाधव ने 'पितरम्' पद का "आदित्यम्" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण का व्याख्यान "द्युलोकरूपी पिता" अधिक समीचीन है, क्योकि ऋग्वेद मे अनेक बार पितृ पद इसके लिए आया है।

अस्य मूर्धन् –

वेड्कटमाधव ने इसका "लोकस्य मूर्धनि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "परमात्मन मूर्धनि" अर्थ किया है। अन्य वैकल्पिक अर्थो मे "भूलोकस्य मूर्धनि" "दृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य मूर्धनि" अथवा "सत्यलोके प्रपञ्चस्य मूर्धनि" "भू लोकस्य मूर्धनि उपरिभागे" आदि अर्थ किया है। जबकि

गैल्डनर ने इन पदों का "on the head of this world" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ, ग्रिफिथ, पीटर्सन, लुईरेनू तथा **ह्विटने** ने भी गैल्डनर के अर्थ को ग्रहण किया है।

प्रसङ्गानुसार वेड्कटमाधव का व्याख्यान समीचीन प्रतीत होता है।

वर्ष्मणा –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "शरीरेण" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

अस्य मूर्धन् – ऋग्वेद १०/१२५/७

वर्ष्मणा – ऋ० १०/१२५/७

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** ने इसका "with the crown (of the head)" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "with my forehead" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "with may head" अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

ह्विटनी ने इस पद का "with my summit" अर्थ निश्चित किया है।

वर्ष्मन् पद ''उच्चतम प्रदेश या स्थान'' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यहाँ पर प्रसङ्गानुसार 'वर्ष्मन्' का अर्थ ''शरीर का उच्चतम भाग अर्थात् सिर की चोटी'' होना चाहिए।

योनिः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का अर्थ ''गृहम्'' निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने इस पद का ''कारणम्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन तथा **गैल्डनर** सायण के मत का अनुसरण करते है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "home" निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इस पद का "seat" अर्थ सुनिश्चित किया है।

वैदिक भाषा मे 'योनि' शब्द प्रायेण ''आश्रय–स्थान'' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

आभु –

सायण ने 'आभु' पद का अर्थ ''उत्पन्न होने वाला'' एव ''सर्वव्यापी'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "existed" निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "coming into being" निश्चित किया है। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इस पद का अर्थ "empty" and "void" निश्चित किया है।

तपसः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ ''स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वम्'' निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "warmth" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का अर्थ "heat" ग्रहण किया है।

योनि – ऋग्वेद १०/१२५/७

आभु – ऋ० १०/१२६/३

तपस. – ऋ० १०/१२६/३

प्रयतिः –

सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "भोक्ता तत्त्व" निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "energy" निश्चित किया है। जबकि

मोनियर विलियम्स ने इस पद का "Offering", "intention", "will" आदि अनेक अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "impulse" अर्थ ग्रहण किया है।

अरूणानि –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का "अरूणानि रजांसि" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का "अरूणवर्णानि विकृतरूपाणि दिगन्तराणि" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने इस पद का "rednesses" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "red (colours) अर्थ निर्धारित किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है– "वात का वर्ण अरूण है, अर्थात् उस के घोडो का और वर्षा–ऋतु मे द्युलोक का वर्ण भी अरूण है। यहाँ पर वर्षा के मेघो का वर्ण है।" जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "ruddy hues" अर्थ निश्चित किया है।

मैक्डानल ने इस पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है–

"अरूणानि– alluding to ruddy hue of lightning, with which the Maruts are particularly associated"

पीटर्सन ने इसका अर्थ "reddening the sky" निश्चित किया है। यहाँ पर वेङ्कटमाधव का व्याख्यान अधिक समीचीन है।

वातस्य विष्ठाः –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का अर्थ "वातम् अनु सम् प्र ईरयन्ति नियुत । यद्वा आप विष्ठा इति" निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने "विशेषेण अवस्थिता पर्वताद्य· वातस्य वायोरनुगुण स प्रेरते सप्रगच्छन्ति। यदभिमुखो वायुर्वर्तते तदभिमुखा प्रकम्पन्त इत्यर्थ" व्याख्यान किया है। जबकि

ग्रिफिथ, लुड्विग तथा **पीटर्सन** ने इसका "the tracks of the wind" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

रॉथ तथा **गैल्डनर** ने इसका "all sorts of winds" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

प्रयति – ऋग्वेद १०/१२६/५

अरूणानि – ऋ० १०/१६८/१

वातस्य विष्ठा· – ऋ० १०/१६८/२

ग्रासमैन ने इस पद का "the wings of the wind" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इसका "the hosts of Vata" अर्थ निश्चित किया है।

मैक्डानल के व्याख्यान के अनुसार विष्ठा से ''वर्षा–जल'' अभिप्रेत है और यही व्याख्यान यहाँ पर अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

समनं न योषाः –

वेङ्कटमाधव ने इन पदो का ''समनमिव पति स्त्रिय'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायणाचार्य ने ''समन ने सग्राममिव एन वायु योषा, अश्वयोषितो वडवा । यद्वा समन धृष्ट पुरूष योषा कामिन्य इव एन वायु तरूगुल्मादिरूपा· स्त्रियोऽभिगच्छन्ति''। अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन ने समनम् पद का ''वर–वधू के प्रेमालिङ्गन का स्थान'' अर्थ ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का ''विवाह'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "an assembly" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

पीटर्सन ने इसका "the market-place" अर्थ निश्चित किया है। जबकि

मैक्डानल ने इस पद का "a festival" अर्थ निश्चित किया है।

यद्यपि इस पद का अर्थ सन्दिग्ध है, तथापि ''उत्सव'' अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

आत्मा –

वेङ्कटमाधव ने इस पद का ''प्राणभूत·'' अर्थ निश्चित किया है। जबकि

सायण ने इस पद का ''आत्मा जीवरूपेण तेष्ववस्थानात्'' अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रासमैन, पीटर्सन तथा **मैक्डानल** ने इसका अर्थ "breath" ग्रहण किया है। जबकि

गैल्डनर ने इस पद का "soul" अर्थ सुनिश्चित किया है। जबकि

ग्रिफिथ ने इस पद का "vital spirit" अर्थ निश्चित किया है।

प्रसङ्गानुसार वेङ्कटमाधव का व्याख्यान अधिक समीचीन है।

इस प्रकार उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रस्थ पदो का अर्थ-विनिश्चय की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ऋग्वेद संहिता के पौरस्त्य एव पाश्चात्य विभिन्न व्याख्याकारो ने ऋग्वेद के मन्त्रस्थ पदो का भिन्न–भिन्न अर्थविनिश्चय किया है।

समन न योषा. – ऋग्वेद १०/१६८/२

आत्मा – ऋ० १०/१६८/४

षष्ठ अध्याय मूल्याङ्कन

ऋग्वेद–सहिता के विभिन्न व्याख्याकारो की व्याख्या–पद्धतियो का भाषा, व्याकरण, विनियोग एव अर्थ विनिश्चय की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् मुझे पौरस्त्य एव पाश्चात्य भाष्यकारो की पृथक्–पृथक् भाष्यगत प्रमुख विशेषताएँ ज्ञात हुई।

ऋग्वेद-संहिता के पौरस्त्य व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों की प्रमुख विशेषताएँ–

पौरस्त्य भाष्यकारो की व्याख्या–पद्धतियो की पृथक्–पृथक् प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है –

यास्काचार्य की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

महर्षि यास्क का निरूक्त वैदिक व्याख्या के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

यास्काचार्य ने वेद मन्त्रो का भाष्य करते समय दो शैलियो को अपनाया है–

१. नैरूक्त शैली २. ऐतिह्य शैली

प्रथम नैरूक्त शैली मे शब्दो की निरूक्ति करने के पश्चात् धातु–प्रत्यय आदि का निर्देश किया जाता था और मूल अर्थ को स्पष्ट किया जाता था। यथा– 'दुहिता' शब्द की निरूक्ति दुहिता कस्मात् "दूरेहिता भवति दोग्धिर्वा" दुहिता क्यो कही जाती है ? क्योकि वह पुत्री दूर चली जाती है और जब तक घर मे रहती है तब तक गाय का दोहन भी करती है।

दूसरी ऐतिह्य शैली मे नित्य इतिहास की कल्पना की गयी है। देवताओ को ऐतिहासिक पुरूष स्वीकार किया गया है। उनके मत से वेद मे इतिहास अनुस्यूत है। छान्दोग्योपनिषद् और कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे इतिहास को पञ्चम वेद माना गया है। वेद के कोष और वेदार्थ करने मे व्याकारण से भी अधिक सहायक ग्रन्थ यास्काचार्य के निरूक्त ने भी वेद मे इतिहास को माना है। निरूक्त के कई स्थानो मे "तत्रेतिहासमाचक्षते" आया है। निरूक्त मे यास्क ने इतिषतसेन, शन्तनु, देवापि आदि के इतिहास का उल्लेख किया है। पिजवन पुत्र सुदास, कुशिक पुत्र विश्वामित्र आदि का भी विवरण यास्क ने दिया है। निरूक्त के तीसरे अध्याय मे यास्क ने प्रस्कण्व को "कण्वस्यपुत्र" लिखा है। निरूक्त के चौथे अध्याय मे "च्यवन ऋर्षिभवात" तथा नौवे में "भार्म्यश्वो भम्यश्वस्य पुत्र" इसी प्रकार "सन्त पन्तिमाम्" मन्त्र का अर्थ लिखने के बाद यास्क ने सायण की भॉति लिखा है– कुएँ मे गिरे हुए त्रित ऋषि को इस सूक्त का ज्ञान हुआ। इसी मन्त्र के नीचे यास्क ने लिखा है – "तत्र ब्रह्मेतिहास मिश्रं गाथा मिश्र भवति "अर्थात् इतिहासो, ऋचाओ और गाथाओ से युक्त वेद है। फलत यास्क के मत मे वेद मे इतिहास है इसी का प्रतिपादन करने वाली इनकी दूसरी शैली ऐतिह्य शैली है।

यास्क ने अपने भाष्य मे वेद–मन्त्रो का तीन प्रकार का अर्थ किया है–आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। वास्तव मे तीनो ही अर्थ जगत् से सम्बन्ध रखते है अत ठीक है, प्रत्येक मन्त्र का अर्थ भौतिक जगत् के अर्थ का बोधक है, देवता विशेष परक अर्थ भी उसमे निहित रहता है तथा परमात्मा का अर्थ भी वह देता है, परन्तु यास्क ने मुख्यत· आधिदैविक अर्थो को प्रधानता देकर मन्त्रो का भाष्य किया है।

यास्काचार्य ने ऋग्वेद के मन्त्रो को मण्डलानुसारी क्रम मे उद्धृत किया है। यास्काचार्य ने ऋग्वेद के मन्त्र को उद्धृत करके उस मन्त्र से सम्बद्ध मण्डल, सूक्त एव ऋचाड्क का उल्लेख अवश्य किया है। यास्काचार्य ने सायणाचार्य की भॉति ऋषि, देवता, छन्द तथा विनियोगादि का उल्लेख सर्वत्र नही किया बल्कि कही–कही किया है। इन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रो की सहिता को बिना स्वराड्कन के उद्धृत किया है, इन्होने मन्त्रो का पदपाठ नही किया है, अर्थात् यास्काचार्य ने मन्त्रो मे उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्प, प्रचय आदि स्वरो का स्वराड्कन भी नही किया है।

इन्होने मन्त्रो को लिखने के पश्चात् उसका संस्कृत–भाष्य प्रस्तुत किया है। यास्काचार्य ने मन्त्रार्थ के पूर्व ही वैदिक मन्त्रस्थ मुख्य पदो का सस्कृत मे निर्वचन तथा व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है, एव पदो के प्रकृति–प्रत्यय आदि का भी निर्देश किया है। इन्होने निर्वचन प्रस्तुत करने के पश्चात् हिन्दी मे मन्त्रार्थ एव भाष्यार्थ भी प्रस्तुत किया है। यास्काचार्य ने अपनी व्याख्या मे पाणिनीय सूत्रो का भी प्रसड्गानुसार उल्लेख किया है।

यास्क प्राय अर्द्ध ऋचा या उसके एक देश को उद्धृत करके व्याख्या करते है। इनकी व्याख्या की एक विशेषता यह भी है कि वे व्याख्या के बीच–बीच मे शब्दो के निर्वचन भी देते चलते है। सम्भवत निर्वचनो के आभाव में वे व्याख्या को पूर्ण मानते ही नही है। यास्क निर्वचनो को मन्त्र–व्याख्या मे बाधक न मानकर उन्हे व्याख्या का साधक एव पूरक मानते है। कही–कही निर्वचन की व्यग्रता के कारण यास्क मन्त्रो के अशो की व्याख्या भी छोड देते है।

यास्काचार्य ने अपनी ऋग्वेदीय व्याख्या मे वैयाकरण, नैदान, परिव्राजक, याज्ञिक, ऐतिहासिक आदि मतो का उल्लेख स्थान–स्थान पर मन्त्रो की व्याख्या मे किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ग्रन्थो के समर्थक आचार्यो के मतो का भी यथास्थान उल्लेख किया है।

यास्काचार्य ने मन्त्र की व्याख्या–विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से किया है, क्योकि इनके अनुसार मन्त्रों की व्याख्या पृथक्–पृथक् करके नही होनी चाहिए बल्कि परम्परागत रूप से प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिए। यास्क की अधिकाश व्युत्पत्ति और व्याख्याएँ ब्राह्मणग्रन्थो के आधार पर ही है।

यास्क ने वैदिक पदों को नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार भागों मे विभाजित करके इनके लक्षण तथा उदाहरण सहित व्याख्या की है। इनका कहना है कि सभी शब्द धातुज है, इसलिए एकमात्र शब्द के अर्थ को ही ध्यान मे रखते हुए उसकी परीक्षा करनी चाहिए। यास्क ने अपने निरूक्त मे एवं ऋग्वेदीय

मन्त्रो की व्याख्या मे भी प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति तथा तद्धित एव समासान्त आदि पदो का निर्वचन तथा व्याख्या प्रस्तुत की है।

इसके अतिरिक्त यास्क ने अपने निरूक्त के दैवतकाण्ड मे ऋग्वेदीय देवताओ की तथा देवतावाची शब्दो की व्याख्या, व्युत्पत्ति एव निर्वचन प्रस्तुत किया है। इन देवतावाची शब्दो के निर्वचन से पूर्व 'दैवत' तथा 'देवता' शब्द की परिभाषा की है तथा अनादिष्टदेवताक मन्त्रो के देवता ज्ञान का उपाय भी बताया है।

यास्क ने वेद के प्रत्येक शब्द को धातुज मानने के सिद्धान्त पर विस्तार से शास्त्रीय ढङ्ग से व्याख्या की है। यास्क ने मन्त्रो की सार्थकता के सिद्धान्त का भी विस्तार से प्रतिपादन किया है। वेद के सभी शब्दो के निर्वचन की अनिवार्यता के विषय मे विविध सिद्धान्तो की सोदाहरण चर्चा यास्क की व्याख्या–पद्धति मे प्राप्त होती है। यास्क के निरूक्त मे आध्यात्मिक दृष्टि से एकदेवतावाद, आधिदैविक दृष्टि ने त्रिविधदेवतावाद की धारणा उपलब्ध होती है।

यास्क ने निरूक्त मे लगभग ६०० मन्त्रो की पूर्ण रूपेण अथवा आशिक रूप से व्याख्या की है। व्याख्या करते समय इन्होने मन्त्रो के शब्द–क्रम को उसी प्रकार नियोजित किया है, जिस प्रकार वे ऋचाओ मे है। वैदिक शब्दो के उद्धरण को न देकर वे शब्दो के पर्याय को देकर अन्य पदो को जैसा का तैसा छोड देते है। यथा– वृक्षस्य नु ते पुरूहूत वया (६/२६/३) की व्याख्या 'वृक्षस्य इव ते पुरूहूत शाखा' की है जिसमे 'न' और 'वया' वैदिक शब्दों के 'इव' और 'शाखा' पर्याय लौकिक सस्कृत मे दिये गये है। यास्क ने अपनी व्याख्या मे पादपूरणार्थक निपातो को स्थान नही दिया है। यास्काचार्य ने शब्दो का निर्वचन करने मे 'वा' अव्यय का बहुत प्रयोग किया है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण निरूक्त मे मिलते है जिनसे व्याख्या के विकास का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है यद्यपि यास्क द्वारा की गई निष्पत्तियॉ एव व्याख्याऍ बहुत विस्तृत नही है, किन्तु वैदिक व्याख्या के क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यास्काचार्य का भाष्य अधिदेवपरक है। इसके अतिरिक्त क्वचित् इतिहासपरक अर्थ भी किया है।

अन्तत हम यही कहेगे कि वेद–भाष्य परम्परा मे यास्क का महत्त्व स्वय सिद्ध है यास्क ही वह प्रथम प्रामाणिक व्यक्ति है जिन्होने नवीन शैली के अनुसार दुरुह शब्दो का निर्वचन करके अर्थ–विनिश्चय किया है। यास्क का निरूक्त वेद भाष्यकारो के लिए "Blind Slick" के समान है।

आचार्य स्कन्दस्वामी की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

स्कन्दस्वामी जी का ऋग्भाष्य अत्यन्त विशद है। इसमे प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे सूक्त से सम्बन्धित ऋषि तथा देवता का उल्लेख किया गया है, तथा इसके बोधक प्राचीन अनुक्रमणियो के श्लोक उद्धृत किए गए है। ऋचाओ के शब्दानुक्रम के साथ ही भाष्य मे भी क्रम रखा गया है।

भाष्य याज्ञिक पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है। वेड्कटमाधव का ऋग्भाष्य ब्राह्मणग्रन्थो के अनुकूल वेदार्थ के प्रतिपादन का ज्वलान्त दृष्टान्त है।

सायणाचार्य की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

प्राचीन परम्परा पर आधृत होने के कारण सायण के भाष्य सर्वाधिक विश्वसनीय है। सायण की वैदिक–व्याख्या–पद्धति ''याज्ञिक'' है। सायण ने यज्ञो की दृष्टि से अपने भाष्यो को लिखा है। सायण के अनुसार वेदो का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा देवताओ का आह्वान करना है। सायण के भाष्य इसी दृष्टिकोण से लिखे गए है। इसीलिए पाश्चात्य भाष्यकारो ने सायण को ''याज्ञिक भाष्यकार'' कहा है।

वेदों के विषय को ज्ञान–विज्ञान, कर्म और उपासना इन चार काण्डो मे विभक्त किया जाता है। तथा इनमे तीन प्रकार के अर्थ –आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक कहे जाते है। सायण ने आधिदैविक अर्थात् याज्ञिक अर्थो और कर्मकाण्डों को प्रधानता देकर अपने भाष्य लिखे है।

भारतीय भाष्यकार सायण ने वेद–मन्त्रो की देवताओं की प्राकृतिक शक्तियो के रूप मे व्याख्या की है। वे प्राचीनतम धर्म के प्रतीक हैं उनका धर्म प्रकृति–पूजा है। सायण वेद–मन्त्रो की व्याख्या मे कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण को भी देखते हैं। सायण का लक्ष्य प्रकृति–पूजा के माध्यम से यज्ञ की ओर उन्मुख रहा है।

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के मन्त्रों को मण्डलानुसारीक्रम में विभाजित करते हुए व्याख्या तथा अनुवाद किया है। इन्होने सर्वप्रथम मण्डल, अनुवाक एव सूक्त–सख्या को अड्कित किया है। सायण ने मन्त्रो को उद्धृत करने के पूर्व ही सूक्त का नाम, ऋषि–नाम, छन्द–नाम एव देवता के नाम को सर्वप्रथम सस्कृत लिखा है तथा मन्त्रों के विनियोग का उल्लेख भी मन्त्र लिखने के पूर्व ही किया है।

इन्होंने ऋक्–सहिता को स्वराड्कन सहित उद्धृत किया है। ऋक्–सहिता के पश्चात् स्वराड्कन सहित पद–पाठ को भी लिखा है। पद–पाठ लिखने के पश्चात् सायण ने मन्त्र का वैदिक सस्कृत मे भाष्य लिखा है। मन्त्रो का भाष्य करते समय स्थान–स्थान पर प्रसड्गानुसार इन्होने मन्त्रस्थ पदों की व्याकरणात्मक, व्याख्यात्मक एव अर्थविनिश्चयात्मक टिप्पणी भी प्रस्तुत की है। सायणाचार्य ने अन्त मे ऋग्वेदीय मन्त्रो की वर्णाक्षरक्रमानुसार एक अनुक्रमणिका भी प्रस्तुत की है।

सायण भाष्य की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें लगभग प्रत्येक सूक्त तथा मन्त्र के विषय में ऐसी समस्त सूचना देने का प्रयास किया गया है जो उस समय उपलब्ध हो सकी। यथा–ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के भाष्य के आदि में सायण कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार उस सूक्त का प्रतीक, ऋचाओ की सख्या, ऋषि, छन्द तथा देवता का परिचय देते है। तदनन्तर उस सूक्त या उसकी किसी ऋचा के विनियोग के विषय मे ब्राह्मण या श्रौतसूत्र मे जो सूचना उपलब्ध है तो उसे भी सायण उद्धृत करते है। यदि उस सूक्त या

उसकी किसी ऋचा के विनियोग के विषय मे ब्राह्मण या श्रौतसूत्र मे जो सूचना उपलब्ध है उसे भी सायण उद्धृत करते है। यदि उस सूक्त या उसकी ऋचा से सम्बद्ध कोई कथा किसी ब्राह्मण, वृहद्देवता या अन्य किसी ग्रन्थ में मिलती है, तो उसे भी सायण अपने भाष्य मे प्रस्तुत करते है।

मन्त्रो का भाष्य करते समय सायण उनके प्रत्येक पद का सरलार्थ देते है। यदि किसी प्राचीन ग्रन्थ में उस मन्त्र का या उसके किसी शब्द का या उसमे वर्णित विचार का व्याख्यान मिलता है, तो सायण उसे भी अपने व्याख्यान मे उद्धृत करते है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे जिन मन्त्रो अथवा शब्दो के विषय मे जो सामग्री उपलब्ध होती है उसे उन्होने अपने भाष्यों में ग्रहण किया है।

यास्काचार्य द्वारा व्याख्यात मन्त्रो पर भाष्य लिखते समय सायण ने यास्क की व्याख्या को पूर्णरूपेण उद्धृत किया है। सायण अपने भाष्यो मे निघण्टुगत उद्धरणो को उद्धृत करना कभी नही भूलते है। सायणाचार्य ने अपनी वैदिक व्याख्या–पद्धति मे परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि मे इतिहास, पुराण, स्मृति आदि से भी यथावसर प्रमाण दिया है। मन्त्रो की व्याख्या के अनन्तर सायण ने पदो का निर्वचन उनकी सिद्धि तथा स्वर–प्रक्रिया के प्रतिपादन मे पाणिनीय सूत्रो तथा कही–कही प्रातिशाख्य की सहायता भी ली है।

सायण मीमासा दर्शन के प्रगाढ पण्डित थे। मीमांसा के विषयो का निवेश इनके भाष्यो मे मिलता है। सायण का यज्ञो से विशेष परिचय था अत· याज्ञिक पद्धति से ही इन्होने वेदो का व्याख्यान किया है, और याज्ञिक पद्धति को ही अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। सायण ने अपने भाष्यो मे कल्पसूत्रो का उपयोग विस्तार से किया है तथा कल्पसूत्र विषयक आवश्यक तथ्यो का वर्णन भी सर्वत्र किया है। मीमासा के विषय का निवेश भाष्य के आरम्भ वाले उपोद्घात मे बडे सुन्दर और बोधगम्य भाषा मे किया है। वेद विषयक समग्र विषयो का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्घाटन इन्होने अपने भाष्य मे किया है।

सायण द्वारा ऋग्वेदीय मन्त्रों में दी गई व्युत्पत्तियो मे भी कुछ प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगत होती है– ऋग्वेद के प्रथमाष्टक में आए प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि–परम्परा से दी गई है और सूत्रो का उद्धरण भी दिया गया है। शेष अष्टको में पुनरावृत्ति के भय से पूरी प्रक्रिया न दिखाकर आवश्यक सूत्रो का निर्देश मात्र कर दिया गया है।

स्थान–स्थान पर आरण्यको, ब्राह्मणो, अनुक्रमणी, कल्पसूत्र, उपनिषदो तथा पुराण आदि के कथन उद्धृत हैं कुछ व्याख्या की पुष्टि के लिए तथा कुछ व्युत्पत्ति निर्धारण के लिए। ध्वनि–परिवर्तन आदि में प्रातिशाख्यों का सहारा लिया गया है। स्वर–निर्माण मात्र पाणिनि के आधार पर ही नहीं, अपितु शान्तनवाचार्य के फिट् सूत्रों, अन्य संहिताओ में उपलब्ध स्वरों तथा इतर आचार्यो के स्वर विधानो से भी किया गया है।

अपनी व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए, व्युत्पत्ति की सारवत्ता के लिए अथवा मतान्तर दिखाने के उद्देश्य से पूर्ववर्ती भाष्यकारों स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, माधव, भट्टभास्कर मिश्र, आग्रायण आदि का अनुसरण

करत हुए भाष्य लिखा है। स्वर–चिन्तन मे कही–कही प्रलम्ब शास्त्रार्थ की प्रक्रिया अपनाई गयी है। शाकटायन के उणादिसूत्रो की प्रचलित प्राय सभी वृत्तियो का उपयोग किया गया है। व्युत्पत्ति–दिखाते समय कही केवल प्रकृति का उल्लेख कर दिया गया है और कही प्रत्यय मात्र का। व्युत्पत्ति–चिन्तन के समय शाकल्य के पदपाठ तथा उसकी सगति और विसंगति को भी ध्यान मे रखा गया है। कही–कही किसी शब्द की कोई व्युत्पत्ति न देकर उसे पृषोदरादि घोषित कर दिया गया है।

सायण ने प्राय व्युत्पत्ति प्रदर्शन मन्त्र–व्याख्यान के अन्त मे किया है पर कही–कही अर्थ देते समय बीच मे भी। निरसन्देह सायण न केवल वैदिक वाड्मय के एक समर्थ भाष्यकार है अपितु व्याकरण के प्रबल पण्डित भी है। वे परोक्ष–प्रिय वैदिक भाषा के सावित्र रूप के अद्वितीय मर्मज्ञ है। फिर भी यदि कही शब्द–सिद्धि की प्रक्रिया, प्रत्यय की कल्पना तथा स्वरनिर्णय की त्वरा मे विचलन दृष्टिगत होता है तो इससे सायण का महत्त्व कम नही होता अपितु उसे उपलब्ध सामग्री का किसी न किसी रूप मे उपयोग करने के लोभ की बाध्यता तथा अपने ढग से व्याख्या करने की अद्वितीय क्षमता का ही परिचायक समझना चाहिए। सायण को पृथक् रख कर वेद के निगूढ अन्तस् को समझ पाना सरल नही होगा। भारतीय वेद भाष्यकर्त्ताओ मे सायण का स्थान मूर्धन्य है। इन्होंने समस्त वैदिक सहिताओ के ऊपर भाष्य लिखे है।

सायण के वेद भाष्य–कार्य का मूल्याड्कन करते हुए हम कह सकते है कि इन्होने ऋग्वेदीय मन्त्रो के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनो ही प्रकार के अर्थो का यथास्थान उल्लेख किया है। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाली समाधि–भाषा, परकीय–भाषा तथा लौकिक–भाषा तीनों ही प्रकार की भाषाओ का रहस्य सायण ने स्पष्ट किया है। इसीलिए यह कहना कि इन्होने केवल अधियज्ञपरक वेदभाष्य किया है उचित नही है। इन्होंने तीनों प्रकार से अर्थ किए है, किन्तु सायण की दृष्टि कर्मकाण्डीय अधिक रही है अतः यज्ञ परक भाष्य का प्राधान्य होना भी आवश्यक था, क्योकि सायण के समय मे कर्मकाण्ड का बोलबाला था।

सायण किसी भी सूक्त में देवशास्त्र (Mythology) के आने पर उसको वे पूर्णत· स्पष्ट करते हुए आख्यायिका को उद्धृत कर देते है। सायण प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य से पूर्व वे उपोद्धात मे विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते है।

सायण के भाष्य की प्रमुख विशेषता याज्ञिक पद्धति को महत्त्व प्रदान करना है, जो उनके पहले दीर्घ काल से चली आ रही थी। सायण ने ऋग्वेद के प्रारम्भ मे प्रथम मण्डल मे ही प्राय अपनी व्याख्या विशेष विस्तार के साथ की है यहॉ पर ही इन्होंने पदश· व्याख्या की है, जिसमे शब्द–स्वरूप, व्युत्पत्ति, स्वराघात आदि के साथ अर्थादि का सम्यक् विवेचन किया है। किन्तु परवर्ती मण्डलो मे मन्त्रों की सक्षिप्त व्याख्या ही प्राय प्रस्तुत की गयी है।

सायण की व्याख्या–पद्धति गुणवती होने पर भी वह दोषों से सर्वथा मुक्त नही रह सकी। कभी–कभी तो सायण वैदिक ऋचा की विशद व्याख्या करते है किन्तु कभी–कभी वह ऋचा के मौलिक अर्थ से दूर हटते

हुए दिखाई देते है। परन्तु कतिपय दोषो के होते हुए भी सायण भाष्य का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। अत यदि सायण–भाष्य को वेदार्थ समझने की कुञ्जी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

माधव भट्ट की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषाएँ –

उद्गीथाचार्य के पश्चात् ऋग्वेद के भाष्यकारों मे माधव भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। इनका ग्रन्थ "ऋग्वेद व्याख्या" जिसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १ से १२१ सूक्त तक का भाष्य है। इसमे शब्दो के शब्दानुक्रम के साथ ही व्याख्या की गई है। व्याख्या मे स्वर–सङ्केत पर विशेष ध्यान दिया गया है।

प्रकरण के निमित्त अन्त साक्ष्य का अवलम्बन लिया गया है। यास्क, शौनक आदि आचार्यो के मत का अनुसरण किया गया है। संदिग्ध स्थलो को स्वरभेद और प्रातिशाख्य भेद से विशद करने की इनकी शैली अनुठी है यद्यपि भाष्य लघुकाय है, तथापि नि सन्दिग्ध अर्थ दिये हैं। माधवभट्ट ने भी याज्ञिक पद्धति से ही मन्त्रों का भाष्य लिखा है। इनका भाष्य भी स्कन्दस्वामी की भॉति यज्ञपरक है।

आत्मानन्द की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

आत्मानन्द जी ने ऋग्वेद के अन्तर्गत 'अस्यवामीय' सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इनका भाष्य आध्यात्म–विषयक है, परन्तु मूलरहित नहीं है। इनके प्रत्येक मन्त्र का अर्थ परमात्मा को लक्ष्य कर रहा है। यह इस भाष्य की सबसे बडी विशेषता है। इस प्रकार आत्मानन्द जी ने आध्यात्मिक पद्धति से ऋग्वेद के मन्त्रों का भाष्य किया है।

आनन्दतीर्थ की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

इनका भाष्य ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के केवल ४० सूक्तों का 'छलारी टीका' के नाम से प्राप्त है। इन्होने अपने भाष्य में आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक पद्धतियो का समावेश किया है। इनका भाष्य छन्दोबद्ध है तथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्तो पर ही है।

आनन्दतीर्थ ने वेदों मे भगवान् नारायण का सर्वत्र प्रतिपादन देखना नितान्त युक्तियुक्त समझा है। समस्त वेद तथा शास्त्र का अभिप्राय उसी पूर्ण पुरूष के प्रतिपादन से है। इस प्रकार आनन्दतीर्थ जी ने आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक तीनो पद्धतियो से मन्त्रो का भाष्य प्रस्तुत किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

दयानन्द जी ने अपने ऋग्भाष्य मे मन्त्रो को मण्डल एवं अष्टक दोनो ही क्रमो में विभाजित किया है। दयानन्द जी ने मन्त्र को उद्धृत करने के पूर्व मण्डल, अनुवाक एवं सूक्त सख्या का उल्लेख किया है, तथा पृष्ठ भाग में ऊपर अष्टक, अध्याय एवं वर्ग की संख्या को भी अङ्कित किया है। दयानन्द जी ने सर्वप्रथम मण्डल–संख्या को लिखा है, इसके पश्चात् इन्होने सूक्त की कुल ऋचाओं की संख्या का योग लिखकर ऋषि–नाम, देवता–नाम, छन्द–नाम एव षडज रिषभ, गन्धार आदि स्वर के नामो का भी उल्लेख किया है।

इन्होंने प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ मे मन्त्र के भाष्य मे प्रकट किए जाने वाले विषय का उल्लेख हिन्दी भाषा मे किया है। इसके पश्चात् ऋक्सहिता को स्वराड्कन सहित मूलरूप मे मन्त्र–सख्या सहित उद्धृत किया है। इन्होंने पद–पाठ को भी स्वराड्कन सहित प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् दयानन्द जी ने 'पदार्थ' शीर्षक के अन्तर्गत मन्त्र का सस्कृत मे वृहद् भाष्य लिखा है। अपने भाष्यो मे इन्होने यास्क के निर्वचन को एव शतपथ–ब्राह्मण के अशो को भी स्थान–स्थान पर सन्दर्भानुसार एव प्रसङ्गानुसार उद्धृत किया है।

'पदार्थ' शीर्षक के अन्तर्गत संस्कृत भाष्य करने के पश्चात् इन्होने मन्त्र का अन्वय भी किया है, तत्पश्चात् सस्कृत मे भावार्थ लिखा है, भावार्थ लिखने के पश्चात् 'पदार्थान्वय–भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी मे भाष्य एव अनुवाद लिखा है, तत्पश्चात् 'भावार्थ–भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी मे मन्त्र का भावार्थ भी प्रस्तुत किया है।

सूक्त एवं वर्ग विशेष के सम्पूर्ण मन्त्रों का भाष्य लिखने के पश्चात् अन्त में सूक्त एव वर्ग की समाप्ति का भी उल्लेख किया है। दयानन्द जी ने मन्त्रान्वय के पश्चात् मन्त्रस्थ प्रमुख अलड्कारो का भी उल्लेख किया है। दयानन्द जी ने अपने 'ऋग्वेद–भाष्य' के नवम परिशिष्ट मे ऋग्वेद के मन्त्रो की वर्णक्रमानुसार एक सूची भी पृष्ठसख्या का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत की है।

दयानन्द जी ने ऋक् और यजु के भाष्यो मे प्रधानरूप से सर्वजनोपयोगी विषयो का प्रतिपादन किया है। भाष्यकार के इस प्रयत्न से 'वेद का मानव–जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध है' यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के उषस् सम्बन्धी सूक्तो के भाष्य को ही देखे तो वहाँ लुप्तोपमादि अलड्कारो से 'स्त्रियों को किन–किन शुभ गुणो से युक्त होना चाहिए' विषय का हृदयग्राही वर्णन किया है। यह दयानन्द जी के वेदभाष्य का अन्य वेदभाष्यो से महान् अन्तर है। अन्य वेदभाष्यो का एक और वैशिष्ट्य इस भाष्य में है–

प्रायः सभी वेदभाष्यकार मन्त्रो की व्याख्या लौकिक काव्यो के अन्वयपूर्वक करते है, इस विधि मे दोष है। प्रथम–मन्त्रार्थ किसी एक ही प्रक्रिया तक सीमित रह जाता है। दूसरा–मन्त्रो मे अर्थ की प्रधानता की दृष्टि से पाद या वाक्य के आरम्भ मे प्रयुक्त उदात्त क्रियाओं का मुख्यार्थ प्राय नष्ट हो जाता है, इसलिए दयानन्द निरुक्तादि प्राचीन मन्त्र–व्याख्याओ के समान अनेकार्थकत्व द्योतन और मुख्यार्थ के रक्षण के लिए पहले मन्त्रपद के क्रमानुसार पदार्थ निरूपण करते हैं। पदार्थ का पृथक् कथन होने से पूवोक्त दोनों दोष दूर हो जाते हैं। वर्तमान विद्वान् जो बिना अन्वय के मन्त्रार्थज्ञान में असमर्थ है, उनके लिए भाष्यकार पदार्थ के पश्चात् अन्वय का निरूपण करते है। जो साधारण संस्कृतज्ञ अन्वय से भी मन्त्रार्थज्ञान मे समर्थ नही हो सकते उनको मन्त्र का अभिप्राय बताने के लिए भावार्थ दिखाते हैं, इतना ही नहीं, जैसे लौकिक ग्रन्थो मे अगले सन्दर्भ मे कहे जाने वाले अभिप्राय को सरलता से जताने के लिए आरम्भ में शीर्षक (Heading) दिया जाता है, उसी प्रकार मन्त्र के भाष्य में प्रकट किए जाने वाले विषय को प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में दर्शाते है। इस प्रकार

भाष्यकार ने सभी प्रकार के सस्कृतज्ञो को सुख से मन्त्रार्थ का बोध कराने के लिए चार प्रकार से प्रयत्न किया है।

दयानन्द जी के भाष्य का एक और वैशिष्ट्य है– सभी प्राचीन वेदभाष्यकार यद्यपि मन्त्र के प्राचीन प्रामाणिक पदपाठ के अनुसार प्राय· व्याख्यान करते है तथापि वे उस पदपाठ को उपस्थित नही करते (छपे हुए ग्रन्थो मे जो पदपाठ मिलता है वह सम्पादको द्वारा निर्दिष्ट है।) दयानन्द जी ने प्रतिमन्त्र–प्राचीन पदपाठ का भी निर्देश किया है। इसमे स्थान–स्थान पर भेद मिलता है, वह प्राय लिपिकर एव मुद्रको के प्रमाद से हुआ जानना चाहिए।

जो लोग सस्कृत नही जानते वे वेद के अभिप्राय से सर्वथा वञ्चित न रह जावे, इसलिए अन्त मे सान्वय पदार्थ और भावार्थ हिन्दी भाषा मे भी कर दिया है। भारतवर्ष मे वेद का हिन्दी भाषा मे अर्थ एव भाष्य प्रकाशित करने का प्रथम श्रेय श्री दयानन्द जी को ही प्राप्त है। वैदिक भाष्यकार दयानन्द जी ने वेद के प्रचार के लिए व्यावहारिक और पारमार्थिक अर्थयुक्त जो भाष्य रचा है, उसमे ये पूर्णरूप से सफल हुए है।

दयानन्द जी ने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ एव भावार्थ करने से पहले इस बात का भी उल्लेख किया है कि मन्त्र मे किस विषय का वर्णन है तथा मन्त्र मे किन तथ्यो का वर्णन किया गया है, इन सभी का निर्देश इन्होने मन्त्र के पहले सन्दर्भ तथा प्रसड्ग के रूप मे सड्केत किया है। इन्होने हिन्दी भाषा मे भी ऋग्वेद का भाष्य लिखा है।

दयानन्द जी ने वेदभाष्य करते समय रावण, उव्वट, सायण और महीधर के भाष्यो का उपयोग नही किया है, अपितु वेद, वेदाड्ग ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणो के अनुसार उन्होने अपने भाष्य लिखे है। स्वामी जी की दृष्टि से उव्वट, सायण, महीधर के भाष्य मूलार्थ और सनातन वेद व्याख्यानो के विरूद्ध है तथा आधुनिक विद्वानो द्वारा किये जाने वाले भाष्य भी अपूर्ण है। इनके अनुसार सायणाचार्य ने क्रियाकाण्ड को ही प्रधानता दी है, कही–कही सायण ने अर्थ भी ठीक नही किये है, महीधर का भाष्य मूल वेद के विरूद्ध है। इन सभी कारणो का उल्लेख करते हुए स्वामी जी ने अपने भाष्य को लिखने से पूर्व अपने भाष्य की आवश्यकता पर विचार करते हुए लिखा है कि –

"इस भाष्य मे पद–पद का अर्थ पृथक्–पृथक् क्रम से लिखा जावेगा कि जिससे नवीन टीकाकारो के लेख से जो वेदो मे अनेक दोषो की कल्पना की गई है, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थो का प्रकाश हो जायेगा तथा जो–जो सायण, माधव महीधर और अग्रेजी अन्य भाषा मे भाष्य किये जाते व किये गये हैं, तथा जो–जो देशान्तर भाषाओ मे टीकाएँ है, उन अनर्थ व्याख्यानो का निवारण होकर मनुष्यो को वेदो के सत्य अर्थो के देखने से अत्यन्त सुख–लाभ पहुँचेगा, क्योकि बिना 'सत्यार्थप्रकाश' के देखे मनुष्यो की भ्रम निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। जैसे प्रमाण्या– प्रामाण्य विषय मे सत् और असत् कथाओ के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहॉ समझ लेना चाहिए, इत्यादि प्रयोजनों के लिए इस वेदभाष्य को बनाने का आरम्भ किया है।"

स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य मे वेदो को अनादि सिद्ध किया है, इनके अनुसार वेदो मे लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है तथा वेदो के सभी शब्द यौगिक तथा योगरूढ हैं। इन्द्र, वरूण अग्नि आदि देवता–वाचक शब्द यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक है।

स्वामी जी ने अपने भाष्य मे आध्यात्मिक शैली को अपनाया है। इनके अनुसार वेदो मे आये हुए नाम भौगोलिक या ऐतिहासिक नही है अपितु यौगिक है। वेद मे आया हुआ 'वशिष्ट' शब्द ऋषि के लिए नही है। अपितु वह 'प्राण' का बोधक है, इसी तरह 'भारद्वाज का अर्थ ऋषि भारद्वाज न होकर मन और 'विश्वामित्र' का अर्थ 'ऋषि' न होकर 'कान' है।

इस प्रकार वेदोल्लिखित समग्र उर्वशी, पुरूरवा, नहुष, यम, सुदास आदि के नाम एव कर्म नित्य है और वेदो मे नित्य इतिहास है, पौराणिक इतिहास नही, पुराणादि मे इन नामो को लेकर इतिहास रचना की गई है। वेदो मे अनित्य इतिहास का अभाव है।

स्वामी जी के वेदभाष्य के ऊपर विद्वानो का कुछ मतभेद है उनका कहना है कि यास्क ने वेद के मन्त्रो के तीन प्रकार से अर्थ किये है – आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, ये तीनो वस्तुत यथार्थ है । अत इन्द्रादि देवो से केवल परमेश्वर का अर्थ लिया जाना उचित नही है। इसी प्रकार अग्नि भौतिक अग्नि के साथ देव का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है, साथ ही साथ स्वामी जी ने केवल आध्यात्मिक अर्थ को ही स्वीकार किया है, वह एकाङ्गी विचार है।

'वैदिक–विज्ञान और भारतीय सस्कृति' के लेखक शिवशङ्कर काव्यतीर्थ (पृ० १८–१६) स्वामी जी के वेदभाष्य पर विचार करते हुए लिखते है कि– "वैज्ञानिक युग मे उत्पन्न होने के कारण इनकी दृष्टि विज्ञान पर थी वह स्वाभविक ही था। साथ ही वैज्ञानिक अर्थ प्रकट करने का इन्होने यत्न भी किया। स्वामी जी के समय मे भी एक बडी अडचन यह थी कि अन्य विद्वानो की दृष्टि वेदो पर नही थी तब बिना सहायता और गुरूपरम्परा के ज्ञान के, केवल व्याकरण ज्ञान के बल पर जो कुछ कह सके, वह भी बहुत किया। दूसरी बात यह थी कि स्वामी जी ने कई कारणो से अपने कुछ सिद्धान्त नियत कर लिये थे। उन पर ठेस नही लगने देना चाहते थे। स्वतन्त्र देवताओ की स्तुति–प्रार्थना वेदो मे स्वीकार कर लेने पर कही प्रतीकोपासना सिद्ध न हो जाय, इस भय से इन्द्र, अग्नि, वरूण आदि देवता वाचक शब्दो का अर्थ उन्होने बहुधा 'ईश्वर' ही कर दिया है, और इस प्रकार देवता–विज्ञान इनके भाष्य मे अप्रकाशित ही रह गया . मन्त्रो मे 'विष्णु' आदि शब्दो का अर्थ स्वामी जी ने परमात्मा ही किया है। यह भी देखा जाता है, कि विज्ञान के मूल सिद्धान्तो को प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक बातो को अपने अभिमत आचरणो को और प्रचलित उपभोग की सामग्री को वेद–मन्त्रो मे दिखाने का उन्हे विशेष ध्यान था, इसीलिए जिन मन्त्रों का स्पष्टतया वैज्ञानिक अर्थ हो सकता था, उनको भी उन्होने सामाजिक प्रक्रिया पर ही लगाया है।"

किन्तु नि.सन्देह यह सत्य है कि स्वामी जी ने आधुनिक काल में वेदों के लिए जो कार्य किया है, वेदों की जो पुन प्रतिष्ठा की है, उनके पठन–पाठन का जो प्रचार किया है, वेदो के जो मौलिक भाष्य किए है वे

अद्वितीय है। स्वामी जी ने कृत्रिम मतवादो से हटकर वेद को उसके मौलिक स्वरूप मे सार्वभौम और उदात्त मानव धर्म के प्रतिपादन की जो प्रतिष्ठा की है, वह अपने मे पूर्ण है।

वैदिक व्याख्या पद्धति के सन्दर्भ मे आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाने का सर्वप्रथम उदाहरण दयानन्द सरस्वती का है। इन्होंने वेद–मन्त्रो के अर्थो का परिचय देने के लिए पहले ''ऋग्वेदभाष्य–भूमिका'' नामक पुस्तक लिखी और इसमे ये बताया कि वेदो मे क्या है तथा वैदिक मन्त्रो की व्याख्या किस आधार पर करनी चाहिए।

इनके अनुसार वेदो के सभी शब्द यौगिक तथा योगरूढ है, रूढ नही यह सिद्धान्त स्वामी जी की अर्थनिरूपण–पद्धति की आधारशिला है। स्वामी जी ने वेदो की व्याख्या मे प्राचीन काल से चली आती हुई परिपाटी को नही माना और अनेक युक्तियो से अपने पक्ष को प्रमाणित किया है।

ऋषि दयानन्द जी ने बहुत प्राचीन भाष्यकारो, यास्क, स्कन्दस्वामी आदि के मतो को तो ग्रहण किया है। परन्तु रावण, उव्वट, महीधर, सायण आदि के अर्थो का दृढता से सप्रमाण खण्डन किया है। उनका कहना है कि सायण ने वेदो के श्रेष्ठ अर्थ को जानकर यह कहा है कि ''सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते है'' सायण की यह व्याख्या मिथ्या है।

वैदिक मन्त्रो के विषय मे उनके विचार स्वतन्त्र है। इन्होने वेदो मे मनुष्यो की मान्यता क्या है? इसकी खोज की। मनुष्य क्या है? मनुष्य का अस्तित्व, जीव के चिह्न, मनुष्य का अधिकार, मनुष्य के कर्त्तव्य, मनुष्यो की समानता, इत्यादि का उद्घाटन वैदिक मन्त्रो मे किया है।

कर्मफल तथा ईश्वरीय न्याय–व्यवस्था का दार्शनिक विश्लेषण इनकी व्याख्या मे प्राप्त होता है। ईश्वर विषयक दयानन्द जी की अपनी मान्यताये है। सृष्टि रचयिता ईश्वर, सृष्टि रचना का प्रयोजन ईश्वर को मानने से सामाजिक लाभ, आध्यात्मिक चिन्तन आदि आध्यात्मिक दृष्टिकोणो को अपनी व्याख्या मे प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार वेदो की व्याख्या का एक अनोखा ढङ्ग तथा अद्वितीय विचारो की प्रस्तुति इनकी व्याख्याओ मे उपलब्ध होती है। इनकी व्याख्या–पद्धति दार्शनिक तथा आध्यात्मिक है। अत उपर्युक्त विशिष्टताओ के आधार पर हम ये कह सकते हैं कि दयानन्द जी ने दार्शनिक एव आध्यात्मिक पद्धति से ऋग्वेद का भाष्य किया है।

श्री अरविन्द स्वामी की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

श्री अरविन्द की वैदिक व्याख्या–पद्धति आध्यात्मिक तथा मनो रहस्यवादी है। इन्होंने ऋग्वेदीय मन्त्रो के प्रति आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी दृष्टिकोण अपनाया है। श्री अरविन्द वर्तमान काल के मान्य तत्त्वचिन्तको, आध्यात्म एव रहस्य साधको मे मूर्धन्य है।

श्री अरविन्द जी ने 'Hymns to the Mystic Fire' नामक अपनी पुस्तक मे ऋग्वेद के सम्पूर्ण अग्नि सूक्तो का अनुवाद अग्रेजी भाषा मे किया है। श्री अरविन्द स्वामी ने ऋग्वेद की ऋचाओ का मण्डलानुसारी क्रम से

अनुवाद प्रस्तुत किया है। इन्होने सर्वप्रथम मण्डल–सख्या, ऋषि–नाम तथा सूक्त–सख्या को हिन्दी मे लिखा है, तथा अग्रेजी अनुवाद के पूर्व भी अग्रेजी मे भी मण्डल–सख्या, सूक्त–सख्या एव ऋषि के नाम का उल्लेख किया है। इन्होने सूक्त को अग्रेजी मे 'Sukta' ही लिखा है।

इसके पश्चात् अरविन्द जी ने एक सूक्त विशेष के अन्तर्गत आने वाली सम्पूर्ण ऋचाओ को मूल रूप मे सस्कृत मे मन्त्र–सख्या सहित बिना स्वराड्कन के उद्धृत किया है, तत्पश्चात् क्रम से उस सूक्त विशेष की सम्पूर्ण ऋचाओ का अग्रेजी मे अनुवाद किया है। इन्होने मन्त्रो का पद–पाठ नही किया है।

इन्होने मण्डल–सख्या एव ऋषि के नाम का उल्लेख प्रारम्भिक अनुक्रमणिका मे भी किया है किन्तु इसमे सूक्त–सख्या को नही लिखा है। श्री अरविन्द जी ने प्रारम्भिक अनुक्रमणिका मे मन्त्रो का मण्डलानुसारी विभाजन करते हुए ऋषि के नामो के अनुसार भी सूक्तो का विभाजन किया है। यथा– प्रथम मण्डल मे मधुछन्दा के सूक्त, मेधातिथि के सूक्त, कण्व के सूक्त, द्वितीय मण्डल मे गृत्समद के सूक्त आदि।

श्री अरविन्द जी ने मन्त्रो का अग्रेजी मे अनुवाद करने के पश्चात् अनुवाद मे आने वाले अग्रेजी के प्रमुख शब्दो की ही टिप्पणी अनुवाद के अन्त मे की है तथा शब्द विशेष के वैकल्पिक अर्थो का भी उल्लेख टिप्पणी मे किया है। इस प्रकार श्री अरविन्द स्वामी ने ऋग्वेद के दसो मण्डल मे आने वाले सम्पूर्ण अग्नि सूक्तो का अनुवाद अंग्रेजी भाषा मे किया है।

श्री अरविन्द का प्रत्येक मन्त्र के पीछे आध्यात्मिक दृष्टिकोण है इसीलिए इनके अनुसार सभी मन्त्रो मे कुछ न कुछ आध्यात्मिक रहस्य छिपा हुआ है। इनके मतानुसार वेदो के प्रति असीम श्रद्धा से ही उनके अर्थ स्वत खुलते है। वेद के अर्थ रहस्यात्मक तथा निगूढ है। इसकी सूचना स्वय वेदो से हमे प्राप्त होती है। वैदिक– ऋषियो की यह दृढ धारणा थी कि मन्त्रो का उन्मेष चेतना के निगूढ तथा अन्तरतम स्तरो से होता है इसलिए उनमे निगूढ ज्ञान की निधि विद्यमान् है।

वैदिक मन्त्रो के शब्द किसी आध्यात्मिक तत्त्व के प्रतीक है – वेद मे 'गौ' प्रकाश का प्रतीक है, वैदिक 'अश्व' शक्ति, आध्यात्मिक सामर्थ्य तथा तपोबल का प्रतीक है 'घृत' का अर्थ 'प्रकाश' भी हो सकता है। 'अग्नि' का अर्थ केवल वाह्य अग्नि से न होकर अन्त स्फुरित होने वाले प्राण से है।

श्री अरविन्द के अनुसार वेदो मे 'रहस्यवादी दर्शन और गुप्त सिद्धान्त सम्भूत है। मन्त्रो के देवी–देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के चिह्न है और सोम अनुभूति का चिह्न है। श्री अरविन्द जी ने धी, मति, ऋतम् मनीषा, मनीषी, विप्र, प्रार्थना आदि शब्दो मे मनोवैज्ञानिक रहस्यो का उद्घाटन किया है।

श्री अरविन्द की दृष्टि मे वेद सिद्धो की वाणी है और वह अन्तर्जगत् के आध्यात्मिक तथ्यो का ही निरूपक है। इस निरूपण मे जिन सामान्य शब्दो का प्रयोग वेद करता है, उनका अर्थ नितान्त गूढ, असामान्य तथा अन्त स्तर की साधना पर आधारित है। वेदो का अर्थ मुख्यत आध्यात्मपरक तथा रहस्यवादी है। इस

दृष्टिकोण से श्री अरविन्द की व्याख्या–पद्धति की ओर विद्वानों का झुकाव एव आकर्षण होना सर्वथा स्वाभाविक है।

इस प्रकार श्री अरविन्द जी की ऋग्वेदीय व्याख्या की प्रमुख विशेषता यही है कि सभी मन्त्रो मे आध्यात्मिकता, नैतिकता, दार्शनिकता, गूढ रहस्यात्मकता, मनोवैज्ञानिकता तथा सौन्दर्यबोध का सिद्धान्त है।

ऋग्वेद-संहिता के पाश्चात्य व्याख्याकारों की व्याख्या-पद्धतियों की प्रमुख विशेषताएँ–

पाश्चात्य भाष्यकर्ताओ ने वेदभाष्य मे दो शैलियो को अपनाया है –

१. प्रथम शैली वह थी जो भारतीय विद्वानो के भाष्यो की उपेक्षा कर उन्ही के अनुरूप भाष्य करते थे। इन भाष्य कर्ताओ का कहना था कि भारतीय विद्वान् हमारी अपेक्षा वेदो के अधिक निकट है।

२. द्वितीय शैली प्रथम शैली के ठीक विपरीत है। इस द्वितीय शैली को मानने वाले पाश्चात्य भाष्यकारो जो कि भारतीय भाष्यो की उपेक्षा करते है और निरूक्तकार को भी यह मानते हैं कि उनके समय तक वेदो का ठीक अर्थ लुप्त हो चुका था, भाषाविज्ञान की सहायता से वेदो का भाष्य और अर्थ करना चाहते है।

पाश्चात्य भाष्यकारो की ऋग्वेद की व्याख्या पद्धतियो की पृथक्–पृथक् प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है–

रूडाल्फ रॉथ की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

वेदों की नवीन एव आधुनिक व्याख्या–पद्धति के जन्मदाता के रूप मे रॉथ सर्वप्रसिद्ध है। रॉथ महोदय जिनको कि वैदिक भाषाशास्त्र का जनक कहा जाता है इन्होने परम्परागत पद्धति के स्थान पर ऋग्वेद के कठिनतम अङ्गो की व्याख्या के लिए तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक पद्धति को अपनाया। अपनी इस पद्धति को प्रवर्तित करने मे श्री रॉथ ने शब्दो की व्युत्पत्ति करने वाली शब्द व्युत्पत्यात्मक शैली को अधिक महत्त्व दिया है परन्तु उन्होने भारतीय परम्परागत साक्ष्यो पर महत्त्व नही दिया।

इन्होने सायण एव यास्क आदि की भारतीय भाष्य–परम्परा का बहुत अच्छा अध्ययन किया और ऋग्वेद के प्रत्येक शब्द पर बहुत गम्भीर चिन्तन करके अर्थविनिश्चय किया है, इन्होने ऋग्वेद के किस शब्द का क्या मूल अर्थ है इसका अर्थविनिश्चित किया है जो "सेण्टपीटर्सबर्ग–कोष' मे समाहित है, इनके बनाये गये कोष की सहायता से बाद के विद्वानो को सम्पूर्ण व सटीक अनुवाद करने मे सहायता मिली। इनके मत में ऋग्वैदिक शब्दो के अर्थविनिश्चय का मूल साधन तुलनात्मक–भाषाविज्ञान है। इनकी दृष्टि से यदि वैदिक–शब्दो की तुलना ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन शास्त्रीय भाषा के शब्दो से की जाय तो उनके सही अर्थ का निर्धारण सरलता से हो सकता है। यदि कोई वैदिक शब्द किसी प्राचीन भारोपीय भाषा मे प्राप्त होता है। तो उसके अर्थ की सहायता से उस वैदिक शब्द का अर्थ जानने की चेष्टा करते हैं। इनका मानना था कि सायण ने अपना भाष्य ऋग्वेद की रचना के इतने समय पश्चात् लिखा कि उनको ऋग्वेद के शब्दो के सही

अर्थ का ज्ञान–परिज्ञान नही हो सकता, इसलिए इन्होने वेद के व्याख्याकारो को सायण से दूर रहने की सलाह दी।

रॉथ के अर्थनिर्धारण कि प्रक्रिया की एक विशेषता यह भी है कि ये किसी शब्द विशेष को ऋग्वेद मे सर्वत्र खोजते है और जहाँ–जहाँ वो प्राप्त होते है वहाँ–वहाँ उसके सन्दर्भ पर दृष्टि रखते हुए अर्थ पर ध्यान देते है। इस प्रकार कई बार ऐसा होता है कि यदि किसी शब्द का अर्थ एक मन्त्र मे स्पष्ट नही है तो वह दूसरे किसी मन्त्र मे उसके प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है।

रॉथ महोदय का कहना था कि "ऋग्वेद की सर्वोत्तम व्याख्या स्वत ऋग्वेद ही प्रस्तुत करता है।" अर्थात् ऋग्वेद को समझने के लिये ऋग्वेद ही सर्वोत्तम साधन है। पाश्चात्य जगत् मे भारतीय परम्परा से हटकर वेदो की नयी व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय रॉथ महोदय को ही दिया जाता है।

रूडाल्फ रॉथ की तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव ऐतिहासिक वैदिक व्याख्या–पद्धति है। इस पद्धति मे भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र की सहायता से वेदो का भाष्य और अर्थ करते है। इस मत के प्रवर्त्तक का ही नाम रूडाल्फ रॉथ है जो कि जर्मन विद्वान् है। इनकी ऋग्वेद पर अपनी स्वतन्त्र व्याख्याएँ है। उनका कहना है कि वेदोत्पत्ति के पर्याप्त समय पश्चात् आज एक भारतीय जैसा अर्थ कर सकता है उससे अच्छा अर्थ पाश्चात्य भाष्यकार भाषाविज्ञान की समालोचना पद्धति पर वेद–भाष्य कर सकता है।

रॉथ तुलनात्मक भाषाशास्त्र तथा इतिहास के साथ–साथ भारतेतर देशो धर्म तथा रीति–रिवाज का भी अपनी वैदिक व्याख्या–पद्धति मे अधिक ध्यान रखते है। रॉथ महोदय वैदिक व्याख्या के लिए तुलनात्मक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते है। केवल अन्धुनुकरण नही करते है।

इन्होने वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर विभिन्न शब्दो के अर्थनिर्धारण करने की चेष्टा की है। परन्तु रॉथ महोदय दुराग्रहवश अपनी अहमता के कारण भारतीय टीकाओ की उपेक्षा करते है, और इसी कारण भारतीय भाष्यो की अच्छाइयो को अपनी व्याख्या मे ग्रहण नही कर पाते । फलस्वरूप वे न तो परम्परा से प्राप्त अर्थ ही अपनी व्याख्याओ मे दे पाते है और न समन्वयात्मक दृष्टिकोंण ही।

रूडाल्फ रॉथ ने अपनी वैदिक व्याख्या–पद्धति मे इतिहास का आश्रय लेकर तथा अन्य अनेक भाषाओ से तुलना करते हुए वैदिक मन्त्रो तथा शब्दो की व्याख्या की है एव वैज्ञानिक रूप मे अर्थ का निर्धारण किया है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि जहाँ रॉथ के भाष्यो की अच्छाई तुलनात्मक ऐतिहासिक शैली है, वहाँ परम्परा प्राप्त भारतीय दृष्टिकोण का अभाव एक दोष भी है। भारतीय संस्कृति से अनभिज्ञ होने के कारण इनकी व्याख्या मे मौलिकता का अभाव है तथा कही–कही व्यर्थ तर्क के जाल मे उलझ जाते है।

लुड्विग की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

इनकी व्याख्या–पद्धति भी तुलनात्मक ऐतिहासिक–भाषावैज्ञानिक व्याख्या–पद्धति है। इसी पद्धति से इन्होने ऋग्वेद का भाष्य किया है। इन्होने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन भाषा मे गद्यानुवाद किया है। इन्होने

ग्रासमैन तथा ग्रिफिथ की भॉति ऋग्वेद का पद्यात्मक शैली मे अनुवाद एव व्याख्या नही की अपितु गद्यात्मक शैली मे व्याख्या की है।

लुड्विग रॉथ की व्याख्या–पद्धति से प्रभावित थे। इन्होने सायण को भी महत्त्व दिया है जहॉ इन्हे ठीक लगा। प्राचीन शैली की व्याख्या–पद्धति से इन्होने ऋग्वेद का अनुवाद एव व्याख्या की है। इनका अनुवाद शाब्दिक ने होकर भावपरक है। इस प्रकार इन्होने भावानुवाद किया है। अन्त मे प्रत्येक क्लिष्ट शब्द पर विस्तृत व्याख्या एव टिप्पणी की है। लुड्विग ने अपने अनुवाद मे मन्त्रो को उद्धृत नही किया है बल्कि उसका अनुवाद मात्र किया है। इन्होने मन्त्रो को मण्डलक्रम मे विभाजित करते हुए उसका भावपरक अनुवाद प्रस्तुत किया है।

लुड्विग वह पहले व्यक्ति है जिन्होने यह माना है कि प्रारम्भिक समीक्षाकारो का ऑख मूँदकर अनुसरण नही करना चाहिए फिर भी उनका यह विश्वास है कि जो समीक्षक अखण्डित परम्पराओ पर अपने विचार आधारित किए है वह सम्मान के योग्य है यथा – सायण, यास्क महीधर आदि।

अत· हम कह सकते है कि इन्होने प्राचीन भारतीय भाष्यकारों का अन्धानुकरण नही किया है। इन्होने रॉथ की व्याख्या–पद्धति का अनुकरण किया है, तथा तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धति से सम्पूर्ण ऋग्वेद का छ भागो मे जर्मन भाषा में गद्यानुवाद किया है।

लुड्विग के ऋग्वेदीय भाष्य मे उतनी स्वतन्त्रता अङ्गीकृत नही हुई है जितनी कि ग्रासमैन के ऋग्वेदीय भाष्य मे परिलक्षित होती है अर्थात् लुड्विग ने ग्रासमैन की भॉति सायण–भाष्य तथा परम्परागत भारतीय–भाष्यों को यदि पूर्णतः स्वीकार नही किया है तो उनकी उपेक्षा भी नही की है। इस प्रकार इन्होने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धति से एव परम्परागत भाष्य की अच्छाइओ को ग्रहण करते हुए भाष्य किया है।

ग्रासमैन की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

ग्रासमैन की ऋग्वेद की व्याख्या–पद्धति भी तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धति है। ग्रासमैन रॉथ के शिष्य थे और रॉथ की स्वतन्त्र तुलनात्मक पद्धति को इन्होंने अपनाया है ये सायण विरोधी वर्ग के व्यक्ति है। अत ग्रासमैन ने वैदिक मन्त्रो की व्याख्या के लिए सायणाचार्य पर निर्भर रहना स्वीकार नही किया।

ग्रासमैन ने जर्मन भाषा मे टिप्पणियो के साथ सम्पूर्ण ऋग्वेद का पद्यानुवाद किया है। इन्होने अन्य भाष्यकारों की भॉति गद्यात्मक शैली मे भाष्य नही किया बल्कि पद्यात्मक शैली मे भाष्य किया है। ग्रासमैन ने विकसित व्युत्पत्ति–शास्त्र, भाषा–शास्त्र, तुलनात्मक देवताशास्त्र आदि की सहायता से वैदिक मन्त्रो का अध्ययन करके उनकी व्याख्या की है। ग्रासमैन ने वैदिक व्याख्या के लिए परम्परागत भारतीय पद्धति को न अपनाकर एक नवीन आधुनिक पद्धति से व्याख्या प्रस्तुत की है।

''सेण्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी'' मे रॉथ ने शब्दो का जो अर्थ निर्धारित किया है उन्ही अर्थो को स्वीकार करते हुए ग्रासमैन ने ऋग्वेद का अनुवाद किया है। यदि एक शब्द के पृथक्–पृथक् अर्थ पृथक्–पृथक् स्थानो पर है तो उसका उल्लेख एव अर्थनिर्धारण रॉथ के शब्दकोश के आधार पर किया है। इन्होने अनुवाद के पश्चात् टिप्पणी नही दी है। रॉथ की डिक्शनरी को इन्होने अपने अनुवाद का आधार बनाया है।

इन्होने ऋग्वेद के सम्पूर्ण सूक्तो को एक से लेकर क्रमसख्या के अनुसार विभाजन किया है। ऋग्वेद का क्रमिक रूप से परिसख्यान करा दिया है। इन्होने अपने कोश मे भी इसी परिगणन के नियम का पालन किया है। इन्होने अपने कोश मे और ऋग्वेद के अनुवाद मे सातत्य–गणना करते हुए अर्थ एव अनुवाद किया है। ग्रासमैन महोदय गणित के बडे भारी विद्वान् थे, इसलिए इनके अनुवाद मे सटीकता बहुत अधिक है। इन्होने अनुवाद के पश्चात् टिप्पणियॉ नही की है।

ऋग्वेद के सम्पूर्ण शब्दो की सूची उपस्थित करने वाला ग्रासमैनकृत कोष भी वह महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमे प्रत्येक शब्द के सन्दर्भानुसार बदलने वाले अर्थो के साथ क्रियाओ तथा सज्ञाओ के सभी रूप एव अर्थ भी क्रमानुसार दिए है।

ग्रासमैन रॉथ महोदय के शिष्य रहे है, अत ग्रासमैन की व्याख्या–पद्धति अपने गुरू की व्याख्या–पद्धति के अनुरूप ही है। ग्रासमैन ने अपना ऋग्वेदीय भाष्य रॉथ की व्याख्या–पद्धति से सायण–भाष्य की उपेक्षा करके स्वतन्त्र रीति से किया है।

विल्सन की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

विल्सन की प्राचीन परम्परागत भारतीय वैदिक व्याख्या–पद्धति है। इनकी व्याख्या–पद्धति भारतीय प्राचीन विद्वानो एव भाष्यकारो के समान है। विल्सन ने मण्डलानुसारीक्रम मे ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद किया है। सायण की भॉति विल्सन ने भी अनुवाद एव व्याख्या के पूर्व मण्डल, अनुवाक, सूक्त एव मन्त्र–सख्या का निर्देश अग्रेजी भाषा मे किया है। विल्सन ने भी सायण आदि प्राचीन भारतीय भाष्यकारो की भॉति मन्त्रो का अनुवाद एव व्याख्या करने के पूर्व ऋषि का नाम, ऋषि के पिता का नाम, देवता का नाम तथा छन्दादि के नामो का उल्लेख हिन्दी तथा अग्रेजी दोनो भाषाओ मे किया है।

विल्सन ने ऋक्सहिता को मूलरूप मे स्वराङ्कन सहित उद्धृत किया है परन्तु पदपाठ नही किया है। इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रों को मण्डलानुसारी क्रम मे विभाजित करते हुए अर्थ तथा व्याख्या प्रस्तुत की है। विल्सन के ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद की विशेषता ये है कि जिस प्रकार मूलरूप मे वेदो का विभाजन तथा वर्गीकरण किया गया है उसी के अनुसार एव उन्ही शीर्षको एव शब्दो से इन्होने अपने ऋग्वेद–सहिता के अग्रेजी अनुवाद मे भी किया है। यथा– सहिता को विल्सन ने 'collection', मण्डल को 'circle', अध्याय को 'chapter', सूक्त को 'Hymns', वर्ग को 'selection' लिख सकते थे, लेकिन इन्होने वैदिक शब्दो को ही अग्रेजी मे रखा है उसका अनुवाद नही किया है, अर्थात् इन्होंने इन वैदिक शब्दो को रोमनलिपि मे प्रस्तुत किया है।

विल्सन ने ऋग्वेद के मन्त्रो का अग्रेजी मे अनुवाद किया है तत्पश्चात् वैदिक मन्त्रस्थ पदो की अग्रेजी मे व्याख्या भी की है। इसके लिए इन्होने मन्त्रस्थ मुख्य पदो का अग्रेजी मे अर्थ किया है तथा जिस पद का अग्रेजी मे अर्थ किया है उसको मूल मन्त्र से मूलरूप मे ही रोमन–लिपि मे उद्धृत करते हुए व्याख्या की है।

विल्सन ने कही–कही वैदिक मन्त्रस्थ मुख्य वाक्यो के अनुवाद के अनन्तर अग्रेजी अर्थ को बताते हुए अनुवाद के साथ व्याख्या भी प्रस्तुत की है। विल्सन ने ब्राह्मण ग्रन्थो के आधार पर भी वैदिक मन्त्रो के अर्थ को स्पष्ट किया है। ऋग्वेद के मन्त्रो के शब्द अन्य वेदो मे जहॉ–जहॉ प्रयुक्त हुए है एव उन वेदो मे उनका क्या अर्थ ग्रहण किया गया है इसका भी उल्लेख इन्होने अपनी व्याख्या मे किया है।

इन्होने शब्दो की व्याख्या करते समय सायण के अर्थो का भी उल्लेख किया है एव सायण की व्याख्या को भी उद्धृत किया है। विल्सन ने अपनी व्याख्या मे आश्वलायन श्रौतसूत्र, वाजसनेयि–सहिता तथा विभिन्न आख्यानो ऋषियो द्वारा कथित अर्थो को भी उद्धृत किया है।

विल्सन ने निघण्टु, निरूक्त, ब्राह्मणग्रन्थ एव महाभारत के आख्यानो का भी वर्णन अपनी व्याख्या मे किया है। इन्होने वैदिक मन्त्रस्थ पदो के ऐतिहासिक अर्थो को भी ग्रहण किया है। विल्सन ने यास्ककृत निरूक्त के निर्वचनो का अग्रेजी रूपान्तर भी रोमन–लिपि मे हूबहू अपनी व्याख्या मे उद्धृत किया है।

विल्सन ने वैदिक मन्त्रस्थ पदो की व्याख्या के लिए नीतिमञ्जरी के अर्थो को भी उद्धृत किया है। मन्त्रो का अग्रेजी अनुवाद करके स्थान–स्थान पर देवताओ के स्वरूप एव विशेषताओ का भी वर्णन किया है। वैदिक मन्त्रो के अनुवाद के साथ–साथ प्रत्येक पद का भावार्थ भी विल्सन की ऋग्वेद की व्याख्या मे प्राप्त होता है। विल्सन ने ऋग्वेद की व्याख्या करने मे शब्दो के व्याकरणात्मक टिप्पणियो को छोड दिया है। इन्होने सायण आदि प्राचीन भारतीय भाष्यकारो की भॉति मन्त्रो के विनियोग का निर्देश नही किया है।

विल्सन ने सम्पूर्ण वैदिक मन्त्रो की व्याख्या के उपरान्त ऋग्वेद के शब्दो की एक सूची प्रस्तुत की है। यह सूची अग्रेजी के वर्णक्रमानुसार है परन्तु शब्दो के लिए पृष्ठ–सख्या का निर्देश नही किया है। इन्होंने मन्त्रस्थ पदो को हिन्दी तथा अग्रेजी दोनो भाषाओ मे लिखा है, यथा– Adhrıgu – अध्रिगु, Adhwaryu – अध्वर्यु, Adıte – अदिति आदि।

विल्सन ने अन्त मे मन्त्रो की भी एक सूची प्रस्तुत की है। जिसमे पृष्ठ–सख्या, मण्डल–सख्या, अनुवाक–सख्या, सूक्त–सख्या तथा सूक्त मे आने वाले मन्त्रो की सख्या एव सूक्त की क्रम–सख्या भी अङ्कित की है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विल्सन ने परम्परागत वैदिक व्याख्या–पद्धति से ऋग्वेद का अनुवाद एवं व्याख्या प्रस्तुत की है।

मैक्समूलर की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

मैक्समूलर महोदय ने "Sacred Book of the East" के ३२ वे भाग के प्रथम खण्ड मे ऋग्वेद के प्रमुख सूक्तो का भाष्य किया है। इन्होने ने सर्वप्रथम मण्डल–सख्या एव सूक्त सख्या का निर्देश किया है। इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद करने से पहले अष्टक, अध्याय एव वर्ग की सख्या का उल्लेख किया है। इस प्रकार इन्होने मण्डलक्रम एव अष्टकक्रम दोनो मे ऋग्वेद के मन्त्रो को विभाजित किया है। इसके पश्चात् सूक्त से सम्बन्धित देवता का भी नामोल्लेख अग्रेजी भाषा मे किया है।

इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो को मूलरूप मे अर्थात् मन्त्रो की सहिता को उद्धृत नही किया है बल्कि सीधे उन मन्त्रो का अग्रेजी मे क्रम से अनुवाद कर दिया है। सूक्त के सभी मन्त्रो का अग्रेजी मे अनुवाद करने के पश्चात् 'Notes' शीर्षक के अन्तर्गत टिप्पणी लिखी है जिसमे इन्होने सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि का नाम, ऋषि के पिता का नाम एव मन्त्र के छन्द का नामोल्लेख भी किया है।

मैक्समूलर ने सूक्त की ऋचा को अग्रेजी मे "Verse" कहॉ है, इसके पश्चात् मन्त्र से सम्बन्धित ऋषि एव छन्दादि का उल्लेख किया है। मैक्समूलर ने मन्त्र विशेष के सम्बन्ध मे विल्सन, बैनफी एव लुड्विग के अनुवाद को भी उद्धृत किया है।

मैक्समूलर ने सूक्त विशेष से सम्बन्धित देवो के स्वरूप को वर्णित किया है। इसके पश्चात् मन्त्रस्थ पदो की अग्रेजी मे व्याख्या एव टिप्पणी भी की है, तथा उस पद से मिलते जुलते अन्य पदो या शब्दो का भी उल्लेख किया है जो कि अन्य मण्डलो के सूक्तो मे प्रयुक्त हुए है। इन्होने मन्त्रो की क्रमसख्या के अनुसार प्रत्येक मन्त्र के प्रमुख पदो का पृथक्–पृथक् व्याख्या एव टिप्पणी की है।

मैक्समूलर ने ऋग्वेद–सहिता का अपना सस्करण 'देवनागरी' लिपि मे ही मुद्रित किया। सहिता–पाठ के अतिरिक्त उन्होने अपने ग्रन्थ मे पदपाठ भी सम्मिलित किया है। सायण ने जहॉ–जहॉ पाणिनि एव यास्क आदि का उल्लेख किया है उसके सन्दर्भ भी मैक्समूलर ने कोष्ठक मे दे दिए है। ऋग्वेद के प्रमुख पदो (शब्दो) की सूची एव ऋचाओ के प्रथम चरण की सूची भी परिशिष्ट मे दी गयी है। जिससे ग्रन्थ बहुत बहुमूल्य हो गया है।

मैक्समूलर ने वैदिक मन्त्रो का सरलीकृत ढग से अग्रेजी अनुवाद किया है। ऋग्वेद के मन्त्रो मे प्रयुक्त ऋषि के नाम तथा उनके सम्बन्ध मे सामान्य बाते इनकी व्याख्या मे प्राप्त होती है। मैक्समूलर के अपने ऋग्भाष्य मे मन्त्रो मे प्रयुक्त हुए छन्दो की जानकारी भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद के मन्त्रो का अन्य संहिताओ मे जहॉ–जहॉ उल्लेख हुआ है, उसका विस्तार से विवरण इन्होने अपनी व्याख्या में प्रस्तुत किया है। एक मन्त्र का भाव अन्य मन्त्रो के भावार्थ से जहॉ–जहॉ भी मिलते है उन सबकी तुलना इनकी मन्त्र–व्याख्या में प्राप्त होती है।

मैक्समूलर ने प्रत्येक शब्द की यज्ञीय दृष्टि से व्याख्या की है अर्थात् मन्त्रो मे प्रयुक्त हुए प्रत्येक पद का यज्ञीय दृष्टि से अर्थ–निर्धारण करने का प्रयास इन्होने अपने ऋग्भाष्य मे किया है। ऋग्वेद मे प्राप्त इन्द्र, अग्नि, मरूत्, रूद्र, वात् आदि देवताओ से सम्बन्धित सूक्तो के मन्त्रो की व्याख्या भी इन्होने की है।

मैक्समूलर के वैदिक व्याख्या–पद्धति के मूलत दो आधार–स्तम्भ है– तुलनात्मक देवशास्त्र एव तुलनात्मक भाषाविज्ञान। अपने गुरू रॉथ की भॉति उनका भी ये मानना था इन दोनो शास्त्रो के माध्यम से ऋग्वेद का अधिक सही अर्थ जाना जा सकता है। उनका ऐसा भी विचार था कि ऋग्वेद इतना प्राचीन है कि उसमे केवल भारत की ही नही अपितु समस्त भारोपीय आर्य–जाति की प्राचीन सस्कृति के दर्शन हो सकते है। मैक्समूलर स्वभाव से मृदु थे। उनकी शैली भी मनोरञ्जक थी। नीरस विषय को भी वे सरस रूप मे प्रस्तुत करते थे।

इस प्रकार मैक्समूलर ने याज्ञिक एव तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक दोनो ही पद्धतियो से गद्यात्मक शैली मे ऋग्वेद के मन्त्रो की व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त इन्होने इतिहास का आश्रय लेकर तथा विभिन्न भाष्यो से तुलना करते हुए वैदिक मन्त्रो के शब्दो की व्याख्या की है।

ग्रिफिथ की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

ग्रिफिथ की ऋग्वेद की व्याख्या एव अनुवाद सायण के भाष्य पर आधारित है। सायण की व्याख्या का अनुसरण ग्रिफिथ ने अपने अनुवाद मे किया है। ग्रिफिथ ने अपने अनुवाद को सायण की आलोचना, समीक्षा एव टिप्पणी पर आशिक रूप से आधारित माना है ग्रिफिथ ने स्वय तर्क सङ्गत सम्भावनाओं के आधार पर अपने अनुवाद को नियन्त्रित एव सशोधित किया है।

मन्त्रो के अनुवाद के पूर्व इन्होने सूक्त–सख्या को अङ्कित किया है, सूक्त–सख्या मण्डलक्रम के विभाजन का सङ्केत करती है परन्तु इन्होने मण्डल–सख्या का उल्लेख नही किया है न ही अनुवाक–सख्या का इन्होने अष्टकक्रम मे भी मन्त्रो का विभाजन नही किया है। इन्होने अपने अनुवाद मे विषय–सूची सन्दर्भ–सूची एव समान शब्दो तथा पद्याशो की अर्न्ततुलना को भी प्रस्तुत किया है। ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के मूल मन्त्रो का अनुवाद मात्रिक छन्दात्मक रूप मे किया है। इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो का विभाजन क्रमबद्ध रूप से किसी भी पद्य की अधूरी पङ्क्ति मे किया है। ऋग्वेद के जिन मूल मन्त्रो मे तीन, चार या आठ मात्रिक छन्द की पङ्क्तियॉ है उनका अनुवाद ग्रिफिथ ने सामान्य अष्ठ मात्रिक छन्द या द्विमात्रिक, अर्ध एव पूर्ण मात्रात्मक छन्द द्वारा किया है। इस पद्धति को बेनफी और ग्रासमैन ने भी ऋग्वेद के सूक्तो के अनुवाद में अपनाया है।

इस प्रकार ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद कविता की शैली मे अर्थात् पद्यात्मक रूप मे किया है गद्यात्मक शैली मे नही किया है। ग्रिफिथ ने ऋग्वेद का अनुवाद आग्ल भाषा मे काव्यात्मक पद्धति से किया है एव उन्ही आग्ल भाषा के पदो की ही व्याख्या की है न कि मूल वैदिक मन्त्रस्थ पदों की।

इन्होने अपने अनुवाद के लिए सायण–भाष्य को आधार बनाया। सायण के भाष्य से ये वही विरक्त होते है जहॉ इनको सायण का भाष्य अत्यधिक कर्मकाण्डीय जान पडता है। ग्रिफिथ का अनुवाद वेदो का शाब्दिक अनुवाद नही है, वह मुख्यतया भावानुवाद है। प्रत्येक शब्द का पृथक्–पृथक् अग्रेजी अनुवाद करने के स्थान पर इन्होने सम्पूर्ण ऋचा के मूल–भाव एव उसकी आत्मा को ही अपने अग्रेजी पद्यानुवाद मे उतारने की चेष्टा की है। इस प्रकार इनके अनुवाद को पढकर मूल न जानने वाला व्यक्ति भी ऋग्वेद के काव्य का आनन्द ले सकता है। इन्होने चार पाद (चरणो) की ऋचा का अनुवाद कविता की चार पड्क्तियो में ही किया है।

इन्होने ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद करने के पूर्ण केवल सूक्त–सख्या तथा देवता के नाम का उल्लेख अग्रेजी भाषा मे किया है। सूक्त–सख्या को इन्होने रोमन अड्को मे अड्कित किया है। ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के मूल मन्त्रो की सहिता एव पदपाठ को स्वराड्कन या बिना स्वराड्कन के उद्धृत नही किया है। इन्होने अपने ऋग्वेद के अनुवाद मे मण्डल एव अनुवाक–सख्या को अड्किकत नही किया है। ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के मूल मन्त्रो को उद्धृत नही किया है केवल सीधे उनका अग्रेजी मे पद्यात्मक अनुवाद किया है। उन्होने अनुवाद के पश्चात् मन्त्र के छन्द का नाम, ऋषि–नाम तथा ऋषि–परिवार के नामो का भी उल्लेख किया है। ग्रिफिथ ने देवता विशेष से सम्बन्धित मन्त्रो का अनुवाद करने के पश्चात् मन्त्र से सम्बन्धित देवताओ का वर्णन एव उनके स्वरूप तथा विशेषताओ का उल्लेख भी किया है।

ग्रिफिथ ने अपनी व्याख्या मे सायण, महीधर, यास्क, राॅथ, विल्सन, मैक्समूलर एव लुड्विग, ग्रासमैन आदि की व्याख्या एव अर्थो को अपनी व्याख्या मे उद्धृत किया है। ग्रिफिथ ने मन्त्रो के अनुवाद के पूर्व मन्त्रो के छन्दादि के नाम का उल्लेख नही किया है। बल्कि सम्पूर्ण अनुवाद के पश्चात् पुस्तक के अन्त मे ऋग्वेदीय सूक्तो की एक अनुक्रमणिका प्रस्तुत की है। जिसमे सूक्त–सख्या, ऋषि–नाम, देवता–नाम एवं छन्द के नामो को भी आग्ल भाषा मे सारणी के रूप मे दिया है। परन्तु मन्त्रो की पृष्ठ–संख्या का निर्देश नहीं किया है।

इन्होने पुस्तक के अन्त मे देवता तथा उनके विषय एव सन्दर्भ के अनुसार भी सूक्तो की एक सूची आग्ल भाषा मे सख्या सहित तैयार की है, जिसमे देवताओ को स्थान एव कार्यो तथा स्वरूप के आधार पर विभाजित किया है।

ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के मूल मन्त्रो के पदो की व्याख्या नही की परन्तु वैदिक मन्त्रस्थ मूल पदो की अग्रेजी के वर्णक्रमानुसार पृष्ठसख्या सहित एक सूची इन्होने रोमनलिपि मे लिखकर प्रस्तुत की है। इन्होंने ऋग्वेदीय मन्त्रस्थ मूल पदो की व्याख्या या टिप्पणी नही की है बल्कि ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद अग्रेजी के जिन शब्दो के द्वारा किया है उन्ही अग्रेजी के पदो, वाक्य, वाक्याशो की टिप्पणी, समालोचना, समीक्षा तथा व्याख्या की है।

इनकी व्याख्या–पद्धति भी तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पद्धति है परन्तु ये रॉथ तथा ग्रासमैन की भॉति सायण के विरोधी नही थे। इन्होने सायण की व्याख्या–पद्धति एवं रॉथ की व्याख्या–पद्धति दोनो का अनुकरण अपनी ऋग्वेद की व्याख्या मे किया है।

मैक्डानल की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

मैक्डानल ने 'A Vedıe Reader for Students' नामक पुस्तक मे ऋग्वेद के प्रमुख सूक्तो का अग्रेजी भाषा मे अनुवाद एव व्याख्या किया है। मैक्डानल महोदय ने सूक्त के मन्त्रो का अनुवाद एव व्याख्या करने के पूर्व सूक्त से सम्बन्धित देवता के स्वरूप एव विशेषताओ का वर्णन अग्रेजी भाषा मे किया है, तथा देवता विशेष के नामो की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति भी प्रस्तुत की है। इसके पश्चात् इन्होने मण्डल एव सूक्त–संख्या तथा मन्त्र–सख्या का भी निर्देश किया है।

ऋग्वेद के मन्त्रो को लिखने से पूर्व सूक्तविशेष के मन्त्रो के छन्दो का भी पूर्ण विवरण अग्रेजी मे दिया है। इसके पश्चात् ऋग्वेद के मन्त्र की मूल सहिता को वैदिक सस्कृत मे हूबहू स्वराड्कन सहित उद्धृत किया है, तत्पश्चात् उसका पदपाठ भी स्वराड्कन सहित उद्धृत किया है।

इन्होने ऋग्वेद के मूल मन्त्रो को अग्रेजी मे रोमन–लिपि मे लिखकर उसका अग्रेजी मे अनुवाद किया है। अनुवाद करने के पश्चात् मैक्डानल ने मन्त्रस्थ पदो की अर्थविनिश्चयात्मक, व्याख्यात्मक एव व्याकरणात्मक टिप्पणियॉ भी प्रस्तुत की है। मन्त्रो का अर्थ करने के पश्चात् इन्होने अन्त मे शब्दसक्षेप–निर्देशिका भी प्रस्तुत की है।

मैक्डानल ने ऋग्वेद के मन्त्रस्थ पदो की सूची अग्रेजी के वर्णक्रमानुसार रोमन–लिपि मे अग्रेजी मे लिखकर उनके मण्डल, अनुवाक तथा सूक्त–सख्या का निर्देश करते हुए तथा उस शब्दविशेष का अग्रेजी मे अर्थ भी निश्चित करते हुए प्रस्तुत किया है। मैक्डानल ने जिस पद का सूची मे अग्रेजी–अर्थ निश्चित किया है वह पदविशेष सज्ञा है या क्रिया है या क्रिया–विशेषण है या समास है, इस सब का विवरण इन्होंने दिया है।

मैक्डानल ने रॉथ की तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव आलोचनात्मक पद्धति से ऋग्वेद के मन्त्रो की व्याख्या की है। इनके अनुसार आलोचनात्मक पद्धति के भाष्यकारो के पास वे सभी विषय सामग्रियॉ थी जिसकी परम्परागत पद्धति के भाष्यकारो को जानकारी तक नही थी जैसे कि 'अवेस्ता', 'भाषाविज्ञान', 'तुलनात्मक धर्म' एव 'देवशास्त्र' एव विभिन्न वैयक्तिक तुलनात्मक अध्ययन।

मैक्डानल के अनुसार ऋग्वेद की व्याख्या करने मे जो भी कठिनाई एव दुरूहता आती है उसे तुलनात्मक पद्धति के द्वारा आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है, परन्तु इस पद्धति का एकपक्षीय उपयोग नही करना चाहिए, बल्कि परम्परागत भारतीय पद्धति को भी उपयोग मे लेना चाहिए।

मैक्डानल महोदय की दृष्टि उदारवादी थी। जहॉ इन्हे सायण की व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई है वहॉ इन्होंने पाश्चात्य विद्वानों का तिरस्कार करते हुए भी उसे अपनाया और अपनी गुरू परम्परा को मान्यता नही दी।

इस प्रकार मैक्डानल महोदय ने परम्परागत व्याख्या–पद्धति को आशिक रूप से ग्रहण करते हुए तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव आलोचनात्मक व्याख्या–पद्धति से ऋग्वेद के मन्त्रो की व्याख्या प्रस्तुत की है।

ओल्डेनबर्ग की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

ओल्डेनबर्ग ने दो भागो मे सम्पूर्ण ऋग्वेद का महाभाष्य जर्मन भाषा मे किया है। ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद का भाष्य याज्ञिक एव तुलनात्मक ऐतिहासिक–भाषावैज्ञनिक पद्धति से किया है। वैदिक व्याख्या के सन्दर्भ मे ओल्डेनबर्ग ने उसके धार्मिक पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया है। इन्होने ऋग्वेद के प्राकृतिक शक्तियो से सम्बन्धित देवताओ के विषय मे विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत किया है।

ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद की बहुत मार्मिक और विवेचनापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। इन्होने अपने ऋग्वेदीय भाष्य मे प्रत्येक सूक्त के ऊपर पूर्ववर्ती भाष्यकारो की व्याख्या का निर्देश करके अपनी विशद विवेचना प्रस्तुत की है। इन्होने अपने भाष्य मे स्थान–स्थान पर प्राप्त विद्वानो के विचारो का भी उल्लेख किया है।

ओल्डेनबर्ग का ऋग्वेदीय भाष्य वैदिक समाचोचना की पराकाष्ठा है। यह ऋग्वेद पर सर्वोत्कृष्ट भाष्य माना जाता है। ओल्डेनबर्ग का वैदिक समालोचना मे वही स्थान है जो वेदान्त मे शङ्कराचार्य का। ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के शब्दो को सिद्ध करने मे इतिहास का आश्रय लिया है। इन्होने सम्पूर्ण अनुवाद की अपेक्षा शब्दो को सिद्ध करने मे अधिक रूचि प्रदर्शित की है। इन्होने मूलत सायण की वैदिक व्याख्या–पद्धति को अपनाया है किन्तु कुछ स्थानो पर सायण के कटु आलोचक रहे है जहॉ सायण ने कल्पसूत्रो की सहायता लेकर याग्–पद्धति की व्याख्या की है।

इन्होने यजुर्वेद के याज्ञिक विधि–विधानो के साथ–साथ मन्त्रो मे जादुई शक्ति तथा पाप–मुक्ति के मन्त्रो पर भी विविध सिद्धान्त प्रस्तुत किए है। यज्ञ, ऋत्विज्, पुरोहित के भेद तथा उनके कर्मो का यथाक्रम वर्णन भी ओल्डेनबर्ग की ऋग्वेदीय व्याख्या मे प्राप्त होता है। व्रतग्रहण के सन्दर्भ मे मृतात्माओं से मुक्ति के विषय मे, रक्षा, अभिचार, प्रायश्चित, वर्षा–तत्त्व, सूर्य–तत्त्व तथा सोम–तत्त्व के विषय मे भी विविध व्याख्या प्रस्तुत की है। एक दिवसीय यज्ञ, महीने भर चलने वाले यज्ञ तथा वर्ष भर चलने वाले यज्ञो के सन्दर्भ मे इनकी व्याख्या है। ओल्डेनबर्ग ने वेद के विषय मे आत्मा, स्वर्ग, मृतात्माओ के देवतास्वरूप यम, स्वर्ग की विशेषता, नरक तथा अमरत्व की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख अपने भाष्य मे किया है।

ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के मन्त्रो का अनुवाद किया है, तत्पश्चात् एक–एक शब्द का भावार्थ, व्याकरणात्मक टिप्पणियॉ तथा अन्य विद्वानो के मत का प्रतिपादन भी किया है। ओल्डेनबर्ग सायणानुकूल विवरण की सर्वाङ्गीण समीक्षा करने वाले विद्वान् है। ओल्डेनबर्ग की ऋक्–संहिता की आलोचनात्मक टिप्पणियॉ चिन्तन के साथ–साथ स्वर, छन्द, आदि के सूक्ष्म अध्ययन के लिए वेदो के अध्येताओ में आदर का भाजन बनी है।

"Sacred Book of the East" के ४६ वे भाग के द्वितीय खण्ड मे ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के मन्त्रो को मण्क्रमानुसार एव अष्टकक्रम दोनो मे विभाजित करते हुए इन्होने ऋग्वेद का अग्रेजी मे भी अनुवाद किया है। सर्वप्रथम इन्होने मण्डलसख्या एव सूक्तसख्या को अग्रेजी मे लिखा है। इन्होने अग्रेजी भाषा मे मण्डल को मण्डल एव सूक्त को सूक्त ही लिखा है इसके पश्चात् अष्टक, अध्याय एव वर्ग की सख्या भी अड्कित की है, तत्पश्चात् इन्होने सूक्त के सभी मन्त्रों का क्रम से अग्रेजी भाषा मे अनुवाद किया है।

इन्होने ऋग्वेद के मूल मन्त्र की सहिता को उद्धृत नही किया है। ओल्डेनबर्ग ने सूक्त के सभी मन्त्रो का क्रम से एक साथ अग्रेजी मे अनुवाद प्रस्तुत किया है। ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के सूक्त का अग्रेजी मे अनुवाद करने के पश्चात् "Notes" शीर्षक के अन्तर्गत ऋषि का नाम, ऋषि के पिता का नाम एव छन्द के नामो का उल्लेख किया है। इन्होने प्रारम्भिक अनुक्रमणिका मे मण्डल–सख्या एव सूक्त–सख्या तथा देवता के नामो का भी उल्लेख अग्रेजी मे किया है। यथा– आप्री, इन्द्र, अग्नि आदि। ओल्डेबर्ग ने ऋग्वेद के पॉच मण्डलो के प्रमुख सूक्तो का अग्रेजी मे अनुवाद किया है।

इन्होने ऋचा को "Verse" कहा है, तथा ऋचाविशेष से सम्बन्धित मूल पदो को अग्रेजी मे मूलरूप मे मूल उच्चारण के साथ लिखकर टिप्पणी की है। ओल्डेनबर्ग ने प्रत्येक ऋचा के पदो की व्याख्यात्मक, व्याकरणात्मक एव अर्थविनिश्चयात्मक टिप्पणी करने के लिये पद से सम्बन्धित ऋचा–सख्या लिखकर अलग से टिप्पणी दी है। ओल्डेनबर्ग ने मन्त्रस्थ पदो की टिप्पणी करते समय पिशेल, गैल्डनर, मैक्समूलर, ग्रासमैन, बर्गेन, लुड्विग, जे०म्यूर, लेनमैन आदि के विचारो एव अर्थ–विनिश्चय को भी उद्धृत किया है।

अन्त मे ओल्डेनबर्ग ने अग्रेजी भाषा के वर्णक्रमानुसार ऋग्वेद के मन्त्रो के शब्दो की एक सूची रोमनलिपि मे लिखकर प्रस्तुत की है। इसके पश्चात् इन्होने "List of the more important passages quoted in the Rigveda" की भी एक सूची प्रस्तुत की है, जिसमें इन्होने मण्डलन, सूक्त एव ऋचा–सख्या तथा पृष्ट–संख्या का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद के दसो मण्डलो के सूक्तो के महत्त्वपूर्ण अशो की सूची प्रस्तुत की है।

ओल्डेनबर्ग ने अपनी ऋग्वेद की व्याख्या मे तुलनात्मक भाषाविज्ञान को बहुत अधिक महत्त्व नही दिया वे वैदिक शब्दो को उसकी दीर्घकालीन परम्परा, विविधता, ग्रन्थो मे उसके प्रयोग एव लौकिक सस्कृत मे उसके अर्थविस्तार के समालोचन को ही अपना मुख्य साधन बनाते है। इनकी सस्कृत–व्याकरण पर अद्भुत पकड थी। इसलिए पाणिनीय धातुपाठ एव व्याकरण के नियमों के आधार पर इन्होने कई वैदिक शब्दों के ऐसे–ऐसे नवीन अर्थ ढूढ निकाले है जिन पर उनके पूर्ववर्ती विद्वानो का विचार ही नही गया। इनकी व्याख्या–पद्धति एक ओर तो इनके उत्कृष्ट वैदुष्य की परिचायिका है तो दूसरी ओर इनकी उद्भावना–प्रवणता, कल्पनाशीलता एव प्रतिभा को सूचित करती है, जिसके कारण इनके सुझाये हुए अर्थ सदैव मौलिक एव नवीन प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद की व्याख्या के लिए आशिक रूप से तुलनात्मक ऐतिहासिक–भाषावैज्ञानिक पद्धति एव पूर्णरूप से याज्ञिक पद्धति को अपनाया है।

पिशेल तथा गैल्डनर की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

पिशेल तथा गैल्डनर की भी तुलनात्मक ऐतिहासिक–भाषावैज्ञानिक व्याख्या–पद्धति है इन्होने रॉथ तथा ग्रासमैन की व्याख्या–पद्धति को कुछ हद तक अपना कर उनकी पद्धति अर्थात् शैली की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

गैल्डनर का ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद कोरा शाब्दिक अनुवाद है। जैसी वाक्य–सरचना ऋग्वेद मे है उसको इन्होने अपने अनुवाद मे सुरक्षित रखा है। इन्होने प्रत्येक शब्द का उचित शाब्दिक अनुवाद प्रस्तुत किया है। इनके अनुवाद मे वाक्यो के अन्तर्गत शब्द–विन्यास का क्रम प्राय ऋचा मे आने वाले वाक्य के शब्दो के अनुरूप है। इसलिए ऋचा के प्रत्येक शब्द का अलग–अलग अर्थ समझने के लिये ये बहुत उपयोगी है। यद्यपि इनकी जर्मन पढने मे कुछ अटपटी सी लगती है क्योकि वह जर्मन साहित्यिक शैली के अनुरूप नही है फिर भी एक सस्कृत के विद्यार्थी के लिए इस अनुवाद की महती उपयोगिता है। गैल्डनर कठिन शब्दो का विवेचन भी उसी पृष्ठ पर पाद टिप्पणियो मे करते चलते है। टिप्पणियो के लिए कोई पृथक् भाग इन्होने नही बनाया। इनका अनुवाद रॉथ के शब्द–कोष से बहुत अधिक सहायता लेते हुए भी पूर्णतया उसके ऊपर निर्भर नही है, क्योकि इनका दृढ विश्वास था कि कही–कही ऋग्वेद के संस्कृत भाष्यकार हमको उस मन्त्र का सही अर्थ जानने मे अधिक सहायता करते है, इसलिए इन्होने सायण और यास्क आदि की व्याख्या को भी बहुत महत्त्व प्रदान किया और उसका उचित उपयोग अपने अनुवाद मे किया है।

पिशेल और गैल्डनर ने राथ की भॉति केवल भाषाशास्त्र पर बल न देते हुए परवर्ती वेदो एव वेदाडगो के साथ–साथ प्राचीन परम्परा के अनुसार किए गए सायणाचार्यकृत विवरण एव व्याख्या को भी महत्त्वपूर्ण एव उपादेय माना है।

पिशेल तथा गैल्डनर ने लुड्विग तथा रॉथ दोनो की पद्धतियो को एक साथ अपनाते हुए भी सायण की व्याख्या–पद्धति को मूल रूप मे ग्रहण किया है तथा अपनी व्याख्या का आधार बनाया है। इन्होने अन्य पाश्चात्य भाष्याकारो की भॉति सायण की समीक्षाओ को उपेक्षित नही किया है। इन्होने ऋग्वेद के अधिकाश जटिल एव दुरूह सूक्तो तथा शब्दो की तर्कसड्गत व्याख्या करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। पिशेल और गैल्डनर ने अल्फर्ड लुड्विग का अनुसरण किया है।

अत हम कह सकते है कि पिशेल तथा गैल्डनर ने अपनी व्याख्या में प्राचीन परम्परागत अर्थ को ग्रहण किया है, एव समन्वयात्मक दृष्टिकोण को महत्त्व देते हुए ऋग्वेद की व्याख्या की है जो इनकी व्याख्या–पद्धति की मौलिकता का परिचायक है।

इस प्रकार पिशेल तथा गैल्डनर ने सायण की व्याख्या–पद्धति को मूलरूप में ग्रहण करते हुए तथा तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धति को आशिक रूप मे ग्रहण करते हुए ऋग्वेद की व्याख्या की है।

पीटर्सन की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

पीटर्सन ने "The Hymns from the Rigved" नामक अपनी पुस्तक मे ऋग्वेद के प्रमुख सूक्तो का अग्रेजी मे अनुवाद किया है। पीटर्सन ने सर्वप्रथम ऋग्वेद के मन्त्रो के सहितापाठ को स्वराङ्कन सहित उद्धृत किया है। इसके पश्चात् इन्होने मण्डल–सख्या एव सूक्त–सख्या को भी लिखा है।

इन्होने सूक्तो के सम्पूर्ण मन्त्रो की मूल सहिता को संस्कृत मे स्वराङ्कन सहित, मन्त्र–सख्या सहित उद्धृत किया है, तत्पश्चात् पीटर्सन ने मूल ऋचाओ का पदपाठ भी स्वराङ्कन सहित उद्धृत किया है। सूक्त के सम्पूर्ण मन्त्रो को एक साथ लिखने के पश्चात् प्रत्येक सूक्त के एक–एक मन्त्रो का पहले सस्कृत मे सायण–भाष्य लिखा है।

पीटर्सन ने मण्डल को 'Mandal' एव सूक्त को "Sukta" ही लिखा है, अग्रेजी मे रोमन–लिपि मे। पीटर्सन ने मन्त्र को "Mantra" न लिखकर अग्रेजी भाषा मे "Verse" लिखा है एव उसकी सख्या का भी उल्लेख किया है। इन्होने मण्डल एव सूक्त–सख्या लिखने के पश्चात् सूक्त विशेष के सम्बन्ध मे सायणाचार्य के विनियोग को भी सस्कृत मे उद्धृत किया है, अर्थात् सूक्त से सम्बन्धित ऋषि, छन्द, देवता एव विनियोग का उल्लेख किया है साथ मे सायणकृत विशेष विनियोग का भी उल्लेख किया है। तत्पश्चात् स्वय पीटर्सन ने अग्रेजी मे भी सूक्त विशेष के देवता, ऋषि एव छन्द के नामो को तथा विनियोग को लिखा है। विनियोग लिखने के पश्चात् प्रत्येक मन्त्र की सख्या को लिखा है इसके बाद सायणाचार्य के अनुसार स्वराङ्कन सहित मन्त्रों का पदपाठ प्रस्तुत किया तत्पश्चात् सायणभाष्य को लिखा है।

पीटर्सन ने सायणभाष्य के लिखने के पश्चात् एक सूक्त के सम्पूर्ण मन्त्रो का अनुवाद एक साथ क्रम से अग्रेजी भाषा मे किया है। इसके बाद मन्त्रस्थ प्रमुख पदो का अर्थ एव व्याकरणात्मक टिप्पणियॉ भी प्रस्तुत की है। पीटर्सन ने अपने अनुवाद मे जो व्याकरणातमक टिप्पणियॉ लिखी है वह मैक्डानल के "वैदिक ग्रामर" के आधार पर है। इसके अतिरिक्त जो अर्थविनिश्चयात्मक टिप्पणियॉ प्रस्तुत की है वो जर्मन विद्वानो के आधार पर है, किसी एक विद्वान् के आधार पर नही है।

पीटर्सन ने अपने ऋग्वेद के अनुवाद मे ग्रासमैन, गैल्डनर, लुड्विग आदि जर्मन एवं अग्रेजी विद्वानों के विचारो को भी उद्धृत किया है। इनकी प्रवृत्ति चयनात्मक है। सायणाचार्य के महत्त्व के विषय मे इनका विचार ये है कि सायण ने प्राय अर्थ को ठीक नही किया है और ये कर्मकाण्ड की ओर ले गये है। इन्होने सायण के ऊपर बहुत विश्वास नही किया और न ही बहुत महत्त्व दिया।

पीटर्सन को मैक्डानल के "Vedic Reader for Students" से प्रेरणा मिली है और इन्होने एक नयी पाठ्य पुस्तक "Hymns from the Rigveda" तैयार कर दी। पीटर्सन की अपनी व्याख्या मे कोई मौलिकता नही है। इन्होने जर्मन एव अग्रेजी भाष्यकारो के समान ही अर्थ किया है एव उनके अर्थो को भी उद्धृत किया है। इस

प्रकार पीटर्सन ने भी तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक एव ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करते हुए ऋग्वेद के कुछ प्रमुख सूक्तो का अनुवाद एव व्याख्या प्रस्तुत की है।

पाउल थीमे की ऋग्वेद की व्याख्या-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ –

पाउल थीमे उन जर्मन विद्वानो मे नही है जो सायण आदि के द्वारा निर्मित वेद के भारतीय भाष्यो को निरर्थक एव अल्पमूल्यवाला मानते है। अपने विवेचन मे प्रो० थीमे बहुत नपे–तुले तथा निष्पक्ष है। जहॉ वे एक ओर अपने अनुवाद मे जर्मन वैदुष्य की प्रौढता का परिचय देते है वही भारतीय वैयाकरणो एव व्याख्याकारो के प्रति उनका आदर–भाव एव उनकी श्रद्धा भी स्पष्ट प्रकट होती है। प्राचीन भारतीय व्याख्या–पद्धति एव आधुनिक युरोपीय व्याख्या–पद्धति का जितना सुन्दर सामञ्जस्य प्रो० थीमे के लेखो तथा उनके अनुवाद मे प्राप्त होता है उतना किसी भी अन्य यूरोपीय विद्वान् की रचनाओ मे नही है।

प्रो० थीमे अपने अनुवाद मे तुलनात्मक भाषाशास्त्र को भी बहुत महत्त्व देते है। ग्रीक और लैटिन भाषाओ का उन्हे अच्छा ज्ञान है, इसलिए गूढ एव कठिन वैदिक शब्दो की व्याख्या के लिए कभी–कभी वे इन भाषाओ का भी सहारा लेते है। उदाहरण के लिए उनका मानना है कि वैदिक 'सलिल' शब्द 'नमकीन जल' का वाची है, और समुद्र के जल की ओर इगित करता है। इसकी पुष्टि मे वे लैटिन भाषा का 'Sal' (Salt) उद्धृत करते है, जिसका अर्थ 'लवण' होता है। उनका मानना है कि यह सज्ञा रूप मे संस्कृत मे लुप्त हो गया है, साथ ही थीमे सायण को भी पूर्ण महत्त्व और सम्मान प्रदान करते है और उनका यह भी कहना है कि सायण के द्वारा व्याख्यात् भारतीय परम्परा को समझे बिना ऋग्वेद का सही अर्थ नही जाना जा सकता।

प्रो० थीमे की वैदिक व्याख्या इसलिए भी अधिक प्रभावशाली एव विश्वसनीय होती है क्योकि वे प्राचीन भारतीय तथा भारोपीय आर्य–सस्कृति के उत्कृष्ट ज्ञाता है, और मन्त्रो मे छिपे हुए सास्कृतिक सन्दर्भो की बहुत उत्तम व्याख्या प्रस्तुत करते है।

इस प्रकार पाउल थीमे ने ऋग्वेद की व्याख्या के लिए तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एव परम्परागत वैदिक व्याख्या–पद्धति दोनो को अपनाया है।

पाश्चात्य पद्धति के गुण तथा दोष –

वेदार्थानुसन्धान के विषय मे प्रधानतया तीन मत मिलते है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र, इतिहास तथा तुलनात्मक देवशास्त्र, धर्म एव रीतिरिवाज। इनमे से पहिला मत पाश्चात्य भाष्यकारो का है और अन्य दो मत भारतीय भाष्यकारो का है।

पाश्चात्य भाष्यकारो के अनुसार वेदार्थानुशीलन हेतु तुलनात्मक भाषाशास्त्र तथा इतिहास की आवश्यकता तो है हि साथ ही साथ तुलनात्मक देवशास्त्र तथा भारतेतर देशो के धर्म तथा रीति–रिवाज का भी अध्ययन

अपेक्षित है, क्योकि इन दोनो की पारस्परिक तुलना ही हमे वैदिक धर्म के मूल स्वरूप का परिचय दे सकती है। इसी कारण इसे 'हिस्टारिकल मेथड' अर्थात् ऐतिहासिक पद्धति के नाम से पुकारते है।

भारतीय परम्परा के विषय मे पाश्चात्य भाष्यकार अत्यन्त उदासीन है। इनका तो यहॉ तक कहना है कि भारतीय व्याख्यान परम्परा का पक्षपाती होने से मूल अर्थ तक पहुॅच ही नही सकता है। अत ब्राह्मण टीकाकार के ऊपर पाश्चात्य भाष्यकार अन्धश्रद्धा का आक्षेप लगाते है, और रॉथ आदि प्राचीन वेदानुशीली पाश्चात्य भाष्यकार उसे वेदो के अर्थ करने के लिए सर्वथा अयोग्य ठहराते है, तथा जो भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ होकर भी भाषाशास्त्र, मानवशास्त्र आदि विषयो की जानकारी रखता है, उसे योग्य बताते है।

पाश्चात्य पद्वति मे कुछ गुणो के रहते हुए भी अवगुणो और दोषो की भरमार कम नही है वेदो का आविर्भाव इस आर्यावर्त मे हुआ। वेदो मे निहित बीजो को लेकर ही कालान्तर मे प्रणीत इस आर्यावर्त ने अनेक स्मृतियो की रचना देखी, अनेक दर्शनो का प्रादुर्भाव देखा और अनेक धर्मो के उत्थान तथा पतन का अवलोकन किया। अत वेद हमारी वस्तु है। हमारे ऋषियो ने आत्मज्ञानी विद्वानो ने तत्त्वो के साक्षात्कर्त्ता महर्षियो ने उनका जिस रूप मे दर्शन किया जिस प्रकार उनके गूढ रहस्य को समझा और समझाया, उसी रूप मे उन्हे देखना तथा उसी प्रकार से उनको समझना दुरूह श्रुतियो का वास्तविक अनुशीलन कहा जा सकता है। वेदो से भारतीयता को निकाल कर उन्हे भारतेतर विज्ञान तथा धर्म की सहायता से समझने का दु साहस करना 'मूले कुठाराघात' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है इस प्रकार वेदो का अर्थ करके तदनुसार वैदिक आर्यो के विषय मे इन लोगो ने विचित्र और अनर्गल बाते तक कह डाली है। इस बात के प्रामाण हेतु "शिश्नदेव" पद की परीक्षा को हम प्रस्तुत कर सकते है।

वैदिक काल मे इस आर्य– भूमि मे लिङ्ग पूजा थी कि नही ? वैदिक काल मे इन पाश्चात्य विद्वानो ने जिस शब्द के बल पर उसकी महत्ता बताई है वह शब्द है "शिश्नदेव" जो ऋग्वेद मे दो स्थानो पर (७/२१/५, १०/९९/३) आया है। पश्चिमी विद्वानो ने इस शब्द के उत्तर भाग को अभिधा–प्रधान मान कर इसके द्वारा यही अर्थ निकाला है कि उस समय लिङ्ग पूजा होती थी, परन्तु क्या वास्तविक अर्थ यह है ? सत्य तो यह है कि 'देव' शब्द आलङ्कारिक अर्थ मे (देव के समान) व्यवहृत हुआ है। वेद के पितृदेव, मातृदेव, आचार्य देव आदि शब्द इसी श्रेणी के शब्द है, परन्तु इनका अर्थ माता को पूजने वाला या पिता और आचार्य को पूजने वाला है ? तैत्तिरीय उपनिषद् (१/१) मे 'मातृदेवो भव' क्या इस अर्थ में आया हुआ है ? वहॉ तो यही अर्थ है कि माता को देवता की भॉति मानो–जानो। इसकी व्याख्या मे शङ्कराचार्य ने "देवतावद् उपास्या एते इत्यर्थ" यही लिखा है। अत इस श्रेणी के शब्दो का अर्थ इसी प्रकार होना चाहिए। 'श्रद्धादेव' शब्द 'शिश्नदेव' शब्द से भिन्न नही है। अत दोनो मे 'देव' को आलङ्कारिक ही मानना उचित है। ऐसी दशा मे 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ हुआ शिश्न (लिङ्ग) है देवता जिसका – अर्थात् कामक्रीडा मे निरत पुरूष। इसीलिए यास्क तथा सायण ने इस शब्द का अर्थ 'अब्रह्मचर्य' किया है। अत भारतीय भाष्यकारों ने सस्कृत

भाषा के व्यवहार के अनुकूल ही परम्परागत अर्थ 'अब्रह्मचर्य' ही माना है, परन्तु पश्चिमी विद्वानो ने इस प्रयोग मूलक परम्परागत अर्थ की अकारण उपेक्षा करके अप्रामाणिक तथा निर्मूल सिद्धान्त की उद्भावना की है।

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के 'कूर्मपित्तमके निधाय जपति' का अनुवाद करते समय जब जर्मन् विद्वान् ओल्डेनबर्ग 'कूर्मपित्त' शब्द के 'जलपूर्ण शराब' (घडे) वाले अर्थ की हॅसी उडाते हुए 'कूर्म' (कछुए) के पित्त को गोदी मे रखकर जपने की व्यवस्था देते है, तब हम जर्मन विद्वानो को क्या कहे ? गृह्य–पद्धति से परिचित ब्राह्मण टीकाकारो के अर्थ मे हम आस्था करे अथवा गृह्य से अपरिचित अहिन्दू जर्मन के अर्थ को हम प्रमाण कोटि मे माने ? यह प्रश्नचिह्न लग जाता है।

प्राचीन भाष्यों और आधुनिक व्याख्यानों का तुलनात्मक मूल्याड्कन –

सतुलित तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्राचीन भाष्यो और आधुनिक अनुवादो तथा व्याख्यानो के गुण–दोष–विवेचन के आधार पर उनका तुलनात्मक मूल्याड्कन अत्यावश्यक है। इनके गुण ग्राह्य और दोष त्याज्य है।

ऋग्वेद, समवेद तथा अथर्ववेद पर उपलब्ध भाष्यो में सायण– भाष्य सबसे अधिक विस्तृत तथा सम्पूर्ण है, यद्यपि अनेक वैदिक मन्त्रो तथा पदो के व्याख्यान मे अन्य भाष्यकारो से सायण का मतभेद है और कितने ही स्थलो पर अन्य भाष्यकारो ने सायण की तुलना मे अधिक ग्राह्य व्याख्यान सुझाये है, तथापि यह तथ्य स्वीकार करना पडता है कि कुल मिलाकर सायण सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार है और उसे ही प्राचीन भाष्यकारो का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, क्योकि सायण ने अनेक पूर्ववर्ती भाष्यकारो के व्याख्यानो का सार कही–कही अपने भाष्यो मे दे दिया है। सायण– भाष्य की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे लगभग प्रत्येक सूक्त तथा मन्त्र के विषय मे ऐसी समस्त सूचना देने का प्रयास किया गया है जो उस समय उपलब्ध हो सकी। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के भाष्य के आदि मे सायण कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार उस सूक्त का प्रतीक, ऋचाओ की सख्या, ऋषि, छन्द तथा देवता का परिचय देते है, तदनन्तर उस सूक्त या उसकी किसी ऋचा के विनियोग के विषय मे ब्राह्मण या श्रौतसूत्र मे जो सूचना उपलब्ध है उसे भी सायण उद्धृत करते है।

यदि उस सूक्त या उसकी किसी ऋचा से सम्बद्ध कोई कथा किसी ब्राह्मण, वृहद्देवता या अन्य किसी ग्रन्थ मे मिलती है तो उसे भी सायण अपने भाष्य मे प्रस्तुत करते है। मन्त्रो का भाष्य करते समय सायण उसके प्रत्येक पद का सरलार्थ देते है। यदि किसी प्राचीन ग्रन्थ (ब्राह्मण, निरुक्त आदि) मे उस मन्त्र का या उसके किसी शब्द का या उसमे वर्णित विचार का व्याख्यान मिलता है, तो सायण उसे भी अपने व्याख्यान में उद्धृत करते है। मन्त्रो के कठिन शब्दो का व्याख्यान करने के लिए निघण्टु से उद्धरण देने के अतिरिक्त सायण ब्राह्मणो के तथा यास्क के निर्वचन उद्धृत करते हैं और बहुत से स्थलों पर अपने स्वतन्त्र निर्वचन भी सुझाते है। अपने व्याख्यान के समर्थन मे सायण अनेक स्थलो पर ऋग्वेद–सहिता, तैत्तिरीय–सहिता तथा

अथर्ववेद के मन्त्र उद्‌धृत करते है। शब्दो की रूपरचना का व्याख्यान करने के लिए सायण पूर्णतया पाणिनीय व्याकरण का सहारा लेते है और शब्दरचना तथा स्वर–सम्बन्धी विशेषताओ को समझाने के लिए पाणिनीय व्याकरण के सूत्रो या वार्तिको का निर्देश करते है। आवश्यकता पडने पर सायण उणादि सूत्रो का भी सङ्केत करते है।

सायण ने अपने भाष्य मे कही–कही किसी मन्त्र या शब्द के अनेक वैकल्पिक व्याख्यान सुझाए हैं, जिसमे से कुछ वैकल्पिक व्याख्यान अन्य पूर्ववर्ती भाष्यकारो के मत का प्रतिनिधित्व करते हैं यह एक निश्चित तथ्य है कि सायण भाष्य मे अनेक प्राचीन भारतीय परम्पराएँ अनुस्यूत है और सम्पूर्ण भाष्य एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नही है।

उपर्युक्त विशेषताओ के होते हुए भी यह नही कहा जा सकता है कि सायणभाष्य सर्वथा अदोष अर्थात् दोषरहित तथा पूर्णतया ग्राह्य है। सायणभाष्य मे सबसे अधिक खटकने वाला दोष यह है कि सायण द्वारा सुझाये गये विभिन्न अर्थो मे यत्र–तत्र सामञ्जस्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है सायण एक स्थल पर किसी वैदिक शब्द का जो अर्थ सुझाते है उससे भिन्न और कही–कही विरोधी अर्थ उसी प्रकार के प्रसङ्ग मे सुझाते है।

दूसरा दोष यह है कि उपलब्ध परम्पराओ या व्युत्पत्तियो के आधार पर सायण एक मन्त्र या शब्द के विभिन्न वैकल्पिक व्याख्यानो का सङ्ग्रह तो प्रस्तुत कर देते है, परन्तु वह इस बात का समाधान नही करते हैं कि उनमे से कौन सा व्याख्यान ग्राह्य है। किसी मन्त्र या शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे सन्देह होने पर भी सायण अवश्यमेव व्याख्यान करते है और कही पर भी वह किसी मन्त्र या शब्द को व्याख्यान के बिना नही छोडते हैं। अतएव इस प्रकार के सन्दिग्धार्थ एव व्याख्यान भावी व्याख्याकारो के मार्ग मे बाधा डालते है, क्योकि पुराने प्रचलित व्याख्यान का पक्षपात नया व्याख्यान सोचने की स्वतन्त्रता को कम करता है।

सायणभाष्य का तीसरा दोष यह है कि वैदिक मन्त्रो के व्याख्यान मे कही–कही उत्तरकालीन पौराणिक कथाओ तथा विचारो का अभाव लक्षित होता है और इससे वैदिक व्याख्यान की दिशा बदल जाती है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद (१०/१४२/७) के व्याख्यान में सायण महाभारत मे वर्णित खाण्डवदाह की कथा का निर्देश करते है इसी प्रकार सायण अनेक वैदिक शब्दो के ऐसे अर्थ सुझाते है, जो उत्तरकालीन भाषा मे प्रचलित है, परन्तु वैदिक विचारधारा से मेल नही खाते है। वैदिक शब्दो के रूपो के समाधान मे सायण को जहॉ कही कोई कठिनाई प्रतीत होती है वहॉ पर वह निर्बाधरूप से "व्यत्ययो बहुलम्", "वा छन्दसि" इत्यादि पाणिनीय सूत्रों से मनमाना रूप सिद्ध कर लेते हैं और मनमानी प्रक्रिया के अनुसार, किसी भी वैदिक शब्द का रूप किसी भी पुरूष या वचन आदि मे घटाया जा सकता है। परन्तु वैदिक शब्द–प्रयोग ऐसी मनमानी का समर्थन नही करते है और यह प्रमाणित करते है कि अन्य भाषाओ की भॉति वैदिक भाषा भी पुरूष, वचन तथा लकार आदि के विषय मे व्याकरण के निश्चित नियमों का पालन करती है। अन्य भाष्यकारो के भाष्यो मे भी इस प्रकार की प्रवृत्तियॉ दृष्टिगोचर होती हैं।

प्राचीन भारतीय भाष्यकारो की उपर्युक्त अपूर्णताओ के कारण बैनफी तथा रॉथ आदि पाश्चात्य भाष्यकार भारतीय भाष्यकारो के वैदिक व्याख्यान को हेय मानकर इस मत का प्रतिपादन करने लगे कि भारतीय भाष्यकारो की तुलना मे आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् अपने तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर वैदिक मन्त्रो का अर्थ अधिक अच्छी तरह और निष्पक्ष रूप से समझ सकते है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय भाष्यकारो के व्याख्यान के प्रति अनादर तथा उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया परन्तु सभी पाश्चात्य विद्वान् इस पक्षपातपूर्ण विचारधारा के समर्थक नही है और कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी वैदिक व्याख्यान के लिए प्राचीन भाष्यकारो के योगदान का यथोचित आदर करते है।

यहॉ पर यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि आधुनिक विद्वानो के अधिकतर अनुवाद तथा व्याख्यान प्राचीन भाष्यकारो के व्याख्यानो की भित्ति पर आधारित हैं और केवल थोडे से अंशो के कुछ गिने चुने मन्त्रो तथा शब्दो के सम्बन्ध मे वे अपनी व्याख्यान स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त कर पाये है। उदाहरणार्थ सायण के कटु आलोचक रॉथ की सुप्रसिद्ध कृति "Sanskrit Worterbuch" को ही लीजिये जिसमे दिये गये अधिकतर वैदिक अर्थ सायणभाष्य के अर्थो से भिन्न नही है, अन्तर केवल इतना है कि रॉथ द्वारा निबद्ध अर्थ सुव्यवस्थित है। जबकि सायणभाष्य मे ये अर्थ इधर–उधर असङ्गत तथा अव्यवस्थित ढग से बिखरे पडे है।

मैने प्राचीन भाष्यकारो और पाश्चात्य विद्वानो के वैदिक व्याख्यानो का जो तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है उसमे स्पष्ट होता है कि अनेक स्थलो पर आधुनिक व्याख्यानो की तुलना मे प्राचीन भाष्यकारो के व्याख्यान अधिक समीचीन है, अतएव हम इस निष्कर्ष कर पहुँचते है कि वैदिक मन्त्रो के अर्थ को निर्धारित करने के लिए प्राचीन भाष्यकारो के उपलब्ध व्याख्यानो का परिशीलन अत्यावश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानो के इस उद्घोषित सिद्धान्त से कोई मतभेद नहीं हो सकता कि वेद का व्याख्यान स्वयं वेद की सहायता से ही किया जानना चाहिए और उत्तर कालीन वाह्य विचारो तथा पक्षपातो को वेद पर नही थोपना चाहिए। इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानो ने जितना वैदिक व्याख्यान किया है वह सराहनीय तथा ग्रह्य है।

सायणभाष्य का महत्त्व बताते हुए अग्रेज सस्कृतज्ञ एच एच विल्सन ने सम्पूर्ण ऋग्वेद के सायणानुसारी अग्रेजी अनुवाद की भूमिका मे लिखा है कि "सायण किसी भी यूरोपीय विद्वान् से अधिक ज्ञान रखते थे। वेद की अभिव्यक्ति की समीक्षा करने मे जितने सक्षम सायण थे उतने यूरोपीय भाष्यकार नहीं थे"। मैक्समूलर ने भी कहा है कि "अन्य समीक्षाकारो की तुलना मे सायण की ऋग्वेद की समीक्षा अधिक तर्कसङ्गत है।"

आर पिशल तथा के एफ गैल्डनर नामक जर्मन वेदज्ञो ने रॉथ आदि पाश्चात्य विद्वानो द्वारा भारतीय भाष्यकारो के विरूद्ध चलाये गये अभियान का खण्डन किया और उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया कि आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार व्याख्यान करते हुए भी सहायता मिल सकती है उस का पूर्ण उपयोग

करना चाहिए क्योकि वेदो की भारतीय पृष्ठभूमि के कारण भारतीय–भाष्यकार इन्हे समझने मे अधिक समर्थ है।

यह माना जा सकता है कि प्राचीन भाष्यकारो के भाष्यों मे अनेक अपूर्णताएँ है और उन के वैदिक व्याख्यान पूर्णतया ग्राह्य नही है, परन्तु इनका अभिप्राय यह नही है कि उन के भाष्य सर्वथा हेय है और उनका कोई भी व्याख्यान शुद्ध नही है जिस प्रकार स्कन्दस्वामी, वेड्कटमाधव, उव्वट, महीधर तथा सायण इत्यादि प्राचीन भाष्यकारो के व्याख्यानो मे पारस्परिक मतभेद है, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानो का भारतीय भाष्यकारो से मतभेद होने के अतिरिक्त आपस मे भी काफी मतभेद है, और किसी विषय पर पूर्ण मतैक्य नही है। परन्तु यह मानना एक भूल होगी कि सभी पाश्चात्य विद्वानो के द्वारा किए गये सब प्रकार के वैदिक व्याख्यान या अनुवाद इस उद्घोषित सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है और वे सब प्रकार के मानवीय पक्षपातो तथा अपूर्णताओ से मुक्त है। जहॉ प्राचीन भारतीय भाष्यकारो के पक्षपात तथा झुकाव एक प्रकार के है, वहॉ पाश्चात्य विद्वानो के पक्षपात तथा पूर्वाग्रह दूसरे प्रकार के है।

जहॉ प्राचीन भाष्यकार उत्तरकालीन पौराणिक कथाओ तथा विश्वासो के अनुसार वेदो का व्याख्यान करने का प्रयास करते है, वहॉ पाश्चात्य विद्वान् वेदो मे आदिम युग की अत्यधिक पिछडी हुई तथा अन्धविश्वासग्रस्त सस्कृति का पूर्णरूप खोजने मे तत्पर रहे है और अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् वैदिक सस्कृति को पक्षपातपूर्ण दृष्टि से देखते रहे है।

"Religion des Veda" नामक ग्रन्थ मे ओल्डेनबर्ग वैदिक देवताओ तथा उपासको को असभ्य कहते हैं "Veda Forschung" नामक ग्रन्थ की भूमिका मे यह विद्वान् इस धार्मिक पक्षपात को स्वीकार करते है कि हमारे यूरोपीय विद्वानो के धार्मिक साहित्य से वैदिक ग्रन्थो का आत्मीयता का सम्बन्ध नही है जो कि एक भावात्मक आकर्षण को जगा सके। अपने धार्मिक ग्रन्थो के साथ वेद की तुलना करते हुए अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने अपने उद्गारो मे अपने आन्तरिक पक्षपात को अभिव्यक्त किया है।

वेद के विरूद्ध इस प्रकार पक्षपात के बहुत से उदाहरण है, और खेद का विषय है कि गत डेढ सौ वर्षो के वैदिक अनुसन्धान तथा अध्ययन के पश्चात् भी पाश्चात्य देशो मे यह पक्षपात पूर्ववत् बना हुआ है, अपितु कुछ अधिक उग्र होता हुआ प्रतीत होता है।

उपर्युक्त पक्षपात के होते हुए भी पाश्चात्य सस्कृतज्ञ वैदिक व्याख्यान की कठिनाइयो को स्वीकार करते है और वैदिक–सस्कृति का वर्णन करते समय कुछ सतर्कता से काम लेते हैं। वे स्वय वेद के अनुवाद को अन्तिम तथा पूर्ण न मानकर केवल आनुमानिक बताते है और स्वीकार करते हैं कि बहुत से वैदिक मन्त्रो का अर्थ सन्दिग्ध तथा अस्पष्ट है, विन्टरनिट्स, ग्रिफिथ तथा मैक्सूलर इस तथ्य को नि:सञ्कोच स्वीकार करते है कि अब तक वेद के कितने ही अशो का अर्थ सदिग्ध है।

विन्टरनिट्स द्वारा निर्दिष्ट किया गया है कि पाश्चात्य संस्कृतज्ञो ने वेद के साथ यह अन्याय किया कि उन्होने अर्थ समझे बिना अनेक स्थलो का मनमाना अनुवाद कर डाला, परन्तु वेद के साथ इस से अधिक अन्याय उन तथाकथित आधुनिक इतिहासज्ञो ने किया है, जिन्होने वेद के दर्शन किए बिना केवल अशुद्ध अनुवादो के आधार पर अपनी कल्पनाओ के द्वारा वैदिक सस्कृति के विषय मे भ्रान्तिपूर्ण धारणाओ का किला खडा कर दिया है। उदाहरणार्थ– "Prehistoric India" नामक पुस्तक के लेखक स्टुअर्ट पिगट ने स्वय इस तथ्य को स्वीकार किया है कि उसने ग्रिफिथकृत अग्रेजी अनुवाद को अपने ऋग्वेद सम्बन्धी कथनो का आधार बनाया है। इसके अतिरिक्त वह इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि सास्कृतिक तथ्यो के लिए ऋग्वेद का प्रयोग करने मे भारी कठिनाइयॉ है क्योकि सूक्तो मे अचानक शाब्दिक से आलङ्कारिक वर्णन आ जाता है और आर्य सेनानी का भौतिक युद्ध–रथ अचानक मध्याह्न के सूर्य मे बदल जाता है। ऐसा स्वीकार करते हुए भी पिगट ने उपर्युक्त पुस्तक मे यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद मे वर्णित आर्यो ने बाहर से आक्रमणरियो के रूप मे प्रवेश करके सिन्धुघाटी–सभ्यता के नगरो को ध्वस्त किया और उनके निवासियो का वध किया। ऋग्वेद के किसी मन्त्र के निश्चित व्याख्यान के आधार पर पिगट के इस पक्षपातपूर्ण मत को सिद्ध नही किया जा सकता परन्तु खेद की बात है कि पश्चिम के तथाकथित इतिहासज्ञ इस प्रकार के निराधार मतो का निष्पक्ष अन्वीक्षण किए बिना उन्हे प्रचारित करने मे तत्पर रहते है, क्योकि वे अपने पक्षपातो तथा पूर्वाग्रहो को छोडने मे असमर्थ है।

पाश्चात्य विद्वानो की पद्धति का एक प्रमुख दोष यह है कि ऋग्वेद आदि का व्याख्यान करते समय वे वैदिक शब्दो का प्रायेण ऐसा शाब्दिक तथा अनुपयुक्त अनुवाद करते है, जिसमे प्राचीन वैदिक शब्दो के लिए उत्तरकालीन लौकिक अर्थ दिये जाते हैं और इस सन्दर्भ मे वैदिक विचारधारा, प्रयोग तथा शैली की ओर यथोचित ध्यान नही दिया जाता है। इस अन्धाधुन्ध शाब्दिक तथा अस्पष्ट अनुवाद के पढने से पाठको के मन मे भारी भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार सायण आदि भाष्यकार वैदिक रूपो की कठिनाई को पार करने के लिए "व्यत्ययो बहुलम्" इत्यादि पाणिनीय सूत्रो का सहारा लेते है, उसी प्रकार ग्रासमैन, लुड्विग, ओल्डेनबर्ग आदि अनेक पाश्चात्य विद्वान् वैदिक–भाषा की कठिनाइयॉ उपस्थित होने पर यत्र–तत्र पाठ–सशोधन का सुझाव देते है, परन्तु गैल्डनर, मैक्डानल, लुईरेनू आदि पाश्चात्य विद्वान् पाठ–सशोधन की प्रवृत्ति के पक्ष मे नही है।

"व्यत्ययो बहुलम्" तथा पाठ–सशोधन का सहारा लेना निराशा तथा असमर्थता का सूचक है, क्योकि जब विद्वानो को वैदिक–भाषा की कठिनाई के समाधान का कोई मार्ग नही सूझता है, तब वे इन लचीले तथा अनिश्चित उपायो की शरण मे आकर मनमाना अर्थ लगाते है। मनमाना अर्थ सदा गहरे पक्षपातो तथा पूर्वाग्रहो का अनुगमन करता है। तदनुसार जहॉ भारतीय भाष्यकार वेदो मे उत्तरकालीन (याज्ञिक, पौराणिक तथा दार्शनिक) विचारधारा का दर्शन पाते हैं, वहॉ पाश्चात्य विद्वान् वेदो मे आदिम, पिछडी हुई तथा

अन्धविश्वासग्रस्त सस्कृति और जातीय सघर्ष (आर्यो और आदिम जातियो के सघर्ष) का वर्णन पाते है। सब प्रकार के आलड्कारिक प्रयोगो तथा प्रसड्गो की सर्वथा उपेक्षा करके अनेक स्थलो पर वैदिक मन्त्रो का मनमाना अनुवाद करते है। यथा– लुड्विग ऋग्वेद सहिता के ७/८३/१ के समस्त पद 'पृथुपर्शव' को सज्ञावाचक मानकर इसका अनुवाद "पार्थियन तथा पार्शियन लोग" करते है।

वेदो के समीक्षा के प्रश्न पर "प्राचीन पवित्र पुस्तके जो सस्कृत–साहित्य मे भाषा–शैली एव विषय के बिन्दुओ पर एक दूसरे से भिन्न है," ऐसा यूरोप के विद्वान् गोल्डस्टुकर ने प्राचीन मीमासाकारो, आलोचको जैसे–सायण, यास्क, महीधर आदि के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए कहा है। गोल्डस्टुकर का मानना है कि समय की स्थिति को ध्यान मे रखते हुए देखा जाय तो जो जितना ही प्राचीन आलोचक या मीमासाकार है वह उतना ही अच्छा समीक्षक है। वेद और व्याकरणाचार्य मे जितनी ही दूरी होती गई उतना ही हमे आगे सोचने तथा देखने के लिए आधार मिलता गया । इस दृष्टि से पणिनि से यास्क मे अन्तर्विरोध होते हुए भी पाणिनि वेद के अधिक निकट होने के कारण सक्षम प्रतीत होते हैं और गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन तथा, अन्य पाणिनि के पूर्व के मीमासको तथा व्याख्याकारो पर गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए, यदि हम इस बात को महसूस करते है कि वो वैदिक शब्दो के प्रति सज्ञान रखते है ऐसी टिप्पणी सहिता से सम्बन्धित है, जो पाणिनि के बाद के समय पर लागू होती है परन्तु जहॉ तक साहित्य का प्रश्न है पाणिनि के पूर्व के कात्यायन तथा पतञ्जलि को अधिक सक्षम माना है। गोल्डस्टुकर के अतिरिक्त वेदो की समीक्षा के प्रश्न पर यूरोपियन विद्वानो मे प्रोफेसर रॉथ जो कि इस विषय के अधिकारी एव अध्यापक माने जाते है बहुत प्रसिद्ध है एव प्रमुख माने जाते है। रॉथ ने अपने वृहद् सस्कृत शब्दकोश जो 'रसियन इम्पीरियल एकडमी' से प्रकाशित हुआ उसके आमुख मे कहा है कि हम लोग विश्वास नही करते जैसे एच एच विल्सन करते है कि सायण वेद के अर्थ को अधिक समझते है। यूरोपीय विद्वानो की तुलना में हम लोग ऐसा नही मानते जबकि हम यह विश्वास करते है कि एक सजग, सचेत एव सूक्ष्मदर्शी यूरोपीय विद्वान् भी वेद समझ सकता है एव सायण से भी अधिक सही अर्थ समझ सकता है, यही कारण है कि हम आलोचको और अनुवादको ने जो मार्ग छोड दिया है या जिस पर नही चले है ऐसे मन्द और कठिन मार्गो पर भी चल कर वेद के शब्द और उसके अर्थ को जानने का प्रयास करना चाहते है। हम लोगो का कार्य व्याख्या, विवेचन, विश्लेषण तथा विवेचनकर्त्ता एव शब्दकोष निर्माणकर्त्ता की भॉति हो गया जो शुद्ध रूप से शब्दो की व्युत्पत्ति, अर्थ के विकास एव भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसरण से सम्भव होगा।

प्रोफेसर रॉथ का कहना है कि – यदि हम उपर्युक्त विचार एव सिद्धान्तो का विश्लेषण करे तो निम्नलिखित निष्कर्ष नि.सृत होते है –

१. सायण ने हम लोगो को वेदो का वह अर्थ एव भाव बताया जो कुछ शताब्दियों पहले भारत मे प्रचलित थे।

२. प्रोफेसर रॉथ, सायण तथा अन्य व्याख्याकारो से कही अधिक सही वेदो का अर्थ देने मे सक्षम है।

३. प्रोफेसर रॉथ दस से बीस गद्याशो एव वाक्य समूहो मे एक साथ वेद के एक ही अर्थ का वर्णन कर सकते है। जबकि सायण तथा अन्य व्याख्याकार ऐसा नही कर सकते, वे केवल वेद के शब्द के अर्थ का अनुमान कर सकते है।

४. प्रोफेसर रॉथ ने शुद्ध भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया एव पद्धति से अपने को सीमित किया है, जो सायण तथा अन्य आलोचको से उच्च स्तर का है।

५. रॉथ का उद्देश्य कुछ शताब्दियो पूर्व भारत मे प्रचलित वेद के भावार्थ को समझना मात्र नही था बल्कि उसके मन्त्रो एव गीतो के अर्थो को भी जानना था जो भारत के व्याख्याकारो ने वेदो का अर्थ एव व्याख्या किया है।

६. प्रोफेसर राथ यूरोप के एक चैतन्य, सजग एव प्रबुद्ध यूरोपीय विद्वान् व्याख्याकार एव लेखक है।

इन उपर्युक्त दृष्टिकोणो को समाहित करते हुए प्रोफेसर रॉथ एव गोल्डस्टुकर ने एक–एक के ऊपर आलोचना करने की योजना बनायी जो निम्नलिखित है –

प्रोफेसर रॉथ के उपर्युक्त दृष्टिकोणो को उद्धृत करते हुए गोल्डस्टुकर ने सक्षिप्त आलोचना क्रमश इस प्रकार प्रस्तुत की है –

१. सायण एव अन्य विवेचक अर्थात् समीक्षक एवं व्याख्याकार वेद के विषय मे केवल वह ज्ञान कराते है, जो कुछ शदियो पूर्व भारत मे प्रचलित था। सायण ने सदैव यास्क को सन्दर्भित किया है, उनकी सभी व्याख्याएँ प्राचीनतम महाकथाओ एव परम्पराओ पर आधारित प्रतीत होती हैं फिर भी रॉथ ने सार्वजनिक रूप से दृढता पूर्वक बिना साक्ष्य प्रस्तुत किए तथा बिना उदाहरण दिए यह कहने का साहस किया है कि ऋग्वेद के कथन एव वर्णन कुछ शताब्दी पुराने अर्थात् प्राचीन है।

२ प्रोफेसर रॉथ ने अपने को वेदो की विवेचना करने मे सायण से भी अधिक सक्षम माना है। गोल्डस्टुकर की राय में रॉथ यह घोषित करना चाहते थे कि सायण जो कुछ जानते थे उन सबके बारे मे वे अवगत थे या है, लेकिन जब रॉथ ने पेरिस, लन्दन एव आक्सफोर्ड मे सायण की वैदिक व्याख्याओं का सङ्कलन किया है अपने शब्दकोष को तैयार करने के उद्देश्य से, अत. इससे पता चलता है कि रॉथ सायण के मात्र पहले प्रथमाष्टक तक ही परिचित थे और जब उन्होने ऐसा घोषित किया है तब तक हो सकता है वे तृतीयाष्टक तक परिचित हो गए हो फिर भी रॉथ ने यह कहने का साहस किया कि वे जो सायण नही कर सके वह राॅथ कर सकते है।

३. तीसरे आलोचना के बिन्दु पर गोल्डस्टुकर ने प्रोफेसर रॉथ को विक्षिप्त माना है, चूँकि प्रोफेसर रॉथ ने यहाँ तक कह दिया था कि सायण प्रोफेसर रॉथ के समान दस–बीस गद्याशो को भी एक साथ नही प्रस्तुत कर सकते इसलिए गोल्डस्टुकर ने ऐसा कहा।

वेड्कटमाधव तथा सायण भारत के उन प्रसिद्ध विद्वानों मे तथा तीनो वेदो के व्याख्याताओ मे जो प्रसिद्ध ब्राह्मण एव कल्पकृति के प्रसिद्ध मीमासक महान् व्याकरणाचार्य जिन्होने विद्वतापूर्ण व्याख्या सस्कृत के आधारभूत तथ्यो का किया है जिनके प्रत्येक कृतियो से यह पता चलता है कि पाणिनि, कात्यायन तथा भारत के धर्म–शिव स्थापना आदि महाकथाओ के ज्ञान–सागर के कारण महान् माने जाते है, उनके विषय मे प्रोफेसर रॉथ ने ऐसा कहा इसलिए गोल्डस्टुकर ने प्रोफेसर रॉथ को विक्षिप्त माना है।

४. चौथे बिन्दु पर रॉथ ने सायण के प्रति यह आरोप लगाया कि उन्होने पूर्णत· शब्दो के मूल स्रोत के आधार पर वैदिक शब्दो का अर्थ प्रस्तुत किया है। गोल्डस्टुकर की राय मे प्रोफेसर रॉथ का यह कथन अति साहसपूर्ण लगा चूँकि प्रोफेसर रॉथ के शब्द–कोश में बहुत से ऐसे शब्दार्थ है जो व्याकरण पर आधारित नही है, इससे प्रतीत होता है कि रॉथ का कथन चूँकि व्याकरण के ज्ञान पर आधारित नही है बिल्कुल शून्य मात्र है।

५. रॉथ ने यहाँ तक कहा है कि सायण ने वेद के प्रति शताब्दियो से प्रचलित एव मान्य ज्ञान को आधार माना जबकि उन्हे यह मानना चाहिए था, कि जो कुछ कवियो ने अपनी कविताओ और गीतो मे कहा है उसको आधार माना एव वही आधार है। इस बात पर गोल्डस्टुकर ने रॉथ का उपहास यह कह कर उडाया कि रॉथ उन आत्म–ज्ञाता ऋषियो की भॉति है, जो न गड्गा के किनारे तपस्या किए हो और न तमसा के किनारे। इसके पश्चात् गोल्डस्टुकर ने बडा ही बल देकर कहा है कि जब रॉथ को व्याकरण का ज्ञान नही था तो सायण के प्रति ऐसी धारणा नही माननी चाहिए।

६. जहाँ तक रॉथ ने वेद के प्रति यह कहा है कि यूरोपियन विद्वान् सायण से अधिक सही एव विस्तार से वेद के अर्थ को समझ सकते है। इस बिन्दु पर गोल्डस्टुकर ने अपनी आलोचना इस प्रकार की है कि वैज्ञानिक विश्लेषण करने वालो मे अग्रणी थे डा० बोथलिग, लेकिन जहाँ तक रॉथ का प्रश्न है वे पाणिनि एव कात्यायन के आसान से आसान नियमो को समझने मे सक्षम नही थे जो उनके शब्दकोश के अवलोकन से पता चलता है। उनका शब्दकोश सस्कृत–शब्दकोष के लक्ष्य एव उद्देश्यों से परे या रहित है जबकि उसका वास्तविक उद्देश्य संस्कृत–भाषा के प्रति होना चाहिए वहा जैसा है उसे वैसा ही रखना चाहिए न कि उसके प्राचीन अर्थो मे तोड–मरोड करना चाहिए। इसके अतिरिक्त रॉथ ने तथ्यो और सामग्रियो को भी प्रस्तुत नही किया है जिससे विशेषज्ञो और समालोचको को मदद मिल सके।

मैक्समूलर के अनुसार "ऋग्वेद की समीक्षा अन्य समीक्षाकारो की तुलना मे सायण की समीक्षा अधिक तर्कसड्गत है", किन्तु मैक्समूलर की मान्यताओ के कारण स्वतन्त्र समीक्षा के लिए स्वाध्याय और स्वानुभूति परक तथा स्वानुभूत्यात्मक विश्लेषण पर बल दिया है, अर्थात् वे स्वत· वैदिक ग्रन्थों का शोधात्मक अध्ययन

करने एव स्वतन्त्र तथा मौलिक समीक्षा मे विश्वास रखते है, सायण की व्याख्या–पद्धति का अन्धानुकरण करने मे नही।

प्रोफेसर ई बी कावेल ने अपने द्वारा सम्पादित "विल्सन द्वारा ऋग्वेद सहिता का अनुवाद" के पॉचवे भाग के आमुख मे कहा है कि यह कृति ऋग्वेद का पूर्ण अनुवाद नही माना जा सकता अथवा यह सम्पूर्ण अनुवाद नही है, बल्कि यह एक सायण द्वारा प्रस्तुत मध्यकालीन हिन्दू व्याख्याकार की समीक्षा की मात्र एक झलक प्रस्तुत करता है।

यूरोपीय विचारको मे इस बात पर बहुत ज्यादा मतभेद है कि सायण वेद की समालोचना करने की योग्यता रखते थे या नही। विल्सन जो कि सायण के द्वारा अनुदित ऋग्वेद के अग्रेजी अनुवादक थे उन्होने यह माना है कि "सायण का ज्ञान यूरोपीय विचारको के अनुमान की सीमा के परे था और सायण को परम्परागत ढग से वेदो का पूर्ण ज्ञान था।"

अल्फर्ड लुड्विग वे पहले व्यक्ति है जिन्होने यह माना है कि प्रारम्भिक समीक्षाकारो को ऑखमूॅद कर अनुसरण नही करना चाहिए फिर भी उनका यह विश्वास है कि जो समीक्षक अखण्डित परम्पराओ पर अपने विचार आधारित किए है, वे सम्मान के योग्य हैं जैसे –सायण, यास्क, महीधर आदि।

पूरब के कुछ विद्वान् गोल्डस्टुकर की भॉति यह मानते है कि केवल भारतीय लेखक जैसे सायण एव उनके बाद के व्याख्याकार वेदो की समीक्षा एवं सही–सही विवेचना करने मे सक्षम रहे है जबकि पिशेल और गैल्डनर के अनुयायियो का कहना है कि भारतीय विद्वान् जो अपने पारम्परिक ज्ञान के साथ–साथ यूरोपीयन विद्वानो पर जो भाषाविज्ञान के ज्ञान के लिये निर्भर रहते हुए वेदो की व्याख्या या समीक्षा करते है वे अधिक सक्षम होते है। उपर्युक्त दोनो मे बाद वाली विधि अधिक उपयुक्त प्रतीत हो रही है जहॉ तक वेदो की व्याख्या का प्रश्न है।

प्रोफेसर गोल्डस्टुकर के अनुसार "वेद के भारतीय व्याख्याकारो, टीकाकारो एवं समीक्षाकारो से ज्ञान मिलता है फिर भी ऐसा लगता है कि हिन्दू–धर्म सम्बन्धी ज्ञान के द्वार पर अभी हम नि स्तब्ध खडे है और दस्तक दे रहे है।" इससे प्रतीत होता है कि गोल्डस्टुकर जैसा भारतीय समीक्षकारो का प्रबल समर्थक भी यूरोपीय समीक्षाकारो से अधिक अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानो के सभी वैदिक व्याख्यान तथा अनुवाद पूर्णतया ग्राह्य नही है और प्राचीन भाष्यकारो के व्याख्यानो की भॉति आधुनिक विद्वानो के व्याख्यानो तथा अनुवादो को भी वैदिक प्रयोग, प्रसड्ग तथा प्रधान वैदिक विचारधारा की कसौटी पर परख कर निष्पक्ष विवेचन के पश्चात् नीर–क्षीर–विवेक द्वारा ग्रहण करना चाहिए।

वैदिक व्याख्यान के ग्राह्य सिद्धान्त –

प्राचीन पौरस्त्य भाष्यकारो के भाष्यो एव पाश्चात्य व्याख्याकारो के व्याख्यानो का तुलनात्मक मूल्याड्कन करने के पश्चात् यह स्पष्ट है कि वैदिक व्याख्यान के विषय मे किसी भी एक व्याख्यातृ–वर्ग या सम्प्रदाय का अन्धानुकरण अवाञ्छनीय है, चाहे वे प्राचीन भारतीय भाष्यकार हो या आधुनिक पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वान् एव व्याख्याकार हो, इन के व्याख्यानो मे दृष्टिकोण के भेद के साथ–साथ सत्यनिष्ठ तथा निष्पक्ष मतभेद भी सम्भव है। उदाहरणार्थ – ऋग्वेद–सहिता के प्रथम मन्त्र की व्याख्या मे 'पुरोहितम्', 'यज्ञस्य' तथा 'देवम्' पदो के अन्वय के विषय मे प्राचीन भाष्यकारो की भॉति आधुनिक विद्वानो मे भी मतभेद है। अतएव वैदिक व्याख्यान के क्षेत्र मे किसी एक मत का अन्धानुकरण न करके निम्नलिखित सिद्धान्तो के अनुसार वेदार्थ का निश्चय करना अधिक युक्तियुक्त तथा समीचीन होगा।

१. सर्वप्रथम प्रत्येक मन्त्र के उपलब्ध पदपाठ का अवलोकन करके उससे यथोचित सहायता अवश्य लेनी चाहिए, चाहे हम उस पदपाठ से पूर्णतया सहमत न भी हो।

२. प्रातिशाख्य, पाणिनि तथा आधुनिक विद्वान् भी वैदिक छन्द के प्रत्येक पाद को स्वर तथा सन्धि की दृष्टि से, एक महत्त्वपूर्ण इकई स्वीकार करते है और पदो के पारस्परिक अन्वय तथा वाक्य–रचना की दृष्टि से यह पादरूपी इकाई अनेक स्थलो पर वैदिक व्याख्यान मे सहायक सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ– ऋग्वेद–सहिता १/१/१ के व्याख्यान मे द्वितीय पाद के 'यज्ञस्य' पद को प्रथम पाद के 'पुरोहितम्' पद की अपेक्षा समानपाद के 'देवम्' पद से अन्वित करना अधिक युक्तियुक्त है।

३. प्रत्येक मन्त्र का व्याख्यान करते समय हमे इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि यह मन्त्र वैदिक वाड्मय के कौन–कौन से अन्य ग्रन्थो मे किस–किस प्रसड्ग मे प्रयुक्त हुआ है, क्योकि ऐसे प्रयोगो तथा प्रसड्गो के विश्लेषण से भी व्याख्यान मे कही–कही सहायता मिल सकती है।

४. प्राचीन तथा अर्वाचीन व्याख्याताओ के व्याख्यानो मे से किसी एक व्याख्यान को स्वीकार करना हमारे लिये आवश्यक नही है। यदि वैदिक प्रयोग तथा प्रसड्ग विद्यमान् व्याख्यानो मे से किसी भी व्याख्यान का समर्थन न करता हो और एक भिन्न अर्थ की ओर सड्केत करता हो, तो वही ग्राह्य है। जहॉ पर वैदिक प्रयोगो की सहायता उपलब्ध न हो, तो प्रधान वैदिक विचारधारा तथा प्रवृत्तियो के आधार पर अर्थनिर्णय का प्रयास करना चाहिए।

५. जो भी प्राचीन या अर्वाचीन व्याख्यान वैदिक प्रयोग के अनुसार है वही ग्राह्य है, उसका व्याख्याता चाहे स्कन्दस्वामी, वेड्कटमाधव या सायण आदि प्राचीन भाष्यकार हो, अथवा ग्रासमैन, गैल्डनर या मैक्डानल आदि आधुनिक विद्वान् हो। उदाहरणार्थ – ऋग्वेद के १/१/३ के 'पोषम्' पद का सायण द्वारा सुझाया गया व्याख्यान श्रेष्ठ है, जबकि ऋग्वेद १/१/७ के 'दोषावस्त.' पद का स्कन्दस्वामी द्वारा किया गया व्याख्यान

प्रायेण ग्राह्य है और अधिकतर पाश्चात्य विद्वानो का व्याख्यान भी लगभग उसी से मिलता—जुलता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के २/३३/६ के 'भूरे' तथा ३/३३/८ के 'आ घोषान्', ३/५६/७ के 'श्रवोभि' का जो व्याख्यान वेङ्कटमाधव करते है वही ग्राह्य है जिसे अधिकतर आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते है। कही—कही आधुनिक विद्वानो के व्याख्यान भी अधिक उपयुक्त तथा ग्राह्य है।

६. जो उत्तरकालीन भारतीय साहित्य भौगोलिक वातावरण तथा विचारधारा की दृष्टि से विदेशी इण्डोयोरोपीय साहित्य की तुलना मे वैदिक साहित्य के अधिक समीप है एव वह साहित्य वैदिक व्याख्यान के क्षेत्र मे विदेशी साहित्यो से अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ महाभारत को ही ले लीजिए जिसमे बहुत सी वैदिक गाथाएँ तथा परम्पराएँ निबद्ध है। ऋग्वेद के ३/२३/४ के 'मानुष' पद के व्याख्यान मे महाभारत सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार यह ग्रन्थ अन्यत्र भी वैदिक व्याख्यान मे सहायक हो सकता है। इसीलिए वैदिक व्याख्यान मे महाभारत आदि से अपेक्षित सहायता लेना वाञ्छनीय है।

७. वैदिक शब्दो के व्याख्यान के विषय मे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि उत्तरकालीन लौकिक भाषा मे इन शब्दो के जो रूढ अर्थ सामान्यतया प्रचलित है उन्ही अर्थो मे ये शब्द सर्वत्र प्राचीन वैदिक भाषा मे मुख्यत ऋग्वेद मे प्रयुक्त नही होते है। इस तथ्य के बहुत से उदाहरण मिलते है, जिन्हे प्राचीन भाष्यकारों तथा आधुनिक विद्वानो ने स्वीकार किया है। यास्क से पूर्ववर्ती अनेक प्राचीन आचार्यो ने वेदो के गहन अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि ऋषियो ने बहुत से वैदिक शब्दो को जान—बूझ कर उनके यौगिक अर्थ मे प्रयुक्त किया है और उत्तरकालीन रूढार्थ के अनुसार उनका व्याख्यान करने से सर्वथा हास्यास्पद तथा अप्रासाङ्गिक वाक्यार्थ निकाला है। यथा – ऋग्वेद के मन्त्राश' 'स्वसुर्जार' का शाब्दिक रूढार्थ होगा – "भगिनी का मित्र" जबकि इसका वास्तविक यौगिक अर्थ है – "भगिनी (उषा) को जीर्ण करने वाला (सूर्य)" जिसे अधिकतर प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वान्' स्वीकार करते है।

अतएव उपर्युक्त सभी तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए यहॉ पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक शब्दो के अर्थ का निर्णय करते समय इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि प्रसङ्ग तथा वैदिक प्रयोग के अनुसार किस—किस शब्द का यौगिक अर्थ अपेक्षित है और यदि सम्बद्ध शब्दो मे मिलने वाले धातुओ के वैदिक प्रयोगो से उनके यौगिक अर्थो का समर्थन होता हो तो उन्हे स्वीकार करना उचित होगा। अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस सिद्धान्त के अनुसार कतिपय वैदिक शब्दो का यौगिक अर्थ करते है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद सहिता के १/१/१ के व्याख्यान मे मैक्डानल 'होतृ' शब्द का यौगिक अर्थ "आह्वाता" (invoker) करते है। इसी प्रकार ग्रासमैन भी ऋग्वेद के १/१/१ के 'ऋत्विज्' शब्द का यौगिक अर्थ "अतिशय अवरोधक" करते है। गैल्डनर ऋग्वेद के १/१६/१ के 'गोपीथाय पद का यौगिक अर्थ "रक्षा के लिए" करते है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् सायण का अनुसरण करते हुए ऋग्वेद के ७/८३/४ के "भेद" पद का रूढार्थ "सुदास् का शत्रुविशेष" कहते है जबकि ग्रासमैन इसका यौगिक अर्थ "विनाशक या विनाशकारी (शत्रु)" सुझाते हैं। जब तक ऐतिहासिक आदि अन्य अर्थ के लिए कोई ठोस आधार न हो, तब तक यौगिक अर्थ ही ग्राह्य है।

भेद की भॉति 'सुदास्' शब्द का अर्थ के विषय मे भी दो प्रकार के मत है – अनेक स्थलो पर रॉथ, ग्रासमैन, गैल्डनर तथा ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वान् भी सुदास् शब्द का यौगिक अर्थ स्वीकार करते है और मानते है कि इसका तुलनावाचक 'सुदास्तर' भी वेद मे प्रयुक्त होता है, परन्तु ऋग्वेद के ७/८३/१ के व्याख्यान मे ये पाश्चात्य विद्वान् सायण का अनुसरण करते हुए सुदास् का रूढ ऐतिहासिक अर्थ करते है। दोनो प्रकार के व्याख्यानो मे सामञ्जस्य होना आवश्यक है। कतिपय ऐसे शब्द है जिनका समाधान केवल यौगिक अर्थ से ही सम्भव है।

८. केवल शाब्दिक अर्थो के आधार पर वैदिक व्याख्यान करना सब से बडी भूल है। प्राचीन तथा अर्वाचीन वैदिक विद्वान् इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार करते है कि वैदिक भाषा तथा विचारधारा अत्यधिक विकसित है और ऋषिगण अपने भावो को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक अलड्कारो का प्रयोग करते है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य इस मत का समर्थन करता है कि प्राचीन वैदिक साहित्य मे अनेक स्थलो पर रूपकालड्कार का प्रयोग किया गया है और वैदिक शब्दो को सर्वत्र उन के शाब्दिक अर्थ मे नही लिया जा सकता है। उदाहरणार्थ वैदिक देवताओ के वर्णन मे रूपकालड्कार का प्रचुर प्रयोग मिलता है। अपनी उक्तियो मे चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ऋषिगणो ने देवताओ के वर्णन मे अनेक स्थलो पर विरोधाभास अलड्कार का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ –उषा तथा सूर्य के सम्बन्धो को विभिन्न दृष्टिकोणो के अनुसार विभिन्न रूपको के द्वारा वर्णित किया जाता है। कालक्रम की दृष्टि से उषा को सूर्य की अग्रगामिनी मान कर कही उसे सूर्य की माता के रूप मे वर्णित किया जाता है, तो कही सूर्य के साथ उषा का साहचर्य बताने के लिए उषा को सूर्य की 'पत्नी' कहा गया है और समान द्युलोक से उत्पन्न होने के कारण कही–कही उषा को सूर्य की भगिनी (स्वसा) के रूप मे वर्णित किया गया है।

इसी प्रकार रूपकालड्कार के प्रयोग के द्वारा द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता के रूप मे बार–बार वर्णित किया गया है। इसी आलड्कारिक वर्णन मे उषा को अनेक बार द्युलोक की पुत्री (दिवो दुहिता) कहा गया है। द्युलोक तथा पृथिवी को उत्पन्न करने के कारण आलड्कारिक वर्णन मे देवताओ को माता–पिता को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। यथा – ऋग्वेद के १०/५४/३ मे आलड्कारिक वर्णन है कि इन्द्र ने अपने शरीर से माता (पृथिवी) तथा पिता (द्युलोक) को उत्पन्न किया। सूर्य तथा उषा आदि देवताओ की किरणो को आलड्कारिक वर्णन मे उन के 'अश्वो' की सञ्ज्ञा दी गई है और देवताओ का अपना अवयव ही उन का 'रथ' कहलाता है कोई पृथक् पदार्थ नही है।

ग्रासमैन, गैल्डनर तथा मैक्डानल आदि अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेद में अनेक स्थलो पर रूपकालड्कार का प्रयोग स्वीकार करते है। बर्गेन ने ऋग्वेद मे बहुत अधिक स्थलो पर रूपक का प्रयोग मानकर व्याख्यान किया है।

रूपकालड्कार मे देवताओ का वर्णन होने के कारण जब तक रूपक का अर्थ स्पष्ट न हो तब तक देवताओ का स्वरूप स्पष्ट नही हो सकता। यथा – ऋग्वेद १/८५/२ मे मरूतो को 'पृश्निमातर' (पृश्नि जिन

की माता है वे) और अगले मन्त्र मे 'गोमातर' (गौ जिन की माता है वे) कहा गया है। पृश्नि तथा गो के आधारभूत रूपक का अर्थ स्पष्ट न होने पर मरूतो का स्वरूप स्पष्ट नही हो सकता।

वेद मे 'गो' शब्द रूपकालङ्कार द्वारा "जल", "किरण" इत्यादि अनेक अर्थो मे प्रयुक्त किया जाता है। अतएव प्रसङ्गानुसार ऐसे आलङ्कारिक प्रयोगो की आवश्यकता है।

९. प्रत्येक वैदिक शब्द का व्याख्यान वैदिक व्याकरण के सुव्यवस्थित नियमो के अनुकूल होना चाहिए और इसके लिए वैदिक व्याकरण का पूर्ण ज्ञान अत्यावश्यक है। वेद–व्याख्यान रूपी योग का प्रथम सोपान वैदिक व्याकरण का पूर्ण ज्ञान है, और इसके बिना अगले सोपान पर आरूढ होना असम्भव है।

१०. यदि किसी ऋचा के किसी पाद मे छन्द परिमाण की दृष्टि से अक्षरो की सख्या मे न्यूनता या अधिकता मिलती है, तो उस से छन्द सम्बन्धी नियम भङ्ग होता है। अत इस प्रकार के छन्दोभङ्गत्व के लिए प्राचीन भारतीय आचार्यो तथा आधुनिक विद्वानो द्वारा सुझाये गए उपायो का ज्ञान होना चाहिए साथ ही वैदिक व्याख्या के लिए वैदिक छन्दो का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

११ वैदिक व्याख्या के लिए वैदिक व्याकरण तथा छन्द के साथ – साथ वैदिक स्वर–प्रक्रिया का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए क्योकि स्वरो के भेद से वेद मे अर्थ भेद हो जाता है। यथा – 'इन्द्रशत्रु' पद अन्तोदात्त होने पर तत्पुरूष समास होता है और आद्युदात्त होने पर बहुव्रीहि। "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इस मन्त्र मे तत्पुरूष समास का अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रु' पद अभिप्रेत था जिसका अर्थ था "इन्द्र का शत्रु"। किन्तु ऋत्विजो की असावधानी से अद्युदात्त 'इन्द्रशत्रु' पद का उच्चारण हो गया जिसका अर्थ था "इन्द्र जिसको सताने वाला है"। इस प्रकार वैदिक व्याख्यान के लिए वैदिक स्वर प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान अत्यावश्यक है। वैदिक स्वर प्रक्रिया के समुचित ज्ञान के आभाव मे हम मन्त्रो का सही अर्थ निश्चित नही कर सकते है।

१२. यास्काचार्य का कहना है कि सुविचारित मन्त्रार्थ–चिन्तन श्रुति और तर्क की कसौटी पर खरा उतरा होना चाहिए। विवेकपूर्वक विचार करने के उपरान्त प्रस्तुत किया जाने वाला मन्त्रार्थ ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदान्त आदि से पोषित व समर्थित होना चाहिए।

१३. श्रुति के साथ–साथ वह मन्त्रार्थ तर्क से भी प्रमाणित होना चाहिए, कहने का अभिप्राय यह है कि केवल श्रुति का प्रमाण मन्त्रार्थ का औचित्य सिद्ध करने मे पर्याप्त नही है।

१४. यद्यपि मन्त्रार्थ श्रुति एव तर्क से प्रमाणित है, फिर भी प्रकरण से पृथक् करके मन्त्रो का निर्वचन नही करना चाहिए। दुर्ग का कहना है कि यहॉ प्रकरण से तात्पर्य यज्ञ, दैवत, आध्यात्म, इतिहासानुप्रवेश से है, इनसे पृथक् करके मन्त्रार्थ नही करना चाहिए।

१५. श्रुति और तर्क का विनियोजन भी प्रकरण के अनुरूप होना चाहिए। प्रकरण से पुन दुर्ग यह तात्पर्य ग्रहण करते है कि याज्ञिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक पक्षों में से एक या अनेक प्रकरणों को

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणी

1	ऋग्वेदभाष्य 'वेदार्थप्रकाश'	—	सायणाचार्य
2	ऋग्वेदभाष्य 'ऋगर्थदीपिका'	—	वेङ्कटमाधव
3	ऋग्वेदभाष्य	—	उद्गीथाचार्य
4.	ऋग्वेदभाष्य	—	स्कन्दस्वामिन्
5	ऋग्वेदभाष्यम्	—	दयानन्द सरस्वती
6.	ऐतरेय–ब्राह्मण	—	ऋषि महिदास ऐतरेय
7	ऋग्वेद प्रातिशाख्य	—	आचार्य शौनक
8	निरूक्तम्	—	यास्काचार्य
9	नीतिमञ्जरी	—	श्री द्याद्विवेद
10	वृहद्देवता	—	आचार्य शौनक
11	भाषाविज्ञान	—	डॉ कपिलदेव द्विवेदी
12	भाषाविज्ञान	—	डॉ भोलानाथ तिवारी
13	अवेस्ता	—	डा0 हरिशङ्कर त्रिपाठी
14	वैदिक इन्डेक्स	—	डॉ मैक्डानल एवं डॉ. कीथ
15	वैदिक कोष	—	एच ग्रासमैन
16	सस्कृत जर्मन महाकोश	—	रॉथ एव बाट्लिङ्क
17	वैदिक कोष	—	डॉ हसराज
18	वैदिक कोष	—	डॉ सूर्यकान्त
19	वैदिक इन्डेक्स	—	डॉ रामकुमार राय
20	वैदिक इन्डेक्स	—	डॉ राम गोपाल
21	वैदिक व्याकरण	—	डॉ. राम गोपाल
22	वैदिक विब्लियोग्राफी	—	दाण्डेकर
23	वैदिक साहित्य और सस्कृति	—	आचार्य बलदेव उपाध्याय
24	वैदिक साहित्य और सस्कृति	—	डॉ. वाचस्पति गैरोला
25	वैदिक साहित्य का इतिहास	—	डॉ. राजकिशोर सिह
26	History of Sanskrit Literature	—	A A Macdonell

27	History of Indian Literature	—	M Winternitz
28	Vedic Grammar	—	A A Macdonell
29	Vedic Grammer for student	—	A A Macdonell
30	Vedic Mythology	—	A A Macdonell
31	Macdonell's hymns from the Rigveda	—	A A Macdonell
32	Vedic Hymns Part I Sacred Books of the East, Vol 32	—	F Maxmuller
33	A Vedic Reader for Students	—	A A Macdonell
34.	Sanskrit English Dictionary	—	Monier Williams
35	Hymns to the Mystic Fire	—	Arvind Ghosh
36.	On the Veda	—	Arvind Ghosh
37	Hymns from the Rigveda	—	P Peterson
38	Hand Book to the study of Rigveda	—	P Peterson
39	Second selection from Rigveda	—	P Peterson
40	Vedische Studien	—	R Pischel & K F. Geldner
41	Die Hymnen Rigveda	—	H Oldenberg
42	Vedic Hymns - Part II SBE, Vol. 46	—	H Oldenberg
43	Rigveda Tex kritische und Exegetische Noten	—	H Oldenberg
44	Sacred Books of the East	—	F Maxmuller
45	Panini and the Veda	—	Prof Paul thieme
46	Hymns of the Rigveda	—	H H Wilson
47	Hymns of the Rigveda	—	R T H. Griffith
48	La Religion Vedique	—	Prof Bergain
49	Worterbuch Zum Rigveda	—	H. Grassman
50	Der Rigveda	—	A. Kaegi
51	Der Rigveda	—	A. Ludwig
52	Der Rigveda	—	K F. Geldner